Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्र विद्यावाचस्पतिः कृतित्व के आयाम

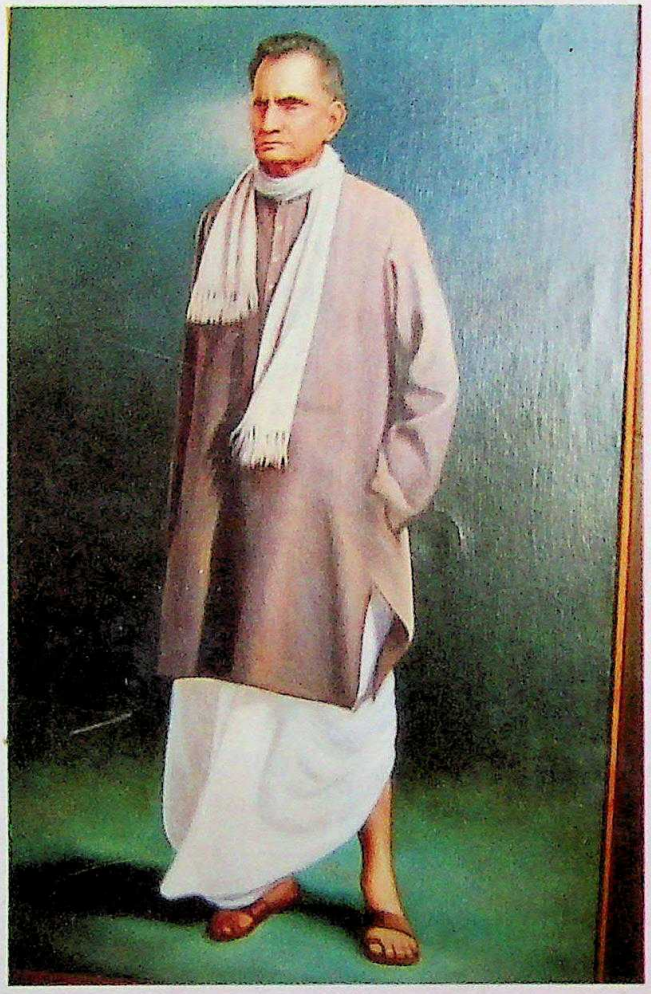

सम्पादक
प्रो. भारतभूषण विद्यालंकार

लेखक
प्रो. कुशलदेव शंकरदेव कापसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ISBN 81-86463-17-8

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्र विद्यावाचस्पति : कृतित्व के आयाम

लेखक

प्रो. कुशलदेव शंकरदेव कापसे

सम्पादक

प्रो. भारतभूषण विद्यालंकार

निदेशक – श्रद्धानन्द वैदिक शोध एवं प्रकाशन संस्थान

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार

अजय प्रिन्टर्स एवं पब्लिशर्स

रुड़की – 247 667

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्पण

'इदं दयानन्दाय श्रद्धानन्दाय इदन्न मम' की त्याग भावना से सदैव अध्यापन कार्य में निरत मेरे गुरुदेव! डॉ. चन्द्र भानु सीताराम जी सोनवणे वेदालंकार को यह कृति सादर समर्पित

-कुशलदेव कापसे

R 081,KAP-I
150611

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो शब्द

पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति – कृतित्व के आयाम" शीर्षक पुस्तक श्रद्धानन्द शोध संस्थान के द्वारा प्रकाशित की जा रही है। पं. इन्द्र जी का स्मरण करते ही बीसवीं शताब्दी के उथल–पुथल भरे भारत का चित्र सामने आ जाता है। राजनीति अपने आंदोलनों से राष्ट्र के कण–कण को आन्दोलित कर रही थी। हर हृदय की धड़कन उसके साथ घड़कती थी। धार्मिक क्षेत्र में दयानन्द का सूर्य राष्ट्र को नवीन जीवन–प्राण प्रदान कर अभी अस्ताचल को गया था पर उसके शिष्यों के रूप में आकाश में लाली अभी विद्यमान थी। सामाजिक क्षेत्र में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी, वह एक नयी चेतना, नयी शक्ति केन्द्र के रूप में सामाजिक जागरण का डिण्डिम नाद कर रहा था। बचपन में आँख खोलते ही बालक इन्द्र ने इन परिस्थितियों को बड़े निकट से देखा। आकाश तुल्य वृहद् मानव के रूप में पिता की विभिन्न गतिविधियों ने उन्हे यथार्थ को देखने व समझने का सामर्थ्य प्रदान किया था। फलतः बचपन में जो संस्कार बद्ध मूल हुए, जिस नैतिक चेतना का उदय हुआ, वह जीवन भर उनका पाथेय बना रहा।

छात्र जीवन में इन्द्र जी का यह विचार दृढ़ हो गया था कि "दासों का धर्म कभी नहीं फैलता। अतः आर्यसमाज को स्वाधीनता प्राप्ति में योगदान करना चाहिए"। उन्होनें छात्र जीवन में ही लिखा था–

हे मातृभूमि तेरे चरणो में सिर नवाऊँ।
मैं भक्ति भेंट अपनी सेवा में तेरी लाऊँ।।
तेरे ही काम आऊँ, तेरा ही गीत गाऊँ।
मन और देह तुझ पर बलिदान मैं चढ़ाऊँ।।

उन्होने अपनी डायरी में लिखा है "अब तो समय आ गया है कि सर्वतोभावेन देश सेवा में लग जाऊँ और अपना जीवन सार्वजनिक जीवन को अर्पण कर दूँ। आर्यसमाज तथा अन्य उपयोगी कार्यों में योग दूँगा तो वह भी देश–सेवा मानकर दूँगा ..... अपने कर्तव्य पथ पर निःशंक भाव से चलते जाना ही धर्म और नीति की दृष्टि से उत्तम समझूँगा" इन संस्कारों के स्नेह से यह दीप झंझावातों में भी निष्कम्प होकर प्रकाश देता रहा।

बचपन में बडे भाई हरिश्चन्द्र के साथ मिलकर जो हस्तलिखित पत्रिका निकाली थी वह ही मानों पत्रकारिता का मूल बन गई, और कालान्तर में सत्यवादी साप्ताहिक, सद्धर्म प्रचारक, दैनिक वैभव, विजय, अर्जुन, नवराष्ट्र, वीर अर्जुन, जनसत्ता, के सम्पादक के रुप में फली। अपने गुरुवर ऋषि दयानन्द की हिन्दी सेवा से, पिता–पुत्र ने जो प्रेरणा ली थी उसी के फलस्वरुप स्वामी श्रद्धानन्द ने सद्वर्म प्रचारक के रूप में जो बीज दिल्ली की ऊसर (उर्दू प्रधान होने से) जमीन में डाला था वह अंकुरित तो तभी हो गया था परन्तु पुत्र (पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति) ने अपने श्रम से उसे सींचा था परिणामतः उपरोक्त समाचार पत्र दिली में पनपने लगे थे। "अर्जुन" में लिखा जाने वाला "गाण्डीव के तीर" नामक स्तम्भ लोगों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया था।

अर्जुन पत्र का ध्येय वाक्य "अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यम् न पलायनम्" उनके जीवन का मूल–मंत्र था। समाज में रहते हुए नाना प्रकार के वाद–विवादो विक्षोभों और उग्र चर्चाओं के झंझावातों में भी वे कभी विचलित नहीं होते थे। ऐसे अवसरों पर उनकी प्रज्ञता, धीरता, गम्भीरता के साथ दार्शनिक सौम्यता नितान्त अभिनन्दनीय होती थी। उनकी पत्रकारिता उनका व्यवसाय नहीं था। वह तो राष्ट्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवा का माध्यम था उनका लेखन उनका कर्तव्य था। १६ जोलाई १६४८ के वीर अर्जुन में उन्होने लिखा था "किसी भी शासन व्यवस्था की सफलता की मुख्य कसौटी यह है कि उसमें प्रजा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करे, उसे चोरों और डाकुओं का भय न हो, लोग दुर्भिक्ष और बीमारी जैसी आपत्तियों से बचे रहें और उन्नति कर सकें। यह राज्य का मुख्य कर्तव्य है और यही उत्तम राज्य का चिन्ह है। यदि यह है तो सब कुछ है, यदि यह नहीं तो शेष सब दिखावा है"। क्या यह सब आज भी प्रासंगिक नही है ?

वे जीवन भर लेखन कार्य में व्यस्त रहे। महाभारत की शैली में उन्होने भारतेतिह्यम महाकाव्य लिखा। वे उग्र राष्ट्रीयता के दिन थे, तिलक और लाजपतराय का पंडित जी पर बहुत प्रभाव पड़ा। परिणामतः उन्होंने नेपोलियन बोनापार्ट, प्रिन्स बिसमार्क, गैरीबाल्डी आदि विदेशी क्रान्तिकारियों की जीवनियां लिखीं तो भारतीय क्रान्तिकारी भी उनके सम्मुख थे उन्होंने महर्षि दयानन्द का जीवन–चरित्र, पं. जवाहरलाल नेहरु का जीवन चरित्र, मेरे पिता नाम से स्वामी श्रद्धानन्द जी की जीवनी, लोकमान्य तिलक, यतीन्द्रनाथ दास का जीवन–चरित्र के साथ, मैं इनका ऋणी हूँ में अनेक लोगों की जीवन झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं।

भारतीय मनीषा के प्रतीक श्री इन्द्र ने "उपनिषदों की भूमिका", "भारतीय संस्कृति का प्रवाह", "संस्कृत साहित्य का अनुशीलन", "सम्राट रघु", "ईशोपनिषद्भाष्य, "वैदिक देवता" जैसी पुस्तकें लिखीं, तो राष्ट्र की उन्नति, राष्ट्रीयता का मूलमन्त्र, स्वतंत्र भारत की रुपरेखा, जीवन संग्राम, जैसी राजनीति की पुस्तकें भी लिखीं। मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण", "भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय", "भारत के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास", "आर्यसमाज का इतिहास", "कांग्रेस का इतिहास", जैसी इतिहास से सम्बन्धित पुस्तकें समाज को प्रदान कीं। इन सब से हटकर कुछ उपन्यास भी पंडित जी ने लिखें जिनमें "अपराधी कौन", "शाह आलम की आँखें", "सरला", सरला की भाभी", 'आत्म बलिदान' व 'गुलाम कादिर' विभिन्न पृष्ठभूमियों पर लिखे गए हैं। पंडित जी के संस्मरण भी बहुत महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं जिसमें "दिल्ली के वे स्वर्णिम बीस दिन", "मै चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला", "मेर नौकरशाही जेल के अनुभव", "हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति" हैं।

स्वतंत्र भारत की कल्पना और उसके दिशा निर्देश भी पंडित जी ने दिये। उनके शीर्षक थे — कांग्रेस की मौलिक भूल, कांग्रेस की दूसरी भूल, राष्ट्र के नेताओं की दूसरी परीक्षा, काश्मीर पर संकट, पाकिस्तान भारत पर आक्रमण कर सकता है, भारतवासियों को सशस्त्र बनाओं, नेहरु जी से निवेदन, साम्प्रदायिकता का बीजनाश आदि में चेतावनी भी थी। उन्होंने कहा था – "मेरा राष्ट्र और राष्ट्र के नेताओं से निवेदन है वे समय रहते सचेत होकर भारत की उज्ज्वल संस्कृति को अपनाएँ। ये लेख यद्यपि "अर्जुन" के लिए लिखे गए, सम्पादकीय के अंश है किन्तु इनका ऐतिहासिक महत्व है। इनमे कही गई बातें आज भी उसी रूप में कही जा सकती हैं। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे केवल कागज काले करने वाले लेखक या व्यावसायिक पत्रकार अथवा केवल लफ़्फाजी करने वाले राजनीतिज्ञ, समय काटने के लिए चिन्तन करने वाले चिन्तन, यथार्थ से परे रहने वाले दार्शनिक नहीं थे। वे राष्ट्र के मार्गदर्शक थे। राष्ट्रीयता की भावना को उद्बुद्ध करने में उनके लेखों का बहुत बड़ा योगदान था। वे लोकमत को प्रभावित करने में सक्षम थे।

पं. इन्द्र जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। गुरुकुल से स्नातक होने के उपरान्त, अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान महोपाध्याय पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी से वर्णव्यवस्था पर शास्त्रार्थ हुआ था जिसमें इन्द्र जी की प्रौढ़ तर्क शैली तथा गम्भीर शास्त्र ज्ञान से उन्हें विजय श्री प्राप्त हुई। राजनीति के साथ ही उपनिषदों पर भी उन्होंने कलम चलाई। वेदों का भाष्य लिखने का भी उनका विचार था जो मन में ही रह गया। वे सहृदय कवि भी थे। अनुष्टुप छन्द में उन्होने भारतेतिह्यम नामक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाकाव्य की रचना की थी। उनकी हिन्दी गीतिका महात्मा गांधी के आश्रम की प्रार्थना बन गई थी। पं. इन्द्र जी यदि पत्रकार न होते तो वे एक सफल अध्यापक होते। गुरुकुल में समय–समय पर उन्होंने यह कार्य किया भी है, एक सफल अध्यापक के सभी गुण उनमें विद्यमान थे।

वे जीवन भर विविध कार्यों में व्यस्त रहे। वे आर्यसमाज के दिशानिर्देशकों में थे और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकर्ता प्रधान थे। गुरुकुल कांगड़ी के प्रोफेसर एवं मुख्याधिष्ठाता थे। राज्यसभा के सदस्य थे। यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन के सलाहकार थे, भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय की विश्वकोष परामर्श समिति के सदस्य थे, दिल्ली स्वदेशी संघ के प्रधान थे, अस्पृश्यता निवारक लीग के जनरल सेक्रेटरी थे, हिन्दी साहित्य सम्मेलन व नागरी प्रचारिणी सभा आदि उनके प्रमुख कार्य थे। खराब स्वास्थ्य के बावजूद इतनी अधिक जिम्मेदारियाँ उनके व्यक्तित्व की क्षमताओं की अभिव्यक्ति मात्र हैं। वे दृढ़ चरित्र के शील एवं प्रज्ञा के धनी महापुरुष थे। जिन्हे लोभ या भय विचलित नहीं कर सकते थे। प्रतिष्ठा के झौंके जिन्हें आनन्द में उद्वेलित नहीं करते थे तो असफलताएँ उन्हें निराश नहीं करती थीं। वे दैन्य व पलायन दोनों से दूर थे। इन्द्र जी ने अपने पिता की उज्ज्वल परम्पराओं को कभी विस्मृत नहीं होने दिया।

किसी भी बहुमुखी प्रतिभा के लेखक की सम्पूर्ण कृतियों के साथ न्याय कर पाना सहज नहीं होता फिर जिनकी कृतियों की संख्या भी पर्याप्त हो। प्रस्तुत पुस्तक श्री कुशलदेव शंकर देवकापसे का अत्यन्त श्रम साध्य कार्य है। इस ग्रन्थ में पं. इन्द्र जी के संवाद, भाषा, शैली, संस्मरण सभी को उचित रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह लेखक की योग्यता एवं क्षमता का प्रतीक है। मैं उनकी इस कृति के लिए हृदय से धन्यवाद देता हूँ और उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के श्रद्धानन्द शोध एवं प्रकाशन संस्थान के निदेशक प्रो. भारत भूषण विद्यालंकार को इस सुकृति के प्रकाशन हेतु बधाई।

डॉ. धर्मपाल
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

स्वाधीनता पूर्वकाल में लेखनी और वाणी द्वारा अन्यायी विदेशी शासन के विरूद्ध जनमत तैयार करने और उनकी राज्य–व्यवस्था की कुटिल कूटनीति से प्रजा को सुपरिचत कराने तथा जन–मन में लुप्त हो रहे राष्ट्राभिमान की ज्योति जलाने का ध्येय श्री इन्द्र विद्यावाचस्पतिके सामने सदैव ही रहा. एक ओर वे जीवनी, संस्मरण, उपन्यास, निबन्ध, पत्रकारिता आदि साहित्य की विविध विधाओं से स्वधर्म स्वभाषा और स्वराज्य के विषय में जन–मन में स्वाभिमान निर्माण कर रहे थे, तो दूसरी ओर गंभीरता से अपने सामाजिक एवं राष्ट्रीय सार्वजनिक जीवन में आये दोषों के निवारण करने की मनोभूमिका भी तैयार कर रहे थे. स्वाधीनता के पश्चात् उनकी लेखनी और वाणी का लक्ष्य स्वराज्य को सुराज्य में परिणत करने तथा भारतीय संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने की ओर केन्द्रित रहा. सन् १९११ से १९४७ तक जिन प्रतिकूल परिस्थितियों में उन्होंने विविध प्रकार से जन–जागरण कर राष्ट्राभिमान को जागृत करने का कठोर कार्य किया, उसे ध्यान में लाते ही श्रद्धा से उनके सामने मस्तक नत हो जाता है.

यह श्री विद्यावास्पति के जीवन और साहित्य के अन्वेषण और विश्लेषण का एक नम्र प्रयत्न है. उनका साहित्य और व्यक्तित्व इतना विशाल और बहुमुखी है कि समस्त पक्षों से उसका अन्वेषण करने का, और उनके व्यक्तित्व के समस्त पहलुओं का मूल्यांकन करने का प्रयत्न मानों कालिदास के कथनानुसार 'तितीर्षुदुस्तरं मोहादुडपेनास्मिसागरम्' अर्थात् 'एक छोटी–सी नौका द्वारा प्रचंड सागर को पार करने जैसा है'. उसमें भी नान्देड़–औरंगाबाद जैसे महाराष्ट्रीय सुदूर स्थान पर रहकर अन्वेषण का यह प्रयत्न अत्यन्त ही कठिन था, पर पुनरपि यथोपलब्ध परिस्थिति में विद्यावाचस्पति जी के व्यक्तित्व को समझने और उसे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है. एतदर्थ उनके उपलब्ध साहित्य का तटस्थ भूमिका से अध्ययन किया गया है. उनका समस्त साहित्य मुझे प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो पाया, अतः इस ग्रन्थ की कुछ अपनी सीमायें और विवशतायें हैं, जिनसे मै सुपरिचित हूँ. मुझे इस बात का सन्तोष है कि इस ग्रन्थ के कारण श्री विावाचस्पति के वैचारिक विश्व में रहते हुए मेरा काल बहुत ही सुखपूर्वक व्यतीत हुआ.

प्रस्तुत ग्रन्थ को ११ अध्यायों में विभाजित किया गया है. प्रथम अध्याय में विद्यावाचस्पति जी के युगीन परिवेश का विश्लेषण किया है. उनके साहित्य की पृष्ठभूमि के रुप में उनके युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया गया है. द्वितीय अध्याय में विद्यावाचस्पति जी के जीवनी और व्यक्तित्व के विविध पक्षों का उद्घाटन किया है. संक्षिप्त जीवन–परिचय के साथ गुरुकुल, काँग्रेस, भारतीय स्वाधीनता संग्राम, आर्यसमाज, हैदराबाद मुक्ति संग्राम, हिन्दी–प्रचार आंदोलन में उनका जो इतरेतराश्रय संबंध रहा है, उसे स्पष्ट किया है. तृतीय अध्याय में विद्यावाचस्पति जी के संस्मरण साहित्य का विवेचन है. उन्होंने राजनीतिज्ञ, समाज–सेवी और साहित्यकारों के विषय में हृदयस्पर्शी संस्मरण साहित्य की रचना की है. इस अध्याय में संस्मर्ण्य का चरित्रांकन, संस्मरणकार का व्यक्तित्व, परिवेश, विचारधारा, उद्देश्य की दृष्टि से इस अध्याय में उनकी जीवनीयों का विवेचन किया है. पंचम अध्याय में वर्ण्य विषय के आधार पर श्री विद्यावाचस्पति लिखित उपन्यासों का ऐतिहासिक–सामाजिक स्तर पर वर्गीकरण कर कथावस्तु पात्र व चरित्र–चित्रण संवाद, देश–काल व भाषा शैली की दृष्टि से परीक्षण किया गया है। षष्ठ अध्याय में श्री विद्यावाचस्पति का एक पत्रकार के रूप में विवेचन है. दिल्ली की हिन्दी पत्रकारिता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के तो वे जनक थे. उन्हें पत्रकारिता की ओर प्रेरित करने वाली प्रेरणा–शक्तियों के विवेचन के साथ उनके पत्रों के अंतरंग एवं बहिरंग स्वरूप का भी विश्लेषण किया है. इस अध्याय में हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में उनके अप्रतिम योगदान की भी चर्चा की गई है. सप्तम अध्याय में 'रघुवंश', किरातार्जुनीय' और 'ईशोपनिषद्' नामक सुप्रसिद्ध कालजयी संस्कृत ग्रन्थों का विद्यावाचस्पति जी ने जो हिन्दी में अनुवाद किया है, उसका उनकी अनुवाद–प्रक्रिया के साथ, सोदाहरण मूल्यांकन किया गया है. इसी के साथ उनके सफल अनुवाद व भाष्यकार रूप को भी स्पष्ट किया है. अष्टम अध्याय में विद्यावाचस्पति जी की ऐतिहासिक दृष्टि व सरस इतिहास लेखन शैली के विवेचन के साथ उनके द्वारा लिखित राजनीति विषयक रचनाओं का भी मूल्यांकन किया है. नवम अध्याय में विद्यावाचस्पति जी द्वारा विरचित भारतीय संस्कृति व तद्विषयक कतिपय अन्य ग्रन्थों का विवेचन किया गया है. इसमें भारतीय संस्कृति की विशेषता, भारतीय संस्कृति का सर्वोच्च काल, भारत में पश्चिमी संस्कृति का प्रवेश, और विदेशों में भारतीय संस्कृति के विस्तार की चर्चा भी की गई है. दशम अध्याय में श्री विद्यावाचस्पति द्वारा रचित निबंध, काव्य व नाट्यविधा से संबद्ध प्रकीर्ण रचनाओं के आधार पर उनकी निबन्धकार, कवि और नाटककार के रूप में जो छवि उभरी है., उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है. एकादश अध्याय में विद्यावाचस्पति जी की सूक्तियों, मुहावरों, कहावतों व अलंकारों से सुसज्जित, संस्कृत–तत्सम शब्दों के चोगे व अरबी–फारसी की शब्द सम्पदा की ओढ़नी से मण्ड़ित व प्रसाद–उद्धरणदि शैलियों से विभूषित, भाषा–शैली का मूल्यांकन किया गया है. उपसंहार में श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति के सम्पूर्ण साहित्य का एक संश्लिष्ट मूल्यांकन किया है. साथ ही ग्रन्थ में किये गये अध्ययन का सारांश भी प्रस्तुत किया गया है.

इसके साथ विद्यावाचस्पति जी के समग्र साहित्यिक व्यक्तित्व का एक स्थान पर मूल्यांकन करने का एक प्रयास पूर्ण हो जाता है. निष्कर्ष रुप में इस उपसंहार में यह संकेत किया गया है कि श्री विद्यावाचस्पति की साहित्य क्षेत्रीय उपलब्धियाँ अनेक दृष्टियों से विशिष्टता रखती है. उन्होंने विविध संधर्षो के बीच जीवित रहकर भी, जो हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं को महत्वपूर्ण देन दी है, वह अविस्मरणीय, संस्मरणीय है.

आचार्य प्रवर डॉ. चन्द्रभानु सीताराम सोनवणे वेदालंकार जी से ही इस ग्रन्थ की मूल प्रेरणा मुझे प्राप्त हुई. ग्रन्थ की रूपरेखा से लेकर कार्य की परिसमाप्ति तक उनके सत्परामर्शो से मै लाभान्वित रहा हूँ, इस ग्रन्थ के लिए पूज्य गुरुवर्य डॉ. सोनवणे जी ने मुझे प्रेरित ही नहीं किया, बल्कि विद्यावाचस्पति जी विषयक अनेक महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त करने में मेरी उन्होंने पूर्णतः सहायता भी की है. उनके स्नेहाशीष के लिए मै उनका आजीवन कृतज्ञ हूँ, उनकी तत्परता, पाण्डित्यपूर्ण अनुग्रह के बिना इस सारस्वत अनुष्ठान की पूर्ति संभव न थी इस अवसर पर श्रीमती मीरादेवी चन्द्रभानु विद्यालंकृता जी को भी मैं कैसे भूल सकता हूँ. जिन्होंने लेखन काल में साग्रह आतिथ्य किये बिना मुझे कभी अपने घर से वापिस लौटने न दिया।

विद्यावाचस्पति जी के कतिपय ग्रंथ व उनके द्वारा संचालित नियतकालिक (समाचार पत्र) संप्रति अत्यन्त ही दुर्लभ हो चुके हैं. इस सब दुर्लभ साहित्य को प्राप्त कर उनका अध्ययन करना अतिशय कठिन काम था, पर दिल्ली स्थित विद्यावाचस्पति जी के सुपुत्र श्री जयन्त वाचस्पति का निजी ग्रंथालय, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालयीन पुस्तकालय–हरिद्वार, दयानन्द कला महाविद्यालयीन ग्रंथालय–लातूर; विश्वभंर वैदिक पुस्तकालय–गुरुकुल झज्जर रोहतक–हरियाणा; स्टेट सेंट्रल लाइब्रेरी अफजल गंज, नयापुल, हैदराबाद; सिटी सेंट्रल लाइब्रेरी हिमायतनगर–चिकड़पल्ली–हैदराबाद; आर्ट्स कॉलेज, उस्मानिया यूनिर्सिटी–हैदराबाद; आर्य प्रतिनिधि सभा ग्रंथालय–आन्ध्रप्रदेश–हैदराबाद; सरदार पटेल विश्वविद्यालय–वल्लभविद्यानगर–आणंद; मराठी ग्रंथ संग्रहालय–ठाणे; हुतात्मा पानसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मारक ग्रंथालय–पीपल्स कॉलेज–नांदेड़; प्रतिभा निकेतन महाविद्यालयीन ग्रंथालय नांदेड; डॉ. बाबासाहब आंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालयीन ग्रंथालय–उदगीर; महाराष्ट्र हिन्दी ग्रंथालय–वड़वल नागनाथ, लातूर, केसरी–मराठा संस्थान ग्रंथशाला–गायकवाड वाड़ा–पुणे; महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार सभा–पुणे; आर्यसमाज ग्रंथालय–पिपरी पुणे; विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध–संस्थान–पंजाब विश्वविद्यालय–होशियारपुर; सार्वादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा–दिल्ली; पब्लिक लाइब्रेरी–दिल्ली; राष्ट्रीय अभिलेखागार–जनपथम नई दिल्ली; श्री विद्याभूषण भोपळे आर्य निजी ग्रंथालय–हिवरखेड़–अकोट; आर्यसमाज नांदेड़ आदि के पुस्तकालयाध्यक्षों ने मुझे दुर्लभ ग्रंथ व नियतकालिक तत्परता से सुलभ कराये, इस सहयोग के लिए मैं इन सब पुस्तकालयों का अत्यन्त ही ऋणी हूँ.

सर्वश्री विष्णु प्रभाकर (दिल्ली), पं. विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड (देहरादून), डॉ. रामनाथ वेदालंकार (गुरुकुल कांगड़ी), वागीश्वर विद्यलंकार (दिल्ली), स्वामी धर्मानन्द विद्यामार्तण्ड (ज्वालापुर), स्वामी ओमानन्द सरस्वती (हरियाणा), स्वामी आनन्दबोध सरस्वती (दिल्ली), डॉ. उषा पुरी विद्यावाचस्पति (दिल्ली), श्री सत्यकाम विद्यालंकार (मुंबई), श्री जयन्त वाचस्पति (दिल्ली), प्रा. राजेन्द्र जी जिज्ञासु (पंजाब), डॉ श्रीराम शर्मा (हैदराबाद), डॉ. भगतसिंह राजूरकर (औरंगाबाद), श्री शंकरदेव वेदालंकार (पूर्वसांसद वीदर) डॉ. मदन मोहन जावलिया (राजस्थान) श्रीयुत बाबूलाल शिवनारायण द्विवेदी, श्रीयुत डॉ विजयवीर विद्यालंकार, पं. मदनमोहन विद्यासागर, डॉ गोपाल वेदालंकार (हैदराबाद), श्री धर्मवीर विद्यालंकार (गुरूकुल कांगडी) श्री दिनेश त्रिपाठी विद्याभास्कर (ज्वालापुर) आदि आदरणीय महानुभावों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनसे साक्षात्कार कर मुझे मौखिक सूचनाएँ और संस्मरण प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, निःसंदेह इन महानुभावों के कृपा के अभाव में यह शोध प्रबंध अपूर्ण ही रह जाता.

दो दशक से भी अधिक समय से जिस नेताजी सुभाषचन्द्र बोस महाविद्यालय नान्देड़ में मैं अध्यापन कार्य कर रहा हूँ, उस महाविद्यालय के वर्तमान प्राचार्य श्री प्रभाकर जी माहूरंकर, मेरे हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो. सुदर्शन देव जी जाघव, संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. सी.ना. जोशी इतिहास विभागाध्यक्ष डॉ. वसंत देशपांडे तथा अन्य आदरणीय आत्मीय प्राध्यापक गण मेरे सहचर प्रा. सत्यकाम पाठक, प्रा. गणेश सोनाळे, पुस्तकालयाध्यक्ष श्री विजय जोशी व सर्वश्री शिवाजी वाधमारे, तुलसीराम पलनाटे, दामोदर देशपांडे, सुभाष यशवंतकर, अर्जुन सूर्यवंशी आदि ग्रंथालयीन सहकर्मियों का मैं अतिशय आभारी हूँ, जिनके सतत प्रोत्साहन और सहयोग से यह अनुसंधान कार्य संपन्न हुआ है.

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस महाविद्यालयीन 'केन्द्रीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग', से संबद्ध समिति के सलाहकार सदस्य उपप्राचार्य प्रा. सुनील आड़गावकर, डॉ. अनंत चौधरी, डॉ. रत्नाकर कुलकर्णी, प्रा. श्रीकृष्ण धर्मापुरीकर, प्रा. सादोद्दीन सिद्दीकी व महाविद्यालयीन कार्यालय–अधीक्षक श्री लक्ष्मण लिंगमपल्ले तथा शेष सभी कार्यालयीन सहयोगियों का भी अत्यंत ही कृतज्ञ हूँ, क्योंकि इस समिति के प्रयासों के फलस्वरुप ही मुझे ' विश्वविद्यालयीन अनुदान आयोग' की ओर से एक वर्ष के लिए 'प्राध्यापक छात्रवृति' प्राप्त हुई, तथा मुझे डॉ. बाबासाहब आंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय–औरंगाबाद के परिसर में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ. इस कृति को अन्तिम रूप देने का अधिकांश कार्य इसी क़ाल में ही संपन्न हुआ. इस कालावधि में मराठवाडा विश्वविद्यालय के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. भगतसिंहजी राजूरकर, डॉ. गणेश जी अष्टेकर, वर्तमान हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. माधव जी सोनटक्के आदि इस कार्य को संपन्न करने में सतत आत्मीयता से प्रेरणा देते रहे हैं. अतः मै इन सबका हार्दिक कृतज्ञ हूँ. विश्वविद्यालयीन हिन्दी विभाग के कार्यालयीन सहयोगी श्री अनिल कोठारकर व श्री शंकर पुरी ने अयाचित सहयोग प्रदान कर कार्यालयीन कामकाज से मुझे सदैव चिन्तामुक्त रक्खा, अतः उनके प्रति भी आभार वयक्त करता हूँ. डॉ. रामप्रसाद जी वेदालंकार,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ जयदेव जी वेदालंकार, डॉ. विजयपाल जी शास्त्री, डॉ. महावीर जी (गुरुकुल कांगड़ी) डॉ. धर्मवीर जी (अजमेर) श्री शंकरराव सराफ–(उदगीर), श्री धर्मेन्द्र धींग्रा (बड़ोदरा), डॉ. भवानीलाल भारतीय (जोधपुर), श्री देवेन्द्रनाथ प्रशान्त (असाम), डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, प्रा. ओमप्रकाश हाळीकर प्रा. विजय शिंदे–(लातूर) डॉ. अपरप्रसाद जायस्वाल डा. .यं. पां देशपांड़े–(नांदेड़), कॅप्टन डॉ. भारती जाधव–(औरंगाबाद), श्री जवाहर सत्यपाल राठौर, श्री राज सोनाळे–(नांदेड़) आदि उन सभी मित्रों प्रेरक स्वजनों एवं परिजनों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जो इस कार्य को संपन्न करने में मुझे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग तथा प्रेरणा देते रहे हैं. इस अवसर पर मैं पूज्या माता श्रीमती प्रयागदेवी, पिताश्री शंकरदेव माधवराव कापसे, सहधर्मिणी श्रीमती वेदवती शास्त्री, आयुष्मान् राजवीर और आयुष्मती कु. विद्युल्लता तथा अन्य पारिवारिक जनों को कैसे विस्मृत कर सकता हूँ, जिनके सक्रिय सहयोग और मौन तप का मूल्य मेरे लिए अनिर्वचनीय है. इसके अतिरिक्त जिन विद्वानों की कृतियों से इस शोधकार्य में मैंने सहायता ली है तथा मेरे इस शोधात्मक प्रयास में जिन अन्य महानुभावों का मुझ पर स्नेहिल कृपाभाव बना रहा, उन सबका नामोल्लेख संभव नहीं है। अतः उन सबके प्रति भी मेरे मन में अशेष सम्मान और कृतज्ञता का भाव है. प्रस्तुत ग्रंथ को आधुनिक पद्धति से शुद्ध सुंदर व नयनाभिराम रूप में टंकित करने का कार्य 'अभय डिजीटल टाईसेटर्स' के स्वामी श्री राजू वच्चेवार तथा उनके सहयोगी श्री मोहनसिंह चौहान (नांदेड़) ने अत्यल्प समय में किया, अतः उनके प्रति भी हार्दिक आभार.

किसी भी रचना की सार्थकता उसके प्रकाशन में होती है. (स्व.) बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने यह मनीषा व्यक्त की थी कि श्रद्धेय इन्द्रजी का समग्र साहित्य गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित हो. इस संयोग ही है कि उनकी मनोकामना की यतकिंचित् पूर्ति उक्त विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. धर्मपाल जी के मार्गदर्शन में इस कृति के प्रकाशन के साथ संपन्न हो रही है. विश्वविद्यालयीन 'श्रद्धानंद शोध एवं प्रकाशन संस्थान ने राष्ट्रीय साहित्यकार पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति विषयक प्रस्तुत ग्रन्थ को भारतीय स्वाधीनता संग्राम की स्वर्ण जयन्तीवर्ष (१९९७) में, प्रकाशित करने का सहर्ष निर्णय लिया, एतदर्थ मैं विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. धर्मपाल जी और शोध संस्थान के निदेशक डॉ. भारतभूषण जी विद्यालंकार का हार्दिक कृतज्ञ हूँ. सम्पादक के रूप में उन्होने जो श्रम किया है उसके बारे में कुछ भी कह सकना मेरे लिए असंभव सा ही है.

यदि इस कार्य से साहित्य को, विशेषतः 'विद्यावाचस्पति साहित्य' को कुछ भी योगदान मिला, तो मुझे यह सन्तोष होगा कि प्रदीर्घ काल का मेरा यह कठोर श्रम व्यर्थ नही गया है. यदि मेरे इस प्रयास से विद्वज्जनों, पाठकों एवं अध्येताओं को तनिक भी संतोष मिल सका, तो मैं स्वयं कृतकृत्य अनुभव करूँगा. इसके साथ ही सुविज्ञ तथा सहृदय साहित्यिक बंधुओं से नम्र निवेदन है कि यदि कहीं किसी प्रकार की भूल या अशुद्धि रह गई हो, तो अपनी उदारमना प्रकृति के अनुरूप सूचित कर कृतार्थ करें. इत्यलम्.

विनीत
प्रा. कुशलदेव कापसे
३९-रामानंद नगर
नांदेड(महाराष्ट्र)
पिन : ४३१ ६०२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

शिवालिक पर्वत की तलहटी में प्रसिद्ध पौराणिक बदरी वन के निकट, गंगापुत्री के तीर पर, लोक कल्याण हेतु गरल पायी शिव की ससुराल, दक्ष प्रजापति के ऐतिहासिक कनरवल नगर से पश्चिम की ओर सुरम्य वातावरण में बसा श्रद्धानन्द स्वामी के तप के पुंजी भूत रूप, गुरुकुल के सुरम्य प्रांगण में नाना विध वृक्षों से ढकी हुई सी, बीच बीच में पड़ते धूप के टुकडों से चितकवरी सी श्वेत वर्णी सीमेन्टेड सड़क पर एक आकृति उभर रही है। लम्बा कद, सुदीर्ध भुजाएँ, तीखी नाक, ऊँचा चौड़ा मस्तक, मजबूती से बन्द होठ, विशाल आँखों से टपकती दृढ़ता, सीधी सतरं पर काल के पार कुछ देखती सी प्रेम एवं सहज विश्वास से भरी दृष्टि, पतली छरहरी सी देह, सिंह सी निश्चित, धीर–गम्भीर चाल, खादी के श्वेत धोती कुरते का वेश, नंगे सिर, पैरों मे चप्पल पहने, अत्यन्त सात्विक पर परम प्रभावशाली व्यक्तित्व। यही वह रूप था जो गुरुकुल के हम छात्रों के मन मस्तिष्क पर छाया था। पर इस रूप के दर्शन का सौभाग्य हमें दूज के चाँद सा कभी कभी ही दिख पाता था परन्तु प्रत्येक ब्रहमचारी विस्तृत आकाश के समान इस व्यक्तित्व की अनुभूति से अपने को सहज जुड़ा पाता था क्योंकि उस समय गुरुकुल में कुलपति नहीं कुलपिता होते थे। यही वह रूप था जो हम छात्रों को पं. इन्द्रजी से जोड़े रखता था। भले ही हम दस वर्ष तक, सड़क के उस पार स्थित परिवार की ओर झाँक भी नही पाये थे। जहाँ दो कमरों के छोटे से मकान में यह दिव्य मूर्ति प्रतिष्ठित थी।

संस्कृत साहित्य की वृद्ध त्रयी की भाँति उस समय गुरुकुल में भी एक वृद्ध त्रयी थी जिनमें पं. इन्द्र जी, आचार्य प्रियव्रत जी और पं. धर्मपाल जी थे। एक सुदीर्ध काल तक इस त्रयी ने संस्था को मार्ग दर्शन एवं गति प्रदान की। तत्कालीन छात्र, अध्यापक एवं कर्मचारी इस त्रयी को आदर्श मानकर चलते रहे। सारे गुरुकुल में एक परिवार की सी अनुभूति थी, वहाँ न कोई छोटा था न कोई बड़ा। सहज विश्वास, कर्मनिष्ठा, सादगी पूर्ण जीवन, उच्च आदर्शो से प्रेरित मस्तिष्क इस संस्था का पाक्षेय था। आज के टयूशन प्रधान शैक्षणिक जगत में इस प्रकार के गुरुओं की कल्पना भी संभव नहीं है। विद्यालय में पढ़ाने के बाद सभी उपाध्याय भोजन करते ही आश्रम में आ जाते थे और अपने अपने विषय में कमजोर छात्रों को तब तक पढाते रहते थे, जब तक सायंकालीन विद्यालय की घंटी न बज जाये, और तब पुनः विद्यालय में पढाई प्रारम्भ हो जाती थी। यह परम्परा स्वामी श्रद्धानन्द के समय से निरन्तर चल रही थी। गुरुकुल की प्रार्थनावली में इस प्रकार की अनेकों प्रार्थनाएं थी। पं. इन्द्रजी की एक सुकृति की पंक्तियाँ हैं।

"राग द्वेष को दूर भगाकर, प्रेम मंत्र का जाप करें हम।
तब वन्दन हे नाथ करें हम,
फूले गुरुकुल की फुलवारी, विद्यामधु का पान करें हम"

पं. इन्द्र जी संसद् के कार्यों से जब भी अवकाश पाते थे वह गरुकुल में आ जाते थे। यदि वह पत्रकार न होते तो एक सफल प्राध्यापक होते। जब–जब उन्होनें गुरुकुल में अध्यापन कार्य किया उनके छात्र उनसे अत्यन्त प्रभावित रहे। इतिहास उनका प्रियविषय था। गुरुकुल में दी जाने वाली शिक्षा पूर्णतः राष्ट्रीय थी क्योंकि आर्यसमाजियों का "बाईबल" सत्यार्थ प्रकाश देशभक्ति के भावों से ओतप्रोत है। गुरुकुल में इतिहास इस प्रकार पढाया जाता था जिससे ब्रह्मचारियों में देश भक्ति की भावना प्रदीप हो उनमें उपदेश एवं उदाहरणों के द्वारा देश के लिए उत्कट प्रेम पैदा किया जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। वे ऋषि दयानन्द के ग्यारहवें समुल्लास की इस आज्ञा का पालन करते थे कि "श्रद्धा और प्रेम से अपने तन–मन–धन सर्वस्व देशहित के लिए अर्पण कर दो"

इन्द्र जी के लेखन से भी स्पष्ट है कि उन्होनें साहित्य रचना में इतिहास को विशेष महत्व दिया। इतिहास के अध्यापन को अधिक गहन व महत्वपूर्ण बनाने के लिए उन्होंने गुरुकुल में एक ऐतिहासिक संग्रहालय की स्थापना की थी। इस संग्रहालय में प्राचीन इतिहास से सम्बद्ध एवं उपयोगी सामग्री एवं हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह किया गया था। पंडित जी स्वयं एक विद्याव्यसनी पुरुष थे इसलिए पुस्तकालय के साथ भी उनका विशेष स्नेह था। पुस्तकालय के विस्तार एवं उसके विकास के लिए वे सतत जागरुक रहते थे। अपना निजी पुस्तकालय भी उन्होंने गुरुकुल कांगडी को दान कर दिया था।

गुरुकुल एवं उसकी आदर्शात्मक स्थिति बारे में मि.सी. एफ. एण्ड्रूज ने १९१३ में 'माडर्नरिव्यू' (कलकत्ता) में एक लेख में लिखा था "जिस भारत को मैं जानता था, जिस भारत से मैं प्रेम करता था, जो भारत मेरे सपनों में था, वह मुझे यहाँ देखने को मिला। मैने अपने सम्मुख उस मातृभूमि को देखा जो न शोकातुर थी और न श्रान्त व क्लान्त, जिसमें अनन्त अनश्वर यौवन था, जो बसन्त के समान ताजा व नवयौवना थी, यहाँ गुरुकुल में यह नवभारत विद्यमान था।"

१९१३ में गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के विरोध में सत्याग्रह आन्दोलन चला रहे थे। भारत में श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने इस सत्याग्रह के लिए धन की अपील की। तब गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने अपना घी–दूध छोड़कर बचत करके तथा हरिद्वार में गंगा पर बन रहे दूधिया बांध में साधारण मजदूरों की भाँति काम करके १५०० रुपये मजदूरी भी गोखले को भेज दी थी। तब गांधी जी को सूचना देते हुए महात्मा मुंशीराम को लिखा था "दिल हिला देने वाले इस देशभक्ति पूर्ण कार्य के लिए मैं उनको क्या धन्यवाद दूँ..... भारतमाता की सेवा के लिए त्याग और श्रद्धा का जो आदर्श उन्होंने देश के युवकों तथा वृद्धों के सम्मुख उपस्थित किया है, उसकी अन्तकरण से प्रशंसा किये बिना मैं नही रह सकता।" महात्मा गांधी अपने फोनिक्स आश्रम के छात्रों के साथ जब भारत आये तो अपने विद्यार्थियो के लिए सर्वोत्तम स्थान उन्होंने गुरुकुल कांगडी को ही समझा था गांधी जी को दिये गए अभिनन्दन पत्र की कुछ पंक्तियां इस प्रकार थीं "मातृभूमि के वस्त्र फटे हुए हैं, दिन प्रतिदिन उसे कृशता धेर रही है, शरीर कांटों से छिदा हुआ है, रुधिर बह रहा है। ऐसे समय में आप ही की ओर वह स्नेह और आशा से देख रही है। आप ही दूसरी जातियों में उसका मुख उज्वल करने वाले हैं। आप स्वाधीनता के दिव्य मन्त्र से दीक्षित हैं, जातीयता की नौका के कर्णधार हैं। देशभक्तों के सर्वस्व हैं। इस कुल में पूजनीय अतिथि हैं।" प्रारम्भ से ही गुरुकुल का वातावरण देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावनाओं में किस प्रकार परिपूर्ण था और वहाँ के ब्रह्मचारी तथा अध्यापक मातृभूमि की दुर्दशा को किसप्रकार अनुभव करते थे इसे समझने के लिए ये निम्न पंक्तियाँ पर्याप्त हैं। यही कारण था कि गुरुकुल में पधारे वायसराय के स्वागत के समय भी गुरुकुल ने अपनी भारतीयता नहीं छोड़ी थी।

इस प्रकार की पृष्ठभूमि में विद्यार्थियों ने जो गीत तैयार किये थे वे ही इस संस्था के पुण्य श्लोक बन गए थें।

प्राणों से हमको प्यारा, कुल हो सदा हमारा
कट जाये सिर न झुकना यह मन्त्र जपने वाले
वीरों का जन्मदाता, कुल हो सदा हमारा
स्वाधीन्य दीक्षितों पर सब कुछ लुटाने वाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धनियों का जन्म दाता, कुल हो सदा हमारा
आजन्म ब्रह्मचारी ज्योति जगा गया है
अनुरूप पुत्र उसका, कुल हो सदा हमारा।

इस प्रकार के अनेकों गीत गुरुकुल के विद्यार्थियों की भावना के अनुरूप ही थे। इसी से "सद्धर्म प्रचारक" में स्वाधीनता के लिए मर मिटने वाले राष्ट्र भक्त स्वतंत्रता सेनानियों से सम्बन्धित आग उगलने वाली टिप्पणियों से प्रभावित होकर गणेश शंकर विद्यार्थी इन्द्रजी से मिलने कानपुर से हरिद्वार पधारे। इन्द्र जी के साहित्य में भी क्रान्तिकारी चेतना का विस्फोट उपलब्ध है। निष्काम राष्ट्र सेवा, स्वातन्त्रय की कसक, बलिदान का संकल्प, नवचेतना का उन्मेष उनमें भरा पड़ा है। एक उद्‌बोधन देखिये

जागो प्रमाद छोड़ो, कसकर कमर खड़े हो।
देखो तुम्हारी जननी तुमको बुला रही है
दुनिया को फिर जगा दो, सुन लो वह ध्यान धरके
बलिकुण्ड से उमड़ती, जयमाल आ रही है।

छात्र जीवन में ही इन्द्र जी का यह विचार हो गया था कि "दासों का धर्म कभी नहीं फैलता" और तब उन्होनें यह गीत लिखा था –

हे मातृभूमि तेरे चरणों में सिर नवाऊँ
मैं भक्तिभेंट अपनी तेरी शरण में लाऊँ।
तेरे ही काम आऊँ, तेरा ही मन्त्र गाऊँ,
मन और देह तुझ पर बलिदान मैं चढ़ाऊँ।।

गुरुकुल का वर्णन करते हुए इन्द्रजी ने लिखा है "हमारे रहने का स्थान खैर और बेरी के घने जंगलों से घिरा था, कहीं कहीं विल्ब के पड़े थें, इन पेड़ों की बहुतायत के कारण वह जंगल वस्तुतः 'कण्टकाकीर्ण' शब्द का अधिकारी था। नीचे काँटे, उपर काँटे, और चारों तरफ भी काँटे ही काँटे। स्नान के लिए सिर्फ गंगा की धारा थी और क्रीड़ा क्षेत्र का आनन्द गंगा तट की बालू से लिया जाता था। ऐसी दुनिया में हम रहते थे।" उन काँटों मे जो फूल खिले थे उन्होंने राष्ट्र की बगिया को महकाने में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया था। छात्रावस्था में ही ब्रह्मचारी इन्द्र कवि और मन्त्रकार के रुप में उभरने लगाा था अतः किसी एक पन्थ से बंध न सके इन्द्र। डा. विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार "उनकी विचारधारा में उच्चस्तरीय उदारता और विराटता का समावेश हो गया था। राष्ट्रसेवा के धरातल पर उनका दृष्टिकोण व्यापक होने के साथ सबके सुख की कामना से ओत प्रोत होकर बुद्धिवादी बन गया था।" इन्द्र जी ने लिखा है कि "शत्रुओं से नरमी और हितैषियों पर सख्ती, यह कायरता तो है ही अदूरदर्शिता भी। वीरता और उदारता का तकाजा यह है कि शत्रुओं के लिए धनुष पर सदा तीर चढा रहे, और प्रजा पर पिता की सी उदार वृत्ति रहे"

इन्द्रजी ने गुरुकुल कांगड़ी की आजीवन निष्ठापूर्वक सेवा की वे इस संस्था की उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। स्नातक बनने पर उन्होंने व्रत लिया था– मैं शक्तिभर स्वधर्म और स्वदेश की सेवा में अपना जीवन लगाऊँगा। वे सारा जीवन अपने व्रत का पालन करते रहे। गुरुकुल के लिए वे सदैव समर्पित रहे। उनके नेतृत्व में गुरुकुल ने चहुँमुखी प्रगति की । यहाँ पर अनेक नये–नये विभाग खुले। विज्ञान, कृषि तथा अन्य विषयों के शिक्षण की भी व्यवस्था की गई। १९५८ में पं. जवाहरलाल नेहरु ने गुरुकुल कांगडी के विज्ञान भवन का उद्‌घाटन किया। उस समय उन्होंने कहा था "मुझे अपनी सभ्यता पर गर्व है। यह अच्छी और महान दोनों है। यह प्रेरणा दायक है। आर्थिक और राजनीतिक तरक्की के लिए यह जरुरी है कि हम वैज्ञानिक तरीके अपनाएँ और अपने कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखें। आज की वैज्ञानिक संस्कृति और पुरानी संस्कृति, दोनों में मेल होना आवश्यक है। ..... गुरुकुल का इस देश की प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान है। ऐसी संस्था को छात्र संख्या या इस प्रकार की कमियों के लिहाज से नहीं देखा जाना चाहिए।" पं. इन्द्र विद्या वाचस्पति ने इस दिशा में यथा शक्ति प्रयास किया और वे अपने उद्देश्यों में सफल भी हुए। पंडितजी की कृपा से गुरुकुल कांगड़ी में अनेक राष्ट्रीय नेताओं का आगमन हुआ। इन पंक्तियों के लेखक को अच्छी तरह याद है जब पंडित जी हम छात्रों के बीच आते थे तो वे हमसे पूछ लिया करते थे इस बार दीक्षान्त पर किस को आमन्त्रित किया जाये। हम छात्र उसी व्यक्ति को दीक्षान्त में अपने मध्य उपस्थित पाते थे। उस समय की गुरुकुल की परम्परा के अनुसार दीक्षान्त व्याख्यान के उपरान्त विशिष्ट अतिथि छात्रों के अतिथि हो जाते थे। उस दिन के भोजन की व्यवस्था उस दिन स्नातक हो रहे छात्रों की ओर से होती थी। विशिष्ट अतिथि भी छात्रों के साथ पंक्तिवद्ध बैठकर भंडार में भोजन एवं आश्रम में विश्राम करते थे। अधिकारी गण केवल उनका साथ देते थे। इस प्रकार छात्रों को विशिष्ट व्यक्तियों के स्वभाव, विचारधारा एवं व्यक्तित्व को निकट से देखने व परखने का सौभाग्य पंडित जी की कृपा से प्राप्त होता रहा था।

पं. सुखदेव जी विद्यावाचस्पति दर्शनाचार्य ने एक बार सुनाया था कि "हम गुरुकुल कांगड़ी में उस समय (पुण्य भूमि में) महाविद्यालय की कक्षाओं में पढ़ रहे थे। पं. इन्द्र जी हमारे प्राध्यापक थे, हम से एक भूल हो गई, उन्होंने हमें बुलाया, समझाया, कहा स्वयं ही पश्चाताप करलो, पश्चाताप से हृदय की शुद्धि हो जाती है। मन की मलिनता धुल जाती है। भविष्य में व्यक्ति भूल नही करता। इसके बहुत समय बाद जब आयुर्वेद कॉलेज की मान्यता के लिए उसके सरकारीकरण के लिए छात्रों ने माँग रखी। ताकि सरकारी नौकरी मिल सके। छात्रों ने बिना नोटिस दिये भूखहड़ताल प्रारम्भ कर दी, तुरन्त पंडित जी देहली से आये और उन्होंने छात्रों व अधिकारियों से वार्तालाप किया। परन्तु कोई परिणाम न निकलने पर पं. इन्द्रजी ने घर आकर कहा – मेरे छात्र भूखे हैं अतः आज भोजन नहीं बनेगा" उनके सेवक की कृपा से यह सूचना तुरन्त सारे परिसर में फैल गई और किसी अधिकारी या अध्यापक के घर चूल्हा नहीं जला। जब छात्रों को पंडित जी द्वारा अपने रुग्ण एवं दुर्बल शरीर पर इस प्रकार का अत्याचार होने की सूचना मिली तो वह हड़ताल तुरन्त समाप्त हो गई। और छात्रों ने इन्द्र जी को अपने साथ भंडार में बैठाकर भोजन कराया। काफी सालों बाद यह कालेज उत्तर प्रदेश के सभी आयुर्वेद कालेजों के साथ सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया।

पंडित इन्द्र जी सादगी पसंद व आडम्बर विरोधी थे। एक बार प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर अपने नाटकों का मंचन करने हरिद्वार पधारे थे। पंडितजी ने उन्हें गुरुकुल में आमन्त्रित किया। सांय काल वेद मन्दिर के निकट आम के वृक्षों के नीचे दो कुर्सी एवं दरी बिछा दी गईं। न कोई प्रदर्शन न आडम्बर। मुझे अब भी स्मरण है कि पृथ्वीराज जी ने सुनाया था कि मेरे घर वालों ने मुझे भी गुरुकुल कांगड़ी में दाखिल कराया था। मेरे कुर्ते पर नारंगी रंग की स्याही से लिखा था "पृथ्वीराज कक्षा चार।" पर मेरे भाग्य में यहाँ का अन्न जल नहीं था। मैं यहाँ के तपस्वी जीवन को धारण नहीं कर सका और मैं घर भाग गया तथा वहाँ जाकर मैने घर वालो को पुनः यहाँ न भेजने के लिए राजी कर लिया। अन्यथा शायद मैं भी आज आप में से ही एक होता"

पंडित जी गुरुकुल की छात्र संख्या को लेकर कभी कभी चिंतित हो जाते थे। इस ओर वे सतत प्रयत्नशील भी थे। उनकी इच्छा थी कि गुरुकुल में एक इंजीनियरिंग कॉलेज खुले। उन्होने इसके लिए राजकीय अधिकारियों से भी बात की। उस समय सरकार कृषि सम्बन्धी योजनाओं एवं शिक्षा को बढाना चाहती थी। अतः उन्हें इस ओर विचार करने के लिए कहा गया। तब उनके प्रयत्नों से "ग्राम्य प्रशिक्षण केन्द्र" खुला। पुनः कृषि विद्यालय भी प्रारम्भ हो गया। उनकी इच्छा थी कि गुरुकुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को पर्याप्त टेक्नीकल विषय प्रारम्भ करने चाहिए। तभी उनके मन में यह इच्छा हुई कि गुरुकुल को विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हो। इससे छात्र संख्या एवं अर्थ व्यवस्था दोनों में सुधार आयेगा। इस सम्बन्ध में वे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के तत्कालीन चेयरमैन से भी मिले थे। उनके जीवन काल में तो गुरुकुल को विश्वविद्यालय की मान्यता न मिल सकी, पर उनकी मृत्यु के कुछ समय बाद ही उनका बोया बीज अंकुरित होकर पल्लवित एवं पुष्पित होने लगा।

२३ जौलाई १९६० को पंडित इन्द्र जी की गुरुकुल से विदाई की गई। उन्हे गुरुकुल से विदा होना अच्छा नहीं लग रहा था। वे आजन्म गुरुकुल की ही सेवा करते रहना चाहते थे। उन्होंने अपने विदाई भाषण में कहा भी था "मैं गुरुकुल से विदाई की तो स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता था। मैं कहीं भी किसी भी रूप में रहूँ गुरुकुल से पृथक् नहीं हो सकता, ये मेरा प्राण तत्व है।" इसीलिए उन्होने गुरुकुल परिसर में ही एक फूस की कुटिया बनवाई थी। वे चाहते थे कि यहीं रहकर मैं अपने लेखन कार्य को मूर्त रूप प्रदान करुँ। इस विदाई का उनके हृदय पर घातक प्रभाव पड़ा। २३ जौलाई को उनकी विदाई हुई थी और ठीक एक मास बाद २३ अगस्त को उनका देहान्त हो गया। यह भी उल्लेखनीय है कि २३ दिसम्बर को ही स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान हुआ था।

२४ अगस्त को गुरुकुल में सूचना मिली कि इन्द्र जी का देहली में देहान्त हो गया है। सम्पूर्ण गुरुकुल इस सूचना से स्तब्ध रह गया। गुरुकुल से बस व ट्रकों से सारा गुरुकुल देहली पहुँच गया। उनके निवास स्थान "इन्द्र लोक" से एक विशाल यात्रा उस महापुरुष को अपनी श्रद्धाञ्जली अर्पित करने के लिए चल पड़ी, श्मशान भूमि में पावन वैदिक ऋचाओं के उच्चारण के मध्य, घृत एवं सुगन्धित द्रव्यों की असंख्य आहुतियों के मध्य आग की लपटों के माध्यम से वह देह पंच तत्व में विलीन हो गई। ऐसे ही लोगों के लिए उपनिषद्कार ने कहा है" ते सूर्य लोके विरजाः प्रयान्ति"

उनके साहित्य, धर्म, राजनीति, पत्रकारिता आदि विषयें को लेकर अनेक लेख लिखे गए। उनकें पत्रिकाओं ने अपने विशेषाङ्क निकाले और अपनी अपनी तरह से उन्हें श्रद्धाञ्जलियां अर्पित कीं। जिन लोगों को उनके साथ काम करने, वार्तालाप करने या फिर देखने का सौभाग्य मिला था। वे उन पलों को सदा को चिरस्मरणीय बनाये रखने का प्रयास करते रहते हैं। ऐसे महामानव को हमारा कोटिशः नमस्कार।

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के शताब्दी समारोह के निकट आने पर उस महापुरुष को एक विनम्र श्रद्धाञ्जलि प्रदान करने की प्रेरणा मान्य कुलपति जी द्वारा प्राप्त हुई। इन्द्र जी का गुरुकुल के अतिरिक्त एक लेखक एवं पत्रकार के रूप में बड़ा विशाल एवं भव्य स्वरुप है। उस स्वरुप के साथ हिन्दी साहित्य में न्याय नहीं हो सका। इसी विचार धारा को दृष्टिगत करते हुए श्री कुशलदेव शंकरदेव कापसे की इस कृति को जन सामान्य के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हार्दिक प्रसन्नता है। यह पंडित इन्द्र विद्या वाचस्पति के ऋण से उऋण होने का एक अत्यन्त लघु प्रयास है।

संपादक
भारत भूषण विद्यालंकार
निदेशक श्रद्धानन्द शोध एवं प्रकाशन संस्थान
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय सूची

१.	युगीन परिवेश	१
२.	इन्द्र विद्यावाचस्पति : जीवनी एवं व्यक्तित्व	१२
३.	विद्यावाचस्पति जी का संस्मरण साहित्य	४१
४.	विद्यावाचस्पति जी का जीवनी साहित्य	६१
५.	विद्यावाचस्पति जी का उपन्यास साहित्य	८१
६.	विद्यावाचस्पति जी की पत्रकारिता	१०२
७.	संस्कृत वाङ्मय के अनुवादक और भाष्यकार	१२३
८.	विद्यावाचस्पति जी का इतिहास एवं राजनीतिक विषयक चिंतन	१३८
९.	भारतीय संस्कृति के व्याख्याकार : साहित्यवाचस्पति पं. इन्द्र	१६४
१०.	विद्यावाचस्पति जी : निबन्धकार, कवि और नाटककार के रूप में	१८५
११.	विद्यावाचस्पति जी की भाषा–शैली	२०६
१२.	उपसंहार : विद्यावाचस्पति जी की हिन्दी साहित्य को देन	२२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१

युगीन परिवेश

साहित्य समाज का दर्पण है. धरती की सत्य परिस्थितियों का अंकन, साहित्यकार हित और रसात्मकता का ध्यान रखते हुये किया करता है. सत्यात्मक वाक्य जब रसात्मक हो जाते हैं, तभी साहित्य कहलाते हैं.[१] शैशव, यौवन और प्रौढ़त्व में जो परिस्थितियाँ साहित्यकार को प्रभावित करती हैं, अनायास वह उसके साहित्य में अवतरित हो जाती हैं, कोई भी साहित्यकार अपने परिवेश से नितांत कटकर साहित्यकार के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में समर्थ हो ही नहीं सकता है. साहित्यकार शून्य में रचना कदापि नहीं कर सकता. पत्रकार पं. इंद्र विद्यावाचस्पति के साहित्य पर तो तत्कालीन परिस्थितियों की विशिष्ट छाप रही है. उस युग की परिस्थितियाँ क्रान्तिकारी थीं, और नवनूतन परिवर्तन लाने वाली थीं. साहित्यकार पं. इन्द्र जी के साहित्य को जिन विशेष परिस्थितियों ने प्रभावित किया उनमें निम्नांकित की चर्चा आवश्यक है.

१.१ राजनीतिक परिस्थितिः-

सन् १८५७ की क्रांति के पश्चात् कंपनी से सत्ता की बागड़ोर ब्रिटिश पार्लियामेंट ने अपने हाथ में ले ली, और उसने महारानी विक्टोरिया से कुछ घोषणायें करवायीं, जिनके द्वारा भारतीयों के धार्मिक स्वातंत्र्य को अक्षुण्ण बनाये रखने व उनके साथ उदारता और सहिष्णुता का व्यवहार किए जाने का आश्वासन दिया गया, पर महारानी विक्टोरिया की घोषणा के पश्चात् भी भारतीयों की दशा में अपेक्षित सुधार न हुआ. 'भारत भारतवासियों के लिए' की घोषणा करने वाले महर्षि दयानंद ने १८७५ ई. में आर्यसमाज की स्थापना की. आर्यसमाज संगठन मुख्यतः धार्मिक होते हुये भी परोक्ष रूप से राजनीति से अभिन्न रहा है, उसका उद्देश्य धार्मिक और सामाजिक सुधार के साथ–साथ राष्ट्रीय भावोद्दीपन भी है.[२] आर्यसमाज का धर्म विषयक दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक है. उसका धर्म संस्कृति का पर्यायवाची है, अतः वह राजनीति के नाम से बिदकता नहीं है.[३] अंग्रेज शासक स्वामी दयानंद को उग्र राष्ट्रवादी एवं आर्यसमाज को अर्द्ध राजनीतिक संगठन मानते थे.[४] अंग्रेज–शासकों में कुछ ऐसे भी शासक थे जो भारत के प्रति सहानुभूति रखते थे और अंग्रेज शासकों को उनके दोष बतलाते थे, उनमें श्री मि. ह्यूम का नाम विशेष उल्लेखनीय है, इन्हीं की प्रेरणा से १८८५ ई. में भारतीय काँग्रेस का जन्म हुआ. जनता का ५० प्रतिशत प्रतिनिधित्व स्वीकार कराना काँग्रेस का प्रारम्भिक प्रमुख लक्ष्य था. दादाभाई नौरोजी, सुरेंद्रनाथ बॅनर्जी, फिरोजशाह मेहता, महादेव गोविंद रानड़े, गोपाल कृष्ण गोखले एवं मदनमोहन मालवीय काँग्रेस के नरम दल के नेता थे. वे शासन में शनैः शनैः सुधार लाने के पक्ष में थे. इसी कारण देशभक्ति और राजभक्ति दोनों प्रकार की धाराएँ समानान्तर रूप से बहने लगीं थीं. उसी समय की इस स्थिति के संबंध में डॉ. पट्टाभि सीतारमैय्या ने लिखा है 'हमारे इन पूर्व पुरूषों ने अंग्रेजों और इंग्लैण्ड के प्रति जो विश्वास रखा, वह कभी दयाजनित और हेय मालूम देता था, परंतु हमारा कर्तव्य तो यही है कि हम उनकी मर्यादाओं को समझें.[५] उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में श्री लोकमान्य तिलक राष्ट्रीय आंदोलन के उग्र दल के नेता के रूप में अग्रणी हुये. राजद्रोह में दंडित होने के बावजूद भी अविचलित रहने वाले उनके दृढ़ व्यक्तित्व ने राष्ट्रीय भावनाओं में उग्रता का समावेश किया. बाल गंगाधर तिलक के रूप में राष्ट्रीयता साकार हो उठी. तिलक पूर्ण भारतीयता के पक्षधर थे, स्वधर्म, आध्यात्मिकता तथा राजनीति की सुदृढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार भूमि पर वे राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे. इस सतह पर स्वामी दयानंद व लोकमान्य तिलक के विचारों में साम्य था. महर्षि दयानंद के राष्ट्रीय सांस्कृतिक विचार–प्रवाह को तिलक ने भारतीय राजनीति में साकार किया है. तिलक 'दयानंद को स्वराज्य का सर्वप्रथम संदेशवाहक' मानते थे.[६] इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्रप्रसाद कहते हैं, ''ऋषि दयानंद ने भारतोद्धार का जो सूत्र रचा, उसी का भाष्य आज महात्मा गांधी कर रहे हैं,[७]'' स्वामी दयानंद सरस्वती के प्रभाव को ध्यान में रखकर ही मिश्रबंधुओं ने भारतेंदु युग के प्रारंभिक काल को 'दयानंद काल' नाम दिया है. इसी तरह डॉ. जितराम पाठक सर्वस्वीकृत नाम 'द्विवेदी युग' को स्वीकारते हुए कहते हैं, ''द्विवेदी जी भाषा के साथ जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी सुधार कर मर्यादा की स्थापना करना चाहते थे. उन पर आर्यसमाज का सुधारवाद हावी रहा. राष्ट्रीय क्षेत्र में तिलक का प्रभाव इसके (दयानंद के) उत्तरार्द्ध में पड़ा इसलिए राष्ट्रीय काव्य पर पड़ने वाले प्रभाव की दृष्टि से इस युग का नामकरण 'दयानंद–युग' अथवा 'तिलक युग' किया जा सकता है.[८]'' मेरी दृष्टि में आलोच्य साहित्यकार को प्रभावित करने वाला जो परिवेश है, उसके आधार पर 'दयानंद–तिलक युग' नामकरण ही सार्थक है. यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता हे. दयानंद और तिलक की विचारधारा से राष्ट्रीय भावनाओं में उग्रता का समावेश हुआ है.

बीसवीं सदी के प्रारंभ होते ही सन् १९०१ ई. से (भारत के गवर्नर जनरल) लॉर्ड कर्जन का शासन प्रारंभ हुआ. निरंकुश एवं कठोर नीति वाले लॉर्ड कर्जन ने अपने दमन कार्य से भारतवासियों के हृदय में अंग्रेजी शासन विरोधी भावनाएं जागृत कीं. जनता का बढ़ता असंतोष १९०३ ई. में उभरकर सामने आया. भारतीयों पर अनुत्तरदायित्व का दोषारोपण कर उन्हें उच्च पदों से वंचित रखा गया. १९०५ में लार्ड कर्जन के बंग–भंग संबंधी निर्णय ने आग में घी का काम किया. जन–असंतोष, आंदोलन और विद्रोह के जन्मदाता बंग–भंग के संबंध में पं. जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं, ''१८५७ के विद्रोह के बाद पहली बार भारत लड़ने की क्षमता दिखा रहा था. विदेशी राज्य के सम्मुख पालतू पशु की तरह पराजित होकर दब नहीं रहा था.[९] ''सन् १९०५ में ही जापान द्वारा रूस की सामरिक पराजय से भारतवासियों में भी आत्मस्वातंत्र्य की भावना जागृत हुई. सन् १९०६ में काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में श्री दादाभाई नौरोजी ने सर्वप्रथम स्वराज्य का प्रस्ताव प्रस्तुत किया, इसी अधिवेशन में आपसी मतभेद के कारण काँग्रेस गरम दल और नरम दल के रूप में विभाजित हुई. इसी वर्ष राजनीतिक एवं सांप्रदायिक स्तर पर भारतीय मुसलमानों के दल 'मुस्लिम लीग' का भी उदय हुआ. १९०८ में 'युगांतर', 'संध्या', 'वंदेमातरम्' जैसे क्रांतिकारी पत्रों पर प्रतिबंध लगाया गया. सन् १९०९ की 'मिंटो–मार्ले सुधार' योजना जनता को किसी प्रकार संतुष्ट न कर सकी. सन् १९०९ में मुस्लिमों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र बना. इस घटना ने मुस्लिम लीग की विशिष्ट सहायता की. 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति में माहिर अंग्रेजों को मुस्लिम लीग के निर्माण पर अत्यंत हर्ष हुआ. ''वाइसराय की पत्नी मेरी मिण्टो ने अपनी दैनंदिनी में मुसलमानों की प्रशंसा की है[१०]'', किन्तु देश की भावनात्मक एकता और कल्याण की दृष्टि से पृथक् निर्वाचन प्रणाली अत्यंत ही दुःखदायी रही. सन् १९१० में ब्रिटिश सिंहासन पर पंचम जॉर्ज आरूढ़ हुए और सन् १९११ ई. में रानी मेरी सहित उनके भारत आगमन के अवसर पर दिल्ली में विशाल दरबार का आयोजन किया गया. भारत की राजधानी कलकत्ता से हटाकर दिल्ली उसी समय लाई गई. भारतीय जनमानस में ब्रिटिश–शासन के प्रति तीव्र रोष उत्पन्न हो चुका था. इस राजनीतिक चेतना का प्रधान कारण भारत के साथ अन्य राष्ट्रों का बढ़ता हुआ संपर्क भी था. दक्षिण अफ्रीका के बोअर–युद्ध, विद्रोह और सत्याग्रह आदि में महात्मा गांधी की सेवा कार्य से राष्ट्र के जीवन में नवीन स्फूर्ति का संचार हुआ, इसके बाद विश्वयुद्ध (सन् १९१४–१९१८) से भारत में अंतराष्ट्रीय चेतना का सर्वाधिक संचार हुआ, और उसने अनुभव किया कि विश्व की प्रत्येक घटना उसके लिए महत्व रखती है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन् १९१५ में भारत के महान सपूत गोपाल कृष्ण गोखले के निधन के पश्चात् गरम दल का बोल बाला हो गया. प्रतिभा–संपन्न आयरिश महिला श्रीमति ऐनीबेसेन्ट स्वराज्य के रणक्षेत्र में उतरीं, और उन्होंने होमरूल लीग की ओर से राष्ट्रीय आंदोलन का पुनरूज्जीवन किया. गरम और नरम, दोनों इन्हीं के शुभ उद्योग से एक ही व्याख्यान वेदी (लखनऊ अधिवेशनः १९१६) पर नजर आने लगे. १९१८ ई. में यूरोप का पहला महासंग्राम समाप्त हुआ. युद्ध के समय इंग्लैण्ड के शासकों ने हिंदुस्तानियों को स्वराज्य की बड़ी–बड़ी आशायें दिलायीं थीं. परंतु युद्ध विजय के बाद अंग्रेज–शासकों ने भारतवासियों को स्वराज्य की पहली किश्त रौलट ऐक्ट के रूप में पेश की. रोटी की आशा दिलाकर पत्थर भेंट किया गया. इस विश्वाराघात से देश की जनता का आक्रोश उग्र हो उठा. महात्मा गांधी ने अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा रौलट ऐक्ट का विरोध करने का निश्चय किया. सन् १९१६ में गांधीजी की तपस्यात्मक राजनीति में कदम रखने के उपरान्त सन् १९१९ में स्वामी श्रद्धानंद ने भी सक्रिय राजनीति में कदम रखा. रौलट ऐक्ट विरोधी पग उठाने में दिल्ली में सत्याग्रह कमेटी की स्थापना हुई, जिसके सर्वसामान्य नेता स्वामी श्रद्धानंद ही थे. आपने ३० मार्च १९१९ को रौलट ऐक्ट विरोधी जलूस का नेतृत्व करते हुए दिल्ली के घंटाघर के पास संगीनों के सामने छाती खोल दी थीं. आर्य सन्यासी की निर्भयता व देशभक्ति ने सारे राष्ट्र को प्रभावित किया. १३ अप्रैल १९१९ को अमृतसर के जलियाँवाले बाग में एक वृहत् सभा हुई. इस सभा का आयोजन श्री हंसराज ने डी.ए.वी. कालेज के छात्रों की सहायता से किया था. सभा में महात्मा गांधी, डॉ. सत्यपाल एवं डॉ. किचलू की रिहाई की माँग की गई व रौलट ऐक्ट को काला कानून बताकर उसकी भर्त्सना की गई. जब जनरल डायर ने गोली दागनी आरंभ की, तब श्री हंसराज का भाषण चल रहा था. वे इस हत्याकांड के प्रमुख शिकार थे.[११] लोगों को चेतावनी दिये बिना जनरल डायर ने ३०३ नंबर की १६५० गोलियां चलवाई और यह पाशविक गोलीकांड तभी बंद हुआ जब गोली बारूद जवाब दे गया.[१२] इस पाशविक हत्याकांड का राष्ट्र के मन और मस्तिष्क पर व्यापक प्रभाव पड़ा. सन् १९१९ के अंत में तिलक युग पर विरामचिह्न लगा और गांधी युग प्रारंभ हो गया. १९२० से १९४७ तक महात्मा गांधी के सर्वोन्नत व प्रभावशाली स्वर ने करोड़ों भारतवासियों के हृदय पर एकच्छत्र शासन किया. इसके साथ–साथ उग्रपंथी व आतंकवादी क्रांतियों का आंदोलन भी चलता रहा. सन् १९२०–२१ में असहयोग आंदोलन के माध्यम से राष्ट्रीय उत्साह देश के प्रत्येक भाग में छा गया. दिसंबर १९२७ ई. में राजेंद्र लाहिड़ी, रामप्रसाद बिस्मिल, अश्फाकउल्ला खाँ और ठाकुर रोशनसिंह देशहित में हंसते–हंसते फाँसी का फंदा चूम गये. फलतः सन् १९२८–२९ में राष्ट्र के छात्र–युवा वर्ग में राष्ट्रीय भावनायें पुनः प्रबल हुई. साइमन कमीशन का विरोध अखिल भारत में हड़ताल व विरोधी प्रदर्शनों द्वारा किया गया, 'साइमन कमीशन वापिस जाओ' का नारा लगाते हुए लाहौर में जलूस निकला. जिसका नेतृत्व पंजाब केसरी लाला लाजपतराय ने किया. नृशंस सरकार ने लाठी–चार्ज करवाया. फलतः लाला लाजपतराय की मृत्यु हो गयी, "मेरे ऊपर पड़ी एक–एक लाठी ब्रिटिश साम्राज्य की कफन की कील सिद्ध होगी"– पंजाब केसरी की इस भविष्यवाणी व शहादत का अदभुत प्रभाव पूरे राष्ट्र पर पड़ा. १९२९ के लाहौर काँग्रेस अधिवेशन में पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकार किया गया. १९३० में महात्मा गांधी त्रिविध कार्यक्रम 'सविनय अवज्ञा आंदोलन', 'दांडी यात्रा', व 'नमक कानून उल्लंघन' ने देश में विशिष्ट जन–जागृति की. 'बहरे कानों को धमाके की आवाज से झकझोरने वाली' क्रांतिकारी टोली के तीन सदस्य सर्वश्री सुखदेव, राजगुरू, भगतसिंह को फांसी हुई. राष्ट्रीय जागरण ने फिर जोश मारा. विद्यार्थी पुस्तक छोड़ सड़क पर आ गये. सन् १९३५ के बाद भारतीय राष्ट्रवाद समाजवादी विचारधारा से प्रभावित हुआ. इसी के परिणामस्वरूप १९३६ में काँग्रेस का अधिवेशन फैजपुर गांव में हुआ. १९३७ के निर्वाचन में काँग्रेस संयुक्त प्रांत, बंबई, मद्रास, बिहार, मध्यप्रांत और उड़ीसा में विजयी हुई.[१३] १ सितंबर १९३९ में द्वितीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वयुद्ध के छिड़ने पर अंग्रेजों ने भारत पर युद्ध में सम्मिलित होने का निर्णय लाद दिया. फलस्वरूप काँग्रेस के आठों मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया. जुलाई १९४० में नेताजी सुभाषचंद्र बोस को बंदी बना लिया गया. भारत में हुई सन् १९४२ की रक्तरंजित क्रांति असफल हुई. ३ जून १९४७ को गांधीजी ने विभाजन को स्वीकृति दी. यह विभाजन पंजाब और बंगाल के वक्षस्थलों को चीरता, कोटि–कोटि मानवों की लाशों पर पैर रखकर ही संपन्न हुआ. आजादी के बाद गांधीजी की मृत्यु होती है और उसके साथ नेहरू युग का प्रारंभ होता है. काँग्रेस की स्थापना से लेकर नेहरू युग तक की राजनीतिक गतिविधियों का स्पष्ट और सीधा प्रभाव पं. इंद्र विद्यावाचस्पति के व्यक्तित्व और साहित्य में परिलक्षित होता है.

१.२ सामाजिक परिस्थितिः-

१९ वीं सदी का भारतीय समाज अधःपतन की चरम सीमा पर था. 'देश गहरा सोया हुआ और अंध रूढ़ियों से ग्रस्त था.'[१४] सामाजिक विचारों में संकीर्णता व्याप्त हो चुकी थी. तत्कालीन भारत में बालविवाह, कन्या–वर विक्रय, अनमेल विवाह, बहुविवाह, पर्दा–प्रथा, सती–प्रथा, बालिकाओं का वध, नारी वर्ग के प्रति असीम अत्याचारों का विधान, जन्मगत जाति–पाति का ढोंग, अस्पृश्यता का भयानक रोग, मांस भक्षण, मदिरा सेवन, समुद्र–यात्रा का अस्वीकार, चौके–चूल्हे का आडंबर, स्त्रियों व तथाकथित शूद्रों के लिये पठन–पाठन का निषेध आदि–अनेक अंधविश्वासों का साम्राज्य फैला हुआ था. विधवाओं का करूण क्रंदन असह्य था, वे पुनर्विवाह के अधिकार से वंचित थीं. दहेज–प्रथा बड़ी भयानक थी. मध्य तथा पश्चिमी भारत के राजपूतों, जाटों, मेवातों में कन्या का जन्म होते ही उसे अफीम देकर या अन्य उपायों से मार दिया जाता था,[१५] ताकि कन्या के विवाह के समय दहेज आदि के कारण जो अपमान सहना पड़ता है, तथा परेशान होना पड़ता है, उससे मुक्ति मिल जाय. सवर्ण कहे जाने वाले हिंदुओं के कुओं से अछूत पानी नहीं भर सकते थे, उनका मंदिर प्रवेश भी निषिद्ध था. ब्राह्मण नायर के स्पर्श से दूषित समझे जाते थे. दक्षिण भारत में राज, बढ़ई, लुहार, चमार ब्राह्मणों को २४ फुट की दूरी से, ताड़ी निकालने वाला ३६ फुट की दूरी से, फेरूमान कृषक ४५ फुट की दूरी से अपवित्र कर देता था.[१६] अंधविश्वास, अज्ञान तथा नवीन साधनों के अभाव में भारतीय समाज कूपमंडूक व लकीर का फकीर बना हुआ था. ऐसी परिस्थिति में भारतवर्ष में पुनर्जागरण के सामाजिक आंदोलनों का उदय होना स्वाभाविक था. इन आंदोलनों का उद्देश्य भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़िवादिता की व्याधि को समाप्त करना व समाज को नई चेतना प्रदान करना था.

भारतीय नवजागरण के प्रथम ज्योतिर्धर राजा राममोहन राय ने सन् १९२८ ई. में ब्रह्मसमाज की स्थापना की. ब्रह्मसमाज ने समस्त संप्रदायों की अच्छाइयों का स्वागत किया और अंधविश्वासों को नष्ट करने के लिए सक्रियता के साथ विविध कदम उठाये. राजा राममोहन राय के आंदोलन के फलस्वरूप सन् १९२९ ई. में सती–प्रथा विरोधी कानून बना. फिर भी गतानुगतिकता व कदाचार की चक्की चलती ही रही. यह नहीं कह सकते कि इन कानूनों का सदा उचितरूप में उपयोग किया गया, अथवा इनका लाभप्रद ही प्रभाव पड़ा. हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इन कानूनों के निर्माण में पाश्चात्य भावना का प्रभाव था. भारतीय समाज के लिए तो परंपरा से कटकर जीना, धर्म विरहित जीवन जीने के समान था. सिख राज्य में सन् १८३९ ई. में महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद उनकी ग्यारह स्त्रियाँ सती हो गई थीं.[१७] जिस समय ब्रह्मसमाज की स्थापना हुई विज्ञान के प्रचार–प्रसार के फलस्वरूप पौराणिक आस्थाओं की जड़ें हिलने लगी थीं. राजा राममोहन राय के बाद इस संस्था को महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर व केशवचंद्र सेन ने गति दी. ईश्वरचंद्र विद्यासागर व सुरेंद्रनाथ बैनर्जी के प्रयत्नों से भी सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ, विद्यासागर जी के प्रयत्नों से १८५६ में विधवा विवाह का कानून बना श्री सुरेन्द्रनाथ बॅनर्जी के प्रयत्नों से अन्तर्जातीय विवाह, मादक द्रव्य निषेध और रात्रि पाठशालाओं के माध्यम से शिक्षा–प्रसार करने वाली अनेक संस्थाओं की स्थापना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
हुई. देश की इन्हीं दुःखद सामाजिक परिस्थितियों में स्वामी दयानंद (१८२४–१८८३) का आविर्भाव हुआ. उन्होंने धर्म पर होने वाले आघात व सामाजिक दुर्दशा से तिलमिलाकर १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना की. समकालीन सुधारकों की तुलना में स्वामी दयानंद का सामाजिक कार्य बहुमुखी व प्रभावशाली रहा. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला के शब्दों में 'स्त्री–शिक्षा विस्तार का अधिकांश श्रेय स्वामी दयानंद संस्थापित आर्यसमाज को दिया जा सकता है[१८]' दिनकर कहते हैं, "उत्तर भारत में हिंदुओं को जगाकर उन्हें प्रगतिशील करने का सारा श्रेय आर्यसमाज को ही हैं.[१९]" प्रेमचन्द ने लिखा है, "हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्यसमाज ने कदम उठाया....वर्ण व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत करने का सेहरा उसके सिर है[२०]". आर्यसमाज के इस बहुमुखी कार्य की प्रशंसा करते हुए सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने कहा था, 'स्वतंत्र भारत के संविधान में जिन आदर्शों का समावेश किया गया है, उनके लिए महर्षि दयानंद से प्रेरणा प्राप्त की गई है.[२१]' जहाँ आर्यसमाज की दृष्टि विशाल थी, वहाँ उसका क्षेत्र भी व्यापक था. ब्रह्मसमाज का क्षेत्र उच्च वर्ग तक ही सीमित रहा, जबकि आर्यसमाज उच्च वर्ग से निम्न वर्ग तक जुड़ा रहा. इसीलिये डॉ. रामरतन भटनागर ने लिखा है, "गांधीवादी चेतना को आर्यसमाज की पृष्ठभूमि आरंभ से ही प्राप्त थी, अतः उसे शिक्षित वर्ग से नीचे उतरकर जनता तक पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं पड़ी.[२२]" महर्षि के इस बहुमुखी कार्य की तुलना में राजा राममोहन राय आदि सुधारकों का कार्य अत्यंत सीमित था. इसीलिये श्री देवेंद्रनाथ मुखोपाध्याय ने स्वामीजी की तुलना में राजा राममोहन राय को "आंशिक सुधारक" स्वीकारा है[२३]. महर्षि दयानंद के इस कार्य की विशेषता यह थी कि "उनका कार्य पूर्णतः भारतीय संस्कृति की नींव पर खड़ा था, जबकि राजा राममोहन राय आदि पश्चिमी संस्कृति के अनुकरण द्वारा भारतीय समाज का विकास करना चाहते थे. तत्वतः कोई भी देश अंधानुकरण करके प्रगति नहीं कर सकता, क्योंकि व्यक्ति की स्वाधीनता विकास की पहली शर्त है[२४]. यूरोप के प्रभावस्वरूप ब्रह्मसमाज में बप्तिस्मा और पाप–क्षमा के सिद्धांतों तक को अपना लिया गया था, ब्रह्मसमाज में उत्तरोत्तर ईसाई तत्व बढ़ रहा था. निःसंदेह बिछुड़ों को गले लगाने, जातीयता के पाश को छिन्न भिन्न करने, छुआछूत के भूत को भगाने और स्त्रियों को सुशिक्षित व समुन्नत बनाने में आर्यसमाज सर्वाग्रणी रहा. उसने सुप्त, सड़ी–गली कुरीतियों से ग्रस्त भारतवासियों को झकझोर कर नई चेतना दी. आर्यसमाज के भगीरथ प्रयासों ने मध्ययुगीन रूढ़िगत मतों के स्थानों पर उन शक्तियों को जन्म दिया, जिसने आधुनिक भारत की नींव रखी. सम–सामायिक सामाजिक आंदोलनों में समाज–सुधार सर्वाधिक श्रेय आर्यसमाज को है. निःसंशय भारत के एक बड़े भू–भाग में आर्यसमाज ने अपनी समाज–सुधार की योजनाओं को कार्यान्वित किया है. महर्षि दयानंद के बाद इस संस्था को स्वामी श्रद्धानंद, लाला लाजपतरायजी ने विशिष्ट गति दी.

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में थियोसोफिकल सोसायटी का भी उल्लेखनीय स्थान है. थियोसोफिकल सोसायटी की अध्यक्षा एनीबेसेंट सच्चे हृदय से भारत भक्त और ऊँचे दर्जे की व्याख्यात्री थीं. श्रीमति एनीबेसेंट इंग्लैंड में जन्मी, पली और बढ़ी, परन्तु उनकी कर्मभूमि भारत ही रही. शुभ्र भारतीय परिधान में सदा विभूषित गौरांगना श्रीमति एनीबेसेंट को काशी के एक विद्वान ने 'सर्व शुक्ला सरस्वती' का विरूद् प्रदान किया था. उन्होंने जाति–प्रथा, स्त्री–शिक्षा और पिछड़ी जातियों के पुनरूत्थान संबंधित अपने अनेक भाषणों द्वारा समाज–सुधार के कार्य को विशिष्ट गति दी थी. भारतीय महिलाओं को तो उनसे विशिष्ट प्रेरणा मिली. देश की जागृति में उनका योगदान प्रशंसनीय रहा है. 'कालातर में थियोसॉफी का आंदोलन शिष्ट और शिक्षित लोगों के बुद्धिविलास का क्रीड़ा कानन बन गया.'[२५] रामकृष्ण परमहंस ने कांचन–कामिनी व वासनाओं का परित्याग करके समाज को उदात्त भाव–भूमि पर पहुँचाने की कोशिश की, उन्होंने अपने युवा शिष्यों द्वारा जन–मन से लोक–विमुख एवं अकर्मण्य बनाने वाली पलायनवादी प्रवृत्तियों को हटाने का भी अद्भुत कार्य किया.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामकृष्ण परमहंस के अनुयायी स्वामी विवेकानंद ने सन् १८९७ में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की. स्वामी विवेकानंद की समाज–सुधार की प्रक्रिया महर्षि दयानंद के समान प्रबल सशक्त क्रांतिकारी होने की अपेक्षा शिथिल ही थी. मूर्तिपूजा, पौराणिक कर्म–कांड व यत्किंचित् जातीयता की भावनाओं से भी वे चिपके हुए थे. देश को शक्तिशाली बनाने की बात करते हुये वे एक प्रकार से जातीयता का समर्थन ही करते हैं. उन्हीं के शब्दों में ''शक्ति–संचय जितना आवश्यक है, शक्ति–प्रसार भी उतना ही या उससे भी अधिक आवश्यक है. हृत्पिंड में रक्त का एकत्र होना तो आवश्यक है, पर उसका यदि सारे शरीर में संचालन न हुआ तो मृत्यु निश्चित है. समाज के कल्याण के लिये कुल तथा जाति विशेष में विद्या और शक्ति का एकत्र होना कुछ समय के लिये परम आवश्यक है, परंतु यह शक्ति सर्वत्र फैलने के लिये विकसित हुई है. यदि ऐसा न हुआ तो समाज–शरीर अवश्य तुरंत ही नष्ट हो जायेगा[२६]'' पौराणिक कर्मकांड के समर्थन में स्वामी विवेकानंद का कथन था कि, ''अंधविश्वासों के इस विशाल समूह में सुवर्ण एवं सत्य की कणिकायें हैं. क्या तुमने ऐसा साधन ढूँढ लिया है कि तुम सुवर्ण को सुरक्षित रखते हुये अशुद्धि को दूर कर सको?[२७]'' जातीयता व पौराणिक कर्मकांड संबंधी स्वामी विवेकानंद के ये कथन अप्रत्यक्ष रूप में सुधार कार्य के प्रबल अस्वीकार हैं. जहाँ रामकृष्ण मिशन की निरर्थक भारतीय रूढ़ियों की वैज्ञानिक व्याख्या समाज–सुधार की प्रगति में बाधक ही सिद्ध हुई, वहाँ रामकृष्ण मिशन की अस्पृश्यता विरोधी जैसी कट्टर भावनायें समाज–सुधार की प्रक्रिया में विशिष्ट रूप से सहायक सिद्ध हुई.'' रूग्ण–शुश्रुषा के लिए कार्य में अन्य कोई भारतीय धार्मिक आंदोलन रामकृष्ण मिशन की समता नहीं कर सकता.[२८]''

१९२० ई. से १९४७ तक महात्मा गांधी स्वराज्य प्राप्ति के लिए सक्रिय होने के साथ–साथ सामाजिक सुधार की दिशा में भी विशिष्ट रूप से प्रयत्नशील रहे, गांधीजी ने अपने सम–सामायिक आंदोलनों से प्रेरणा लेकर अस्पृश्यता उन्मूलन, दलितोद्धार, नारी उत्थान, आश्रम व्यवस्था का सक्रिय समर्थन किया. महात्मा गांधी ने लिखा है, 'स्वामी दयानंद हमारे लिये विरासत में जो मूल्यवान वस्तुएं छोड़ गये हैं, उनमें अस्पृश्यता के विरूद्ध उनकी स्पष्ट घोषणा निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण है'[२९]. 'महात्मा गांधी का राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन सफल न हुआ होता, यदि आर्यसमाज ने उससे लगभग ७० वर्ष पूर्व धार्मिक, सामाजिक सुधार आंदोलन का मंगलाचरण न किया होता. भारत के बड़े भू–भाग में समाज–सुधार की योजनाओं को कार्यान्वित करने का श्रेय आर्यसमाज को ही देना पड़ेगा'[३०]. महाकवि निराला ने लिखा है– 'हमें अपने सुधार के लिये क्या–क्या करना चाहिये, हमारे सामाजिक उन्नयन में कहाँ–कहाँ और क्या–क्या रूकावटें हैं, हमें मुक्ति के लिये कौन–सा मार्ग ग्रहण करना चाहिये, महर्षि दयानंद सरस्वती ने बहुत अच्छी तरह समझाया है'[३१].

इस प्रकार ब्रह्मसमाज–आर्यसमाज व थियोसोफिकल सोसाइटी ने अनेक सामाजिक कुरीतियों और कु प्राओं को सुधार कर नूतन एवं परिष्कृत सामाजिक मान्यताओं को प्रस्थापित किया, सर्वश्री ईश्वरचंद्र विद्यासागर, महादेव गोविंद रानड़े, सुरेंद्रनाथ बॅनर्जी, महात्मा गांधी, डॉ. भीमराव आंबेडकर प्रभृति महापुरुषों ने देश की सामाजिक स्थिति को सुधारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया. इन सभी महापुरुषों का ध्येय था सामाजिक व्यवस्था में रोग के समान उत्पन्न बुराइयों को दूर करना.

१.३ धार्मिक परिस्थिति:-

उन्नीसवीं शती से पूर्व भारत में जो सुधारक संत हुये उनका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय धर्म था. ब्रह्मसमाज ने उपनिषदों के समर्पित धर्म का प्रतिपादन किया तो, आर्यसमाज ने वैदिक धर्म की महत्ता को गति प्रदान की, और रामकृष्ण मिशन ने वेदांत धर्म की महिमा का प्रसार किया. प्रार्थनासमाज व थियोसोफिकल सोसाइटी भी इन संस्थाओं के कार्य को पुष्ट कर रहे थे. इन सभी के प्रयासों से विदेशी धार्मिक–सांस्कृतिक घुसपैठ को अवरूद्ध करने का सराहनीय कार्य हुआ. ब्रह्मसमाज,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्यसमाज व रामकृष्ण मिशन के आंदोलनात्मक कार्यों को पुनर्जागरण के विभिन्न चरणों के रूप में मान्यता मिली. राजा राममोहन राय ने 'उपनिषदों की ओर लौटने' का शंखनाद किया तो स्वामी दयानंद ने 'वेदों की ओर लौटो' की घोषणा की और रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद ने 'वेदांत की ओर' जनता को आकृष्ट किया. ब्रह्म–समाज, प्रार्थना–समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी व रामकृष्ण मिशन के संस्थापक व प्रसारक भारत के अतीत के प्रति आकर्षित होते हुये भी मानसिक दृष्टि से पश्चिमी सभ्यता व विचारधारा से प्रभावित थे ''पश्चिम में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य, राष्ट्रवाद, मानव मात्र के प्रति समानता और बंधुत्व के भाव, दास–प्रथा का उन्मूलन आदि जिन उदार विचारों का जन्म हुआ, वे निश्चित रूप से भारतवासियों में व्याप्त संकीर्णता, अनुदारता तथा रूढ़िवादिता के भावों का विनाश कर सकेंगे. यह उनकी सुनिश्चित धारणा थी,[३२]'' सम–सामायिक आंदोलनों में आर्यसमाज के संस्थापक ही एकमात्र ऐसे थे, जिन पर पाश्चात्य विचार–प्रणाली का किंचित् भी प्रभाव नहीं था. उनका आंदोलन समग्र रूप से भारतीय था. तत्कालीन ये सभी आंदोलन उदारतावादी थे. कालिदास की उक्ति 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' में उनका व्यावहारिक स्तर पर विश्वास था. ब्रह्मसमाज ने मूर्तिपूजा, बहुदेववाद आदि का तीव्र विरोध किया, पर ईसाइयत के प्रभाव से इसने बप्तिस्मा और पाप–क्षमा के सिद्धांतों को स्वीकार किया. प्रार्थनासमाज ब्रह्मसमाज का ही एक लघु संस्करण था, थियोसोफिकल सोसाइटी ने अस्पृश्यतादि का जहाँ सख्त विरोध किया वहाँ वह चमत्कार प्रदर्शन व पौराणिक रूढ़ियों के पंक में फँस गई. स्वामी विवेकानंद ने मानव–सेवा को आध्यात्मिक साधना तो बनाया, पर पौराणिक कर्मकांडों का क्रांतिकारी ढंग से विरोध करने का साहस वे भी नहीं कर पाये. सत्य ज्ञान के अनुसंधान करने वाले स्वामी दयानंद ने वैदिक कालीन सांस्कृतिक समृद्धि को फिर से लौटा लाने के लिये ही दुराग्रह रहित व यथार्थवादी भूमिका अपनायी. स्वामी दयानंद का भारतीय नवोत्थान में अद्वितीय योगदान रहा है. स्वामीजी द्वारा स्थापित आर्यसमाज के संदर्भ में. पं. जवाहरलाल नेहरू विश्लेषण करते हुए कहते हैं, 'आर्यसमाज इस्लाम तथा ईसाइयत के प्रभाव के विरूद्ध प्रतिक्रिया था. आंतरिक रूप में वह संगठनात्मक तथा सुधारात्मक आंदोलन और बाह्य आक्रमणों के बचाव के लिये वह एक रक्षात्मक दुर्ग था[३३]'. इसीलिये श्री रामधारीसिंह दिनकर कहते हैं, 'सांस्कृतिक क्षेत्र में भारत का आत्माभिमान दयानंद में निखरा.[३४]'

ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज आंदोलनों के प्रभाव में कतिपय भारतीय पाश्चात्य सभ्यता को श्रेष्ठ और भारतीय संस्कृति को हेय समझते थे. रोमा रोलाँ लिखते हैं – 'राजा राममोहन राय यह तो कभी चाहते ही नहीं थे कि इंग्लैण्ड को भारत से निकाल दिया जाय[३५], अपितु उनकी इच्छा थी कि वह यहाँ इस प्रकार जम जाय कि उसका रक्त, उसका सोना और उसके विचार भारतवासियों के साथ घुल–मिल जाय. इसके विपरीत पुनरूत्थान के द्रष्टा स्वामी दयानंद ने स्पष्ट लिखा था, 'अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों[३६].' 'कोई कितना ही करे परंतु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है. प्रजा पर माता पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है.[३७] वायसराय लार्ड नार्थ ब्रुक को स्वामी दयानंद ने स्पष्ट उत्तर दिया था ''मैं अपनी मातृभूमि को स्वच्छंद राष्ट्रों की पंक्ति में खड़ा देखना चाहता हूँ[३८]'' आर्यसमाज और रामकृष्ण मिशन के प्रचार–प्रभाव से देश ने स्वयं को ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के प्रारंभिक चरण की हीन भावना से मुक्त पाया. राष्ट्रीय पुनजार्गरण को प्रतिष्ठित करने में स्वामी दयानंद व विवेकानंद का महत्वपूर्ण योगदान है. इसीलिये रेम्जे मैकड़ानल्ड ने लिखा था, ''आर्यसमाज आक्रमक, उग्रवादी, तेजोमय, पुरूषार्थपूर्ण व प्रचारवादी आंदोलन है[३९]'' स्वामी विवेकानंद ने १८९३ ई. में शिकागो के सर्वधर्मसम्मेलन में भारतीय संस्कृति की विशिष्ट छाप डाली. स्वामी विवेकानंद के भाषण से प्रभावित होकर 'न्यूयार्क हेराल्ड' ने लिखा था, ''सर्वधर्मपरिषद् में विवेकानंद सबसे बड़े व्यक्ति हैं, उनका भाषण सुनने के बाद हम यह अनुभव करते हैं कि उस शिक्षित राष्ट्र (भारत) को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिशनरी भेजना कितना मूर्खतापूर्ण है.[४०]'' नोबेल पुरस्कार विजेता कवींद्र रवींद्र, योगी अरविंद व लोकमान्य तिलक ने भी भारतीय जन–जीवन में जागृति और सांस्कृतिक पुनरूत्थान में महत्वपूर्ण योगदान दिया. पूर्व और पश्चिम के मूलभूत विचारों तथा आदर्शों में इन सभी महापुरूषों ने समन्वय तथा ऐक्य स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया. रवींद्रनाथ ठाकुर ने सर्वधर्मसमभाव पर बल दिया तो अरविंद घोष ने राष्ट्रीय भावों को आध्यात्मिक क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का रूप दिया.[४१] और ''लोकमान्य तिलक ने सांस्कृतिक पुनर्जागरण के आधार पर राष्ट्रीयता का निर्माण किया.[४२]'' पुनर्जागरण की धारा को तिलक ने कर्मयोग से मंडित किया. इसीलिये श्री रामधारी सिंह दिनकर ने कहा है, ''गीता एक बार तो भगवान् कृष्ण के मुख से कही गयी थी, किन्तु दूसरी बार वह तिलक के द्वारा उद्‌गीत हुई है[४३]. लोकमान्य तिलक ने शिवाजी उत्सव की स्थापना करके और गणपति उत्सव को समयानुकूल नया रूप देकर पहले महाराष्ट्र और फिर सारे राष्ट्र को राष्ट्रीयता की यज्ञाग्नि से प्रकाशित किया. उन्होंने सांस्कृतिक–धार्मिक क्रिया–कलापों को राष्ट्रीयता के परिवेश में पूर्णतः प्रतिष्ठित किया.

इस प्रकार इस युग में सांस्कृतिक पुनरूत्थान की प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है. इस प्रवृत्ति के मूल में भारतीय व पाश्चात्य दोनों का प्रभाव रहा है. मैक्समूलर, गेटे जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय प्राचीन साहित्य के संबंध में जो महत्वपूर्ण अनुसंधानात्मक रचनायें प्रस्तुत कीं, उनसे भी भारत लाभान्वित हुआ, और अपनी प्राचीन थाती के प्रति उसमें गौरव–भावना जागी. भारतीय आंदोलनों व पाश्चात्य विद्वानों की प्रशंसा व विचारधारा ने भारतीय जन–मानस में सांस्कृतिक चेतना की एक अपूर्व लहर दौड़ा दी. सांस्कृतिक दृष्टि से यह युग अतीतोन्मुखी व पुनरूत्थानवादी है.

१.४ आर्थिक परिस्थितिः-

भारत में 'ब्रिटिश ईस्ट इंडिया' कंपनी का उद्देश्य ही भारत का आर्थिक शोषण कर अधिकाधिक धन संचय करना था. 'इसी कारण जिले का सर्वोच्च पदाधिकारी कलेक्टर कहा जाता था.[४४]' जॉन ब्राइट के अनुसार सन् १७५७ से १८५७ ई. तक का शासन काल 'अपराध पूर्ण शतवर्षीय शासन काल' के नाम से संबोधित किया जाता है.[४५] अर्थोपार्जन के साधन कृषि, वाणिज्य और कला–कौशल व देशांतर्गत उद्योग विदेशी साम्राज्यवाद के आधीन हो गये. नमक जैसी वस्तु पर भी ३०० प्रतिशत के लगभग उत्पादन शुल्क बिठाकर नमक व्यवसाय को नष्ट कर दिया गया[४६]. एक प्रकार से भारतीय लक्ष्मी परतंत्र होकर विदेशी शासकों के बंधन में पड़ गयी. भारतीय कुलियों की तो गुलाम हब्‌शियों से भी बदतर स्थिति हो गयी थी. ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा किये आर्थिक शोषण का यह परिणाम था कि जो आर्यावर्त्त सत्रहवीं शताब्दी तक 'सोने की चिड़िया' कहा जाता था वह दीन–हीन बन गया. इसी आर्यावर्त्त के संबंध में दो सदी बाद सर विलियम डिगबी लिखता है, ''बीसवीं सदी के शुरू में करीब दस करोड़ मनुष्य ऐसे हैं, जिन्हें किसी समय भी पेट भर अन्न नहीं मिल पाता[४७]'' एक अमेरिकी इतिहासकार लिखता है, ''शायद जबसे दुनिया शुरू हुई है, किसी भी पूँजी से इतना मुनाफा नहीं हुआ जितना की हिन्दुस्तान की लूट से.'' ब्रिटिश आर्थिक व्यवस्था में भारतवर्ष एक उपनिवेश मात्र और कच्चा माल देने वाले देश के रूप में रह गया. डॉ. कृष्णलाल इस युग का विवेचन करते हुए कहते हैं, ''मुसलमानों के शासन काल में अपने देश का रूपया देश में ही रहा, भोग–विलासिता राजा और नवाबों तक ही सीमित थी, साधारण जनता इससे बहुत दूर थी, परंतु अब देश का रूपया बाहर जाने लगा, जनता का रहन–सहन भी ऊँचा हो चला. आवश्यकताओं की निरंतर वृद्धि होती रही थी.[४८]'' परिणामस्वरूप 'पै धन विदेस चलि जात' की 'अतिख्वारी' भारतेन्दु को थी. अंग्रेजों ने उर्वर भारतभूति को निर्ममता से लूटा, जिधर उनकी कुदृष्टि पड़ी वहीं दारिद्रय छा गया.

भारतेंदु युग में देश की आर्थिक स्थिति बड़ी ही दयनीय बन गयी थी. यंत्रों के विकास के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
साथ ही आर्थिक शोषण व करों का एक नया अध्याय जुड़ गया था. भारात में स्टीम इंजिन, तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों का प्रचुर मात्रा में प्रचार हुआ, जिसका फल देश की औद्योगिक स्थिति के पक्ष में नहीं हुआ. १६११ में टाटा ने जमशेदपुर में लोहे और फौलाद का कारखाना खोला तथा अन्य उद्योग धंधों की भी नींव डाली, तो सरकार ने उन्हें कुदृष्टि से देखा. द्विवेदी युगीन भारत की आर्थिक दशा भारतेंदु युगीन भारत से कुछ विशेष अच्छी नहीं थी. विदेशी वस्तुओं से भारत का बाजार भर गया था, भारतीय उद्योग धंधे नष्ट कर दिये थे. विश्व–युद्ध काल में भारतीय सेना का पूरा खर्च देश पर आ पड़ा था. बढ़ते हुए करों ने देश की आर्थिक दशा को और दयनीय बना दिया था. अकाल और भुखमरी से पूरा देश छटपटा उठा था. उद्योग धंधों का अधिकांश लाभ अंग्रेज पूंजीपतियों को ही प्राप्त हुआ, बचे–खुचे धन–लाभ से भारतीय मिल–मालिकों का खजाना बढ़ा, पर जिन मजदूरों के कारण यह लाभ हुआ था, उनकी आर्थिक दशा तो दयनीय ही रही.

साहित्यिक क्षेत्र में भारतेंदु के नेतृत्व में आर्थिक नीति का विरोध शुरु हो गया था. भारतेंदु युग व द्विवेदी युग के साहित्यकारों ने आर्थिक शोषण व स्वदेशी आंदोलन को अपनी रचनाओं में स्थान दिया. इस युग में भारतीय जनता व उसके साहित्य में अपनी दरिद्रता एवं विदेशी शोषण से मुक्त होने की भावना प्रबुद्ध हुई. सामाजिक क्षेत्र में आर्यसमाज ने तथा राजनीतिक क्षेत्र में काँग्रेस ने विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार कर अंग्रेजों की आर्थिक एवं औद्योगिक नीति का विरोध किया.

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानंद ने स्वदेशी का समर्थन बंग–भंग विरोधी आंदोलन से बहुत पहले किया था. सन् १८७५ में प्रकाशित 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम संस्करण में स्वामी दयानंद ने नमक–कर और जंगल–कानून का भी विरोध किया है[४९], न्यायालयों में स्टैम्प शुल्क आदि की आलोचना भी इस आदिम 'सत्यार्थप्रकाश' में देखने को मिलती है[५०]. मार्च १८८३ ई. में जब स्वामी दयानंद जोधपुर रियासत में गये थे, तो उन्होंने महाराज से अपने राज्य के स्वदेशी वस्त्र उद्योग की सहायता करने की प्रेरणा दी थी. स्वामी दयानंद ने दीन–हीन–कृषक को 'राजाओं के राजा' कहकर सहानुभूति प्रकट की थी, 'व्यापारे वसति लक्ष्मी' के सिद्धांत में उनका विश्वास था. भारतीय वाणिज्य की प्रगति हेतु वे भारतीयों को विदेश भेजना चाहते थे[५१]. राष्ट्रोन्नति के लिए व्यापार का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा था, ''क्या बिना देश–देशांतर और द्वीप–दीपांतर में राज्य वा व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है.[५२]' आर्यसमाज ने अपनी शिक्षा संस्थाओं, पत्रों व नेताओं के माध्यम से स्वदेशी आन्दोलन में नये प्राण फूँके. १५ सितंबर १६०५ के 'सद्धर्म प्रचारक' ने स्वदेशी आंदोलन के समर्थन में प्रभावशाली संपादकीय लिखा था. स्वामी श्रद्धानंद की गुरुकुल शिक्षा प्रणाली 'स्व' के इस राष्ट्रीय भाव से सर्वाधिक ओतप्रोत थी. लाला लाजपतराय की तरह अन्य नेता भी स्वदेशी को देशभक्ति का पर्यायवाची शब्द मानते थे. आर्यसमाजी नेताओं ने स्वदेशी आंदोलन को सफल बनाने में अभूतपूर्व योगदान दिया. आर्यसमाज धर्मपूर्वक न्याय से अर्थोपार्जन करने व अर्जित धन के सदुपयोग पर सर्वाधिक बल देता है. उसके अनुसार धन का सदुपयोग निर्धनों की निर्धनता दूर करने और कला–कौशल के विकास में ही होना चाहिए. कानपुरी सेठ गुरुप्रसाद और प्रतापनारायण द्वारा मंदिर बनवाए जाने पर स्वामीजी ने उनसे कहा था, ''कोई कला–कौशल का कारखाना खोलते, जिससे देश और जाति का भला होता[५३].'' आर्यसमाज ने अपने देश की औद्योगिक उन्नति हेतु देश के लोगों से विदेश जाकर ज्ञान–विज्ञान उद्योग व्यवस्था सीखने का अनुरोध किया. इस हेतु एंग्लो वैदिक कॉलेज लाहौर में, १६०५ में जापानी भाषा सिखाने का प्रबंध भी किया गया[५४]. आर्यसमाज प्रवृत्ति मार्गी है, पर वह त्याग से भोग करने की विचारधारा का कट्टर समर्थक है. आर्यसमाज के इसी आर्थिक दृष्टिकोण से गांधी युग भी प्रभावित नजर आता है.

गांधी जी की आर्थिक नीति अपरिग्रह, अस्तेय, शरीरश्रम, ईमानदारी और स्वदेशी के आदर्शो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर निर्धारित थी. आर्थिक समता लाने के लिए वे हृदय परिवर्तन में विश्वास रखते थे. पूँजीपति के हृदय में भी वे दया, संवेदना के भाव जागृत करना चाहते थे. महात्मा गांधी पूँजीपतियों और जमींदारों को मजदूरों के ट्रस्टी (संरक्षक) बनाना चाहते थे. आर्थिक साम्य की स्थापना हेतु मालिकों के अधिकारों को छीनने व कानून की सहायता से उनकी संपत्ति को अधिकृत करने के पक्ष में वे कभी नहीं रहे. उनकी धारणा थी कि इस तरह से परस्पर सौमनस्य नष्ट हो जायेगा. विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के निमित्त उन्होंने स्वदेशी आंदोलन का नेतृत्व व प्रचार किया. उन्होंने कहा था, ''हमारे राष्ट्रीय स्कूल 'चर्खा–शाला' होने चाहिएँ. चर्खे के द्वारा ही हम युवकों को सहस्त्रों की संख्या में काम दे सकेंगे और जनता की धन–वृद्धि में सहायक हो सकेंगे.[५५]'' प्रसिद्ध विचारक रसेल की तरह गांधीजी मशीनों के विरोधी थे. 'वे सभ्यता की नींव नगरों के उद्योगों पर नहीं, किन्तु ग्रामोद्योगों पर आधारित रखना चाहते थे[५६]. ' 'यंत्रों के कारण असंख्य लोगों का शोषण होता है और बेकारी भी बढ़ती है' यह उनका दृढ़ मत था. वे यह भी मानते थे कि यंत्रों से धन का केंद्रीकरण होता है. महात्मा गांधी धन का विकेन्द्रीकरण चाहते थे. उनका कहना था, 'भारतीय किसानों के लिए हाथ करघा इसलिये विशेष उपयोगी है, क्योंकि इससे उन्हें अपनी बेकारी दूर करने में सहायता मिलती है.[५७] वे उन सभी वस्तुओं के प्रयोग के विरोधी थे, जिससे देश का धन विदेश जाता है. गांधी युग (सन् १९२०–१९४७ ई.) की समूची राजनीति स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन के चारों तरफ घूमती है. दयानंद का नेतृत्व स्वीकार करने वाले आर्यसमाज व गांधी का नेतृत्व स्वीकार करने वाली काँग्रेस ने अंग्रेजों की आर्थिक नीति के विरोध में जो प्रतिरोध की नीति अपनायी, वह अभिन्न थी, उसका कार्यक्रम था – अंग्रेजी माल का बहिष्कार व स्वदेशीं का प्रचार, सरकारी शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार व राष्ट्रीय स्कूल कॉलेजों की स्थापना, सरकारी न्यायालयों का बहिष्कार व विवादों के निर्णय के लिये पंचायतों की स्थापना, न्याय और ईमानदारी से अर्थोपार्जन करने के लिये आर्यसमाज व काँग्रेस दोनों ने ही समान रूप से बल दिया. इन संस्थाओं द्वारा संचालित स्वदेशी आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन का एक प्रमुख अंग बन गया था. इन आंदोलनों के कारण देशी उद्योग–धंधों और व्यवसायों की प्रगति को गति मिली.

भारतेंदु–द्विवेदी युग के पश्चात् छायावाद काल में पूँजिपतियों तथा गांवों के सेठ–साहूकारों की स्थिति ठीक रही, पर किसान–मजदूर ऋण के बोझ से लदे रहे. इस विषय आर्थिक स्थिति ने तत्कालीन जनजीवन और साहित्यकारों को प्रभावित किया, जिसका स्वरूप हमें तत्कालीन श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति के साहित्य में भी दृष्टिगोचर होता है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ

१. बांसुरी–६
२. भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्यसमाज आंदोलन–२८
३. हिन्दी गद्य साहित्य–५०
४. दि आर्य मेसेन्जरः १५ अक्टूबर १९०७
५. काँग्रेस का इतिहास–५८
६. जनज्ञानः जुलाई–अगस्त १९७१ः–२५३
७. हिन्दी गद्य साहित्य–८८
८. राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि में आधुनिक काव्य का विकास–१५३
९. मेरी कहानी–२१
१०. ब्रिटिश रूल इन इन्डिया–२६६
११. गृह राजनीतिक विभाग कार्रवाईः जुलाई १९१६, सं. २६
१२. काँग्रेस का इतिहास–२७६
१३. भारत का संविधान और राष्ट्रीय विकास–२०५
१४. इतिहास प्रवेश–१७
१५. भारत का सांस्कृतिक इतिहास–२७३
१६. भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्यसमाज आन्दोलन–७०
१७. रणजीत चरित–१११
१८. प्रबंध प्रतिमा–६२
१९. संस्कृति के चार अध्याय–१७१
२०. साहित्य का उद्देश्य–१८६
२१. जीवन संघर्ष–२६४
२२. निराला और नवजागरण–६०
२३. विरजानंद चरित–१७८
२४. हिन्दी गद्य साहित्य–४२
२५. महर्षि दयानंद व आर्यसमाज का संस्कृत साहित्य को योगदान–२६
२६. विवेकानंद साहित्य भाग–६, पृ. २१३
२७. नारायण अभिनन्दन ग्रंथ–लेख–उन्नीसवीं शती के धार्मिक आन्दोलन–८०
२८. हिन्दी गद्य साहित्य–६६
२९. दयानंद कम्मेमोरेशन वाल्यूम–७३
३०. भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्यसमाज का आन्दोलन–८५
३१. वन्दना के स्वर–१८
३२. महर्षि दयानंद व आर्यसमाज का संस्कृत साहित्य को योगदान–१६
३३. दि डिस्कवरी ऑफ इण्डिया–३७८–३७९
३४. संस्कृति के चार अध्याय–४६३
३५. दि लाइफ ऑफ रामकृष्ण, अल्मोडा अद्वैत आश्रम–१०७
३६. आर्याभिविनय–२४८
३७. सत्यार्थप्रकाश–२६७
३८. भारतीय स्वधीनता संग्राम और आर्य समाज–११
३९. दि गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया–२३७–३९
४०. नारायण अभिनन्दन ग्रंथ–७६
४१. वंदे मातरम्ः अप्रैल १९०७
४२. आधुनिक भारत–६८
४३. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण–४
४४. हिन्दी गद्य साहित्य–३०
४५. भारतेन्दु युग–१३
४६. लघु इतिहास–४१६
४७. भारत में अंग्रेजी राजः प्रथम खण्ड–१
४८. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास–३१
४९. सत्यार्थ प्रकाश–५०२
५०. तत्रैव–५०६
५१. ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन–२४६
५२. सत्यार्थ प्रकाश–२१८
५३. ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन–२१४
५४. सरस्वतीः जून १९०५–२०१
५५. आत्मकथा–१८०
५६. साकल्य–६६
५७. सोशियल बॅक ग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म–८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२

इन्द्र विद्यावाचस्पति : जीवनी एवं व्यक्तित्व

दुनिया उसको ही पूजती है, जो अपने 'स्व' को 'सर्व' में मिला देता है. आजानुबाहु[१] प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति जी ने अपने शैक्षिक, साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं पत्रकारिता के अमोघ एवं बहुमूल्य सामर्थ्य से राष्ट्रीय अस्मिता को अक्षुण्ण बनाये रखने में अविस्मरणीय योगदान दिया है. जीवन में अनेक विलोभनीय प्रलोभन आये, पर उन सबको ठुकराकर वे राष्ट्र–निर्माण के कार्य में ही लगे रहे. वे देश के महान् विश्वकर्मा थे. राष्ट्रीय साहित्यकारों में उनका स्थान महत्वपूर्ण है.

२.१ जन्मः माता-पिताः-

प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति के पिता श्री महात्मा मुंशीराम थे. उनकी माताजी का नाम शिवदेवी था. श्री विद्याचास्पति का जन्म ६ नवंबर १८८६ को पंजाब के जालन्धर नामक नगर में हुआ.[२] बालक इन्द्र अभी दो वर्ष का भी न हो पाया था कि ३१ अगस्त १८६१ को उनकी माँ का साया सिर से उठ गया.[३] ताई जमुनादेवी जी ने बचपन से ही बालक इन्द्र का बहुत कष्ट उठाकर अतिशय मातृभाव से पालन–पोषण किया. पिताश्री मुंशीराम ने अपने ज्येष्ठ पुत्र हरिश्चन्द्र से साम्य रखते हुए इस नवजात का नामकरण भी इन्द्रचन्द्र ही रखना पसन्द किया. चन्द्र के प्रति यह आग्रह असाधारण है. तात मुंशीराम ने न जाने किन विचारों से सराबोर हो 'चन्द्र' से इतना प्यार किया था, पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यशस्वी पिता की तरह प्रतिपच्चंद्रकला के समान ही इन्द्र की ख्याति भी 'दिन दुगुनी रात चौगुनी' बढ़ने लगी. यह भी एक संयोग ही समझिये कि इन्द्र जी की द्वितीय पत्नी का नाम भी चन्द्रवती था और कालान्तर में जब इस दम्पति ने अपना घर बनाया तो उसका नाम भी 'चन्द्रलोक' ही रखा गया. अस्तु.

विद्यावाचस्पति के पिता मुंशीराम जी ऋषितुल्य जीवन जीने वाले, निष्ठावान् शिक्षा शास्त्री, महान् समाज–सुधारक व तेजस्वी राष्ट्रीय नेता के रूप में देश में विख्यात थे. वकीली पेशे को लात मारकर उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन समाज व राष्ट्र की सेवा में अर्पित कर दिया था. उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप प्रो. विद्यावाचस्पति पर दृष्टिगोचर होती है. विद्यावाचस्पति जी के शब्दों में, "पिताजी के जीवन–काल में सदा उनका अनुयायी रहा कभी–कभी स्थान की दृष्टि से अधिक दूरी हो जाने पर भी मानसिक दृष्टि से सदा समीपता रही. स्नातक बनने के पश्चात् लगभग पन्द्रह वर्ष के क्रियात्मक जीवन में आर्यसमाज के क्षेत्र में हों या काँग्रेस के क्षेत्र में, मैं उनके दांये या बायें दिखाई देता था[४]" पिताजी ने 'विचार और कार्य की पूरी स्वतंत्रता दे रखी थी.[५]' "पिताजी से असहमत होकर रस्सी तुड़ाने की नौबत नहीं आई थी, क्योंकि वह रस्सी असीम थी जो व्यक्ति उनके समीप रहे वे सभी अनुभव करते थे कि उनके हृदय का घेरा बहुत विस्तृत था, वह देश और जाति की सीमाओं से सीमित नहीं था.[६]"

२.२ प्रारंभिक जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँः-

आर्यसमाज की स्थापना के १४ साल बाद, महर्षि दयानंद निर्वाण के ६ साल उपरांत, काँग्रेस स्थापना के चार साल पश्चात्, और पं. जवाहरलाल नेहरू के जन्मदिन से ठीक ५ दिन बाद इन्द्रजी का जन्म हुआ. स्पष्ट है इस काल में सामाजिक व राजनीतिक क्रांति के स्वर पूरे देश में निनादित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो रहे थे. तत्कालीन परिवेश की इन तरंगों को जिन राष्ट्रीय नेताओं के अंतर्बाह्य व्यक्तित्व में तरंगायित होता हुआ देखा जा सकता था, उनमें इंद्रजी के पिता महात्मा मुंशीराम की भी विशिष्ट रूप से गणना की जा सकती है. इस समय तक इंद्रजी के "पिताजी मुंशीरामजी कट्टर आर्यसमाजी बन चुके थे.[७]" वे कचहरी से लौटकर, घर जाने से पूर्व, जालंधर आर्यसमाज जाते थे. इंद्रजी जब होश में आये, तब से उन्होंने पिताजी को जालंधर आर्यसमाज का प्रधान ही पाया.[८] सायंकाल घर के सामने चबूतरे पर पच्चीस–तीस कुर्सियों से सजा दरबार लगता था. यह दरबार अँधेरा होने तक जारी रहता. जिसमें राजनीति, धर्म आदि पर चर्चा होती थी. चर्चा में रानाड़े, तिलक, प. गुरूदत्त का नाम प्रायः बारंबार आता था. घर की बैठक में अन्य चित्रों से आकार व सजावट की दृष्टि से बढ़–चढ़कर जो तीन बड़े विशिष्ट महत्वपूर्ण चित्र लगा रखे थे, वे ऋषि दयानंद, महादेव गोविंद रानाड़े और लोकमान्य तिलक के थे. पिताजी का गृहस्थ राजा जनक के राज्य जैसा था. वे गृहस्थ में रहते हुए भी गृहस्थ से बाहर थे. जैसे कमल–पत्र पानी में रहते हुए भी गीला नहीं होता, ठीक वैसी ही दशा पिताजी की थी.[९] कभी–कभी शाम को बच्चों के पीछे पड़ने पर मजबूरन पिताजी सर वाल्टर स्काट और चार्ल्स डिकन्स आदि की कहानियाँ जरूर सुनाते थे. बालक इंद्र जब तीन वर्ष का हुआ तब पिताजी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान थे. पंजाब भर के आर्यसमाजों में घूमकर प्रचार करना और आर्य संगठन को मजबूत करना पिताजी का महत्वपूर्ण कार्य था, इसके अतिरिक्त वे 'सद्धर्म प्रचारक' के संपादन में भी रत रहते थे. बचपन का यह परिवेश इंद्रजी को महान् शिक्षा शास्त्री, प्रखर राष्ट्रवादी, साहित्य–सेवी, व तेजस्वी पत्रकार बनाने में सहायक हुआ. इस 'घरेलू' वातावरण के कारण जहाँ बचपन से ही राजनीति की ओर उनका झुकाव हो गया.[१०] वहाँ पत्रकार बनने की धुन भी उनमें बचपन से ही सवार हो गई. आर्यसमाज की छाप भी प्रारंभ से ही उनके व्यक्तित्व को अभिभूत करने लगी थी. क्रियात्मक जीवन के प्रारंभ से ही इंद्रजी की कार्यप्रणाली में धर्म और राजनीति का मिश्रण होने लगा था. "उनकी शिक्षा–दीक्षा धार्मिक हुई और आंतरिक प्रवृत्ति राजनीति की ओर थी.[११]" मेरी दृष्टि में तो सही आर्यसमाजी कोरा धार्मिक या निरा राजनीतिज्ञ हो ही नहीं सकता. वह राजनीति और धर्म को साथ–साथ लेकर चलता है. धर्म राजधर्म होता है. इंद्र जी का व्यक्तित्व और कृतित्व भी इसी तथ्य का परिचायक है. इंद्रजी का यह सौभाग्य था कि बचपन से ही उन्हें आदर्श और प्रेरणा के स्रोत की खोज में भटकने की जरूरत नहीं पड़ी. पिताजी की दृष्टि–छाया में बालक इंद्र का व्यक्तित्व विविध गुणों से समन्वित हो संवर्धित होने लगा.

२.३ शिक्षा-दीक्षाः-

इंद्रजी की प्रारंभिक शिक्षा द्वाबा हाईस्कूल में हुई.[१२] जब वे छठी कक्षा में पढ़ रहे थे, तो पिताजी के आदेश पर गुरुकुल गुजराँवाला में भेज दिये गये. १६ मई १९०० को गुजराँवाला में स्थायी तौर पर गुरुकुल की स्थापना की गई थी. जालंधर में जिन्होंने बालक इंद्र का उपनयन संस्कार किया था, वे पं. गंगादत्त जी महाराज ही इस गुरुकुल में प्रधानाध्यापक थे. बडे छात्रों में पं. नरदेव जी शास्त्री व आचार्य पद्मसिंह शर्मा व पं. दीनानाथ जी थे. पं. इंद्र जी के पूर्वजों की जन्मभूमि तलवन के पं. दीनानाथ जी ही उनके कुल पुरोहित (पाधे) थे. पं. इंद्रजी को संस्कृत का पहला पाठ इन्हीं से प्राप्त हुआ. दो वर्ष बाद जब गंगा की धारा से डेढ़ मील दूरी पर, हिमालय की उपत्यका, शिवालिक पहाड़ी की तलहटी में, कंटकाकीर्ण अरण्य से आवेष्टित कांगड़ी ग्राम की दो बीघा जमीन के टुकड़े पर 'गुरुकुल कांगड़ी' की प्रारंभिक झोपड़ियों का निर्माण हो गया, तो इंद्र जी के पिताजी गुजराँवाला आए और इंद्र जी सहित ३४ बालकों को लेकर हरिद्वार की ओर रवाना हो गए.[१३]

४ मार्च १९०२ को सनातन धर्म के गढ़ हरिद्वार और कनखल को वेदमंत्रों के खुले पाठ से आश्चर्यचकित करता, रेतीले–पथरीले और कंटाकाकीर्ण मार्ग को रौंदता हुआ....गुजराँवाला से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चला. ब्रह्मचारियों का ये दल धवल–चंद्र ज्योत्स्ना में पुण्यभूमि गुरुकुल कांगड़ी पहुँच गया. गुरुकुल प्रयाण से पूर्व उर्दू–फारसी शिक्षक ने घर पधारकर इंद्रजी को उर्दू और फारसी भाषा का अच्छा पाठक बना दिया था. फारसी में वे 'सोहराब रूस्तम की कहानी' बड़े चाव से पढ़ा करते थे. पिताजी का पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' भी उर्दू में ही निकलता था. गुरुकुल काँगड़ी में प्रवेश के साथ ही इंद्र जी का ऋषि सन्तान के समान गुरुकुलीय जीवन प्रारंभ हो गया. पिता–पुत्र का संबंध आचार्य और अन्तेवासी के रूप में परिवर्तित हो गया. वैसे भी पिताजी ने 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' गृहस्थ धर्म का पालन किया था. विद्यावाचस्पति जी के शब्दों में, "हम लोग यह तो अनुभव करते थे कि उनकी आँखें हम पर हैं, परन्तु उनका हाथ हमसे दूर ही रहता था."[१४] जीवन में एक बार ही इंद्रजी पितृप्रेम के स्वर्गीय सुख का अनुभव कर पाये थे. तत्संबंधी संस्मरण उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत है, "गुरुकुल के चन्दे का दौरा लगभग समाप्त करके पिताजी लाहौर के आर्य होटल में ठहरे हुए थे. हम दोनों भाई उस रात जीवन में पहली बार अपने पिताजी के दोनों ओर चारपाइयों पर सोए. उस रात सोने से पहले पिताजी हमारी चारपाइयों पर आए और प्रत्यक्ष में प्यार किया. वह अनुभव हमारे बाल्यजीवन में बिल्कुल अपूर्व था. अन्यथा सदा पिताजी हमसे दूर–दूर रहकर वात्सल्य भाव रखते रहे. कभी उसे अनुभव में नहीं आने दिया. उस रात उन्होंने प्रेम से हम दोनों के सिरों को चूमा. हम दोनों भाइयों ने उस समय मानो स्वर्गीय सुख का अनुभव किया."[१५]

क्रमशः गुजराँवाला व काँगड़ी गुरुकुल में सात वर्ष की सतत संस्कृत शिक्षा के बाद इन्द्र जी ने इतिहास, अर्थशास्त्र, गणित, आँग्लभाषा, विज्ञान आदि आधुनिक विषयों का अध्ययन भी किया. गुरुकुल शुरू से स्वभाषा का समर्थक रहा था. वहाँ प्रारंभ से ही सभी विषयों की शिक्षा हिंदी माध्यम द्वारा दी जाती रही है, अतः विज्ञान, गणित और पाश्चात्य दर्शन आदि विषय भी हिंदी में ही पढ़ाये जाते थे. व्याकरण, साहित्य, दर्शन सभी विषयों में इन्द्र जी की योग्यता श्रेष्ठ मानी जाती थी.[१६] वे संस्कृत विद्या के साथ विज्ञान, कला आदि में पूर्ण पारंगत थे. सन् १६०२ से १६०६ तक इंद्र विद्यालय विभाग के छात्र रहकर 'विद्याधिकारी' बने, और १६०७ से १६१२ तक महाविद्यालय विभाग के छात्र रहकर 'वेदालंकार' बने. १६०२ से १६०६ तक गुरुकुल के पाठ्यक्रम में भारतीय विद्याओं का जोर रहा. १६०६ से १६१० के दूसरे दौर में गुरुकुल में पूर्व और पश्चिम की उपादेय बातों का समुचित समन्वय हुआ. प्राचीन और अर्वाचीन का यह संघर्ष प्रमुख रूप से शिक्षकों में हुआ. इंद्रजी सबसे बड़ी श्रेणी में थे, इसलिए प्रत्येक संघर्ष व परिवर्तन ने उनको सर्वाधिक प्रभावित किया. मुंशीराम जी अपने जीवन में वैचारिक स्तर पर ही नहीं, क्रियात्मक स्तर पर भी प्रगतिशील थे. प्राचीन और अर्वाचीन के वैचारिक संघर्ष को स्पष्ट करते हुए इंद्रजी ने लिखा है, "शुरु में पिताजी को जो सहायक मिले, उनमें गुरुकुल चलाने की अन्य बहुत सी योग्यताएँ होते हुए भी उनके दृष्टिक्षेत्र बहुत ही संकुचित थे,"[१७] किन्तु महात्मा मुंशीराम के प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण गुरुकुल 'तात का कूप' बनने से बच गया और ब्रह्मचारी भी 'कूपमंडूक' होने से बच गये. इस संघर्ष ने इन्द्रजी की दृष्टि को व्यापक बनाने में अभूतपूर्व भूमिका निभाई.

२.४ विद्यावाचस्पति जी का स्वाधीनता संग्राम में योगदानः-

गुरुकुल के देशभक्तिमय वातावरण का प्रभावः– बचपन से ही श्री विद्यावाचस्पति जी ने राष्ट्रीय गीतों में बेड़ियों की झंकार को सुना था.[१८] उन्होंने अपने पिताजी को आर्यसमाज के माध्यम से देश–सेवा करते देखा था. पिताजी ने राष्ट्रीय शिक्षणालयों के अभाव को अनुभव कर गुरुकुल की स्थापना की थी. विद्यावाचस्पति जी का पूर्ण अध्ययन–अध्यापन काल गुरुकुल काँगड़ी में ही बीता. गुरुकुल के अधिकारी सरकारी अफसरों की खुशामद नहीं करते थे. गुरुकुल में दर्शक के रूप में आने वाले गुप्तचर विभाग के पुलिस के उच्चाधिकारियों का क्रम लगा ही रहता था. जब कभी गुरुकुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
के ब्रह्मचारी सरस्वती यात्राओं (एज्युकेशनल टूर) पर निकलते थे, तब उनके पीछे गुप्तचर गुलडॉग की तरह लगे रहे थे, और गुरुकुल के जो कार्य सरकार के सहयोग की अपेक्षा करते थे, उनमें रोड़े अटकाये जाते थे.[१९] एक पुलिस अधिकारी द्वारा बिजनौर के कलेक्टर को प्रस्तुत रिपोर्ट में यहाँ तक अंकित था कि– 'अनुभवहीन क्रांतिकारी नौजवान गुरुकुल का संचालन कर रहें हैं,[२०] अंग्रेजों का आक्रोश गुरुकुल पर बढ़ जाने से क्रांतिकारियों का ध्यान गुरुकुल की ओर आकृष्ट हुआ. सन् १६०७ और १६१३ के बीच में ऐसे देशभक्त भी गुरुकुल को अपना प्रिय सुरक्षित स्थान समझते थे, जिनके पीछे सरकार के वारंट घूम रहे थे. पंजाब, उत्तर प्रदेश और बंगाल के अनेक क्रांतिकारी गुरुकुल में आये और दर्शक बनकर सप्ताहों तक रहे. पंजाब के प्रसिद्ध देशभक्त लाला हरदयाल एम. ए. लगभग एक मास तक गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचारियों को स्वाधीनता की घुट्टी पिलाते रहे.[२१] गुरुकुल के इस देशभक्तिमय वातावरण का प्रभाव गुरुकुल के प्रारंभिक छात्र और सर्वप्रथम स्नातक श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति पर भला कैसे न पड़ता? उन्हें गुरुकुलीय जीवन में ही डायरी लिखने की आदत हो गई थी. छात्रावस्था में उन्होंने अपनी डायरी में लिखा था, "मैंने खूब सोचा है और जाना है कि मातृभूमि कई पुत्रों का बलिदान चाहती है. बलिदान यह नहीं कि क्षणभर जीकर मर जानः अपितु अपना दीर्घ जीवन पूर्णतः मातृभूमि को अर्पित कर देना."[२२] युवावस्था में देशहित की भावनाओं में सराबोर होकर फांसी का चुंबन करना तो अभिनन्दनीय त्याग है ही, किन्तु अपना प्रदीर्घ जीवन प्रतिक्षण तिल–तिलकर देशहित समर्पित कर देना एक महान् अनिर्वचनीय त्याग है. छात्र जीवन में ही इन्द्रजी का यह दृढ़ निश्चय हो गया था, "दासों का धर्म कभी नहीं फैलता"[२३] अतः उन्होंने स्वाधीनता प्राप्ति का लक्ष्य नक्तंदिन सामने रखा था. छात्रावस्था में उनके द्वारा रचित विविध गीत इस बात के साक्षी हैं कि उनका पूर्ण व्यक्तित्व देशप्रेम से लबालब भरा था.

गुरुकुल के संस्थापक इस बात से चिन्तित थे कि मुस्लिम शासन के अनेक शताब्दियाँ, जिन हिन्दुओं को अपनी दास नहीं बना सकीं. उन्हें दस–बीस वर्षो से अंग्रेजी शिक्षा दास बनाने में समर्थ हो रही है. इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा की योजना बनायी और शिक्षा का माध्यम हिंदी बनाया था. गंगा तट पर स्थित वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय में टेम्स का पानी पिलाया जा रहा था, पर गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापकों ने भारतीयता (आर्यभाषा) को ही महत्ता दी थी. विज्ञान की पढ़ाई का माध्यम आर्यभाषा (हिंदी) को ही बनाया गया था. बस इसी राष्ट्रीय शिक्षणालय की योजनाओं का परिणाम इंद्रजी परभी अनायास पड़ा और उन्होंने यह प्रण कर लिया कि लेख में अंग्रेजी के शब्द कभी न लाऊँगा.[२४] प्रथम महायुद्ध शुरु होने से तीन वर्ष पूर्व ही गुरुकुल के विद्यार्थियों में 'भारत का अपना झंड़ा होना चाहिए' यह भावना जाग चुकी थी. और इस भावना की पूर्ति हुई शुभ दीपावली (१६१०) के दिन. इंद्रजी ने अपने विद्यार्थी जीवन की डायरी में लिखा है, 'राष्ट्रीय झंड़ा हमने मिलकर बनाया,"[२५] इस प्रकार इंद्रजी के नेतृत्व में गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने राष्ट्रीय झंड़े का निर्माण कर दीपावली मनायी थी.

गुरुकुल को अंग्रेज अधिकारी और सरकारी अफसर एक विद्रोही संस्था की दृष्टि से देखते थे, क्योंकि शिक्षणालय सरकारी नियंत्रण से स्वतंत्र था. गुरुकुल के छात्र अंग्रेजों के सामने झुकना नहीं जानते थे और गुरुकुल के अधिकारी सरकारी अफसरों की 'जी हाँ हजूरी' नहीं करते थे, भारतीय राजविद्रोह का अध्ययन करने वाले, आर्यसमाज के इस शिक्षणालयगुरुकुल से, अपरिचित हों, यह असंभव था.[२६] प्रायः असफल विद्रोह को आतंकवादी शासक बगावत कहा करते हैं, और उनकी कोशिश रहती है कि वे बगावत का गला घोंट दें. तत्कालीन अंग्रेजों की मनोवृत्ति भी ऐसी ही थी. वे बागियों से सलाम कराने का असफल प्रयास करा कर बगावत को समाप्त कराना चाहते थे. इस संदर्भ में इंद्र जी की छात्रावस्थाकालीन आप बीती उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत हैः "उस वर्ष (बंग विच्छेद के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद– शायद सन् १९०६[२७] में) हम लोग सरस्वती–यात्रा (एज्युकेशनल टूर) के लिए 'धर्मशाला के पहाड़ पर गये थे. एक दिन प्रातःकाल के समय कुछ विद्यार्थी छावनी की सड़क पर घूमने के लिए जा निकले. हम लोगों के साथ अधिष्ठाता के रूप में डॉ० सुखदेव जी थे ब्रह्मचारियों के सिर नंगे थे और हाथों में डंडे थे. हम लोग बातें करते हुए जा रहे थे कि सामने से दो गोरे घुड़सवार आते दिखाई दिये. जब वे पास आये, तब हम सड़क के एक किनारे होकर चलने लगे और समझा कि हमने बीच का रास्ता छोड़कर शिष्टाचार का परिचय दे दिया है, परंतु गौरांग जाति के उन प्रतिनिधियों ने वैसा नहीं समझा. मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब मैंने देखा कि एक गोरे ने अपना घोड़ा मध्य रास्ते को छोड़कर मेरी ओर बढ़ा दिया है. मैं यह अद्भुत बात देखकर खड़ा हो गया. गोरे का घोड़ा मेरे इतने पास आ गया कि घोड़े की थूथनी का साँस मेरे शरीर को छू रहा था. मैं विस्मित होकर गोरे के मुँह की ओर देखने लगा. वह शायद आशा रखता था कि मैं उसकी और उसके घोड़े की शक्ल देखकर या तो भाग खड़ा हूँगा, या जमीन पर नाक रगड़ने लगूँगा. परंतु मैंने वैसा कुछ भी नहीं किया और जहाँ का तहाँ खड़ा रहा. इस पर अत्यंत क्रोध भरे स्वर में उसने कहा, 'सलाम करो, सलाम !' मैंने वहीं खड़े–खड़े उत्तर दिया 'क्यों सलाम करें?' इस उत्तर से और भी भड़ककर गोरे ने अपने घोड़े को और भी आगे बढ़ाते हुए अंग्रेजी में कहा, 'तुम्हें चाहिए कि हरेक अंग्रेज को सलाम करो.' घोड़े का मुँह बिल्कुल मेरी छाती से लग गया था. पर मैं वहीं अचल खड़ा रहा. मैंने शांतभाव से उत्तर दिया, 'ऐसा कोई कानून नहीं, जो हमसे जबरदस्ती सलाम करा सके.' गोरे ने कहा, "तुम सलाम नहीं करेगा." मैने उत्तर दिया "नहीं." अब गोरे के सामने दो रास्ते खुले थे. या तो वह घोड़ा मुझ पर चढ़ा देता अथवा हार मानकर, सलाम किए बिना ही अपना रास्ता नापता. लगभग एक मिनट तक मैं गोरा और उसका घोड़ा उसी स्थिति में खड़े रहे. मैं और मेरे सब साथी इस प्रतीक्षा में रहे, कि अब क्या होता है. अंत में गोरा केवल 'बुली' साबित हुआ और घोड़े की बाग खींचकर यह कहते हुए वहाँ से चल दिया, 'टुम सलाम नहीं करटा अच्छा डेखा जायेगा'[२८]

इस घटना से स्पष्ट होता है कि इंद्रजी के व्यक्तित्व में अद्भुत निर्भीकता व अन्याय का हिम्मत से मुकाबला करने की अद्भुत क्षमता थी. अपने जीवन में देश की व्यथा को देखकर वे तटस्थ नहीं रह सके. इंद्रजी ने छात्रावास में ही स्वाधीनता प्राप्ति में योगदान देने का निश्चय कर लिया था. उनको यह बार–बार अनुभव होता था कि, 'मेरी जन्मभूमि को मेरी जरूरत है.'[२९] आर्यों की जन्मभूमि आर्यावर्त्त को उसी ऊँचे स्थान पर पहुँचाना है. जिस पर और सभ्य देश पहुँच गए हैं.[३०] धर्म, जाति व प्रांतीयता के भेदों को मिटाकर भारतीयों में सहिष्णुता, सर्वधर्मसमभाव उत्पन्न करना जरूरी है, "देशबंधु धर्मबंधु है और देशशत्रु धर्मशत्रु है."[३१] राष्ट्र के एक सतर्क प्रहरी के समान गुरुकुलीय छात्र इंद्र का व्यक्तित्व हमारे सामने आता है. निजाम राज्य के बाद पीड़ितों की सहायता के लिए वह मदद निधि में सोत्साह घड़ी दान देता है,[३२] तो दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के दुःख से विह्वल हो वह स्वादिष्ट भोजन व सायंकाल के अन्न का परित्याग कर देता है. मातृभूमि और जनता की सेवा अंग्रेजी द्वारा नहीं हो सकती, वह तो हिन्दी द्वारा ही संभव है–इस सत्य का दर्शन इंद्रजी ने सन् १९१३ में ही कर लिया था. इसीलिए उन्होंने संकल्प भी किया था कि गुरुकुल में रहते हुए मैं सबके लिए सरल, सुबोध तथा राष्ट्रीय कर्तव्यों का प्रशिक्षण देने वाली पुस्तकें लिखूँगा.[३३]

प्रो. इन्द्र १९१४ से १९१८ व १९२० से १९२२ तक उपाध्याय के रूप में गुरुकुल में कार्यरत रहे.[३४] आपके अध्यापन के विषय संस्कृत साहित्य, इतिहास, तुलनात्मक धर्म व आर्य सिद्धांत थे. 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र का एक वर्ष दिल्ली में सफल संपादन करके उन्होंने १९१४ में उपाध्याय के रूप में गुरुकुल काँगड़ी में पदार्पण किया. यह काल उग्र राष्ट्रीयता का काल था. इस काल में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

इन्द्रजी का साहित्यिक मन क्रान्तिकारियों की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ था. सन् १९११ से १९१८ तक हम उन्हें क्रान्तिकारियों के 'दीवाने–भक्त' के रूप में पाते हैं. संबंधियों की ओर से जब विवाह के लिए आग्रह हुआ, तो उन्होंने यही कहा, "अपना विवाह यदि किसी के साथ करूँगा तो राष्ट्र के साथ."[३५] जब उन्हें छात्रवृत्ति देकर उच्चशिक्षा के लिए भेजने की तैयारी दर्शाई गई तो उनका मन विद्रोह कर कह उठा – 'हमारी दिमागी गुलामी का चिह्न है कि हम यूरोप के पढ़े हुए की प्रतिष्ठा करते हैं.[३६] उनका पूर्ण व्यक्तित्व भारतीयता से ओतप्रोत था. इंद्रजी को हम सन् १९११ से १९३९ तक के राष्ट्रीय महासभा काँग्रेस के अनेक अधिवेशनों में पाते हैं. बचपन से ही राजनीति उनकी हवस थी.[३७] अध्ययन काल में उसकी तृप्ति समाचार पत्रों से होती थी, तो अध्यापन काल में काँग्रेस के अधिवेशनों में सम्मिलित होने से. छात्रावस्था में जिन महापुरुषों के नाम और काम, सुने और पढ़े थे, उनको देखने के लिए उनके मन में तीव्र लालसा व जिज्ञासा थी. जिसकी पूर्ति अध्यापकीय जीवन में हुई.

श्री इंद्रजी अपने उपाध्याय जीवन में विद्यार्थियों को नई प्रगतिशील दिशा में अनेक उपायों से ले जाने की कोशिश करते थे. आपने गुरुकुलीय उपाध्याय जीवन में पार्लियामेंट की स्थापना की, जिसमें सत्तापक्ष व विरोधी पक्ष का विभाजन कर विद्यार्थियों को संसदीय कार्य प्रणाली से परिचित कराया. पटियाला में जब आर्यों व सिक्खों का संघर्ष उग्र होकर अदालत में पहुँचा, तो इंद्र का मन बहुत ही व्यथित हुआ. उन्होंने उस समय अपनी डायरी में लिखा था, "यह संघर्ष देश और जाति के लिए खेदजनक है.....मेल में ही देश का लाभ है. हमारी लड़ाई से शत्रु लाभ उठाते हैं."[३८]

इंद्रजी आजीवन ब्रह्मचारी रहकर देश सेवा करने का संकल्प कर चुके थे, पर परिस्थितियों के बदल जाने के कारण उन्हें विवाहबद्ध हो जाने का निश्चय करना पड़ा. संवत् १९७१ अर्थात् सन् १९१५ में अग्रज हरिश्चंद्र राजा महेंद्रप्रताप के साथ घर के किसी भी परिवार के सदस्य को सूचना न देते हुए महात्मा बुद्ध की तरह विदेश चले गये. बुद्ध और हरिश्चंद्र के मार्गों में अंतर था, पर निष्क्रमण समान था. बाद में अग्रज अमेरिका में क्रांतिकारी दल के नेता बने. अवनींद्रकुमार विद्यालंकार के शब्दों में – आगे चलकर 'पहले महायुद्ध में ये विदेश में ही गिरफ्तार हुए और भेद न देने के कारण विद्युत–तप्त टीन की चादर पर लिटाकर मार दिये गए.[३९]

अग्रेज के विदेश चले जाने तथा पिताजी के चतुर्थाश्रम (सन्यास) में जाने का निश्चय करने के कारण इंद्रजी का आजन्म ब्रह्मचारी रहने का संकल्प बदलना पड़ा. उन्होंने साहित्य द्वारा राष्ट्र सेवा करने और सेवा के कार्य से कभी न उन्मुख होने का प्रण किया.[४०] पर गुरुकुल का क्षेत्र इंद्रजी को सदैव सीमित लगा वे 'विशाल कार्यक्षेत्र' में कदम रखने के लिए इस उपाध्याय जीवन में सदैव बेचैन रहे. व्यापक कार्यक्षेत्र की भूमि दिल्ली में आने का पहला कदम उस समय उठा जब गुरुकुल इंद्रप्रस्थ का मुख्याधिष्ठाता होना उन्होंने स्वीकार कर लिया. धीरे–धीरे कुछ गुरुकुलीय परिस्थितियों[४१] व अधिक राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण उनके अंतःकरण से यही आवाज निकली, "देश की अन्य आवश्यकता मुझे बुलाती है, मुझे उधर ही चलना चाहिए."[४२] विभिन्न लब्धप्रतिष्ठित व्यक्तियों ने, मतभेद होते हुए भी, गुरुकुल के राष्ट्रप्रेम को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है. इस प्रकार राष्ट्रीय शिक्षणालय के सर्वप्रथम छात्र एवं सर्वप्रथम स्नातक, निर्भीक राष्ट्रीय नेता स्वामी श्रद्धानंद के सुपुत्र, क्रांतिकारियों की जीवनियों के विश्लेषणकर्ता, अनेक महापुरुषों की गतिविधियों को नजदीकी से देखने का सौभाग्य प्राप्त करने वाले, तथा स्वाधीनता के लिए मचलते हुए काँग्रेस के अधिवेशनों के जोश के प्रत्यक्षदर्शी, स्वराज्य की अदम्य आकांक्षा व भारतीयता से ओत–प्रोत श्री इंद्र विद्यावाचस्पति के जाज्वल्यमान व्यक्तित्व का विद्यार्थियों पर प्रभाव न पड़ता, यह असंभव था. विद्यावाचस्पति जी के अनेक शिष्यों को हम एक बार ही नहीं, अपितु अनेक बार देशहित जेलों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यात्रा करते हुए पाते हैं. एकाधिक शिष्यों को राष्ट्रीय साहित्य के माध्यम से माँ भारती की सेवा करते हुए देखते हैं. अनेक शिष्य अपने–अपने क्षेत्र में राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के अग्रणी नेता रहे हैं. उनके शिष्य श्री विनायकराव विद्यालंकार के विषय में श्री लाल बहादुर शास्त्री ने कहा था – 'पुलिस कार्यवाही से पूर्व विरोधी शक्तियों से टक्कर लेकर श्रीयुत् विनायकराव जी ने राष्ट्र की विशिष्ट सेवा की है.''[४३] स्पष्ट है कि उपाध्याय श्री विद्यावाचस्पति ने विद्यार्थियों को रामायण–महाभारत व राष्ट्र विधाता नैपोलियन बोनापार्ट आदि उज्ज्वल चरित्रों के जो किस्से सुनाये थे, वे भविष्य में भारत का सौभाग्य बढ़ाने का कारण बने.

२.५ काँग्रेस के संपर्क का प्रभावः-

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति जी के मन में गुरुकुल के स्नातक बनने से पूर्व ही क्रांतिकारियों व काँग्रेसी नेताओं के प्रति विशिष्ट श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी थी. अनेक वर्षों से काँग्रेस का अधिवेशन देखने का उत्साह उनके मन में इकट्ठा हो रहा था. काँग्रेस की व्यावहारिक राजनीति का पहला पाठ उन्होंने कलकत्ता काँग्रेस (१९११) के अधिवेशन में लिया. इसके बाद हम उन्हें सभी काँग्रेस के अधिवेशनों में सम्मिलित पाते हैं. सन् १९१२ में बाँकीपुर में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ. अधिवेशन में श्रीयुत गोपालकृष्ण गोखले जी ने, दासों का जीवन यापन कर रहे प्रवासी भारतीयों के हित में, महात्मा गांधी द्वारा संचालित, सत्याग्रह–संग्राम के लिये अपने भाषण–प्रस्ताव द्वारा सहायता की अपील की थी. इं द्र जी ने इस भाषण को बड़ी सावधानी से सुना था, उनके कान वक्तृता पर थे, और आँखें गोखले जी के चेहरे पर. उन्हें पचास मिनिट का समय ५० सैकंड से भी कम महसूस हुआ था.[४४] उपाध्याय इंद्र जी गोखले जी के इस दक्षिण अफ्रीका संबंधी भाषण से विशेष रूप से प्रभावित हुए और उन्होंने गुरुकुल आकर ब्रह्मचारियों को अधिवेशन का पूर्ण विवरण सुनाया और प्रवासियों के लिए कुछ सहयोग करने की अपील की. कुलपति महात्मा मुंशीराम व उपाध्याय इंद्र जी से उत्साह पाकर गुरुकुल के विद्यार्थियों ने अपना घी–दूध छोड़कर तथा गंगा पर 'दूधिया बांध' निर्माण योजना में मजदूरी कर 'दक्षिण अफ्रीका सत्याग्रह संग्राम निधि' में १५०० (डेढ़ हजार) रुपया प्रदान किया. इस संदर्भ में महात्मा गांधी जी ने लिखा है, ''दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रहियों के लिए उस समय जो धन इकट्ठा किया जा रहा था, उसमें चंदा देने के लिए (गुरुकुल) लड़कों को उन्होंने उत्साहित किया था. वह चाहते थे कि लड़के खुद कुली बनकर, मजदूरी करके चंदा दे दें, क्योंकि वह युद्ध क्या कुलियों का नहीं था? लड़कों ने यह सब पूरा कर दिखाया और पूरी मजदूरी कमाकर मेरे पास भेजी.''[४५] दक्षिण अफ्रीका में ही मोहनदास करमचंद गांधीजी ने महात्मा मुंशीराम जी की कीर्ति सुन ली थी और वे उनकी ओर अंतःकरण से आकृष्ट हो गये थे.[४६] जैसे ही वे दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे तो गुरुकुल काँगड़ी भी पधारे थे (१९१५). उन्हें मिस्टर एण्ड्रूज ने भी कहा था, – 'जब कभी वे देश लौटें, तो कवि ठाकुर, प्रिंसिपल रुद्र और महात्मा मुंशीराम से परिचय जरूर प्राप्त करें.[४७] इंद्रजी के पिता और आचार्य से हुई भेंट का विवरण देते हुए महात्मा गांधी जी ने लिखा है, 'पहाड़ जैसे दीखने वाले महात्मा मुंशीराम के दर्शन करने और उनके गुरुकुल को देखने जब मैं गया, तब मुझे बहुत शांति मिली. महात्मा जी ने मुझ पर भरपूर प्रेमवृष्टि की. ब्रह्मचारी लोग मेरे पास से हटते ही न थे'[४८] महात्मा गांधी जी ने अहमदाबाद में पृथक् आश्रम खुलने तक अपने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह आश्रम के विद्यार्थियों के लिए सर्वोत्तम स्थान गुरुकुल काँगड़ी को ही समझा था.[४९] इस प्रकार स्पष्ट है कि गुरुकुल एक राष्ट्रीय शिक्षणालय था. स्वधीनता का मंत्र जपने वाले उग्र व अहिंसावादी देशभक्तों का गुरुकुल के अधिकारियों एवं ब्रह्मचारियों द्वारा दिल खोलकर स्वागत होता था. गुरुकुल का वातावरण ही कुछ ऐसा था, जो सभी कुलवासियों को राष्ट्रीय भावनाओं से ओत–प्रोत कर देश सेवा के लिये प्रेरित करता था. इस समय इंद्रजी के विचार 'अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नौजवान भारतवासियों की तरह गरम ही थे."[५०] फिर भी उन पर गोखलेजी की नरम व सहिष्णु वृत्ति का प्रभाव रहा. श्रीयुत् गोखलेजी से प्रभावित होने के बावजूद भी वे हृदय से लोकमान्य तिलक के भक्त थे. मांड़ले जेल से लोकमान्य के छूटकर पुणे आने के साथ युग ने एक नई करवट ली और इंद्रजी ने उसके आह्वान को सुना. बांकीपुर के अधिवेशन के बाद उन्होंने सन् १६१५ में काँग्रेस की सदस्यता ग्रहण की, उस समय वे गुरुकुल कांगड़ी में प्रोफेसर थे.[५१] लखनऊ (१६१६) अधिवेशन में उन्होंने भारत भक्त श्रीमति ऐनीबेसेंट, गरम दल के नेता विपिनचंद्रपाल व तपस्वी लोकमान्य तिलक के दर्शन किये. दिसंबर १६१८ के अंतिम सप्ताह में दिल्ली में संपन्न हुये काँग्रेस अधिवेशन में इंद्रजी 'सद्धर्म प्रचारक' के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुये थे. इस अधिवेशन में रोलेट बिल' को वापिस लेने की जोरदार माँग की गई थी. इस अधिवेशन के जोशीले भाषणों ने उपाध्याय इंद्रजी को अभिभूत व प्रेरित किया. वे भी पत्रकारिता की तोप लेकर अंग्रेज तानाशाही के विरूद्ध दिल्ली के मैदाने–जंग में अवतरित हुये. इस तोप का नाम था – 'विजय'. रॉलट बिल विरोधी आयोजित सत्याग्रह (१६१६) कमेटी के दो मंत्रियों में से एक प्रो. इंद्र थे. इन्हीं दिनों स्वामी श्रद्धानंद के नेतृत्व में एक 'शांति सभा' हुई. इस सभा में बीस–पच्चीस हजार के लगभग लोग उपस्थित थे. सभा में हिन्दू भी थे और मुस्लिम भी. भाषणों की समाप्ति पर जनसभा जलूस के रूप में परिवर्तित हो गयी. सर्वाग्रणी स्वामी श्रद्धानंद जी थे, और पीछे 'भारत माता की जय' और 'हिंदु–मुसलमान की जय' का नारा लगाती हुई क्रमबद्ध २०–२५ हजार की भीड़. जब यह काफिला (जलूस) घंटाघर पर पहुँचा, तो एक बंदूकधारी ने गोली चला दी. इंद्रजी के पिता स्वामी श्रद्धानंदजी ने स्वयं आगे बढ़कर सिपाहियों की पंक्ति के सामने जाकर पूछा– 'तुमने गोली क्यों चलाई?' प्रश्न का उत्तर न देकर कई सिपाहियों ने बंदूकों की संगीनें स्वामीजी की ओर बढ़ाते हुए कहा, 'हट जाओं नहीं तो हम छेद देंगे.' स्वामीजी एक कदम और बढ़ गये. संगीन की नोक स्वामीजी की छाती को छू रही थी. स्वामीजी ने बड़े ऊँचे स्वर से कहा "मार दो" इतने में एक अंग्रेज अफसर आया और सब सिपाहियों ने बन्दूके नीचे कर लीं, स्वामी जी ने अफसर से पूछा, "गोली क्यों चलाई गई?" अफसर ने उत्तर दिया "गोली भूल से चल गई थी." सिपाहियों द्वारा रास्ता खुला कर देने पर जलूस नया बाजार गया. स्वामी श्रद्धानंद जी अपने निवास स्थान की सीढ़ियों पर चढ़ गये और जुलूस के लोग अपने–अपने घरों की ओर चले गये.[५२] इंद्रजी के जीवन में पग–पग पर निर्भीकता दृष्टिगोचर होती है. निःसंदेह वह उनके पिताजी के कर्मठ–कर्मयोगी निर्भीक जीवन की धरोहर हैं. इंद्रजी इस पूरी घटना के समय भीड़ की अगली श्रेणी में स्वामी जी की दायीं ओर विद्यमान थे. इंद्रजी पर अपने पिता एवं आचार्य की निर्भीकता का अवश्य रूप से प्रभाव पड़ा होगा. निश्चित रूप से आचार्य–स्वामी श्रद्धानंद ने अपने शिष्य को ही नहीं, अपितु भारतीय जनता को अपने क्रियात्मक जीवन से प्राणों की प्राणों की परवाह न करते हुये निर्भीकता से राष्ट्रीय कार्य करने का कलात्मक पाठ पढ़ाया था.

बड़े ओर नामी बाप के बेटे होने के कारण इंद्रजी को अपने काँग्रेसी नेताओं को नजदीकी से देखने का अवसर मिला. ऐसे बहुत से नेताओं में काँग्रेस के प्रख्यात नेता पं. मोतीलाल नेहरू का नाम उल्लेखनीय है. १६१६ में रोलैक्ट एक्ट के विरोध में ३० मार्च व ६ अप्रैल को देश व्यापी हड़ताल हुई. इस हड़ताल पर पंजाब की सरकार ने बड़ी क्रूरता से प्रहार किया. जिसकी परिणति जलियाँवाले बाग के हत्याकांड व मार्शल ला के रूप में प्रकट हुई. पूरे पंजाब में फाँसी घर–सी निस्तब्धता छा गयी. सभ्यताभिमानी ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने पंचनद में जो राक्षसी लीला की, उसने नीरो और चंगेजखाँ की स्मृतियों को भी मात कर दिया.[५३] आघातों पर मरहम लगाने के लिये स्वामी श्रद्धानंद व मदनमोहन मालवीय अमृतसर पहुँचे. जब स्वामीजी सेवा कार्य करके वापिस लौटे, तो स्वामी श्रद्धानंद जी के पास पं. मोतीलाल का इस आशय का एक पत्र आया, "मैं मार्शल ला की घटनाओं की तहकीकाती कमेटी में काम करने के लिए लाहौर जा रहा हूँ. आप पंजाब (अमृतसर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सेवाकार्य करके अभी लौटे हैं. इलाहाबाद से लाहौर जाता हुआ दिल्ली में आप से मिलकर जाऊँगा'' यह समाचार पाते ही पं. इंद्रजी ने पिताजी से निवेदन किया कि, 'मैं पं. मोतीलाल जी नेहरू के आपके स्थान पर आने के समय कुछ देर के लिए उपस्थित रहना चाहता हूँ, और आपकी बातचीत आरंभ होने पर चला जाऊँगा.' पिताजी ने पुत्र को प्रारंभिक कुछ समय के लिए उपस्थित रहने की अनुमति प्रदान की. इस समय इंद्र जी को पता चला कि 'पिताजी और मोतीलाल जी कालेज जीवन में इलाहाबाद में सहपाठी थे. दोनों सैलानी तबियत के थे और किताबों के कीड़े नहीं थे'.[५४] इंद्रजी के मन में प्रत्येक राष्ट्रीय नेता को देखने की उत्कट अभिलाषा रहती थी. वे अपनी अंतर्हित अग्नि को राष्ट्रीय नेताओं की अग्नि से और अधिक तेजस्वी बनाना चाहते थे.

१९१९ में काँग्रेस कमेटी ने यह तय किया कि काँग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में किया जाय, पर महत्कार्य की जिम्मेदारी स्वीकार करने में काँग्रेस के अन्य कार्यकर्ता हिचकिचा रहे थे, क्योंकि पंजाब के वक्षस्थल पर मार्शल ला की संगीनों द्वारा किये हुए घाव अभी हरे थे, और जनरल डायर के हुक्म से जलियाँवाले बाग में चलायी गयी बंदूकों की प्रतिध्वनि अभी शांत नहीं हुई थी.[५५] इंद्रजी के पिता स्वामी श्रद्धानंद जी ने अमृतसर की प्रबंधात्मक जिम्मेदारी को उत्साह के साथ स्वीकार किया. वे इस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष बनाये गये. 'स्वागताध्यक्ष श्री स्वामी श्रद्धानंद जी के व्यक्तिगत प्रभाव और परिश्रम के बिना अमृतसर में काँग्रेस का अधिवेशन शायद ही हो पाता. स्वभावतः उनके चारों ओर कार्यकर्ता एकत्र हुए, वे आर्यसमाजी थे. इस अधिवेशन की स्वागत योजना के चलाने वाले यदि सौ फीसदी नहीं, तो पचहत्तर फीसदी तो आर्यसमाजी अवश्य थे.[५६] इंद्रजी भी स्वागत प्रबंध का कार्य करने कई दिन पूर्व ही अमृतसर पहुँच गये थे. इस अवसर पर उन्हें अनेक राष्ट्रीय नेताओं के निकट संपर्क में आने का और सेवा करने का अवसर मिला. बंगाली नेता देशबंधुदास के आगमन का समाचार पाकर इंद्रजी प्रातः ६ बजे बंगाली प्रतिनिधियों के डेरे पर पहुँचे. देशबंधुदास के बगल में विपिनचंद्रपाल बैठे हुये थे. वहाँ दास बाबू के सभापतित्व में बंगाली प्रतिनिधियों की जोश–खरोश से बहस चल रही थी. इस प्रत्यक्ष (प्रथम) दर्शन में देशबंधुदास जी के विशाल व्यक्तित्व एवं प्रतिभा का प्रभाव इंद्र विद्यावाचस्पति जी पर पड़े बगैर नहीं रहा. इंद्रजी को इसी अवसर पर आदर्श, स्वतंत्र एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण के पत्रकार कस्तूरी रंगा आयंगर को भी देखने का अवसर मिला. वे मद्रास के प्रसिद्ध दैनिक 'हिंदू' की ओर से मार्शल ला संबंधी घटनाओं एवं काँग्रेस की प्रगति का अध्ययन करने के लिए अमृतसर पहुँचे थे.

अमृतसर अधिवेशन से दो दिन पूर्व ब्रिटिश सरकार ने सम्राट् का एक वक्तव्य प्रकाशित कराया, जिसमें यह विश्वास दिलाया गया था कि– 'सम्राट् धीरे–धीरे भारत को स्वराज्य देना चाहते हैं, और उसकी पहली किश्त के रूप में मार्शल ला के कैदी जेल से छोड़े जा रहे हैं' इस वक्तव्य से काँग्रेस के घर में फूट पड़ गई. जिससे वह तीन विभागों में विभाजित हुई. सरकारी दमन व अत्याचार की निंदा करने के लिये सभी सहमत थे, पर सम्राट् के ताजे घोषणा पत्र के संबंध में स्पष्ट मतभेद था. महात्मा गांधी घोषणा का स्वागत करने के लिए कटिबद्ध हो गये. लोकमान्य तिलक प्रतियोगी सहयोग (रिस्पेन्सिव कोओपरेशन) के अनुकूल हुए, और देशबंधुदास सरकार के प्रति असंतोष को और उग्र करने के पक्ष में थे, क्योंकि उन्हें सम्राट् की घोषणा नितांत एक धोखा नजर आती थी. अधिवेशन के प्रथम दिन लोकमान्य तिलक का जलूस निकला. स्वाधीनता के देवता लोकमान्य तिलक का प्रचंड जन–समुदाय ने देवी देवताओं के समान स्वागत किया. इस अद्वितीय स्वागत को देख इंद्रजी का यह सुनिश्चित मत हो गया कि प्रस्ताव संबंधी नीति में लोकमान्य तिलक जी की विजय अवश्य होगी, पर अधिवेशन शुरू होने पर नेताओं का मतभेद स्पष्ट तो हुआ, परंतु बहुत ही नरम ढंग से, क्योंकि जीवन भर विरोधी शक्तियों का मुकाबला करने वाले और अणुमात्र भी न झुकने वाले तिलक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R08/123:8 150611

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने महात्मा गांधी जी से समझौता कर लिया था. अधिवेशन में काँग्रेस ने जो प्रस्ताव स्वीकार किया, उसमें सम्राट् की घोषणा का स्वागत भी किया गया था और साथ ही अंग्रेजों द्वारा किये गये अत्याचारों की निंदा की गई थी. इंद्रजी इस अधिवेशन में प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुये थे. तिलक–गांधी के समझौते की गंध जब लोकमान्य के शिष्यों तक पहुँची, तो उन्हें दुःखमिश्रित आश्चर्य हुआ. वे सभी मिलकर तिलक जी के पास पहुँचे और उनसे निवेदन किया कि– "काँग्रेस में आपकी बात जरूर स्वीकार की जायेगी, क्योंकि बहुमत आपके पक्ष में है." इन शिष्यों में इंद्रजी भी शामिल थे. उन्होंने सबको समझाते हुए कहा, "मैं अब थक गया हूँ. अधिक समय तक कार्य नहीं कर सकता. भविष्य में देश को जिस व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार करना चाहिये, वह गांधीजी ही हैं. मैं सब लोगों को ही सलाह देता हूँ कि वे गांधी जी को ही देश का भावी राजनैतिक नेता स्वीकार करें."[५७] इन वाक्यों का इंद्रजी के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा. वृद्ध नेताओं को युवकों के सिर पर नेतृत्व का मुकुट किस प्रकार रखना चाहिये इसका आदर्श था– लोकमान्य का व्यक्तित्व. संसार के हो–हल्ले और संघर्ष से बहुत दूर जंगल (गुरुकुल) में रहते हुये भी देश की हर धड़कन व राजनैतिक उथल–पुथल से वे परिचित रहते थे. असहयोग आंदोलन (१९२१) जैसे संघर्ष के क्षणों में गुरुकुल में इसीलिये रहे कि– 'अपने आचार्य एवं पिता की आज्ञा मानना उनका धर्म था और यह पिता कोई सामान्य पिताओं की तरह पिता नहीं था. जहाँ वह राष्ट्रीय शिक्षणालय गुरुकुल कांगड़ी का संस्थापक व संचालक था, वहाँ वह देश का भी महान् नेता था. लोकमान्य तिलक ने तो अपने 'गीता रहस्य' में प्रतिपादित 'कर्मयोगी सन्यासी' का साकार रूप तो उन्हीं में देखा था.[५८] ऐसे महान् पिता की बात को टालना बेटे के लिए आसान नहीं था. ऐसे क्रान्ति–पर्व में एकान्त गुरुकुल में रहना विद्यावाचस्पतिजी के लिए आपद्धर्म था, पुनरपि उनकी आत्मा देश–सेवा के लिए छटपटाती रहती थी. इसका अनुभव स्वामी श्रद्धानंद को होता था, इसीलिए उन्होंने अपने पत्र में लिखा था, "कल प्रातःकाल से जेल के लिए तैयार हूँ, न जाने कब लौटना हो....अब इतिहास के कार्य से मैं निश्चिंत हुआ. तुम वहाँ से हिलने का नाम मत लो, यह मेरी तथा देश की सेवा इस समय है. यदि तुम हिले तो मेरे काम वे विध्न पड़ेगा. तुम्हारा हृदय छटपटायेगा, मैं तुम पर अत्याचार नहीं करने लगा हूँ, परन्तु गुरु की आज्ञा मानना तुम्हारा धर्म है."[५९] विद्यावाचस्पति जी के भांजे श्री सत्यकाम जी विद्यालंकार ने प्रो. विद्यावाचस्पति जी के गुरुकुल से देर से दिल्ली वापिस आने का एक कारण लोकमान्य तिलक का स्वर्गवास भी माना है, क्योंकि उससे प्रकाश पाने वाला युवक फिर दिल्ली क्या जाता?[६०]

अमृतसर (१९१९) की काँग्रेस के पश्चात् प्रो. इंद्र अहमदाबाद काँग्रेस के अधिवेशन (१९२१ दिसंबर) में सम्मिलित हुए, जहाँ उन्हें चारों तरफ 'खादी का साम्राज्य' दिखाई दिया. महात्मा गांधीजी ने भारतीय राजनीति को राष्ट्रीयता का एक वेश बना दिया था. अमीर–गरीब, नेता–कार्यकर्ता, नर–नारी सब खद्दर के वेश में थे. मंच पर की कुर्सी–टेबल का स्थान चटाई–चादरों ने ले लिया था. काँग्रेस कुछ श्रेणियों की न रहकर जनता की चीज हो गई थी. तिलक युग के बाद इंद्रजी को गांधी युग उठते हुये यौवन की दशा में दृष्टिगोचर हुआ.[६१] अधिवेशन में इंद्रजी का डेरा आर्यसमाजी राष्ट्रवादियों के कैंप में था. यहाँ पर उन्हें अपने प्रारंभिक राजनैतिक शिक्षक स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक का भाषण सुनने का सौभाग्य मिला. फौलादी इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति का बल रखने वाले कर्म प्रधान पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल इस सभा के स्वागताध्यक्ष थे.[६२] इस अधिवेशन में महात्मा गांधी जी ने काँग्रेस के डिक्टेटर का कँटीला ताज अपने ही हाथों अपने सिर पर रख देश को अहिंसात्मक लड़ाई लड़ने के लिए सन्नद्ध रहने का आह्वान किया था. इस अधिवेशन की एक महत्वपूर्ण घटना इस प्रकार है:–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहमदाबाद. अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी का अधिवेशन. बंगाली नेता देशबंधु चितरंजनदास द्वारा बंगाल प्रांतीय राजनैतिक सम्मेलन में आतंकवादी नवयुवक गोपीनाथ साहा को प्रदत्त 'बधाई–प्रस्ताव' का समर्थन करने से महात्मा गांधी असंतुष्ट थे. इसलिए उन्होंने बंगाल प्रांतीय सम्मेलन के बधाई प्रस्ताव के विरोध में एक प्रस्ताव रखा. बहुमत से देशबंधु जी विजयी हुये और गांधी जी पराजित. देशबंधु ने गांधीजी को एक 'शान की शिकस्त'[६३] दी थी. पराजय के बाद जब अंत में महात्मा जी बोलने लगे, तो उनका गला भर आया था. आँखों से आँसू टपक पड़े थे. उस समय सभा भवन का दृश्य अद्भुत बन गया था. कोकिलकंठा नायडू ऊँचे स्वर से रो रही थी. अलीबंधु दहाड़ मारकर रो रहे थे. गांधीजी को दुःख पहुँचाने के कारण अनेक सदस्यों को दुःख हो रहा था. इंद्र जी ने भी दास पक्ष में सम्मति दी थी. महात्मा गांधी के आँखों में आँसू देखकर उन्हें भी अतिशय खेद हुआ था. उन्हें यह पूर्व ही मालूम हो जाता कि परिणाम इतना करुणाजनक होगा तो वे निष्पक्ष रहते.[६४] अहमदाबाद की राष्ट्रीय आंदोलन की उमंग से वे इतने सराबोर हो गये कि पुण्यभूमि (गुरुकुल) न जाकर दिल्ली लौट आये.[६५] क्योंकि गुरुकुल का क्षेत्र सीमित था और वे अपनी व्यापक सार्वजनिक भूख को मिटाना चाहते थे. प्रो. इंद्र विद्यावाचस्पति जी ने ३१ अक्तूबर १९२२ को गुरुकुल छोड़ा. अब दिल्ली ही उनकी कर्मभूमि बन गयी. १९२२ के अंत में गया में काँग्रेस का अधिवेशन होने जा रहा था. महात्मा गांधीजी को जेल हो चुकी थी. सत्याग्रह के स्थगित होने पर किस नीति का आश्रय लिया जाय इसका अधिवेशन में निश्चय होने वाला था. इंद्रजी के पिता स्वामी श्रद्धानंद जी भी 'गुरु का बाग' सत्याग्रह के संदर्भ में पंजाब की जेल काटकर गया पहुँचे. इंद्रजी भी एक प्रतिनिधि के रूप में एक सप्ताह पूर्व ही 'गया' पहुँच चुके थे. गया–काँग्रेस अधिवेशन में 'धारा–सभा प्रवेश' प्रस्ताव के संबंध में जोरदार वाग्युद्ध हुआ. एक ओर देशबंधु चितरंजन दास, मोतीलाल नेहरू, तो दूसरी ओर राजा राजगोपालाचार्य, सरदार वल्लभभाई पटेल व राजेंद्रप्रसाद थे. इन अपरिवर्तनवादी त्रिमूर्तियों के वक्तव्यों से प्रभावित होकर भी इंद्रजी का झुकाव देशबंधु व मोतीलाल नेहरू के पक्ष में रहा.[६६] गया काँग्रेस के अवसर पर ही परिवर्तनवादी प्रो. इंद्र स्वराज्य पक्ष के सदस्य बन गये थे. पं. 'इंद्र विद्यावाचस्पति' की सर्वप्रथम प्रामाणिक एवं सफल जीवनी लेखक सत्यकाम जी विद्यालंकार ने लिखा है, "जब इंद्रजी का सदस्यता पत्र मोतीलाल नेहरू के हाथों में गया, तो बूढ़े नेहरू के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा. उनको अनुभव हुआ कि दिल्ली को उन्होंने फतेह कर लिया है.[६७] केंद्रीय असेंबली में दिल्ली को भी एक स्थान प्राप्त था. प्रो. इंद्र के स्वराज्य पक्ष में सम्मिलित होने से दिल्ली में एक स्वराज्य पार्टी को प्रवक्ता मिल गया था. इंद्रजी ने यह उत्तरदायित्व कुशलता से वहन किया. 'अर्जुन' दैनिक के माध्यम से वे स्वराज्य पक्ष के दृढ़ स्तंभ, जबरदस्त प्रवक्ता व नेता बन गए. जैसा पिता का पुत्र के प्रति भाव बना रहता है, वैसा ही पं. मोतीलाल जी का भाव इंद्रजी के प्रति बना रहा, पर मोतीलाल नेहरू के अनेक बार आग्रह करने पर भी उन्होंने दिल्ली से स्वयं चुनाव लड़ना पसंद नही किया. निष्काम भाव से इंद्रजी ने अपनी सारी शक्ति स्वराज्य पक्ष एवं उसके प्रत्याशी श्री प्यारेलाल को सफल बनाने में लगा दी. दिल्ली के राजनैतिक क्षेत्र में इंद्रजी का उल्लेखनीय स्थान था. वे दिल्ली काँग्रेस कमेटी के मंत्री थे[६८] (१९२२). संप्रति दिल्ली के वयोवृद्ध नेता स्वामी श्रद्धानंद व हकीम अजमल खाँ की भी सहानुभूति स्वराज्य पक्ष के साथ ही थी.[६९]

परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों में मेल कराने के लिये सितंबर १९२३ में देहली में काँग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ, प्रो. इंद्र विद्यावाचस्पति और श्री आसफ अली संप्रति स्वराज्य पार्टी के दिल्ली में नेता थे. स्वागत समिति में प्रो. इंद्र और आसफअली के पक्ष का अत्यधिक बहुमत होने के कारण ही काँग्रेस के सभापति मौलाना अबुल कलाम आजाद का चुना जाना संभव हुआ था.[७०] दिल्ली के एक और नेता डॉ. अंसारी अपरिवर्तनवादी थे. इस अधिवेशन में उन्होंने कोई विशेष रूचि न ली. वे उदासीनों की तरह तटस्थ ही रहे. इस अवसर पर परिवर्तनवादी काँग्रेस की सम्मति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आशीर्वाद से स्वराज्य–पार्टी धारा–सभा में प्रवेश करना चाहती थी. इसी समय पर स्वराज्य पार्टी की ओर से यह बात कही गई कि – स्वराज्य पक्ष गांधी जी को जेल से छुड़ाने और काँग्रेस के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिये धारा–सभा में प्रवेश करना चाहती है. अपरिवर्तनवादियों की तरह वह भी धारा सभा के कार्य को व्यर्थ मानती है. पर वह अंग्रेज़ सरकार के पाखंड़ी ढकोसले चेहरे का धारा सभा में जाकर ही पर्दाफाश करना चाहती है, और इस भ्रम को मिटाना चाहती है कि अंग्रेज सरकार प्रजातांत्रिक ढंग से काम कर रही है. इस अधिवेशन तक अपरिवर्तनवादियों का उग्र रूप सौम्य हो गया था. मौलाना मुहम्मद अली धारा–सभा प्रवेश के पक्षधर बन चुके थे. पुरुषोत्तमदास टंड़न, जवाहरलाल नेहरू, कोंड़ा वेंकेंटय्या इस शर्त के साथ समझौते के पक्ष में थे कि – धारा सभा में प्रवेश करने वालों को रोका न जाय और काँग्रेस को चुनाव के पंक से पृथक् ही रखा जाय. देहली के इस अधिवेशन में इंद्र जी का परिवर्तनवादी दास पक्ष ही विजयी हुआ. यह प्रस्ताव पास हो गया कि 'काँग्रेस जन 'लेजिस्लेटिव काँसिल' के सदस्य बनकर उसका कार्य कर सकते हैं.'[७१]

इस अधिवेशन के स्वागतमन्त्री प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति औरे मिस्टर आसफ अली थे. विद्यावाचस्पति जी को अनेक राष्ट्रीय महापुरुषों का स्वागत करने का और उनके निकट संपर्क में आने का अवसर मिला. अधिवेशन में सम्मिलित होने वालों में प्रमुख थे– सर्वश्री हार्ड़ीकर साहब (महाराष्ट्र), पं. जवाहरलाल नेहरू (संयुक्त प्रान्त), नेताजी सुभाषचन्द्र बोस (बंगाल), बाबू राजेन्द्रप्रसाद आदि.[७२] इस १९२३ के दिल्ली अधिवेशन में उन्हें राजसूय यज्ञ के श्रीकृष्ण की तरह अनेक राष्ट्रीय महापुरुषों की सेवा एवं दर्शन करने का सौभाग्य मिला था. यह अधिवेशन अपने आप में महत्वपूर्ण था. काँग्रेस के ध्येय को पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय तक पहुँचाने का सर्वप्रथम प्रयास इसी अधिवेशन में हुआ था. इस सिलसिले में श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल ने जो अपील निकाली थी, वह एक आर्यसमाजी प्रेस में प्रकाशित हुई थी. क्रान्तिकारी दल के संगठक श्री सान्याल के शब्दों में– 'देहली के एक 'आर्यसमाजियों के प्रेस' से यह अपील छपवाई थी. प्रेस ने मेरी अपील छाप तो दी संभव था कि दूसरे प्रेस इस काम को न करते.[७३] इस विषय में मेरा यह अनुमान है कि श्री सान्याल की यह अपील विद्यावाचस्पति के 'अर्जुन प्रेस' में ही छपी होगी. उस समय संभवतः देहली में आर्यसमाजियों के दो ही प्रेस थे. एक 'सद्धर्म प्रचारक' प्रेस और दूसरा 'अर्जुन' प्रेस.

२.६ एकता सम्मेलनः-

सन् १९२४ में बकरीद पर दिल्ली में दंगा हो गया. सन् १९१९ में जिस हिंदू–मुस्लिम एकता की वाटिका को दिल्ली में सिपाहियों की गोलियों से बहाये गये रक्त ने हरा–भरा किया था, उस प्रेमिल एकतामय महल को इंद्रजी ने १९२४ की एक शाम खंड़हरों के रूप में शहर में बिखरा हुआ देखा. दंगा पूर्व नियोजित था, पर अंग्रेज सरकार को उससे क्या मतलब, वह तो 'मार्जर न्याय' (दो बिल्लियों को लड़ाकर) के अनुसार अपना काम निकालना चाहती थी. दिल्ली में जो सांप्रदायिक दंगा हुआ उसका प्रभाव पूरे भारत पर पड़ा. महात्मा जी ने २१ दिन का उपवास किया. स्वामी श्रद्धानंद, हकीम अजमल खाँ और मुहम्मद अली ने दिल्ली में एकता सम्मेलन बुलवाया, जिसमें महात्मा गांधी, पंड़ित मदनमोहन मालवीय, मौलाना अबुल कलाम आजाद, जिन्ना आदि अखिल भारतीय स्तर के लब्धप्रतिष्ठ हिंदू–मुसलमान सम्मिलित हुये थे. इस एकता सम्मेलन को सफल बनाने में प्रो. इंद्र ने भी विशेष भाग लिया.– "प्रो. इंद्र ने इस अवसर पर बड़े धैर्य से काम लिया. अपने अनुयायियों और भक्तों को कठोर अनुशासन के नियंत्रण में रखा तथा प्रतिशोध की भावना को सफलता से दबाया."[७४] एकता सम्मेलन में इंद्रजी के पिता स्वामी श्रद्धानंदजी पर शुद्धि कार्य बंद करने के लिए जब जोर डाला गया, तब उन्होंने स्पष्ट किया– "यदि मुसलमानों के सब प्रचारक लौट आयेंगे, तो मैं भी शुद्धि सभा के कार्यकर्ताओं को वापिस बुला लूँगा."[७५] मौलाना मुहम्मद अली ने उलेमाओं के पैरों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में टोपी रखकर प्रचारकों को वापिस बुलाने की प्रार्थना की, पर किसी ने एक न सुनी और इस प्रकार एकता सम्मेलन एकता के सपनों को साकार करने की दिशा में व्यावहारिक रूप में सफल नहीं हो पाया.'' सन् १६२५ में कानपुर में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ. इंद्र विद्यावाचस्पति भी उसमें सम्मिलित हुये. अधिवेशन में यह निश्चित हुआ कि स्वराज्य दल काँग्रेस की ओर से धारा–सभा का निर्वाचन लड़े. इससे पूर्व १६२१ में महात्मा गांधी धारा–सभा प्रवेश के विरोधी थे. ५ मार्च १६२२ में उन्हें गिरफ्तार कर फरवरी १६२४ में उन्हें छोड़ा गया. स्वराज्य दल के प्रयत्नों के कारण ही उन्हें जेल से छोड़ा गया था. कारावास से छूटने के बाद वे भी स्वराज्य दल के पूर्णतः अनुकूल न होते हुए भी उन्होंने विरोध करना छोड़ दिया था, और धारा–सभा प्रवेश के निर्णय को समर्थन दे दिया था.

१६२६ में धारा–सभा के नये चुनाव हुये. मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय ने हिंदू हितों के लिये राष्ट्रवादी दल (नेशनलिस्ट पार्टी) की स्थापना की थी. इंद्रजी के अनेक निकटवर्ती साथी उस पार्टी में शामिल हो गये. मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय व स्वामी श्रद्धानंद ने इस चुनाव में काँग्रेस के विरोध में अपने प्रत्याशियों को चुनाव के मैदान में उतारने का निश्चय कर लिया था. वे इंद्रजी को भी अपने साथ लेना चाहते थे, इंद्रजी को मनाने के लिये लाहौर से तार द्वारा लालाजी को बुलाया गया. इंद्रजी उन्हें पितृवत् श्रद्धा की दृष्टि से पूजते थे.[७६] पिताजी की उपस्थिति में लाला लाजपतराय जी ने समझाने–बुझाने के बाद चेतावनी देते हुये कहा, 'याद रखो कि इस चुनाव में तुम्हें सफलता न मिलेगी. स्वामीजी व मैं लाला शिवनारायण के समर्थक हैं.' इंद्रजी ने भी दृढ़ता के साथ कहा, ''मैं प्रयत्न में कोई कसर नहीं छोड़ूँगा. सफलता ईश्वराधीन है.'' चुनाव खूब जोरों से लड़ा गया. इंद्रजी इस पहाड़ जैसे धर्मसंकट के सामने विचलित नहीं हुये. उन्होंने दृढ़ता के साथ दिल्ली–गोरखपुर आदि में राष्ट्रवादी दल का विरोध और काँग्रेस का समर्थन किया. जहाँ भी वे चुनाव प्रचार के लिये जाते थे, तो स्वामीजी व लालाजी के हस्ताक्षरों वाले पोस्टर सामने कर दिये जाते थे. फिर भी इंद्रजी ने अपनी आत्मा के आदेशानुसार ही कार्य किया. इस चुनाव परिणाम में न काँग्रेस का प्रत्याशी जीता न राष्ट्रवादी दल का. एक तीसरा ही व्यक्ति जीत गया था. विद्यावाचस्पति राजनैतिक चुनाव में काँग्रेस का समर्थन करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य मानते थे. इस दृष्टि से वे सोलह आने काँग्रेस के समर्थक थे.[७७]

२.७ प्रथम जेल यात्राः-

देश–सेवा का मार्ग उन दिनों प्रत्येक देश–सेवक को जेल अवश्य ले जाता था. छात्रावास में ही उनके मन में यह भावना उत्पन्न हो चुकी थी कि एक न एक दिन जेल में जाना होगा. [७८] बरसों से वह जेल जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे. वह दिन भी आ गया. पुलिस के दो इंसपैक्टर 'अर्जुन' कार्यालय में आये और उन्होंने इंद्रजी व पत्र संपादक को गिरफ्तार कर लिया. १३ दिसंबर १६२७ को कोई अपराध न होते हुए भी उन्हें जेल की सजा दी गई. बात यह थी कि उनके द्वारा मुद्रित व प्रकाशित पत्र 'अर्जुन' में, उनकी अनुपस्थिति में वे सत्यकाम विद्यालंकार जी के संपादकत्व में प्रकाशित, कुछ तथाकथित सांप्रदायिक लेखों के आधार पर संपादक के साथ उन्हें भी घसीट लिया गया. इंद्रजी को साढ़े पाँच साल की सजा और संपादक को इससे कुछ कम सजा मिली. बाद में इंद्रजी की सजा छः महीने और संपादक की तीन महीने कर दी गई. इतने मामूली से कारण पर ऐसी कठोर सजा देने के कारण को स्पष्ट करते हुए इंद्रजी लिखते हैं, ''दिल्ली की हुकूमत ने उस (उपर्युक्त) अभियोग पर नहीं, प्रत्युत 'अर्जुन' की ओर मेरी फाइल पर सजा दी.''[७९] इंद्रजी की यह सजा दिल्ली और फिरोजपुर जेल में बीती.

२.८ द्वितीय जेल यात्राः-

दिल्ली के पुलिस अफसरों ने पुनः दूसरी बार 'अर्जुन' के कुछ लेखों को आधार बनाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंद्रजी पर १२४ ए. का अभियोग चलाया,[८०] और उनके कुछ भाषणों को भी आपत्तिजनक बताकर नमक सत्याग्रह (१६३०) आरंभ होने से कुछ सप्ताह पहले ही उन्हें गिरफ्तार कर लिया. इंद्रजी की यह गिरफ्तारी बड़े ही नाटकीय ढंग से हुई. इंद्रजी के शब्दों में उसका मनोरंजक वर्णन प्रस्तुत है– "प्रातःकाल का समय था, मैं अभी स्नान आदि से निवृत्त नहीं हुआ था कि मेरे एक सहोद्योगी राष्ट्रीय कार्यकर्ता (श्री नारायणदास गर्ग) मेरे घर पर पहुँचे, और मुझे सूचना दी कि उनका (गर्ग का) वारंट निकला हुआ है. पुलिस उनकी तलाश में फिर रही है. वह मुझसे यह सलाह करने आये थे कि उन्हें किस प्रकार गिरफ्तार होना चाहिये. मैंने उन्हें सलाह दी कि खूब धूमधाम से गिरफ्तार होना चाहिये. इसका उपाय यह सोचा गया कि हम लोग जलूस बनाकर नारे लगाते हुए उनके साथ कोतवाली तक जायें, और वहाँ अपने आपको पुलिस के सुपुर्द कर दें."[८१]....निश्चयानुसार जलूस निकला और "कोतवाली के दरवाजे तक पहुँचते–पहुँचते जलूस में कई हजार आदमी इकट्ठे हो गये. दरवाजें पर हमारे स्वागत के लिए बहुत सी बंदूकधारी पुलिस खड़ी थी. जलूस के वहाँ पहुँचने पर दो सब इंसपैक्टर आगे बढ़े और गर्गजी को दोनों ओर से पकड़ लिया. गर्गजी तो स्वयं गिरफ्तार होने आये थे, तब इस बल प्रदर्शन की क्या आवश्यकता है. यह समझकर मैंने सब–इंसपैक्टर से कहा– यह तो स्वयं ही जाने को तैयार हैं, आप इन्हें घसीटते क्यों हैं? इसका उत्तर सब–इंसपैक्टर ने यह दिया कि, "आपको डिप्टी साहब ने याद किया है, आप भी साथ चले चलिये." 'बहुत अच्छा' कहकर मैं भी उनके साथ हो लिया. .... हमें अंदर लेकर कोतवाली के बड़े द्वार की खिड़की बंद होने पर सब–इंसपैक्टर ने मुझसे कहा– "प्रोफेसर साहब ! आपका भी वारंट है."[८२] इंद्रजी को इस बार ६ मास की कठोर कारागार की सजा हुई. उनका यह सजा–काल दिल्ली जेल में ही बीता.

२.६ तृतीय जेल-यात्राः-

सन् १६३२ में महात्मा गांधीजी के इंग्लैंड से भारत लौटने पर इंद्रजी ने बंबई जाकर उनका स्वागत किया. जिस दिन उन्होंने बंबई से दिल्ली की ओर प्रस्थान किया उसी रात गांधीजी और काँग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये. लार्ड विलिंग्डन ने इस समय एक साथ बारह आर्डिनेन्स जारी किये थे. काँग्रेस को अवैध घोषित कर दिया गया था. इंद्रजी इस समय दिल्ली काँग्रेस कमेटी के प्रधान थे. वे जब चाँदनी चौक स्थित काँग्रेस कार्यालय की सीढ़ियों पर चढ़ ही रहे थे कि उन्हें पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया. आश्चर्य की बात यह रही कि जिस अधिकारी ने गिरफ्तारी के वारंट पर हस्ताक्षर किये थे, उसीने जज बनकर सजा दी और वही मुख्य जेलर भी बना.[८३] दफा ४४८ के अंतर्गत उन्हें छह मास की कड़ी कैद और दो सौ रुपये का जुर्माना हुआ. यह सजा इंद्रजी ने दिल्ली, न्यू सेंट्रल जेल मुल्तान व लाहौर में बड़े ही स्वाभिमान के साथ काटी. इंद्रजी के परिवार का प्रत्येक सदस्य बलिदान, त्याग और सेवा के लिए सदैव तैयार था. परिवार का कोई भी ऐसा सदस्य नहीं था, जिसने जेल की (तीर्थ) यात्रा न की हो. वीर सन्यासी स्वमी श्रद्धानंद जी को कौन नहीं जानता. वे उनके पिता थे. उन्होंने तीन महीने ७ दिन अंग्रेज सरकार की मियांवाली जेल में बिताये थे.[८४] इंद्रजी के बड़े भाई श्री हरिश्चन्द्र प्रथम महायुद्ध शुरू होने पर सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी राजा महेंद्रप्रताप के साथ विदेश चले गये थे.[८५] इंद्र विद्यावाचस्पतिजी की तरह उनकी धर्मपत्नी श्रीमति चंद्रवती वाचस्पति भी 'स्वतंत्रता आंदोलन में तीन बार जेल गई.'[८६] इंद्रजी की बहन श्रीमति वेदकुमारी व सुपुत्र श्री जयंत वाचस्पति ने १६४२ की अगस्त क्रान्ति में कारावास की सजा भुगती थी. इस प्रकार विद्यावाचस्पतिजी का पूरा परिवार ही राष्ट्राभिमानी परिवार था. प्रथम जेल यात्रा (१३ दिसंबर १६२७ से १० मई १६२८ तक) के बाद इंद्रजी पर जो सबसे बड़ी विपत्ति आयी, वह पत्नी के देहांत की थी. इंद्रजी की धर्मपत्नी विद्या नेउनके राष्ट्रीय कार्यों में सदैव उत्साह से हाथ बँटाया था. इंद्रजी के शब्दों में ही एक संस्मरण प्रस्तुत हैः– (विद्या के देहांत से) ८ मास पहले मैंने जब यह सुझाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखा था कि मुझे पाँच सौ रुपये जुर्माना और सत्यकाम को तीन या छः मास की जेल हुई है, तो मेरा विचार है कि मैं जुर्माना न देकर जेल जाऊँ. तुम्हारी क्या राय है? तब विद्या ने मेरे पांव पकड़कर कहा था, 'यही ठीक है आपको मेरी खातिर अपने धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए. मैं इसका विरोध नहीं करती' यद्यपि कई बातों से विद्या बहुत साहसिक प्रतीत नहीं होती थी, परंतु जहाँ वस्तुतः देश–धर्म या आत्मसम्मान का संबंध हो, वहाँ आज तक (अंतिम समय तक) कभी उसने मेरे रास्ते में रुकावट नहीं पैदा की. उल्टा साहस बढ़ाया है. वह दिखावटी नहीं, अपितु असली अर्थों में वीरांगना थी.''[८७] विद्या के निधन से इंद्रजी के लिये संसार सूना हो गया था. अग्रज हरिश्चन्द्र तो १९१४ में ही विदेश चले गये थे. २६ दिसंबर १९२६ को उनके पिताजी की मौत से उनकी स्थिति आकाश और पृथ्वी के बीच लटके त्रिशंकु के समान हो गई थी. जेल–यात्रा के बाद पत्नी का निधन हो गया. एक पर एक आघात लगने से बहन वेदकुमारी के स्नेहिल प्रेम के सिवाय सब प्रेम के दूसरे संयोग विदा हो चुके थे.[८८] अतः १९२८ व २९ ये दो वर्ष इंद्रजी के 'अंधकारमय काल' के रूप में व्यतीत हुये.[८९] '३ मार्च १९२९ को उनका पुनर्विवाह हुआ.' महात्मा नारायण स्वामी जी के अनुसार प्रथम पत्नी के देहान्त और द्वितीय पत्नी के साथ पुनर्विवाह में कम समय का अंतर होने के कारण विद्यावाचस्पति जी को देहली की आर्य जनता के उग्र रोष भरे विरोधी आन्दोलन का शिकार होना पड़ा, अन्यथा उनके पुनर्विवाह में अन्य कोई दोष नहीं था.[९०] उन्होंने पुनर्विवाह करते समय ऐसी ही वधू का निर्वाचन किया था जो उनके 'सार्वजनिक जीवन से सहानुभूति रखे.'[९१]

विद्यावाचस्पति ने सन् १९२९ में पंजाब के नेता डॉ. सत्यपाल को दो वर्ष की सजा देने के विरूद्ध 'अर्जुन' में संपादकीय लेख लिखा, जिस कारण उन पर लाहौर के हाईकोर्ट में मानहानि का मुकदमा चलाया गया. मुकदमे में उन्हें चेतावनी दी गई और जुर्माना लेकर बरी कर दिया गया.[९२] १९३० के आरंभिक दो मासों में हम उन्हें गाँव की गहराई में पाते हैं. शाहदरा, समीपुर व नजफगढ़ की किसान कान्फ्रेंस के वे एक प्रमुख स्तंभ थे.[९३]

२.१० दिल्ली के लोकप्रिय नेताः-

दिल्ली शहर को विशिष्ट रूप देने में भी इंद्रजी का प्रमुख हाथ रहा. सर्वप्रथम रौलेट एक्ट (१९१९) के दिनों में उनके 'विजय' दैनिक ने पूरा भारत का ध्यान दिल्ली की ओर आकृष्ट किया था. १९३० में दिल्ली के नागरिकों का मन दिल्ली म्युनिसिपैलिटी को कार्पोरेशन में बदलने के लिए आंदोलित हो उठा. कराची को कार्पोरेशन का स्तर मिल जाने से दिल्ली वालों का भी उत्साह बढ़ गया. उनका तर्क था कि– यदि कराची को बंदरगाह होने के कारण कार्पोरेशन मिल सकता है, तो दिल्ली को भी राजधानी होने के कारण कार्पोरेशन का स्तर प्राप्त होना चाहिये.

काँग्रेस के अवैध घोषित किये जाने के कारण दिल्ली के नागरिकों ने अपने कार्य को अनवरत रूप से जारी रखते हुए इंद्रजी की अध्यक्षता में राष्ट्रवादी दल (नेशनलिस्ट पार्टी) का गठन किया था. दिल्ली को कार्पोरेशन प्राप्त कराने में इंद्रजी का प्रमुख हाथ रहा है. दिल्ली के नागरिकों में कार्पोरेशन की इच्छा का बीजवपन करने वाले प्रो. इंद्र ही थे,[९४] इंद्रजी काँग्रेसी होते हुए भी पूर्णतः अहिंसावादी नहीं थे, वे 'शरादपि' नीति के समर्थक थे. लोकमान्य तिलक, केशवराव कोरटकर, देशबंधु चितरंजनदास, गणेश शंकर विद्यार्थी व माखनलाल चतुर्वेदी की तरह वे क्रांतिकारियों के साथ पूरी सहानुभूति रखते थे. क्रांतिकारियों से उनका भावात्मक तादात्म्य 'दो शरीर एक प्राणवत्' था. उन्होंने सन् १९२१ में अहमदाबाद काँग्रेस अधिवेशन में महात्मा गांधीजी के 'साहा–निंदा–प्रस्ताव' से असहमत होते हुए प्रस्ताव के विरोध में मतदान कर आतंकवादी गोपीनाथ साहा के कार्य को बधाई योग्य ही माना था. बात सन् १९३१ की है. इन्द्र विद्यावाचस्पति म्युनिसिपल कमेटी की सीट के लिये चुनाव के अखाड़े में उतर चुके थे. इंद्रजी की ओर पूरी जनता थी, तो दूसरी ओर सारी काँग्रेस नौकरशाही.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंद्रजी का प्रतिस्पर्धी अपनी विजय के बारे में पूर्णतः निराश था, क्योंकि इंद्रजी का पलड़ा भारी था. चुनाव से एक दिन पहले इंद्रजी के खेमे के राष्ट्रीय कार्यकर्ता अपनी विजय के प्रति पूर्णतः आश्वस्त थे, परंतु मतदान वाले दिन प्रातःकाल ही यह दुःखद समाचार फैला कि वीर क्रांतिकारी सरदार भगतसिंह को पिछली रात फाँसी दे दी गयी. जब सहृदय इंद्रजी ने यह समाचार सुना, तो मतदान बंद कर देने की घोषणा कर दी. साथियों के समझाने–बुझाने पर भी उन्होंने यही कहा– "नहीं, मतदान नहीं होगा."[६५] स्पष्ट है कि इंद्रजी के मन में सर हथेली पर रखकर चलने वाले आतंकवादी क्रांतिकारी नौजवानों के प्रति भी अप्रतिम आस्था थी, और उनका निस्पृह–निष्काम व्यक्तित्व वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं से अतिशय दूर था.

१९३१ में इंद्रजी दिल्ली सूबा काँग्रेस कमेटी के प्रधान बनने पर, काँग्रेस दल पर लाला शंकरलाल के पक्ष का ही प्रबल नियंत्रण रहा, किन्तु शंकरलाल के नेतृत्व में काँग्रेस दिन–प्रतिदिन दुर्बल होती जा रही थी, अतः दिल्ली के राष्ट्रीय जीवन को मूर्त रूप देने के लिये इंद्र जी ने काँग्रेस कमेटी से पृथक् हो डेमोक्रेटिक पार्टी (प्रजातांत्रिक दल) का गठन किया. १९२६ में इंद्रजी के जो साथी काँग्रेस छोड़कर लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानंद, मदनमोहन मालवीय जी के राष्ट्रवादी दल में शामिल हो गये थे, वे सभी इंद्रजी के इस नये दल में सम्मिलित हो गये. कुछ ही समय में इंद्रजी का दल प्रबल हो गया. काँग्रेस के जनरल सेक्रेटरी के नाते पं. जवाहरलाल नेहरू इन दोनों (इंद्र–शंकरलाल) दलों में समझौता कराने आये थे.[६६] जुलाई में जो चुनाव हुआ, उसमें प्रजातांत्रिक दल के शत–प्रतिशत प्रत्याशी विजयी हुये थे. जब सन् १९३२–३३ में गांधीजी राजनीति से अल्पकालिक सन्यास लेकर हरिजन कल्याण के मिशन में लग गये तब सभी काँग्रेसी गांधीजी के मुख्य धारा से कट जाने के कारण चिंतित हो उठे. सेनापति महात्मा गांधी की अल्पकालिक राजनैतिक विरक्ति से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिये पुणे में अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी का अधिवेशन हुआ. जेल से बाहर आये सभी नेताओं और कार्यकर्ताओं की तरह इंद्रजी भी इसमें सम्मिलित हुये थे.[६७]

१९३३ का सुप्त राजनैतिक जीवन बिहार के भूकंप से गतिमय हुआ. भूकंप के लगभग एक सप्ताह पश्चात् २३ जनवरी १९३४ को इंद्रजी भी कुछ सहयोगियों के साथ भूकंप पीड़ित स्थानों पर पहुँचे.[६८] पटना के प्रधान कार्यालय में पहुँचने पर उन्हें काले कंबल पर बैठे हुये राजेंद्र बाबू दिखाई दिये. जिस समय भूकंप आया राजेंद्र बाबू कारागृह में थे, और दमे का इलाज करा रहे थे. जेल से रिहाई के बाद उनकी रात अस्पताल में और दिन रिलिफ दफ्तर में बीतता था. रोगी शरीर, मिलने वालों की भीड़, काम की अत्यंत अधिकता होने पर भी पुरुषरत्न राजेंद्र बाबू के चेहरे पर इंद्रजी ने मुस्कराहट और वाणी में माधुर्य देखा. उन्होंने तपस्वी राजेंद्र को तन्मयता से सेवाकार्य में ही रत देखा. उन्होंने गया काँग्रेस में राजेंद्र बाबू के आदर्शमय व्यक्तित्व का प्रारंभ देखा, तो रिलिफ कार्यालय में उसका यौवन देखा और उसी समय वे इस निश्चय पर पहुँचे कि राजेंद्र बाबू का राष्ट्र में सर्वोच्च स्थान होगा, और उनके तपस्वी त्यागी जीवन के समक्ष राष्ट्र एक न एक दिन अवश्यमेव श्रद्धा से नतमस्तक होगा.[६९] राजेंद्र बाबू ने देश सेवा के यज्ञ में तन–मन–धन ही नहीं, अपना अहं भी त्याग दिया था, जिससे इंद्रजी विशेष रूप से प्रभावित हुये थे. पटना से दिल्ली आने पर इंद्रजी को हम (२७ जनवरी १९३४ को) बिहार रिलीफ कैंप जैसी संस्थाओं की स्थापना में उत्साह से सम्मिलित हुआ देखते हैं.[७०] इंद्रजी दिल्ली के अत्यंत लोकप्रिय नेता बन चुके थे. २६ सितंबर १९३४ को जिला काँग्रेस कमेटी के चुनाव हुये. दिल्ली के सभासदों ने इंद्रजी को प्रधान पद पर निर्वाचित किया. यह उत्तरदायित्व उन्होंने कई वर्षों की अस्वीकृति के बाद स्वीकार किया था.[७१] इंद्रजी ने इस वर्ष देहरादून, ऋषिकेश, मेरठ, दिल्ली, नई दिल्ली आदि अनेक स्थलों पर आयोजित काँग्रेसी सभा–जलसों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में व्याख्यान दिये.[१०२] जनमानस के राष्ट्रीय भावों को प्रबुद्ध करने के लिये इंद्रजी ने अनेक स्थानों का तूफानी दौरा किया. इसी वर्ष के अंत में काँग्रेस को निःशेष समझकर लॉर्ड विलिंग्डन ने केंद्रीय असेंबली के चुनावों की घोषणा की. इस समय तक काँग्रेस ने जेल जाने का मार्ग छोड़कर कौंसिलों में जाने का निश्चय कर लिया था.[१०३] लार्ड विलिंग्डन के सपनों को चकनाचूर करने के लिये वह पूरी हिम्मत के साथ चुनाव के अखाड़े में उतर गई थी. इंद्रजी व डॉ. अंसारी के नेतृत्व में दिल्ली ने भी विलिंग्डन की धारणाओं के किले ढा दिये. वाइसराय और उनके कौंसिल के सदस्य नेशनल जनरल लिमिटेड के डाइरेक्टर रायसाहब नानक चंद के समर्थक थे, तो प्रो. इंद्र काँग्रेसी प्रत्याशी बैरिस्टर आसफ अली का समर्थन कर रहे थे. जनता इंद्रजी की प्रत्येक बात पर जितना विश्वास करती थी, उतना अन्यों की बात पर नहीं. इसी चुनाव के दौरान जब कुछ नेता दिल्ली क्लॉथ मार्केट के व्यापारियों से वोट माँगने गये, तब व्यापारियों ने नेताओं से साफ–साफ कह दिया था, ''यदि प्रो. इंद्र वोट माँगने आयेंगे, तो उनका वोट काँग्रेस को मिलेगा.''[१०४] संप्रति इंद्र दिल्ली प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के प्रधान थे. उनके निस्पृह व्यक्तित्व और परिश्रम ने काँग्रेसी प्रत्याशी को विजय दिलाई. आसफ अली विजयी हुए और प्रो. विद्यावाचस्पति जी का परिश्रम सार्थक हुआ. वे सही अर्थों में दिल्ली के नेता सिद्ध हुये.

'भारत सरकार १६३५' कानून के अनुसार संघराज्य बनाने हेतु प्रान्तीय स्वशासन के अधिकार भारतीय संविधान में समाविष्ट किये गए. सनद् १६३६ में २२ से २६ अगस्त तक बंबई में अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी का अधिवेशन हुआ, जिसमें विद्यावाचस्पतिजी सम्मिलित हुये. अधिवेशन में उन्हें सरोजिनी नायडू, श्री नारायणप्रसाद आदि नेताओं से अभीष्ट विषयों पर विचार–विमर्श करने का अवसर मिला. १६३७ के प्रारंभ होने वाले धारा–सभाओं के चुनाव हेतु पं. जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल ने भगीरथ प्रयत्न किया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश की राष्ट्रीय विचारों वाली जनता कमर कसकर चुनाव के लिये उद्यत हो गई. इस सफलता में चुनाव युद्ध के प्रधान सेनापति सरदार वल्लभभाई पटेल का प्रमुख भाग था. रणक्षेत्र में जोश दिलाने का श्रेय नेहरू जी को था, तो सेना–संचालन का श्रेय सरदार पटेल को था. दिल्ली प्रांतीय काँग्रेस कमेटी का प्रधान होने के कारण, इंद्रजी को इन धारा–सभाओं के चुनाव के संदर्भ में, सन् १६३५ में सरदार बल्लभभाई पटेल और सन् १६३६ में पं. जवाहरलाल नेहरू के अतिशय निकट रहने का अवसर मिला. जब १६३५ में सरदार पटेल दिल्ली आये, तब दिल्ली की काँग्रेस कमेटी ने शहर से दस मील की दूरी पर एक गाँव में राजनैतिक सभा रखी थी. उन्हें सभा में पहुँचाने का कार्य इंद्रजी के ही सुपुर्द किया गया था. उस समय लगभग पांच छः घंटों तक मोटर में सरदार पटेल के साथ बैठने का इंद्रजी को अवसर मिला, विभिन्न विषयों पर उनकी बातचीत हुई, पर जिस प्रसंग का सर्वाधिक प्रभाव इंद्रजी के मन पर पड़ा वह उन्हीं के शब्दों में शब्दांकित है :–

''हमारी मोटर कई गांवों में से होकर निकली. गांव के निवासियों की गरीबी और फटी हालत देखते हुए हम जंगल के रास्ते में पहुँचे. हरा–भरा जंगल था, स्थान–स्थान पर मोर निश्चिंतता से विहार करते दिखाई देते थे. मोर वाले जंगल को देखकर काठियावाड़ का मौरवी प्रदेश याद आ गया. उन्होंने कहा, ''मौरवी में भी इसी प्रकार मोर निर्भय होकर विचरते हैं.'' थोड़ी देर रुककर बोले, ''स्वामी दयानंद ने मौरवी में जन्म लिया था, जिस प्रदेश में भारत की जागृति के पिता ने जन्म लिया, उसके सुंदर स्थानों में इससे भी अधिक दरिद्रता पाई जाती है,...ऐसा संदुर देश और ऐसी भीषण दरिद्रता, यह हमारी दासता का ही परिणाम है'' इन शब्दों को कहते समय सरदार का गला भर आया था और आँखों में पानी झलक रहा था. इंद्रजी ने सरदार के उन गीले नेत्रों से झलकते हुये एक भावुक और अत्यंत कोमल हृदय को प्रत्यक्ष रूप में देखा और यह अनुभव किया कि अत्यंत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंभीर और प्रत्यक्ष में कुछ कठोर दीखने वाले सरदार के अंतस्तल में एक अत्यंत अनुभवशील, भावुक हृदय का निवास है.[१०५] सन् १६३६ में. इंद्रजी ने राष्ट्रपति (काँग्रेस के अध्यक्ष) पं. जवाहरलाल नेहरू के साथ धारा–सभा के चुनावों में काँग्रेस को विजयी कराने के लिये अनेक तूफानी दौरे किये थे. एक–दो बार तो पं. जवाहरलाल नेहरू पंजाब का चुनाव दौरा कर इंद्रजी की आर्यसामाजिक कर्मभूमि 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' में भी ठहरे थे.[१०६] पं. मोतीलाल नेहरू व स्वामी श्रद्धानंदजी जैसे अखिल भारतीय लब्धप्रतिष्ठ राष्ट्रीय नेताओं के पुत्र व समवयस्क होने के कारण पं. नेहरू व प्रो. इंद्रजी में अच्छी मैत्री थी. दोनों के पिता विद्यार्थी जीवन में सहपाठी थे. दोनों ने जलियांवाला बाग हत्याकांड में आहतों की अपने–अपने ढंग से अभूतपूर्व सेवायें की थीं. हत्याकांड जाँच समिति के प्रमुख मोतीलाल थे और सेवा समिति के प्रमुख स्वामी श्रद्धानंद थे. राष्ट्रपति (राष्ट्रीय महासभा काँग्रेस के अध्यक्ष) पं. जवाहरलाल नेहरू के साथ दिल्ली प्रांतीय काँग्रेस कमेटी के अध्यक्ष प्रो. इंद्रजी ने बुलंदशहर, हापुड़, गाजियाबाद, मेरठ, रसाना आदि क्षेत्रों का तूफानी दौरा किया था.[१०७] स्वतंत्र रूप में भी इंद्रजी ने चुनाव–संग्राम में काँग्रेस को सफल बनाने के लिये रोहतक, मेरठ, मुजफ्फरनगर, बिजनौर, देहरादून और खुर्जा आदि में अपने व्याख्यान–चुनाव अभियान से विरोधियों के दुर्ग को भी निष्प्रभ बना दिया. जिस कारण काँग्रेस को असाधारण सफलता मिलने में सहायता हुई.[१०८]

राष्ट्रीय आंदोलन को जन सामान्य तक पहुँचाने के लिये दिसंबर के अंत में अखिल भारतीय काँग्रेस का अधिवेशन फैजपुर गाँव में हुआ. फैजपुर में दिल्ली के सदस्यों ने दिल्ली प्रांतीय काँग्रेस कमेटी के अध्यक्ष की हैसियत से इंद्रजी के जिम्मे यह काप सौंपा कि वे 'ऑल इंडिया काँग्रेस कमेटी' की बैठक में आगामी अधिवेशन दिल्ली में ही निमंत्रित करें. इंद्रजी जब दिल्ली अधिवेशन संबंधी निवेदन को लेकर महात्मा गांधी के पास पहुँचे तो उन्होंने काँग्रेस का अधिवेशन दिल्ली में निमंत्रित न करने की सलाह दी. फिर भी इंद्रजी अनुत्साहित नहीं हुये और उन्होंने इस विचार से निमंत्रण दे डाला कि संभव है बहुमत से अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी दिल्ली निमंत्रण को स्वीकार ही कर ले, अन्यथा निमंत्रण आगे के लिए तो सुरक्षित बना रहेगा. कमेटी में बहुमत गुजरात के पक्ष में रहा. उसी दिन की सायं की घटना है–इंद्रजी खादी प्रदर्शनी में घूम रहे थे कि अचानक प्रो. कृपलानी ने उन्हें दूर से पुकारा और इंद्रजी के निकट आने पर घाव पर मरहम लगाने वाले मसीहे के समान कहा, "भाई ! आपका निमंत्रण तो स्वीकार नहीं हुआ, पर काँग्रेस के सामने शीघ्र ही कन्वेन्शन करने का प्रस्ताव आ रहा है, यदि वह स्वीकार हो गया, तो क्या आप लोग एक महीने की नोटिस पर कन्वेन्शन का अधिवेशन कर सकेंगे? वह भी काँग्रेस जितना ही बड़ा होगा. जवाहरलाल जी यह जानना चाहते हैं." इंद्रजी ने उत्तर में 'हाँ' कहा.[१०९] उन्होंने यह स्वीकृति अपने साथियों से विचार–विमर्श किये बिना ही दी थी. इससे यह स्पष्ट होता है कि उनमें अद्भुत आत्मविश्वास था और अल्पावधि में अखिल भारतीय स्तर के बड़े से बड़े कार्य करने की असाधारण क्षमता व संयोजन दृष्टि भी थी. साथ ही उन्हें यह भी विश्वास था कि समय आने पर विविध राष्ट्रीय सामाजिक संस्थाओं के स्वयंसेवक, वरिष्ठ कार्यकर्ताओं और नेताओं का पूर्ण सहयोग मिलेगा. यह सब यही सिद्ध करता है कि इंद्रजी देहली के कर्मठ, आदर्श व लोकप्रिय नेता थे.

१६३७ के प्रारंभ में प्रांतीय विधान–सभाओं के निर्वाचन में यशस्वी होने के बाद प्रांतीय काँग्रेस कमेटी ने दिल्ली म्युनिसिपल के चुनाव भी इंद्रजी की अध्यक्षता में ही लड़ने का निश्चय किया गया. इस उत्तरदायित्व को भी इंद्रजी ने सहर्ष स्वीकार किया और अच्छी तरह पूर्णतया निभाया भी. विधान सभाओं के निर्वाचन की तरह दिल्ली म्युनिसिपल के चुनावों में भी काँग्रेस के टिकट पर खड़े हुये सभी प्रत्याशी विजयी हुये. एक के बाद एक विजयश्री प्राप्त करने से दिल्ली के सार्वजनिक जीवन व नागरिकों में इंद्र जी का स्थान क्या था–यह इससे स्पष्ट होता है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फैजपुर अधिवेशन के निश्चानुसार मार्च १९३७ के मध्य में अखिल भारतीय काँग्रेस का विशेष अधिवेशन दिल्ली में शुरू हुआ. इस अधिवेशन में काँग्रेसी प्रतिनिधियों के अतिरिक्त धारा सभाओं के लिए विजयी काँग्रेसी सदस्य भी पधारे थे. अधिवेशन के प्रारंभ में सभी काँग्रेसी सदस्यों ने प्रतिज्ञा की, "मैं यह वचन देता हूँ कि काँग्रेस का अनुशासन मानते हुये काँग्रेस के आदर्श और उद्देश्यों को सफल बनाना हमेशा मेरा काम होगा.[११०]" इस प्रतिज्ञा को पहले अध्यक्ष ने पढ़ा था, और फिर सब सदस्यों ने उसे दुहराया था. अधिवेशन के अध्यक्ष पं. जवाहरलाल नेहरू व स्वागताध्यक्ष पं. इंद्र विद्यावाचस्पति थे. यह एक विचित्र संयोग ही था, क्योंकि आज से १८ साल पहले इन दोनों के पिता काँग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में अध्यक्ष व स्वागताध्यक्ष थे. अंतर इतना ही था कि दिल्ली का यह अधिवेशन विशेष था और अमृतसर का अधिवेशन वार्षिक था. इस अधिवेशन के सामने सबसे बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि 'जिन आठ प्रांतों में काँग्रेस को असाधारण बहुमत मिला है,[१११] वहाँ मंत्रीमंडल बनाया जाय या नहीं? काँग्रेस के नेता और कार्यसमिति इस प्रश्न को लेकर विभक्त थी. 'कुछ मंत्रीमंड़ल बनाने के पक्ष में थे, तो कुछ विपक्ष में. इन दोनों के बीच पुल बनाने के लिए यह अधिवेशन बुलाया गया था.[११२] इस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष प्रो. विद्यावाचस्पति का उत्तरदायित्व कम महत्वपूर्ण नहीं था. यह स्वागताध्यक्ष का पद केवल खान–पान की व्यवस्था करना मात्र नहीं था, और न ही केवल शोभा मात्र था. हरेक विचार के व्यक्ति को अपने–अपने विचार का प्रचार करने की सुविधा प्रदान करना भी उसका उत्तरदायित्व था. दिल्ली के पुराने नेताओं में इस समय कोई नहीं रहा था. श्री विद्यावाचस्पति और मि. आसफ अली ही केवल सन् १९१९ के विख्यात नेताओं में शेष रह गए थे. स्वागताध्यक्ष विद्यावाचस्पति जी ने अपने अनथक प्रयासों से इस अधिवेशन को सम्पन्न कराया. अधिवेशन में अनुकूल परिस्थिति होने पर कांग्रेसी मंत्रीमंडल बनाने का निश्चय हुआ. श्री विद्यावाचस्पतिजी को इस बात की पूर्ण आत्मसन्तुष्टि थी कि – 'कन्वेन्शन बड़ी सफलता के साथ संपन्न हुआ.'[११३] यह राष्ट्रीय सम्मेलन बहुत ही थोड़े समय की सूचना से करना पड़ा था. इस कारण प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी को ही स्वागत का सारा बोझ उठाना पड़ा था.[११४] एक ढंग से यह सारा बोझ विद्यावाचस्पतिजी पर ही था, क्योंकि वे दिल्ली प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के प्रधान और इस राष्ट्रीय सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे. स्वागताध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को नजरबन्दी से मुक्त किये जाने पर बधाई देते हुए दिल्ली में आयोजित इस राष्ट्रीय सम्मेलन हेतु विशेष रूप से निमंत्रित किया था,[११५] पर वे अस्वस्थ होने के कारण नहीं आ सके गांधीजी जैसे वरिष्ठ नेताओं से सुभाष बाबू के मतभेदों को जानते हुए भी उन्हें विशिष्ट रूप से निमंत्रित करना विद्यावाचस्पतिजी के असाधारण स्वतंत्र व्यक्तित्व का ही द्योतक है. कई बार अत्यधिक आत्मविश्वास भी इन्सान को धोखा दे जाता है. सन् १९३८ में विद्यावाचस्पतिजी भी आवश्यकता से अधिक आत्मविश्वासी होने के कारण धोखा खा गये. स्थानीय (दिल्ली) चुनावों में उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ा. इंद्र जी के मुख्य विरोधी शंकरलाल थे. वे १९३१ से ही अपनी पराजय का बदला लेने के लिए समय की ताक में बैठे थे. इंद्र दल अपनी विजय के संबंध में निश्चिंत था, और स्वंय को अजेय समझा बैठा था. परिणाम विपरीत रहा. हरिपुरा काँग्रेस में सम्मिलित होने वाले प्रतिनिधियों के निर्वाचन में इंद्रजी श्री नरसिंह नामक अपने ही पुराने मित्र और सहयोगी से कुल सात मतों से पराजित हो गये.

इंद्रजी के समग्र जीवन का अध्ययन करने पर मेरा तो यह मत बना है कि पं. इन्द्रजी की पराजय का एक बहुत बड़ा कारण यह रहा है कि वे सीधे–सादे रास्तों से अपनी मंजिल तय किया करते थे. टेढ़े–मेढ़े रास्तों से मंजिल तय करना उनके स्वभाव के विरूद्ध था. चुनाव रणनीति के कुटिल पंजे–छक्कों से उनका नाता हो ही नहीं सकता था, इस कारण और अपने आपको अजेय समझ लेने के कारण उन्हें पराजित होना पड़ा. 'उनकी यह पराजय काँग्रेस में नये तत्व के आगमन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सूचना थी. काँग्रेस में निष्ठावान सेवकों के बदले में स्वार्थ साधक लोग बड़ी संख्या में आ गये थे. इनका उद्देश्य काँग्रेस की ताकत बढ़ाना नहीं था, बल्कि अपनी आर्थिक स्थिति सुधारना था. ठेके प्राप्त करना और तिजोरियाँ भरना था. परंतु काँग्रेस के पास उस समय इस ओर सोचने के लिए समय नही था.[११६] हरिपुरा काँग्रेस के प्रतिनिधि न चुने जाने पर भी इंद्रजी अखिल भारतीय काँग्रेस अधिवेशन–हरिपुरा में सम्मिलित हुये. इस अधिवेशन में वे आर्यसमाजियों के कैंप में ठहरे हुए थे.[११७]

काँग्रेस के विशिष्ट पदाधिकारी न रहते हुए भी इंद्रजी काँग्रेस के बहुविध कार्यो में व्यस्त रहे. कभी नेताओं की स्वागत सभा में नजर आते हैं,[११८] तो कभी विविध विषयों पर व्याख्यान देते हुए दिखलाई देते हैं,[११९] कहीं हस्पताल कमेटी[१२०] में तो कहीं जिला काँग्रेस वर्किंग कमेटी में सक्रिय रूप से विचार–विमर्श व निश्चय–निर्णय करने के लिये उपस्थित हैं,[१२१] तो कभी भारतीय आकांक्षाओं के प्रतीक पं. जवाहरलाल नेहरू से.विचार–विमर्श कर रहे हैं,[१२२]

३ मई १९३९ को भव्य, तेजस्वी एवं स्वभावसिद्ध नेता, नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने अग्रगामी दल (फारवर्ड ब्लाक) की स्थापना की,[१२३] यह दल काँग्रेस का प्रतिद्वंद्वी दल नहीं था, प्रत्युत उसके अंतर्गत ही एक नया संगठन था. जो बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित कर आंदोलन को एक नया रूप देना चाहता था. अग्रगामी दल व महात्मा गांधी के क्रमशः सक्रिय अभियान व आशीर्वाद (समर्थन) से वैयक्तिक सत्याग्रह का सूत्रपात हुआ. दिल्ली में 'व्यैक्तिक सत्याग्रह' के अभियान संचालन का कार्यभार इंद्रजी को सौंपा गया. सत्याग्रह को सम्यक् दिशा देने के लिए और आंदोलन को सफल आंदोलन बनाने के लिये इंद्रजी ने तुगलका बाग के 'श्रद्धा निकेतन' में सत्याग्रह कैंप लगाया. यह स्थान ब्रिटिश चांदमारी के स्थान के पास व अहिंसक सत्याग्रहियों की शिक्षा व अभ्यास के लिए बडा ही उपयुक्त था. इस सत्याग्रह कैंप का कार्य ५ सितंबर को प्रारंभ किया गया था.[१२४] इसी वर्ष (१९३९) बदरपुर में इंद्रजी के सभापतित्व में गांधी जयंती मनायी गई. इंद्रजी के प्रामाणिक जीवनी लेखक श्रीयुत सत्यकाम जी विद्यालंकार के अनुसार– "शायद यह अंतिम काँग्रेसी सभा थी. जिसका सभापतित्व इंद्रजी ने काँग्रेस के एक पदाधिकारी के रूप में किया था.इ[१२५] इंद्रजी पद पर रहें हो या न रहें हो पूर्ण तन्मयता से वे काँग्रेस के साथ एकनिष्ठ रहे, अनेक बार तो उनके घर पर ही काँग्रेसियों की सभा–मिटिंगे हुआ करती थीं, और उनका घर काँग्रेस–भवन के रूप में परिवर्तित हो जाता था.[१२६]

२.११ आर्य सत्याग्रह : हैदराबाद मुक्ति संग्राम के एक संचालकः-

इंद्रजी काँग्रेस के साथ–साथ संप्रति आर्यसमाज के भी एक महत्वपूर्ण स्तंभ थे. सामाजिक, सांस्कृतिक ही नहीं राष्ट्रीय कर्तव्यों के प्रति सतर्क एवं सजग रहने वाली संस्था आर्यसमाज ने सन् १९३८–३९ में हैदराबाद राज्य के नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की रक्षा के लिये फासिस्ट निजामशाही से जबरदस्त टक्कर ली थी. आर्य सत्याग्रह संग्राम का प्रारंभिक शंखनाद करने वालों में इंद्र विद्यावाचस्पतिजी प्रमुख थे. ३० अप्रैल १९३८ को सार्वदेशिक सभा की विशेष बैठक में इंद्रजी ने आर्य–सत्याग्रह के संबंध में १४ सूत्री प्रस्ताव रखा था. जिसमें 'आर्य रक्षा समिति' को यह आदेश दिया गया था कि – 'वह महाराष्ट्र में किसी ऐसे केंद्र में, जो हैदराबाद के समीप हो, एक आर्य सम्मेलन करने की व्यवस्था करें, जिसमें हैदराबाद की समस्या पर विचार हो, तथा अन्य सब आवश्यक उपायों को काम में लाकर हैदराबाद में आर्यसमाज के अधिकारों की रक्षा का प्रयत्न करें.[१२७]" 'आर्य रक्षा समिति' ने आर्य सत्याग्रह से लगभग चार मास पूर्व (८ अक्तूबर १९३८ को) सविनय कानून भंग आंदोलन जारी किया था. इस 'आर्य रक्षा समिति' के प्रधान इंद्र विद्यावाचस्पतिजी थे. ३१ जनवरी १९३९ को आर्य सत्याग्रह शुरु हुआ था. सार्वदेशिक सभा के पदाधिकारियों को सत्याग्रह को बाहर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सहयोग व शक्ति पहुँचाने के लिये सक्रिय सत्याग्रह से दूर रखा गया था. इंद्रजी इस समय सार्वदेशिक सभा के उपप्रधान थे. बांहर रहकर आर्य सत्याग्रह की प्राणशक्ति सिद्ध होने वाले पं. इंद्र विद्यावाचस्पति जैसे आर्यनायकों के संबंध में, आर्य सत्याग्रह के सर्वप्रथम सर्वाधिकारी श्री नारायण स्वामीजी महाराज ने सत्याग्रह की समाप्ति पर जेल से छूटने के बाद कहा था, "वे लोग जिन्होंने कभी सत्याग्रह आंदोलन में भाग नहीं लिया है, अच्छी तरह जानते हैं कि जेलों से बाहर रहकर सत्याग्रह आंदोलन चलाने वालों को, जेल में बंद हो जाने वालों की अपेक्षा अधिक काम करना पड़ता है. हमारे सत्याग्रह में भी यही सत्य दिखाई दिया, यदि जेल से बाहर रहकर भी उन्होंने अपने कर्तव्यों का पालन इतने उत्साह और लगन के साथ न किया होता, तो हमारा सत्याग्रह इतनी जल्दी समाप्त न हो सकता था. मुझे यह कहते हुए अभिमान का अनुभव होता है कि उन सब भाइयों ने, जो प्रायः अनिच्छापूर्वक अपने निश्चय के विरूद्ध जेलों से बाहर रहे, अपने कर्तव्यों का अत्यंत प्रशंसनीय रूप में पालन किया."[१२८] सत्याग्रह की समाप्ति पर सत्याग्रह शास्त्र के आचार्य महात्मा गांधी ने कहा था, "आर्य सत्याग्रह मेरे सत्याग्रह की अपेक्षा यदि अधिक अच्छा नहीं, तो अधिक बुरा भी नहीं हुआ."[१२९] सरदार पटेल ने हैदराबाद की विजय पर अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा था, "यदि आर्यसमाज ने यहाँ पहले से भूमिका तैयार न की होती, तो तीन दिन में पुलिस कार्यवाही सफल होनी मुश्किल थी. आज तो सहसा उस परिस्थिति की कल्पना करना भी कठिन है.[१३०] इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस आर्य सत्याग्रह ने हैदराबाद मुक्ति संग्राम में ही नहीं, किन्तु विशाल भारतीय गणतंत्र की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी, उस आर्य सत्याग्रह के प्रवर्तकों व संचालकों में इंद्र जी का महत्वपूर्ण हाथ था. 'आर्य रक्षा समिति' के प्रधान व 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' के उपप्रधान के नाते आर्य सत्याग्रह को संचालित, संगठित करने व सफल बनाने का उत्तरदायित्व आप पर ही था.[१३१]

पं. इंद्र विद्यावाचस्पति का व्यक्तित्व बहुमुखी था. वे राजनैतिक नेता होने के साथ–साथ राष्ट्रीय साहित्यकार के रूप में भी प्रख्यात थे. अपने राष्ट्रीय साहित्य व राजनैतिक जीवन केसेमध्ये उस विशाल साम्राज्य की जड़ें खोखली करने में सदैव संलग्न रहे. सन् १९४१ की डायरी से पता चलता है– उनके व्याख्यानों के विषय प्रायः 'हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता'[१३२] एवं 'भारतीय राष्ट्रीयता'[१३३] से संबद्ध होते थे. भारतीय किसान के सामने अपने व्यक्तित्व को देशप्रेम की बातों में सराबोर कर राष्ट्रीयता की अलख जगाने तथा जनोद्‌बोधन करने में वे सदैव सर्व प्रकारेण अभियान निरत रहते थे. उनका परिचय क्षेत्र बड़ा ही व्यापक था. दिल्ली के 'महाराष्ट्र समाज' में उनके व्याख्यान होते थे,[१३४] तो मिलिट्री की ओर से श्री विद्यावाचस्पतिजी द्वारा संचालित 'वीर अर्जुन' के पूरे स्टॉफ को चाय दी गई थी.[१३५] क्या जवान और क्या किसान सभी विद्यावाचस्पतिजी के व्यक्तित्व से प्रभावित थे. स्वदेशी के वे भक्त थे. जब कभी खादी की प्रदर्शनी लगती, तो वे बड़ी रुचि से एक दर्शक या भेंटदाता के रूप में उसमें सम्मिलित होते थे.[१३६] खद्दरधारी तो वे आजीवन रहे. महाराष्ट्र के प्रसिद्ध लोकमान्य श्री माधव श्रीहरि अणे जैसे राष्ट्रीय नेताओं के साथ महत्वपूर्ण गंभीर विषयों पर प्रायः उनकी चर्चा होती थी.[१३७]

श्री विद्यावाचस्पतिजी ने अपनी डायरी में लिखा है, "मैं तभी डायरी पकड़ता हूं, जब मैं जीवन के किसी मोड़ पर पहुँचता हूँ[१३८] सन् १९४२ की राष्ट्रीय डायरी में, जहाँ उनके १९ जनवरी को हिन्दू यनिवर्सिटी की जुबली में शामिल होने का उल्लेख मिलता है, वहाँ ५ मार्च को शिवाजी दिवस व ३७ अप्रैल को राष्ट्रीय शिक्षणालय गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिकोत्सव में शामिल होने का भी उल्लेख मिलता है. इस प्रकार हम उन्हें भारतीय राष्ट्रीयता को समृद्ध बनानेवाली हर गतिविधि में सम्मिलित पाते हैं, ८ अगस्त १९४२ को महात्मा गांधी जी ने जब काँग्रेस महासमिति के मंच से बंबई में 'अंग्रेजों, भारत छोड़ो' की घोषणा की, तब ९ अगस्त को उन्हें तथा अन्य वरिष्ठ नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया था, उस समय के क्रान्तिमय परिवेश को श्री विद्यावाचस्पतिजी ने अपनी हस्तलिखित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डायरी में इस प्रकार से अंकित किया था– ६ अगस्तः बंबई में काँग्रेस की कार्यकारिणी गिरफ्तार, हड़ताल–जलसे, १० अगस्तः देशव्यापी हड़ताल–उपद्रव.... १ सितंबरः सरकारी प्रतिबन्धों के कारण 'अर्जुन' पत्र बन्द हुआ.... ११ सितंबरः 'अर्जुन' फिर जारी हुआ.

श्री विद्यावाचस्पतिजी का पत्रकारिता के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान था. दिल्ली में जो अखिल भारतीय संपादक सम्मेलन निमंत्रित किया गया. उसके प्रमुख संयोजकों में प्रो. इंद्र विद्यावाचस्पति (हिंदी), श्री देशबंधु गुप्त (उर्दू) और देवदास गांधी (अंग्रेजी) प्रमुख व्यक्ति थे.[१३९] इंद्र विद्यावाचस्पतिजी अखिल भारतीय समाचार पत्र संपादक सम्मेलन के स्वागत मंत्री थे. जिन उद्देश्यों को लेकर अखिल भारतीय संपादक सम्मेलन का आयोजन हुआ, लगभग उन्हीं उद्देश्यों को लेकर अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ सम्मेलन का दिल्ली में आयोजन किया गया था. पं. इंद्र विद्यावाचस्पति इस पत्रकार संघ सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे. इसी वर्ष विद्यावाचस्पतिजी को हिंदी साहित्य सम्मेलन के हैदराबाद अधिवेशन में 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि प्रदान की गयी.[१४०]

२.१२ राज्यसभा-सदस्य के रूप में श्री विद्यावाचस्पति जीः-

मार्च १९५२ में श्री इंद्र विद्यावाचस्पतिजी उत्तर प्रदेश की ओर से राज्यसभा (राज्य परिषद्) के सदस्य चुने गए. राज्यसभा के ये छः वर्ष भी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का परिवर्धन करने में संपन्न हुए. इस संसदीय जीवन का क्रियात्मक मूल्य केवल गुरुकुल का परिवर्धन करना था. संसदीय अनुभव के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे– ''राज्यसभा या लोकसभा की सदस्यता केवल एक शोभा है, कुछ लोगों के लिए वह एक रोजगार भी है. विशेषतः उनके लिए जो मिनिस्टरी आदि की तलाश में हैं, सफलता पाने के लिये खुशामद चाहिए और अपने विचारों को दबाने की प्रवृति भी चाहिये. मैं इसे ईश्वर की कृपा समझता हूँ कि मैं उस परीक्षा से अछूता निकल आया हूँ. गुरुकुल की स्थिति बहुत कुछ स्थिर हो चुकी है, मेरे अनुभवों का भंडार भी भर गया है. अब मैं अधिक स्वतंत्रता से लिख बोल और काम कर सकता हूं.''[१४१] वैसे तो इंद्रजी राज्यसभा में बहुत कम जाते थे, शायद वे यही सोचते थे कि जहाँ कलम, वाणी और कर्म का स्वातंत्र्य नहीं, वहाँ जाने से क्या फायदा. राज्यसभा सदस्य के रूप में उन्होंने भाषा के आधार पर प्रान्तों के विभाजन का तीव्र विरोध किया था. उन दिनों भाषाई आधार पर हैदराबाद राज्य के विभाजन का प्रश्न पूर्ण उग्र रूप धारण किये हुए था.

उस समय के राज्यसभा सदस्य और राष्ट्रीय साहित्यिक पत्रकार बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने लिखा है, ''जब वे राज्य सभा के सदस्य बने तब भी उनके दर्शन वहाँ बहुत कम हुआ करते थे. इंद्रजी ब्राह्मण वृत्ति के साहित्यिक तपस्वी थे, सत्तात्मक राजनीति के प्रति उनके मन में कोई आकर्षण न था. चुपचाप अपना काम करना उनका स्वाभाविक गुण बन गया था.''[१४२] संसदीय जीवनकाल में राष्ट्रीय नीति के प्रचार–प्रसार हेतु पूर्ण स्वाधीनता से आपने 'इण्डियन एक्सप्रेस' प्रकाशन से संबद्ध 'जनसत्ता' दैनिक का सन् १९५२–५३ में लगभग एक वर्ष तक संपादन किया था. सन् १९५५ में विद्यावाचस्पतिजी 'यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन' के सलाहकार व 'भारत शिक्षा मंत्रालय' की 'विश्वकोश परामर्श समिति' के सदस्य तथा भारत सरकार के 'संस्कृत आयोग' के सलाहकार सदस्य भी थे. संक्षेप में काँग्रेस के राजनीतिक आकाश में विद्यावाचस्पति रूपी सूर्य का उदय काल सन् १९११ से १९२० तक है. १९२१ से १९४२ तक मध्याह्न काल है और १९४३ से १९६० तक उपसंहार काल है. काँग्रेस की नीतियों से असन्तुष्ट होते हुए भी काँग्रेस दलीय अनुशासन को ध्यान में रखते हुए संभव है विद्यावाचस्पतिजी कई बार मौन रहे होंगे, पर 'अर्जुन' रूपी पत्रकार विद्यावाचस्पति कभी मौन नहीं रह पाया. जब कभी मौका आया, उसने गाण्डीव के तीर छोड़े ही, फिर चाहे सामने गांधी हों, नेहरू हों या उनकी काँग्रेस हो. काँग्रेस की वकालत करते समय और काँग्रेस की आलोचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते समय देशहित ही उनके सामने महत्वपूर्ण रहा. उनकी यह धारणा थी कि 'राजनीतिक दल का चुनाव हमें वर और वधू के समान करना चाहिये'. अपनी इस धारणा के अनुसार अन्तिम समय तक वे काँग्रेस से जुड़े रहे. वैयक्तिक स्तर पर उन्होंने किसी प्रकार की निन्दा–स्तुति व उपेक्षा की परवाह नहीं की, उनका पूर्ण राजनीतिक जीवन निम्नांकित श्लोक के अनुरूप था.:–

'न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्ग ना पुनर्भवम्। कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्।।'

२.१३ चिररोगी फिर भी धैर्य धुरंधरः-

सन् १९४२ की देशव्यापी राज्यक्रांति के दिनों में काम का जोर पड़ने और अनेक महत्वपूर्ण पदों के उत्तरदायित्व के कारण दिनचर्या में अव्यवस्था आ जाने से इन्द्र विद्यावाचस्पति पर एक साथ दो व्याधियों का आक्रमण हो गया. इससे पूर्व सन् १९२७, '३० व '३२ में भुगती जेल त्रासदियों के फलस्वरूप उनके पेट में रह–रहकर दर्द हो उठता था, फिर भी वे मिशनरी स्पिरिट से लेखन व वक्तव्य द्वारा समाज–प्रबोधन का कार्य कर रहे थे.

इंद्रजी के पिता स्वामी श्रद्धानंदजी ने अपनी आत्मकथा, ''कल्याण मार्ग का पथिक'' में लिखा है, 'देवी (सहधर्मिणी शिवदेवी निधनः ३१ अगस्त १८९१) ने चार संतान छोड़ीं– १) वेद कुमारी–१० वर्ष, २) हेमंत कुमारी, जिसका यज्ञोपवीत संस्कार के समय नया नाम रखा गया– ''अमृत कला''–६ वर्ष, ३) हरिश्चन्द्र–४वर्ष, ४) इन्द्र–२वर्ष. इनमें से इंद्र उस समय भी ज्वर और दस्तों से पीड़ित था और छः मास पहिले भी उसे निमोनिया हो चुका था.''[१४३] इस प्रकार स्पष्ट है कि इंद्र बचपन से रोगी थे, पर १९४२ से पूर्व उनके शरीर को देखकर कोई यह अनुमान नहीं लगा सकता था कि वे चिररोगी हैं. इसके दो कारण थे– एक तो यह कि उन्होंने अपने दादाजी और पिताजी से विशाल शारीरिक विभूति प्राप्त की थी. इसलिए उनका शरीर भरा हुआ दिखाई देता था. और दूसरा यह कि वे सदा रहन–सहन में साधारण परहेज से काम लेते थे तथा थोड़े–बहुत व्यायाम का भी उन्हें सदा शौक बना रहा था.[१४४] इंद्रजी ने सार्वजनिक जीवन की भांति निजी जीवन में भी संघर्ष किया है. उन्होंने कई भयंकर बीमारियाँ देखीं थीं. उनके घरेलू डॉ. अंसारीजी ने उन्हें यह सलाह दी थी, 'बायाँ फेफड़ा बिल्कुल निकम्मा हो गया है, इसलिये उतना ही बोझ उठाओं जितना एक फेफड़े से उठाया जा सके. ऐसी स्थिति में भी काम वैसे ही चलता रहेगा जैसा एक हाथ कटने पर आदमी का काम चलता रहता है, पर व्याख्यान देने से फेफड़ों पर जोर पड़ता है, अतः व्याख्यान देना बंद करना पड़ेगा. ' इंद्रजी ने खाने–पीने और पहिनने की तो सावधानी रखी, पर व्याख्यान देना बंद नहीं किया.[१४५] इस समय वे 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' के मंत्री (१९४३, ४४, ४५), 'अखिल भारतीय हिंदी पत्रकार संघ–सम्मेलन' के अध्यक्ष (१९४३, ४४), 'गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय' के मुख्याधिष्ठाता व कुलपति (१९४३–४८), 'आर्य प्रतिनिधि सभा' पंजाब के उपप्रधान (१९४३) व 'चतुर्थ आर्य सम्मेलन' के अध्यक्ष (२०–२२ फरवरी १९४४) थे. जन साधारण ने राष्ट्रीय साहित्यकार होने के कारण ही उन्हें सन् १९४४ में जयपुर में संपन्न होने जा रहे हिंदी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष भी निर्वाचित किया था.[१४६] स्वाभाविक रूप से उन्हें इन सब कार्यों का उत्तरदायित्व वहन करने के लिये लिखने और बोलने का कार्य करना पड़ता था. विविध कार्यों के बोझ से वे १९४२ के सिंतबर मास के अंत में अपचन व तीव्र खाँसी के शिकार हो गये और रोग व चिकित्सा के चक्रव्यूह में लगभग दस महीने तक फँसे रहे, पुनरपि उन्होंने सार्वजनिक संस्थाओं के उत्तरदायित्वों से मुँह नहीं मोड़ा और दो–तीन वर्षों में थोड़ा सा स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करते ही फिर उन्होंने गांडीव ('वीर अर्जुन' तथा 'जनसत्ता' दैनिक) से तीर छोड़ने शुरु कर दिये.

राजनीतिक क्षेत्र की तरह विद्यावाचस्पति का सामाजिक, शैक्षिक और पारिवारिक क्षेत्र भी उनकी राष्ट्रीय भावनाओं का अनुगामी था. वे अपने घरेलू प्रश्नों को बहुमुखी सार्वजनिक जीवन में गौण कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया करते थे. इसी कारण जिन्दगी के ६० वर्ष बीत जाने पर भी वे अपना कोई घर नहीं बना पाये थे. सन् १६३० में उन्हें जो नींव युक्त प्लॉट पसंद आया था उसे वे पूरी तरह ५ सितंबर १६४२ को खरीद पाये थे,[१४७] और ७ अक्टूबर १६५१ में उस पर अपना घर बना पाये थे, क्योंकि राष्ट्रीय, शैक्षिक व सामाजिक क्षेत्र में सारा ध्यान बँट जाने के कारण वे इस ओर ध्यान ही नहीं दे पाये थे. विद्यावाचस्पति का यह पारिवारिक मनोरथ १६५१ में मांगलिक यज्ञ के साथ संपन्न हुआ.

२६ दिसंबर १६५१ को विद्यावाचस्पति के साथ बड़ी कष्टदायक दुर्घटना घटी. अपने निवास स्थान पर ही चलते समय उनकी कुल्हे की हड्डी टूट गई.[१४८] इस समय की अपूर्व सहन शक्ति व असाधारण धीरज का वर्णन करते हुए उनके भाँजे श्री सत्यकाम विद्यालंकार ने लिखा है, ''डॉक्टरों ने आपके फेफड़ों की कमजोरी के कारण क्लोरोफार्म सुँघाने से मना कर दिया था. समस्या थी कि बिना निःसंज्ञ किये दो हड्डियों के बीच गरारी कैसे डाली जाय. इंद्रजी ने डॉक्टरों से कहा, ''आप अपना काम कीजिये, मेरे मुख पर रूमाल डाल दीजिये. ऐसा ही किया गया. बिजली की धारा चली, हड्डियों के बीच बर्मे को चलाया गया, हड्डियों में छेद हो गया. इंद्रजी ने उफ् नहीं की. छेद हो जाने पर इंद्रजी की टाँग छत से लटका दी गयी....डॉक्टरों ने जब हड्डी में छेदने का काम समाप्त किया, जब इंद्रजी ने डॉ. खेड़ा से कहा,– ''बस इतनी ही बात के लिए आप चिंता कर रहे थे...छत से टाँग टँगी होने पर भी इंद्रजी मिलने के लिये आने वाले सज्जनों से बात कर रहे थे. हड्डी में छेद करवाना और गरारी डलवाना अत्यंत असाधारण बात है. चेतनावस्था में यह नहीं किया जाता, परन्तु इंद्रजी ने चेतनावस्था में यह कार्य होने दिया. चिकित्सा जगत् में यह एक बहुत बड़ा अद्भूत कार्य माना गया. इस समय की असह्य वेदना को इंद्र विद्यावाचस्पति ने जिस धैर्य से सहा, उसने उनके सब परिचितों को और वहाँ उपस्थित लोगों को उनकी धैर्यशीलता का विश्वास दिलाया.''[१४९] इस कष्टदायक दुर्घटना के बाद अस्पताल वास के क्षणों में राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, सेठ जुगलकिशोर विड़ला व गुरुकुलवासियों से गहरी व सक्रिय सहानुभूति प्राप्त हुई. श्री विद्यावाचस्पति में कष्ट सहन करने की यही वह अपूर्व सहनशक्ति व असाधारण दृढ़ता थी, जिसके कारण वे अपने जीवन में बहुविध क्षेत्रों में सदैव अग्रिम मोर्चे पर अग्रणी बनकर निर्भयता से सक्रिय रहे. राजनीतिक जीवन की तरह उनका सामाजिक, शैक्षिक व साहित्यिक जीवन भी राष्ट्रीयता के पादप को पुष्ट करने में ही अर्पित रहा.

२.१४ देहावसानः-

देहावसान से पन्द्रह महिने पूर्व श्री इंद्र विद्यावाचस्पति को यमराज के नजदीक आने का पूर्वाभास मिल चुका था. २५ मई १६५६ को वे सहधर्मिणी के आँखों में आँसू भरकर यह कहने पर, 'आप मेरे खातिर नर्सिंग होम में जाना स्वीकार कर लीजिये' – वे दिल्ली के नर्सिंग होम में प्रविष्ट हो गये थे. जहाँ पहुँचने पर सबसे पहले उन्हें दीखना बन्द हो गया, फिर कानों ने काम करना छोड़ दिया और फिर उन्होंने पूर्ण अन्धकार में डूब जाने का अनुभव किया. शाम ६ बजे से रात १२ बजे तक वे अचेत ही थे. उन्होंने 'मृत्युद्वार के दर्शन' नामक लेख में लिखा था, ''मैं उन बेहोशी के घण्टों को ही मृत्यु की ओर यात्रा के घण्टे समझ सकता हूँ. उस दशा तक पहुँचने में मुझे जिस मार्ग से जाना पड़ा, निश्चय ही वह मृत्यु का मार्ग था. मैं द्वार तक पहुँच गया कि मेरे स्वजनों की प्रबल इच्छा तथा डॉक्टरों और नर्सों के अनथक परिश्रम ने मुझे मानो पल्ले से पकड़कर पीछे की ओर खींच लिया.''[१५०]

मृत्युद्वार के दर्शन करने के बाद भी वे निराश और हताश नहीं हुए तथा पुनश्च पूर्ववत् 'तावज्जीवितुमिच्छामि यावच्छक्नोमि सेवितुम्' की स्व–कामना के अनुसार वे अपने सार्वजनिक कर्मक्षेत्र में तल्लीन हो गए. उनके नेतृत्व में ६ अप्रैल से १३ अप्रैल १६६० तक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ६० वाँ वार्षिकोत्सव हीरक जयन्ती के रूप में धूम–धाम से मनाया गया. १३ अप्रैल को हीरक महोत्सव की थकान के कारण उन्हें १०१ तक ज्वर था. महोत्सव के लगभग पचास दिन बाद ४ जून १९६० को वे मानसिक और शारीरिक विश्रान्ति के लिए उक्त विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद से सेवा–निवृत्त हुए. २४ जुलाई १९६० को गुरुकुल विश्वविद्यालय की ओर से उन्हें भाव–भीनी विदाई दी गई. इस अवसर पर किये गये अभिनन्दन के प्रत्युत्तर में आपने कहा था, "मेरी यह अन्तिम हार्दिक इच्छा है कि मेरी अर्थी गुरुकुल में ही निकले और मेरी भस्म भी गुरुकुल के खेत में ही डाल दी जाय."[१५१] २५ जुलाई को वे दिल्ली में 'केंद्रीय संस्कृति बोर्ड' की बैठक में और ३ अगस्त को 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' की बैठक में सम्मिलित हुए. ६ अगस्त को उन्होंने 'भारतैतिह्यम्' नामक ऐतिहासिक काव्य ग्रन्थ का ३० वाँ अध्याय पूर्ण किया. १७ अगस्त को रात भर उनके सिर और छाती में दर्द रहा. २० अगस्त को उन्होंने फिर एक बार अनुभव किया कि 'काय–यष्टि मृत्यु के महालय में प्रविष्ट हो गई है.' २२ अगस्त को कब्ज की शिकायत के अतिरिक्त कफ भी अटकता प्रतीत हुआ और जबान लड़खड़ाने लगी. डॉक्टरों ने पुनः उन्हें 'सेन नर्सिंग होम' में प्रविष्ट होने की सलाह दी. नर्सिंग होम पहुँचने पर परिवार के विशेष आग्रह से फिर दस नम्बर का वही कमरा लिया, जहाँ से पन्द्रह महिने पूर्व वे स्वस्थ होकर वापिस लौटे थे, पर 'मौत का एक दिन मुअय्यन है.'[१५२] सुप्रसिद्ध है– 'जातस्य हि ध्रवोः मृत्युः[१५३] मौत का वह अटल दिन नजदीक आ चुका था. महाकवि कालिदास 'रघुवंश' में कह गये हैं – 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः'[१५४]

२३ अगस्त १९६० का दिन वस्तुतः काल रात्रि सिद्ध हुआ. शाम छः–सात बजे के मध्य श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति की सांस वहाँ चली गई, जहाँ से लौटकर फिर कभी नहीं आती. प्राण–पखेरू काय–यष्टि से सदा–सदा के लिए उड़कर चले गए. राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जी ने श्री विद्यावाचस्पति के निधन के समाचार की पुष्टि होने के उपरान्त आकाशवाणी को उनके दुःखद निधन का समाचार प्रकाशित करने का निर्देश दिया. आकाशवाणी ने यह दुःखद समाचार प्रसारित किया– 'राष्ट्रीय साहित्यकार एवं पत्रकार श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति का ७१ साल की आयु में अल्पकालीन बीमारी के बाद देहावसान हो गया.' जिस–किसी ने सुना वह स्तब्ध रह गया. दिल्ली अपने महान् नेता को खोकर शोक–सागर में डूब गयी. 'गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय' पर तो वज्रपात ही हो गया. समस्त पत्रकार–जगत् और साहित्य–सेवी संसार में शोक छा गया. राष्ट्रपति की ओर से पार्थिव शरीर के सम्मान में पुष्पचक्र अर्पित किया गया. फूलों सजी अर्थी दिल्ली के निगमबोध घाट पर पहुँची और 'भस्मान्तं शरीरं, क्लीवे स्मर, कृतं स्मर' के साथ चन्दन की चिता में पार्थिव शरीर भस्म हो गया. जो शेष रह गया वह उनका यशः शरीर था. पत्र–पत्रिकाओं की सम्पादकीय टिप्पणियों में श्री विद्यावाचस्पति के निधन पर गहरा शोक प्रकट किया गया. राष्ट्र के अनेक पत्रकारों और साहित्यकारों ने उनके देहावसान को साहित्य, संस्कृति एवं राष्ट्र की महान क्षति बतलाया. श्री जगन्नाथ गुप्त ने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के 'इन्द्र–स्मृति अंक' में प्रकाशित, अपनी 'अब न वह हैं और न वैसे' नामक रचना में श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति के बहुमुखी व्यक्तित्व और उसकी अनिर्वचनीयता की मीमांसा करते हुए यह टिप्पणी की है, "जिस प्रकार तलहटी में खड़े होकर किसी विशालकाय पर्वत का सर्वांग चित्र मानस–पटल पर नहीं उतारा जा सकता, उसी प्रकार इन्द्रजी के बहुमुखी व्यक्तित्व का पूरा मूल्यांकन किसी एक व्यक्ति के सामर्थ्य की बात नहीं है. हाँ, इतना अवश्य है कि हरीतिमा–मंड़ित और जल–संकुल पर्वत के एक पक्ष को देखकर उसके समूचे मांगलिक अस्तित्व का अनुमान जरूर किया जा सकता है."

डॉ. बनारसीदास चतुर्वेदीजी के शब्दों में 'स्वर्गीय पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति के देहावसान के साथ उत्तर भारत के सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास का एक शानदार अध्याय समाप्त हो गया.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका चरित्र आधुनिक युग में एक उज्ज्वलतम प्रकाशस्तम्भ के समान था. वह प्रथम श्रेणी के सम्पादक, लेखक और वक्ता थे. हिन्दी पत्रकारिता को उनकी देन अत्यन्त मूल्यवान है.'[१५५] दिल्ली के 'वेदप्रकाश' मासिक ने श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए कहा, 'प. इन्द्रजी ने अपनी अमूल्य सेवाओं से पत्रकार जगत् में, साहित्य–सेवा में, राष्ट्र–सेवा तथा आर्यसमाज के क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया था. उनके इस अप्रत्याशित निधन से आर्यसमाज तथा देश ने एक निःस्वार्थ सेवक तथा सच्चा कार्यकर्ता खो दिया.'[१५६] इलाहाबाद की सुप्रसिद्ध 'सम्मेलन पत्रिका' ने कहा– स्व. प्रो. इन्द्र हिन्दी संसार के बड़े पुराने तथा उच्चकोटि के पत्रकार थे. उन्होंने अपना समस्त जीवन हिन्दी तथा पत्रकारिता की सेवा में समर्पण कर दिया. वह अपनी स्वतंत्र लेखनी के धनी, निर्भीक आलोचक, सफल पत्रकार, स्वतंत्रता संग्राम के एक प्रमुख सेनानी तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक थे. भारतीय जीवन में उन्हें उच्च प्रतिभा प्राप्त थी. फलतः उनकी कृति में यथाशक्य सुलभ उपादानों का जितनी उत्तमता एवं वैज्ञानिक दृष्टि से उपयोग किया गया है, वह अन्य जन सुलभ नही था.[१५७] गुजरात की 'टंकारा–पत्रिका' ने इस महान दिवगंत साधक को श्रद्धान्जलि अर्पित करते हुए कहा "श्री पं. इंद्रजी ने अपने पूज्य पिता स्वामी श्रद्धानंद जी के चरणों पर चलते हुए सारी आयु देश जाति और आर्यसमाज के कार्यो में बिताई. ऐसे कर्मठ व्यक्ति का आर्यसमाज से उठ जाना वस्तुतः एक अपूरणीय क्षति है.'[१५८] 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन'– प्रयाग की स्थायी समिति ने अपने अधिवेशन में हिन्दी के वरेण्य साहित्यकार और देशनायक के रूप में स्व. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पं. जवाहरलाल नेहरू और पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति को श्रद्धाजंलि देते हुए यह संकल्प ग्रहण किया– 'स्वर्गीय साहित्यकारों की भावनाओं के अनुकूल यह सम्मेलन हिन्दी की सेवा में दत्तचित्त रहेगा, और उनके द्वारा अंगीकृत मार्गों का अनुसरण करेगा.'[१५९] 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' ने 'इन्द्र–स्मृति–अंक' निकालकर भावपूर्ण श्रद्धाजंलि प्रस्तुत करते हुए कहा– 'श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति 'दैन्य–दासता के युग में पौरुष के अवतार' होने के साथ–साथ एक यशस्वी पत्रकार, तपे हुए राष्ट्रीय कार्यकर्ता, सुलझे हुए इतिहासकार एवं शिक्षा शास्त्री थे...वह राजधानी दिल्ली में, जो एक पीढ़ी पहले उर्दू का गढ़ थी, हिन्दी का पौधा पल्लवित करने वाले अग्रणी व्यक्ति थे. पत्रकारिता के आचार्यों में उनकी गणना की जा सकती है. विद्यावाचस्पति जैसे निःस्पृह, ईमानदार एवं कर्मठ पत्रकारों की लेखनी की निर्भीकता और सच्चाई हम अपनाते रहेंगे, जब तक हम उन उदात्त आदर्शों और लक्ष्यों को स्मरण कर उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त रहेंगे, तब तक ऐसी विभूति का उत्सर्ग कभी व्यर्थ न जायेगा, प्रत्युत अधिकाधिक हमारे लिए प्रेरणा का आलंबन बना रहेगा.[१६०] इन विविध सम्मतियों के आधार पर यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि– श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति के व्यक्तित्व एवं साहित्य की यश–सुरभि हिन्द एवं हिन्दी जगत् को अनन्त काल तक सुरभित करती रहेगी.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ

१. पत्रकारिता के अनुभव–प्रकाशकीय निवेदन–१
२. इन्द्र विद्यावाचस्पति–२
३. कल्याण मार्ग का पथिक–२१३
४. मेरे पिता–२६६
५. तत्रैव–२७१
६. तत्रैव–२६८
७. तत्रैव–११
८. तत्रैव–२१
९. तत्रैव–२२
१०. तत्रैव–२०१
११. पत्रकारिता के अनुभव–१०
१२. तत्रैव–२
१३. गुरुकुल काँगड़ी के साठ वर्ष–१०
१४. मेरे पिता–२५
१५. तत्रैव–६७
१६. तत्रैव–१०४
१७. तत्रैव–१२८
१८. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–१
१९. मेरे पिता–१३४
२०. तत्रैव–१३६
२१. आर्य समाज का इतिहासः द्वितीय भाग–४१
२२. इन्द्र विद्यावाचस्पति–८
२३. तत्रैव–१३
२४. तत्रैव–१६
२५. तत्रैव–१८
२६. श्रद्धानंद स्मृति ग्रन्थ–६५
२७. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास–६६
२८. मेरे पिता–१३३
२९. इंद्र विद्यावाचस्पति–२०
३०. तत्रैव–२६
३१. तत्रैव–२६
३२. तत्रैव–१७
३३. तत्रैव–३०
३४. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २६ फरवरी १९६१–१२, ४६
३५. इन्द्र विद्यावाचस्पति–२६
३६. तत्रैव–३०
३७. मेरे पिता–२०१
३८. इन्द्र विद्यावाचस्पति–३६
३९. हिन्दी पत्रकारिताः विविध आयाम–१८५
४०. इन्द्र विद्यावाचस्पति–३६
४१. तत्रैव–४४
४२. तत्रैव–४५
४३. विनायकराव अभिनंदन ग्रंथ–५
४४. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–३
४५. हिन्दी नवजीवनः ६–१–१९२७
४६. तत्रैव–१–६–१९२४
४७. तत्रैव–६–१–१९२७
४८. मेरे समकालीन–५२७
४९. गुरुकुल काँगड़ी के साठ वर्ष–२१
५०. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–४
५१. इन्द्र विद्यावाचस्पति–६४
५२. मेरे पिता–२१२
५३. तत्रैव–२१८
५४. तत्रैव–२२०
५५. तत्रैव–२२१
५६. आर्यसमाज का इतिहासः द्वितीय भागः–३६४
५७. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–३३
५८. लोकमान्य तिलक यांच्या आठवणी व आख्यायिका–२५८
५९. इन्द्र विद्यावाचस्पति–१४८
६०. तत्रैव–४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६१. मेरे पिता–२३६
६२. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–५२
६३. हिन्दी नवजीवनः २५–६–१९२५
६४. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–४५
६५. पत्रकारिता के अनुभव–३०
६६. इन्द्र विद्यावाचस्पति–४८
६७. तत्रैव–४८
६८. तत्रैव–६६
६९. तत्रैव–६६
७०. तत्रैव–५३
७१. बन्दी जीवन–३१०
७२. तत्रैव–३०३
७३. तत्रैव–३०९
७४. इन्द्र विद्यावाचस्पति–५४
७५. मेरे पिता–२६३
७६. तत्रैव–२७०
७७. तत्रैव–२६६
७८. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–१–३
७९. पत्रकारिता के अनुभव–४८
८०. हिंदी पत्रकारिताःविविध आयाम–६८४
८१. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–५२
८२. तत्रैव–५३
८३. तत्रैव–५६
८४. स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज–१८
८५. हिंदी पत्रकारिताः विविध आयाम–१८५
८६. गुरुकुल पत्रिकाः मई १९७३–४२५
८७. इन्द्र विद्यावाचस्पति–६७
८८. तत्रैव–६७
८९. तत्रैव–७२
९०. तत्रैव–७१/आत्मकथा–२११
९१. इन्द्र विद्यावाचस्पति–४१
९२. पत्रकारिता के अनुभव–४६
९३. आर्यकुमार डायरी–१९३० (हस्तलिखित)
९४ इन्द्र विद्यावाचस्पति–७४
९५. तत्रैव–१५६
९६. तत्रैव–७६
९७. इंडियन डायरी–१९३४ (हस्तलिखित)
९८. हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति–४१
९९. तत्रैव–२६
१००. इंडियन डायरी–१९३४ (हस्तलिखित)
१०१. इन्द्र विद्यावाचस्पति–८०
१०२. इंडियन डायरी–१९३४ (हस्तलिखित)
१०३. हिंदी पत्रकारिताः विविध आयाम–१९३
१०४. इन्द्र विद्यावाचस्पति–८१
१०५. मैं इनका ऋणी हूँ–८१–८२
१०६. इंडियन डायरी–१९३६ (हस्तलिखित)
१०७. तत्रैव–८ सितंबर १९३६
१०८. इन्द्र विद्यावाचस्पति–८१
१०९. पं. जवाहरलाल नेहरू–१०२
११०. तत्रैव–१०६
१११. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास–३१३
११२. इन्द्र विद्यावाचस्पति–८२
११३. पं. जवाहरलाल नेहरू–१०६
११४. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास–३१४
११५. मैं इनका ऋणी हूँ–६७
११६. इन्द्र विद्यावाचस्पति–८२
११७. हस्तलिखित डायरी १९३८
११८. तत्रैव–पं. गोविंदवल्लभ पंत के पत्र–२२ जनवरी १९३८
११९. तत्रैव–रियासतों के संबंध में भाषण १४ फरवरी १९३८
१२०. तत्रैव–बदरपुर हस्पताल कमेटी में–१३ जून १९३८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२१. तत्रैव–१४ जून १९३८ को दिल्ली में.
१२२. हस्तलिखित डायरीः ६ नवंबर १९३९
१२३. नेताजी सुभाष दर्शन–८७
१२४. इन्द्र विद्यावाचस्पति–९१
१२५. तत्रैव–९१
१२६. पाकेट डायरी १९३९ हस्तलिखित–२० सितंबर
१२७. इन्द्र विद्यावाचस्पति–९२
१२८. आर्यसमाज का इतिहासः द्वितीय भाग–३१८
१२९. तत्रैव–३१४
१३०. हैदराबाद के आर्यों की साधना और संघर्ष–५
१३१. इन्द्र विद्यावाचस्पति–९२
१३२. सदाचार डायरी (हस्तलिखित) १४ जनवरी १९४१
१३३. तत्रैव–११ मार्च १९४१ः पहाड़गंज काँग्रेस की ओर से व्याख्यान
१३४. तत्रैव–१२ फरवरी १९४१ महाराष्ट्र समाज में व्याख्यान–८ बजे
१३५. तत्रैव–११ मार्च १९४१
१३६ः तत्रैव–२ अक्टूबर १९४१–अलवर में खादी प्रदर्शनी के अवसर पर
१३७. तत्रैव–२२ फरवरी १९४१ः नेशनलिस्ट पार्टी के संबंध में लोकनायक अजमेर विचारों से पूर्णतया सहमत
१३८. इन्द्र विद्यावाचस्पति–५६
१३९. तत्रैव–१०३
१४०. तत्रैव–१२५
१४१. तत्रैव–१३२
१४२. नवनीतः मई १९६७–६५
१४३. कल्याण मार्ग का पथिक–२१३
१४४. मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला–२
१४५. तत्रैव–३
१४६. साप्ताहिक हिंदुस्तान : २६ फरवरी १९६१ – संपादकीय–६
१४७. राष्ट्रीय डायरी १९४२ (हस्तलिखित)
१४८. इन्द्र विद्यावाचस्पति–१२७
१४९. तत्रैव–१२८
१५०. नवनीतः मई १९६०–२५
१५१. इन्द्र विद्यावाचस्पति–१३७
१५२. दीवान–ए–गालिब–३०३–गजल क्रमांक–१६२
१५३. वैदिक गीता–२–२७
१५४. रघुवंश महाकाव्यम्–अष्टम सर्ग, श्लोक–८७
१५५. आजकलः अक्टूबर १९६०–संपादकीय–४३
१५६. वेद प्रकाशः अक्टूबर १९६०–२१४
१५७. सम्मेलन पत्रिकाः चैत्र–ज्येष्ठ, आषाढ–भाद्रपद, शक–१८८३, १४४, १७८
१५८. टंकारा पत्रिकाः अक्टूबर १९६०–५, ३०
१५९. सम्मेलन पत्रिकाः पौष–ज्येष्ठ, शक १८९३, १९०
१६०. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २६ फरवरी १९६१–३, ४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३

विद्यावाचस्पति जी का संस्मरण साहित्य

३.१ संस्मरणः स्वरूप, विवेचनः-

'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'स्मृ–स्मरणे' धातु से संस्मरण शब्द बना है, जिसका अर्थ है स्मरण करना. 'भावभीना सम्यक स्मरण ही संस्मरण'[१] कहलाता है. स्मृति रक्षा इसका सबसे बड़ा प्रयोजन है, यह सहृदय के स्मृति–कोष की अमूल्य आनंददायिनी निधि है. लेखक लिखते समय जो भी स्मरण कर सकता है, उसीका उसमें वर्णन होता है. डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' के अनुसार 'तथ्यात्मक या इतिवृत्तात्मक पद्धति को छोड़कर जब किसी व्यक्ति के जीवन की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट करने वाली रोचक घटनाओं या परिस्थितियों का वैयक्तिक संपर्क के आधार पर लेखा–जोखा प्रस्तत किया जाता है, तो वह संस्मरण होता है'[२] संस्मरण के अंतर्गत लेखक जीवन की उन घटनाओं या व्यक्तियों को याद करता है, जिन्हें वह भुला नहीं सका था, जो उसकी मानसिक चेतना के अभिन्न अंश बन गये हैं. 'संस्मरण में भावुक कलाकार किसी व्यक्ति के संपूर्ण जीवन या उसके किसी भाग का वर्णन परम सुपरिचित ढंग से इस प्रकार व्यक्त करता है कि उस व्यक्ति की सच्ची जीवन गाथा के साथ–साथ कलाकार का हृदय भी मुखरित हो उठता है.'[३] उपन्यास व कथा में जिस तरह का संबंध है, उसी प्रकार का संबंध जीवनी–आत्मकथा तथा संस्मरण में है, संस्मरण में लेखक का जीवन भी बीच–बीच में से झाँकता है, जैसे शरद् ऋतु में बदली के हट जाने पर आकस्मिक रूप से सूर्य किरणों के माध्यम से प्रकाश एवं उष्णता सुलभ होती है, उसी प्रकार संस्मरणों में जहाँ–तहाँ लेखक का जीवन झाँकता है.[४] जीवनी और आत्मकथा दोनों से संबद्ध होने के कारण संस्मरण की दो श्रेणियाँ हैं. प्रथम श्रेणी के संस्मरण का विषय लेखक के निजी जीवन का विशिष्ट पहलू होता है और द्वितीय श्रेणी का संस्मरण जीवनी के समान अपने से इतर व्यक्तित्व के विश्लेषण से संबंधित होता है. इस तरह के 'संस्मरण में लेखक के व्यक्तित्व का वही स्थान होता है, जो कि किसी माला में सूत्र का होता है.' इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये महादेवी वर्मा ने कहा है कि, 'अंधेरे की वस्तुओं को अपने प्रकाश की धुंधली या उजली परिधि में ही लाकर देख पाते हैं. मेरा निकटता जनित आत्मविज्ञापन उस राख से अधिक महत्व नहीं रखता. जो आग को बहुत समय तक सजीव रखने के लिए ही अंगारों को घेरे रहती है.'[५] उपरोक्त दोनों प्रकार के संस्मरणों का क्रमशः आत्मचरित्र और जीवन–चरित्र से गहरा संबंध है. जीवनीकार का समकालीन होना जरूरी नहीं है. पर संस्मरण नायक का समकालीन होना जरूरी है. इसीके साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जीवनी लेखक इतिहासकार पहले और साहित्यकार बाद में होता है. इसके विपरीत संस्मरण लेखक साहित्यकार पहले और इतिहासकार बाद में होता है. यहाँ पर संस्मरण और 'मेमोयर' का अंतर भी स्पष्ट कर लेना जरूरी है – संस्मरण के लिये ऐतिहासिक महत्व अनिवार्य तत्व नहीं है, जब कि मेमोयर्स ऐतिहासिक महत्व के ही होते हैं.

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि – संस्मरण मूल रूप से जीवनी परक साहित्य का एक अंग है, जिसमें लेखक के जीवन की कुछेक उल्लेखनीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटनाओं का भावात्मक अंकन होता है, परंतु इसमें जीवनी या आत्मकथा की–सी व्यापकता नहीं होती, फिर भी उन घटनाओं का प्रभाव पाठक के अंतःकरण पर पड़ता है. निष्कर्ष रूप में यह कहना समुचित होगा कि संस्मरण वास्तविक जीवन से संबद्ध, संक्षिप्त, रोचक, चित्ताकर्षक, भावुकतापूर्ण, लेखक के व्यक्तित्व की आभा से युक्त, चरित्र की गरिमा से मंडित, सांकेतिक एवं प्रभावपूर्ण ढंग से लिखित अविस्मरणीय घटना होने के कारण साहित्य की एक स्वतंत्र विधा है, आधुनिक कालीन साहित्य की यह एक नूतन विधा है, जिसका आगमन अन्य नवीन साहित्यिक विधाओं के अनुसार पश्चिम से हुआ है.

३.२ विद्यावाचस्पति का संस्मरण साहित्यः-

हिंदी में संस्मरण विधा के लेखकों में पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति का उल्लेखनीय स्थान है. उनके संस्मरण परिमाण एवं गुण दोनों दृष्टियों से उच्चकोटि के हैं. 'दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन', 'मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला', 'मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव', 'हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति', आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति', 'मेरे पिता', 'मैं इनका ऋणी हूँ', 'पत्रकारिता के अनुभव' इन आठ कृतियों में उनके संस्मरण संकलित है. श्री विद्यावाचस्पति जी के संस्मरण साहित्य की अपनी विशेषतायें हैं.

वर्ण्य विषयः- श्री विद्यावाचस्पति के संस्मरणों का वर्ण्य विषय पर्याप्त व्यापक एवं विस्तृत है. उन्होंने पर–संस्मरण और आत्म–संस्मरण दोनों प्रकार के संस्मरणों की रचना की है. उनके अधिकांश संस्मरण अनेक राजनीतिक, धार्मिक व साहित्यिक जननायकों से संबंधित हैं. संस्मरणों के वर्ण्य–विषय का वैविध्य एवं संस्रमण–नायकों का विस्तृत जीवन–परिधि से चयन लेखक की विद्वत्ता का परिचायक है.

प्रसिद्ध व्यक्ति के जीवन से संबद्ध होने से संस्मरण में प्रभविष्णुता आ जाती है. श्री विद्यावाचस्पति ने ऐसे व्यक्तियों के संबंध में संस्मरणों की रचना की है, जो किसी न किसी क्षेत्र में महान् हैं, जिनका व्यक्तित्व किसी न किसी दृष्टि से विशिष्ट है. कुछ भाग्यशाली महानुभाव ही इतनी कीर्ति अर्जित कर लेते हैं, जिनके नामों का उल्लेख इतिहास में हो पाता है, पर अधिकांश लोग ही ऐसे होते हैं, जो असाधारण होते हुये भी उपेक्षित रहते हैं. जिन्हें प्रसिद्धि प्राप्त नहीं होती और अपने भौतिक अस्तित्व के साथ ही उनका नाम भी विस्मृति के गहन गर्त में विलीन हो जाता है. श्री विद्यावाचस्पति ने ऐसे अप्रसिद्ध किन्तु अपनी विशिष्टताओं के कारण असाधारण व्यक्तियों के संबंध में अपने संस्मरणों की रचना की है. श्री विद्यावाचस्पति ने अपने जेल जीवन और पत्रकारिता के काल में संपर्क में आने वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त उन व्यक्तियों के भी संस्मरण शब्दांकित किये, जिनमें भलाई–बुराई, साहस और विनय, चतुराई और अदूरदर्शिता का अद्भुत मिश्रण[५] पाया गया. खासकर उन लोगों को याद करके श्री विद्यावाचस्पति भावविह्वल हो जाते हैं, जो अनेक प्रलोभनों के होते हुए भी स्वाधीनता के पथिक बनने के बाद तिलमात्र भी नहीं डगमगाये. उन्होंने उस आग को प्रज्वलित रखा जो अंत में अंग्रेजों को देश से निकालने में सफल हुई. श्री विद्यावाचस्पति ने अपनी पैनी दृष्टि से इन सभी व्यक्तियों की प्रतिभा एवं महत्व को देखा और भावपूर्ण ढंग से अंकित किया. दैनिक 'अर्जुन' के प्रकाशक श्री विद्यावाचस्पति पर जब मिथ्या अभियोग चलाया गया, तो उनकी ओर से सफाई देने का काम उनके मामा पंजाब के प्रसिद्ध बैरिस्टर, फौजदारी वकील श्री रायजादा भगतराम जी ने किया था. दिल्ली में कई प्रसिद्ध खूनी मुकदमों के लिये वह आ चुके थे, जिससे उनकी ख्याति चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी. श्री विद्यावाचस्पति अपने मामा भगतराम के बारे में लिखते हैं,– "मामा जी के बारे में यह मशहूर था कि वह अभियुक्तों को फाँसी के तख्ते पर से छुड़ा लाने में भी बहुत सिद्धहस्त थे. रिवायत थी कि जब कोई आदमी गंड़ासा लेकर दूसरे को मारने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये घर से निकलता और उसे दूसरा आदमी यह कहकर रोकता कि 'अरे कत्ल करेगा तो फाँसी पर चढ़ेगा' तो वह उत्तर देता था कि– 'अभी भगतराम जिंदा है कोई डर नहीं.'[७] डाके के अभियुक्त का वर्णन करते हुए उन्होंने रहस्योद्घाटन किया है कि डाकू एक ही रात में चार स्थान पर इसलिये डाका डालते हैं कि अदालत में दो घटना स्थलों के गवाह जब एक ही समय बताते हैं, तो डाकू छूट जाते हैं, 'क्योंकि एक आदमी एक ही समय में दो जगह डाका कैसे डाल सकता है.'[८] फिरोजपुर जेल के सुपरिन्टेंडेंट रायसाहब के विषय में विद्यावाचस्पति जी लिखते हैं,–'(रायसाहब) तबियत के सादे, प्रबंध में दब्बू और विद्याव्यसनी थे, मुझे पुस्तकें प्राप्त करने में इनके निजी पुस्तकालय से बहुत सहायता मिली. जब जेल देखने के लिये आते, कोई न कोई बढ़िया किताब साथ ले आते. सज्जनता का यह हाल था कि शायद ही कभी किसी को कठोर दंड देते हों.'[९] फिरोजपुर जेल के अकड़बाज पारसी सिविल सर्जन के बारे में श्री विद्यावाचस्पति कहते हैं, '...उनकी विशेषतायें केवल उनकी व्यक्तिगत विशेषतायें नहीं थीं, वह उस युग के अंग्रेजी हुकूमत के कलपुर्जो की सामान्य विशेषतायें थीं' ...वह श्री विद्यावाचस्पति के तबादले पर तो खुश था, पर रिहाई पर नहीं. इस संदर्भ में श्री विद्यावाचस्पति लिखते हैं, 'इस नौकरशाही के पुराने घाघ को मुझसे इतना विरोध क्यों था, इस प्रश्न का उत्तर में नहीं दे सकता' पर एक सज्जन के अनुसार 'आपको रिहा होना ही था, तो कम से कम पांच सौ की थैली मेम साहब के पास पहुँचा देनी थी, अगर आपकी तरह सब कैदी फोकट में रिहा हो जाया करें, तो बेचारे ऊँचे अधिकारियों का काम कैसे चले.'[१०] राजनीतिक देशभक्त बंदियों को अधिकतम सुविधायें देने के लिये सदैव तत्पर रहने वाले पं. बधवाराम जेलर की साहसिकता का वर्णन करते हुए श्री विद्यावाचस्पति लिखते हैं,– "जब एक दिन सायंकाल के समय मुलाकात के पश्चात् मेरे परिवार को घर वापस जाने के लिए तांगा न मिला, तो उन्होंने अपनी विक्टोरिया गाड़ी जुतवाकर उसमें परिवार को भेज दिया. हम लोगों के कहने पर एक बार हमारे घर से ग्रामोफोन भी मंगवा दिया था. हम स्वयं आश्चर्य किया करते थे कि एक भारतीय जेल का दरोगा इतना साहस कैसे कर सकता है."[११] अपने चिकित्सक व दिल्ली जेल जीवन के साथी डॉ. अंसारी के संदर्भ में श्री विद्यावाचस्पति कहते हैं, 'अधिक समीप रहने से मनुष्यों में एक–दूसरे के लिये तिरस्कार का भाव पैदा हो जाता है. इसी कारण जेल के सहवास को मनुष्य के आदर–सत्कार की कसौटी कह सकते हैं. जेल के सहवास में मैंने बड़े–बड़े बुतों को टूटते देखा है. जिन्हें जेल के बाहर देवता समझकर पूजा जाता था, जेल के सहवास ने उनके चरित्र का ऐसा गंदा रूप प्रकट किया कि स्वयंसेवक तक उन्हें तुच्छ और पतित समझने लगे. परन्तु डॉ. अंसारी के चरित्र का सबसे बड़ा गुण यह था कि जितना ही उनके समीप जाओ, उनके प्रति आदरभाव उतना ही बढ़ता था. उनकी देश–भक्ति कुंदन की तरह खरी थी और उनकी सज्जनता हीरे की तरह उज्ज्वल और ठोस थी.'[१२] मुलतान जेल के साथी मौलाना आरिफ के संबंध में वे लिखते हैं, 'मौलाना आरिफ उन इने–गिने मुसलमान राष्ट्रभक्तों में से थे, जो परीक्षा में कभी अनुत्तीर्ण नहीं हुये. देश के हर प्रकार के कार्य में वह हमेशा सिपाहियों की अगली पंक्ति में दिखाई देते थे. यूँ शरीर से बहुत ही दुबले–पतले थे. देखने से मालूम होता था कि किसी ने बांस के ढाँचे पर खद्दर मढ़ दिया हो, वह शायर भी थे एक बड़ा उगालदान और मसनद जेल में भी उनके साथ रहते थे. पान के तो वह दीवाने थे, जागते हुए शायद ही कोई क्षण ऐसा हो, जब पान उनके मुँह में न रहता हो, यहाँ तक कि बात करते हुए उनके मुँह में पान का भरा रहना आवश्यक–सा हो गया था. वह कई बरस तक दिल्ली की जिला काँग्रेस कमेटी के अध्यक्ष रहे. उन्हें जेलवाले नवाब साहब कहा करते थे.' मौलाना आरिफ हसवी का पानदान और उगालदान ड्योढ़ी में ही रख लेने पर जो उनकी दयनीय स्थिति बन गई उसका वर्णन करते हुये भी श्री विद्यावाचस्पति कहते हैं, 'जब मैं मौलाना से मिला तो उनकी गालें पिचककर आपस में मिल गई मालूम होती थीं, और बोलने की शक्ति लगभग जाती रही थीं, क्योंकि सात दिन से पान नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिले थे. मौलाना दीवारों से चूना खुरच–खुरचकर अपनी जबान के व्यसन को पूरा करा रहे थे. उनकी यह दशा देखकर हम लोगों को आँखों में आँसू आ गए.''[१३]

इस प्रकार श्री विद्यावाचस्पति ने अधिकतर प्रसिद्धि प्राप्त स्वतंत्रता संग्राम कालीन राष्ट्रनायकों व समाज सेवियों के संस्मरण लिखे हैं, पर उनके जेल–जीवन और पत्रकार जीवन से संबद्ध आत्म–संस्मरणों में अप्रसिद्ध किन्तु अपनी असाधारण विशिष्टताओं के कारण असामान्य प्रतीत होने वाले व्यक्तियों के संबंध में भी आपने संस्मरणों की रचना की है. श्री विद्यावाचस्पति के वर्ण्य–विषय में सरसता, स्पष्टता, संक्षिप्तता, सरलता, रोचकता आदि गुण प्राप्त होते हैं. श्री विद्यावाचस्पति के अधिकांश संस्मरण संक्षिप्त हैं. इसी संक्षिप्तता के कारण उनमें पाठकों पर अमिट प्रभाव डालने की क्षमता है. ये संस्मरण 'नावक के तीर' के समान मार्मिक और प्रभावशाली हैं. उनके कुछ संस्मरण अपेक्षाकृत दीर्घ होने के बावजूद भी उनकी सहृदयता, आत्मीयता, शैली की चारूता, विषय संबद्धता एवं स्पष्टता के कारण उनमें सरसता का संचार हो गया है, इसी कारण वे हृदयस्पर्शी भी हैं. वर्ण्य–विषय की स्पष्टता श्री विद्यावाचस्पति के संस्मरणों की महती विशिष्टता है. लेखक ने पूरी प्रमाणिकता से वर्ण्य विषय का वर्णन किया है. अपने संस्मरण–नायकों से विद्यावाचस्पति का घनिष्ठ संबंध है. इसी कारण वे उनके चरित्र से संबंधित वर्ण्य घटनाओं, स्थितियों एवं मनोदशाओं के चित्रण में न्याय कर पाये हैं.

३.३ संस्मर्ण्य का चरित्रांकनः-

श्री विद्यावाचस्पति ने संस्मरणों में चरित नायकों के व्यक्तित्व एवं शील का स्पष्ट, यथार्थ एवं मनोहारी वर्णन किया है. पात्रों के जीवन की विशिष्ट घटना के वर्णन द्वारा वे उसके पूरे जीवन की झांकी प्रस्तुत कर देते हैं. किसी भी संस्मरण को पढ़कर पाठक का हृदय उस व्यक्ति की महत्ता एवं विशेषता से प्रभवित हो उठता है. श्री विद्यावाचस्पति व्यक्तित्व के बाह्यांतर रूपों को चित्रित करने में सिद्धहस्त हैं. उनके द्वारा अंकित व्यक्तित्व के बाह्य रूप के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैंः–

टी.पी. सिन्हा की आकृति, वेशभूषा एवं स्वभाव के विषय में वे लिखते हैं, 'सिर पर लंबे एवं घुँघराले बाल रखते थे, दिन में किसी समय एक बार बालों में कंघी कर लेते थे अन्यथा उनमें गर्द, तिनके आदि अनेक पदार्थ उलझे रहते थे, वेश बिहारियों का–सा था. खद्दर का लंबा कुर्ता, धोती और चप्पल ! मूछें और दाढ़ी भी बढ़ी हुई थीं. रूप, रंग में जो कमी थी, वह उनके वाक्चातुर्य से पूरी हो जाती थी.'[१४] इसी प्रकार सरदार भगतसिंह के प्रथम परिचय की झाँकी इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है, 'एक भव्य सिख नौजवान जिसके दाढ़ी के बाल अभी केवल दीखने लगे थे, आया और अपना अर्जुनसिंह नाम बतलाकर उसने पत्र के संपादकीय विभाग में काम करने की इच्छा प्रकट की. नौजवान की आँखों में कुछ ऐसा आकर्षण था कि कुछ अधिक पूछताछ किये बिना मैंने उसे कार्य पर लगाने की स्वीकृति देते हुए पूछा कि क्या पहले किसी हिंदी पत्र में काम भी किया है? नौजवान ने उत्तर दिया– 'मैं कानपुर के 'प्रताप' में बहुत दिनों तक उपसंपादक रहा हूँ.'[१५] 'आधुनिक भारत की वक्तृत्व कला की प्रगति' में देशभक्त गोपाल कृष्ण गोखले के व्यक्तित्व की झांकी श्री विद्यावाचस्पति ने इस प्रकार दी है, 'मैंने देखा कि एक भव्यमूर्ति मंच की ओर आगे बढ़ी. मध्यम दर्जे का कद, गोरा भरा हुआ रोबीला चेहरा, गंभीर और प्रतिभापूर्ण सुंदर आँखें और विशाल माथा उस मूर्ति की भव्यता को बढ़ा रहे थे, सिरपर दक्षिणी ब्राह्मणों जैसी लाल पगड़ी, उस चेहरे की शोभा को द्विगुणित कर रही थी. बंद गले का कोट और गले में किनारीदार दुपट्टा, गोखले महोदय का सदा साथी था. जब इस वेष में वे व्याख्यान वेदी की ओर बढ़े, तो सारा उत्सव–मंडप तालियों की कर्णभेदी ध्वनि से गूँज उठा. वक्ता के दायें हाथ में कुछ कागज थे, जिसमें संभवतः व्याख्यान के लिए नोट थे. दूसरा हाथ खाली था ! खड़े होते ही आपने सभापति को संबोधन करके शांतभाव से बोलना आरंभ कर दिया.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोखले जी की आवाज मध्यम, मधुर और अत्यंत परिमार्जित थी. वह दूर तक सुनाई देती थी, पर उसमें चिल्लाहट या बहुत अधिक उतार–चढ़ाव का अभाव था.'[१६] अपने पिताजी के सहपाठी और एक पूरी आयु के बाद अकस्मात् पिताजी से मिलने वाले पं. मोतीलाल नेहरू का बाह्य व्यक्तित्व स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, 'पंडित जी का सारा सूट (कोट–पैंट आदि) सफेद रेशम के थे. सफेद हैट हाथ में पकड़ी हुई थी, श्वेत वर्ण चेहरे पर, किनारों पर से ऊपर की ओर मुड़ी हुई शानदार सफेद मूछें राजपूती चेहरे का स्मरण करा रही थीं. गति में दृढ़ता थी और आँखों में तेज था, जिस समय सफेद खद्दर के रूप में परिष्कृत होकर पंडित जी अपनी गंभीर गति से कौंसिल चेम्बर में प्रविष्ट होते थे, उस समय सरकारी कुर्सियों पर बैठने वाले अंग्रेज महापुरुषों को भी सहमकर खड़े हो जाना पड़ता था.''[१७] महात्मा गांधी के शारीरिक गठन का वर्णन करते हुए श्री विद्यावाचस्पति ने अपनी संक्षिप्त–सी टिप्पणी में कहा है, ''महात्मा जी का शरीर बहुत ही संक्षिप्त–सा था. उसे शरीर का केवल टोकन कह सकते हैं. चेहरे में भौतिक सुदंरता भी नहीं थी. कंठ स्वर तो स्पष्ट था, परंतु ऊँचा या थर्राता हुआ नहीं था. उसमें उतार–चढ़ाव भी बहुत नहीं होते थे. भावानुभाव का यह हाल था कि प्रायः बैठकर बोलते थे. बोलने के समय शरीर को बहुत ही कम हिलाते डुलाते थे. केवल एक हाथ उठाने की चेष्टा छोड़कर भाषण के समय कोई चेष्टा नहीं करते थे.''[१८] (राष्ट्रपति) राजेंद्रप्रसाद के प्रथम–दर्शन का श्री विद्यावाचस्पति के मन पर जो प्रभाव पड़ा वह हुलिया गांव के किसी किसान का (सा) था, लीडर क्लास के किसी काँग्रेसी का नहीं. गहरा साँवला रंग, लंबा छरहरा शरीर, मोटे खद्दर के कपड़े, सिर पर पीछे की ओर झुकी हुई खद्दर की टोपी और बड़ी घनी मूछें.'[१९]

चरित्रांकन करते समय श्री विद्यावाचस्पति ने अपने चरित्र नायकों के केवल बाह्य चित्र ही नहीं दिये, अपितु उनके क्रिया कलाप, स्वभाव एवं रुचियों का भी चित्ताकर्षक वर्णन किया है. ऐसी अवस्था में पात्रों के व्यक्तित्व का अंतःचित्रण भी उनका लक्ष्य रहता है. गांधीजी के आंतरिक व्यक्तित्व की झांकी श्री विद्यावाचस्पति ने इन सारगर्भित शब्दों में अंकित की है, 'महात्मा जी के शब्दों को ओजस्वी और बलशाली बनाने वाली सबसे प्रमुख जो वस्तु थी, वह यह कि 'उनके राई जितने शब्द के अंदर पर्वत जितनी क्रिया अंतर्हित रहती थीं.' दूसरे शब्दों में ''(उनके) एक शब्द की पीठ पर सौ क्रियाओं की गठरी लदी होती थी.'[२०] उपन्यास सम्राट् प्रेमचंद जी की सरलता–सादगी का विश्लेषण श्री विद्यावाचस्पति ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है, 'सरलता, बनावट का अभाव और निर्व्याज हँसी, ये प्रेमचंद जी के नैसर्गिक गुण थे, जो उनके प्रत्येक व्यवहार से प्रकट हो जाते थे. प्रेमचंद की वह हँसी उनकी अपनी ही चीज थी, कभी–कभी यह समझना कठिन हो जाता था कि वह क्यों हँसे? कोई बाह्य कारण समझ में नहीं आता था. असल बात यह थी कि उनकी हँसी उनके हृदय की सादगी का प्रत्यक्ष उद्गार हुआ करती थी, वह बच्चों की सी सरल हँसी थी प्रौढ़ों की सी नियमित या पेचीदा हँसी नहीं, उनके मित्र जानते हैं कई अंशो में वह अन्त तक बच्चो की तरह सरल रहे.'[२१] पूरे सप्ताह में भी जो कार्य संपन्न न हो उसे एक ही दिन में पूर्ण करने वाले तारिणीप्रसाद सिन्हा की कार्यप्रणाली पर प्रकाश डालते हुए श्री विद्यावाचस्पति लिखते हैं, 'नए से नए आदमी को तो दो मिनिट में दोस्त बना लेते थे. दिन भर उसके साथ घूमकर चार–पाँच उसके काम बना देना और पाँच–सात अपने काम निकाल लेना साधारण बात थी, हम लोग उन्हें कहा करते थे आप सचमुच टी.पी. सिन्हा हैं. क्योंकि वे घर से कभी नाश्ता लेकर नहीं चलते थे, जिस किसी के यहाँ जाते थे उसी के यहाँ चाय (टी) पीते थे.'[२२] श्री विद्यावाचस्पति के अग्रज श्री हरिश्चंद्र द्वारा चलाये गये 'विजय' का एक ही दिन में डिक्लेरेशन लाकर टी.पी. सिन्हा ने श्री विद्यावाचस्पति को आश्चर्यजनक धक्का देते हुये उस पत्र का पुनर्जीवन करने में सहयोग दिया था.

श्री विद्यावाचस्पति के 'सत्यवादी' व 'अर्जुन' पत्र के संपादकीय विभाग में काम करने वाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रांतिकारी सरदार भगतसिंह के आंतरिक व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए स्वयं विद्यावाचस्पति लिखते हैं, 'अर्जुनसिंह की हिन्दी तो बहुत अच्छी थी ही, उसके विचार और भी अधिक परिमार्जित थे, जब कभी हिंदू–मुस्लिम समस्या पर बात छिड़ती वह सदा सांप्रदायिकता के विरूद्ध पक्ष लेता. अन्य सब विषयों पर भी उसके विचार उदार और निर्भीक होते थे...उसकी कई असाधारण बातों में एक यह भी थी कि वह कभी अपने घर या परिवार के संबंध में चर्चा नहीं करता था. यदि कोई पूछताछ करता, तो हंसकर टाल देता. उसकी दूसरी विशेषता यह थी कि अन्य सब चीजों में नियमित होता हुआ भी उपस्थितियों में बहुत अनियमित था. बिना पूर्व सूचना दिये एक दो दिन के लिये डुबकी लगा जाना तो साधारण बात थी, कभी–कभी सप्ताह भर तक लापता रहता था. पहले तो उसका यह व्यवहार बुरा लगा, परंतु कुछ दिनों के बाद संदेह–जनक और फिर रहस्यात्मक प्रतीत होने लगा. ऐसा भला आदमी किसी सामान्य कारण से बार–बार अनुपस्थित नहीं हो सकता, यह विचार मन में आने लगा और हल्की–सी आशंका होने लगी कि हो न हो यह नौजवान क्रांतिकारियों से संबंध रखता है.'[२३] पं. मोतीलाल नेहरू की वक्तृत्व कला और जिंदादिली का विश्लेषण करते हुए श्री विद्यावाचस्पति लिखते हैं, 'पंडित जी का भाषण सारगर्भित और युक्तिपूर्ण होता था, वे सदा श्रोताओं के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने का यत्न करते थे. एक योग्य वकील को जिस भाषण शैली से काम लेना चाहिये, पंडितजी उसके उस्ताद थे. अंग्रेजी और उर्दू दोनों भाषाओं पर उनका पूर्ण प्रभाव था. साथ ही जिंदादिली उनका विशेष गुण था. बड़े से बड़े कठिन समय में वे विनोद कर सकते थे. खिलखिलाकर हँस सकते थे और गंभीर से गंभीर कठिनाई को हँसी में उड़ा सकते थे. उनका यह गुण भाषण के प्रभाव को बढ़ाने में बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता था. वे विरोधी की अनर्गल युक्तियों का उत्तर देने में अधिक परिश्रम नहीं करते थे, प्रत्युत उसे विनोद की चुटकियों में उड़ा देते थे.'[२४] पंडित मदनमोहन मालवीय जी नरम और गरम दल दोनों के साथ सहानुभूति रखते थे, इसकी कारण मीमांसा स्पष्ट करते हुए श्री विद्यावाचस्पति लिखते हैं, 'उनका मस्तिष्क शीतल होने के कारण नरम दल के साथ था और हृदय अत्यंत भावुक होने के कारण राजनीति और सामाजिक के क्षेत्र में काम करने वाले उग्र से उग्र दल के साथ था. यही कारण है कि प्रत्येक परिवर्तन के आरंभ में वे उससे असहमत होते थे, परंतु जब देखते थे कि परिवर्तन से प्रजा का हित होगा और परिवर्तनकारी अपने रास्ते से डिगनेवाले नहीं है, तब वे न केवल उस परिवर्तन को आशीर्वाद दे देते थे, स्वयं उसके पथदर्शक भी बन जाते, उस समय उनका मस्तिष्क हृदय का सहायक बन जाता था.'[२५]

अपने पिता श्री मंशीराम (स्वामी श्रद्धानंद) के संदर्भ में श्री विद्यावाचस्पति लिखते हैं, 'पिताजी कोई निश्चय करने के पश्चात् परिस्थितियों की चिंता न करते हुए अपने निश्चय को साकार करने में कटिबद्ध हो जाते थे. (वे) अपने निजी जीवन में और सार्वजनिक जीवन में इति–कर्तव्यता का निश्चय करते हुए युक्तियों या परिस्थितियों पर कभी विचार नहीं करते थे.[२६] उनका प्रत्येक कदम. अंतरात्मा की आवाज पर उठता था और वह अटल होता था.[२७] वे 'श्रद्धा प्रधान भावुक व्यक्ति' थे, 'उन्हें किसी भी परिणाम पर पहुँचने में और उसके अनुसार बड़ा कदम उठाने में देर नहीं लगती थी.'[२८] किसी विशेष परिस्थिति के आने पर वे जब कोई नई छलांग मार जाते थे, तो उनके पुराने साथी खाई के इसी ओर मुँह ताकते रह जाते थे, और पीछे रहने के समर्थन में प्रायः पिताजी के कार्यों की आलोचना किया करते थे.'[२९] किसी बात का निश्चय हो जाने पर निर्णय लेने में मुंशीराम जी को देरी नहीं लगती थी. अलीबंधु–मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए श्री विद्यावाचस्पति लिखते हैं, उन दोनों की विशेषता यह थी कि उनकी आँखों में आँसू और मुंह में कहकहा दोनों ही सदा तैयार रहते थे. कब क्या फूट पड़े, इसका कोई ठिकाना नहीं था, दोनों ही पहले दर्जे के दबंग थे'[३०] पं. जवाहर लाल नेहरू के काँग्रेस नेता और प्रधानमंत्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनने की पृष्ठभूमि का वर्णन श्री विद्यावाचस्पति ने बड़ा ही सुंदर किया है. वे लिखते हैं, 'जैसे पं. मोतीलाल जी ने अपने पुत्र के प्रभाव से अपने आपको बाईं ओर झुका दिया था. वैसे ही महात्मा जी ने कई अवसरों पर अपने को केवल पं. जवाहरलाल जी के लिहाज से बाई ओर झुकाया. इसकी प्रतिक्रिया भी कुछ कम नहीं हुई. महात्मा जी के व्यवहार ने जवाहर लाल जी को भी कई अंशों में दक्षिण पार्श्व की ओर झुकाया. इस सारी क्रिया–प्रतिक्रियाओं का ही परिणाम है कि जवाहर लाल जी काँग्रेस के नेता भी हैं और भारत के प्रधानमंत्री भी.'[३१]

डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी की वक्तृत्व कला एवं व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए श्री विद्यावाचस्पति लिखते हैं, 'उन्होंने संसद में विरोधी दल के नेता का स्तर इतना ऊँचा उठा दिया था कि अब वहाँ तक पहुँचना कठिन–सा प्रतीत होता है. जब संसद की गोल चार दीवारी में यह समाचार प्रसिद्ध हो जाता था कि डॉ. मुखर्जी बोल रहें हैं, तो राजसभा और लोकसभा के सदस्य जो इधर–उधर घूम रहे या गप–शप कर रहे होते थे, तो भाग–भागकर लोकसभा भवन में आ बैठते थे...यह देखा गया था कि प्रधानमंत्री नेहरू, जो लोकसभा भवन में बहुत कम दिखाई देते हैं, डॉ. मुखर्जी के बोलने के समय प्रायः अपने आसन पर विराजमान होते थे. बोलते समय डॉ. मुखर्जी की आँखें नेहरू जी की ओर लगी रहती थीं. जिस समय डॉ. मुखर्जी सरकार की आलोचना में शब्दों के शर फेंकने लगते थे, तब प्रायः काँग्रेसी सदस्यों के दिल भी दहल जाते थे. मुखर्जी की आँखों में जितना तेज था, शब्दों में भी उतना ही था. जब कभी जनता में यह प्रश्न उठता था कि यदि कभी नेहरूजी ने प्रधानमंत्री पद छोड़ा, तो उनका स्थान कौन लेगा, तब एक यही उत्तर मिलता था– डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी.'[३२] इसी प्रकार श्री विद्यावाचस्पति राजेंद्रबाबू के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुये उन्हें 'प्रच्छन्न योगी' कहते हैं और इतिहास से उनकी उपमा ढूँढ़ते हुए उन्हें 'राजा जनक'[३३] की उपाधि से विभूषित करते हैं. इस तरह स्पष्ट है कि श्री विद्यावाचस्पति ने संस्मरणों में अपने चरित नायकों के अंतर्बाह्य व्यक्तित्व के चित्रण में पर्याप्त कुशलता का परिचय दिया है.

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी जरूरी है कि श्री विद्यावाचस्पति ने चरित्रांकन में संतुलित दृष्टिकोण अपनाया है. वे संस्मरण नायकों के व्यक्तित्व की गरिमा, चरित्र की महत्ता एवं शील–उत्कर्ष का दिग्दर्शन अवश्य करना चाहते हैं, पर साथ ही वे गुणों की महिमा के गान के साथ वे चरितनायकों के दोषों की ओर भी संकेत करते हैं. उनके पात्रों का चरित्र एकांगी नहीं हैं, फिर भी श्री विद्यावाचस्पति ने नायकों के गुणों की ओर ज्यादा ध्यान आकृष्ट किया है. क्योंकि वे चाहते हैं, 'पाठक राष्ट्र के इन संस्मरणीय पुष्पों के गुण रूपी रस के भौंरे ही बनें' श्री विद्यावाचस्पति के कुछ आलोचक मित्रों ने जब उनसे यह शिकायत की कि – आपने 'नायकों के गुण ही गुण दिखाये हैं, दोष एक भी नहीं,' तब श्री विद्यावाचस्पति का यही उत्तर रहा कि –'संस्मरणों को लिखने का प्रयोजन इन महानुभावों का गुण–दोष विवेचन नहीं, अपितु उनकी उन विशेषताओं का प्रदर्शन करना है, जिनके कारण वे राष्ट्र के लिये उपयोगी सिद्ध हुए और जिनके कारण ही प्रत्येक भारतीय उनका ऋणी है. मेरे पिता नामक संस्मरण में श्री विद्यावाचस्पति ने इसी प्रकार के हृदयोद्गार व्यक्त करते हुए कहा है– "मैंने पिताजी के स्वभाव की जो विशेषतायें लिखी हैं, उनके लिए जान–बूझकर विशेषता शब्द का प्रयोग किया है, वह गुण थे या दोष इस विषय में मैंने कोई सम्मति नहीं दी. उनके जीवनकाल में इस विषय में सब लोग एक मत नहीं हो सके और न कभी हो सकेंगे. किसी सुंदर चित्र, उत्कृष्ट काव्य और महान् पुरूष की विशेषतायें गुण हैं या दोष, इस विषय में एक मत हो भी नहीं सकता. यदि ऐसे पदार्थो के गुण–दोष के संबंध में एक मत हो जाय, तो उनकी असाधारणता जाती रहे, तब तो वह साधारण पदार्थ बन जाय."[३५] फिर भी श्री विद्यावाचस्पति इस तथ्य से अच्छी तरह सुपरिचित हैं, 'मनुष्य चाहे बड़ा हो या छोटा, गुणों और दोषों का पुंज है, निर्दोष तो केवल ईश्वर है, परंतु जहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल रूप से गुण और आनुषंगिक रूप में दोष हों, वहाँ गुणों की प्रधानता होती जाती है और वस्तुतः गुण ही भक्ति के मूल स्रोत हैं. जब हम किसी महापुरूष के चरित्र चित्रण करने लगते हैं. तब श्वेत और कृष्ण दोनों पहलू सामने आते हैं, परंतु जो चित्र बनता है, उसका महाकवि कालिदास ने इन दो पदों में सुंदरता से वर्णन किया है– 'एको हि दोषो गुण सन्निपाते। निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांङ्कः।।' जैसे पूर्ण चंद्रमा की उज्वल किरणों में काला धब्बा डूबकर विलीन हो जाता है, वैसे ही अनेक गुणों की चमक से दबकर एक दोष भी परोक्ष हो जाता है.''[३६] इन सब धारणाओं का समर्थन करने के बावजूद भी अपने संस्मरणों के बारे में श्री विद्यावाचस्पति कहते हैं.' यदि पाठक संस्मरणों को ध्यान से पढेंगे तो उन्हें बीच–बीच में वर्णनीय नर–चन्द्रमाओं के धब्बों का आभास भी मिल जायेगा.[३७] इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए बड़ी खोज के बाद दृष्टिगोचर हुए संस्मरण में वर्णित नर–चंद्रमाओं के धब्बों पर भी एक नजर डाली जा रही है.

श्री विद्यावाचस्पति ने श्रीमती ऐनीबेसेंट की बातों में 'भारतवासियों के हृदय को प्रभावित न कर पाने की दुर्बलता'[३८] होने तथा बंगाल में गरम दल के प्रमुख नेता श्री विपिनचंद्र पाल की वक्तृत्व कला को खंड़न में तेज बतलाते हुए भी 'मंडन में ढीला'[३९] बतलाया है. पं. मदनमोहन मालवीय द्वारा 'मस्तिष्क और हृदय का संतुलन न बिठा पाने'[४०] तथा चाहे व्याख्यान वेदी हो या रेलवे स्टेशन 'निर्धारित समय–सारणी की उपेक्षा करने की उनकी वृत्ति[४१] की ओर भी वे संकेत करते हैं. श्री विद्यावाचस्पति ने उन्हें 'दीर्घभाषी' और 'अनथक अनंत वक्ता' कहा है, उनके अनुसार मालवीय जी का हृदय 'स्त्रियों से भी अधिक भावुक' है. 'विचारों में वे सनातनी'[४२] हैं और समय पड़ने पर नीति के रूप में कुछ समय के लिये व 'असत्य का भी प्रयोग' कर सकते हैं. जैसे, वास्तविकता तो यह थी कि एक बार विलंब से स्टेशन पर आने के कारण उनकी गाड़ी छूट गयी, पर वायसराय की स्पेशल ट्रेन आने पर उन्होंने उनसे यह कहा कि आपकी स्पेशल ट्रेन के कारण हमारी गाड़ियाँ रुकी रहीं, फिर उसी वायसराय की स्पेशल ट्रेन से उन्होंने आगे का सफर भी तय किया.[४३] श्री विद्यावाचस्पति ने सुवक्ता में पाये जाने वाले 'भौतिक सौंदर्य और भाव–अनुभाव आदि का महात्मा गांधी जी में अभाव'[४४] बताया है, और गांधी जी के तथाकथित शिष्य होते हुए भी अली बंधुओं को उन्होंने सत्य, अहिंसा और सांप्रदायिकता विरोधी गांधीवादी विचारधारा से अत्यंत ही अछूता पाया है. श्री विद्यावाचस्पति की दृष्टि में उनकी वक्तृत्व कला 'मदारी के करतबों सी'[४५] निम्न कोटि की वक्तृत्व कला है. मदनमोहन मालवीय जी की तरह पं. जवाहर लाल नेहरू भी 'दीर्घ भाषी हैं' और वक्तव्य देते समय 'अटकते–तुतलाते'[४६] हैं.

श्री विद्यावाचस्पति ने हकीम अजमल खाँ के मुंह में 'सोते–जागते पान'[४७] होने का संकेत किया है, वैसे ही आपने 'आनंद भवन' की दीवारों को हिला देने वाले मोतीलाल नेहरू के क्रोध का भी उल्लेख किया है.[४८] संस्मरणकार के भ्रातृतुल्य और स्वाधीनता संग्राम के भामाशाह 'शिवप्रसाद गुप्ता, वक्तृत्व और लेखन कला की दृष्टि से अयशस्वी रहे.' गुप्तजी के अत्यधिक मोटापे का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि गुप्तजी का मोटापा इतना अधिक था कि तांगेवाला उनके चौगुने दाम लेता था. शरीर के इस मोटापे के कारण उनकी नाक से नींद के समय इतनी जोर से आवाज होती थी कि वह स्वयं कई बार अपनी आवाज से ही चौंककर जाग उठते थे.' गुप्तजी पं. मदनमोहन मालवीय के निजी सचिव थे और जब कभी वह जाने–अनजाने उनके सामने होते थे, तो मालवीय जी पूरी तरह तिरोहित हो जाते थे.[४९] इसी प्रकार श्री विद्यावाचस्पति ने गुप्तजी की तरह महात्मा गांधी के पुत्र देवदास गांधी को भी 'स्वास्थ्य के प्रति लापरवाह'[५०] दर्शाया है. महात्मा गांधी सुबह तीन बजे उठते थे, तो देवदास जी सूर्योदय के साथ उनका शरीर भारी होने के कारण बापू के शरीर से बिल्कुल मेल नहीं खाता था. आँखों के नीचे–ऊपर के आवरणों में भी भारीपन दिखाई देता था.[५१]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

श्री विद्यावाचस्पति ने अपने कांगड़ी गुरुकुलीय छात्र जीवन के गुरुवर्य काशीनाथ जी के 'सुँघनी सूँघने के व्यसन'[५२] तथा 'जल तो पदार्थ है वह दो गैसों से कैसे बन सकता है'[५३] जैसी गुरुकुलीय संस्कृत अध्यापकों की उक्तियों को भी अपनी कृति में स्थान दिया है. गुरुकुल के प्रारंभिक विद्यार्थी हरिश्चंद्र–इंद्र (स्वयं लेखक) ने जब अपने आचार्य प्रवर व पिताश्री महात्मा मुंशीराम जी से गुरुकुल की शिक्षा से असंतुष्टि व्यक्त करते हुए बनारस भेजने का अनुरोध किया, तब उन्होंने सरस्वती यात्राओं का आयोजन कर वत्स द्वय व अंतिम दो कक्षाओं के विद्यार्थियों की निराशा को किस प्रकार अत्यंत ही चतुराई से छिन्न–भिन्न कर दिया था, इसका वर्णन किया है. 'मनुष्यों (छात्रों) के मनों को अपने मनोभावों की इच्छानुसार ढालने की प्रवृत्ति इंद्र जी के शब्दों में नेता (आचार्य) की विशेषता हो सकती है,[५४]' पर हमें तो यहाँ चतुराई ही अधिक नजर आती है. भौतिक परिसर व वातावरण से दूर, जंगलों और पथरीली नदी–नालियों से घिरे गुरुकुल की चार दीवारी में बंद विद्यार्थियों को रेलवे इंजन की संचालन प्रणाली, जंगलात कॉलेज, ऑब्जरवेटरी संस्थायें, देहरादून और सहस्त्रकुंड के दर्शन कराकर आचार्य मुंशीराम जी ने बनारस जाकर संस्कृत पंडित बनने की मुख्य भावना को तिरोहित कर दिया.'

श्री विद्यावाचस्पति का उद्देश्य अपने नायकों की विशेषता बतलाना है, गुण या दोष नहीं. पर तटस्थ पाठक या समालोचक इन विशेषताओं में से गुण और दोष का पृथक्करण कर सकते हैं. राजद्रोहादि आरोपों व सरकारी कोप से गुरुकुल की सुरक्षा के लिए आचार्य द्वारा अंग्रेज अधिकारियों को दिये गए निमंत्रण को एक प्रकार से तत्कालीन अंग्रेज सत्ता की खुशामद भी कहा जा सकता है. गुरुकुल में तत्कालीन अंग्रेज अफसर की आवभगत करना, उन्हें आलू–पकौड़ों के साथ तुलसी की चाय पिलाना, संस्कृत में उनकी स्तुति में अभिनंदन पत्र पेश करना[५५] और वायसराय के चमड़े के जूते उतारकर कपड़े के जूते पहनाने की प्रवृत्ति, तत्कालीन गुरुकुलीय खुशामदी प्रवृत्ति की ही तो द्योतक है. यह सब खुशामद नहीं, तो और क्या है? श्री विद्यावाचस्पति ने इस सबका स्पष्टीकरण देते हुए कहा है, 'पिताजी गौण में समझौता करने को सदा उद्यत रहते हैं, किन्तु मुख्य सिद्धांत को आंच नहीं आने देते.' इसे सोदाहरण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, 'पिताजी ने अंग्रेज सरकार की आर्थिक सहायता लेने तथा गुरुकुल विश्वविद्यालय को चार्टर प्राप्त यूनिवर्सिटी माने जाने के उपहार को अस्वीकार कर दिया था.'[५६] यह सब होने के बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि गौण स्तर पर भी यदि समझौता या खुशामद न की जाती तो आचार्य प्रवर का व्यक्तित्व और भी अधिक तेजस्वी प्रतीत होता, पर लगता है वे गुरुकुल के माध्यम से भारतीय संस्कृति का पुनर्जागरण कर भारतीयता के प्रहरी तैयार करना चाहते थे. इसलिए उन्होंने कुछ समय के लिए सुरक्षात्मक नीति के उपाय के रूप में अंग्रेज सरकार के सामने विनम्र होना स्वीकार कर लिया था. 'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्ये संप्रत्ययः'

किसी भी क्षेत्र के कार्यकर्ता में प्रतिपक्षियों द्वारा ऊल–जलूल किये गए आक्षेपों को हँसी में टाल देने की प्रवृत्ति होनी चाहिये, पर इस प्रकार की प्रवृत्ति लेखक के भावुक पिताश्री मुंशीराम में नजर नहीं आती और आर्य प्रतिनिधि सभा लाहौर की रात्रि में संपन्न मीटिंग में किये गए आरोपों को जब वे सह नहीं पाते हैं, तब सप्ताह भर में ही उनके सिर–दाढ़ी और मूंछ के आधे बाल सफेद हो जाते हैं. इसे भी एक प्रकार से संवेदनशील आचार्य मुंशीराम की मानसिक दुर्बलता या संघर्ष शक्ति का अभाव कहा जा सकता है. संभवतः इसीलिये वे काँग्रेस की कार्यसमिति, हिंदू महासभा, शुद्धि सभा आदि से त्यागपत्र देते रहे. त्यागपत्र न देते हुए संस्थागत अपप्रवृत्तियों से संघर्ष करना संभवतः उन्हें असंभव प्रतीत हुआ. शायद इसीलिये उन्होंने गुरुकुल की योजना, सर्वमेघ–यज्ञ व सन्यास, सत्याग्रह–प्रवेश आदि नए–नए रत्न या नये क्षेत्रों को चुना.[५७] दृढ़ता के साथ किसी भी क्षेत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष में स्थिर रहकर संघर्ष करने का प्रायः उनमें अभाव था. अपने पिताजी की इन स्थितियों और तथ्यों को स्पष्ट करते हुए श्री विद्यावाचस्पति लिखते हैं, 'कुछ लोग जो सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करते हुए अपनी अनुभवशीलता को पीछे छोड़ जाते हैं, वे विरोधी आलोचनाओं से अधिक प्रभावित नहीं होते. पिताजी का हृदय इस दृष्टि से बहुत नरम और अनुभवशील था. मैंने उन्हें कई बार दूसरे का दुःख देखकर आँसू बहाते देखा है. प्रायः कोई वृत्तांत सुनाते हुए या पढ़ते हुए मार्मिक स्थल के आने पर उनकी आँखें आँसुओं से भर जाती हैं. जब कभी वह अपनी आलोचना सुनते, तो कभी–कभी रातों नहीं सो सकते थे, सोचते रहते थे कि ये लोग ऐसे नासमझ क्यों हैं? ऐसे ही अवसरों पर प्रायः उन्हें रोग आ घेरता, जो कभी–कभी महीनों तक व्याकुल करता था...हम लोग जो उनके बहुत समीप रहते थे, वे हृदय से चाहते थे कि वे इतने अनुभवशील न होते. उनका मानसिक दुःख देखकर हम लोगों को बहुत दुःख होता था और वे तो दुःखी रहते ही थे'. संस्कृत की उक्ति है– 'अति सर्वत्र वर्जयेत्. मराठी की कहावत है– 'अति तेथे माती'. जहाँ किसी बात में अति होती हैं वहाँ सर्वनाश होता है. प्रो. विद्यावाचस्पति के अनुसार पिताजी में भावुकता का अंश बहुत अधिक था. उनके भाव चेहरे के चित्रपट पर तत्काल प्रतिबिंबित हो जाते थे. हृदय की प्रत्येक भावना, आँख, नाक और होठों पर स्पष्टता से झलकने लगती थी और स्वर भी तदनुसार ही प्रभावित होता था.[५८] "जिस व्यक्ति का सारा जीवन विरोधी शक्तियों से सीधी टक्कर लेने में व्यतीत हुआ",[५९] उनकी इस प्रकार की भावुकता और संवेदनशीलता को देखकर आश्चर्य होता है." भावुकता के अतिरिक्त स्वामी श्रद्धानंद की वक्तृत्व कला के अवगुणों की ओर संकेत करते हुए श्री इंद्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है, 'उनका भाषण अधूरे असंगत वाक्यों और विभाव–अनुभाव रहित होता था.'[६०]

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्री विद्यावाचस्पति ने अपने संस्मरण नायकों के केवल गुणात्मक विशेषताओं की ओर ही नहीं, अपितु त्रुटिपूर्ण विशेषताओं की ओर भी संकेत किया है. इस तरह संस्मरण नायकों के चरित्रांकन में उन्होंने मानवीय गुण–दोष का अत्यंत सहृदयता पूर्वक अंकन किया है.

३.४ संस्मरणकार का व्यक्तित्वः-

संस्मरण में लेखक के निजी व्यक्तित्व की आभा सर्वत्र छिटकी रहती है. वैयक्तिकता को संस्मरण का एक प्रमुख गुण माना जाना चाहिये. संस्मरण उन्हीं व्यक्तियों, घटनाओं एवं स्थानों के विषय में होते हैं, जो लेखक की संवेदना को झंकृत कर पाते हैं. अतः प्रत्येक शब्द प्रत्येक पंक्ति संस्मरणकार के सहृदयरस से सिक्त होकर उसकी समस्त संवेदना में आवृत्त होकर व्यक्त होती है. श्री विद्यावाचस्पति के संस्मरण उनके निजी व्यक्तित्व से अनुस्यूत हैं. उस स्थिति में जब कि उन्होंने अपने आपको प्रयत्नपूर्वक रंगमंच की पृष्ठभूमि में या कलम के पीछे छिपाकर ही रखने का प्रयास किया है.[६१] फिर भी पाठक चरितनायक के समानांतर लेखक से आत्मीयता का संबंध स्थापित कर लेता है. श्री विद्यावाचस्पति के संस्मरणों में उनकी कृतवेदिता एवं राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति दर्शनीय है. 'बचपन से ही वे वीरता के पुजारी हैं, वीर मूर्ति, वीर शब्द और साहसिक कार्य उन्हें पागल बना देते हैं.'[६२] संस्मरण का ८५ प्रतिशत भाग उन्होंने राष्ट्रनायकों को ही समर्पित किया है. अपने राजनैतिक जीवन में उन्हें अनेक महापुरुषों के सूक्ष्म निरीक्षण का सौभाग्य मिला. जब जीवन में पहली बार उन्होंने काँग्रेस की व्याख्यान वेदी पर जय–जयकारों के मध्य तिलक महाराज को आते और बैठते देखा तो उनका मन भावुकता की पराकाष्ठा तक पहुँच गया था. यदि सभापति का अथवा लोक–लाज का भय न होता, तो वेअपने स्थान से उठकर अवश्य ही तिलक महाराज के चरण पकड़ लेते.'[६३] प्रो. इंद्र विद्यावाचस्पति की दृष्टि में मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से जेल एक अत्यंत उपयुक्त परीक्षण शाला है. १६३० के नमक सत्याग्रह में महात्मा गांधी के सुपुत्र देवदास गांधी और संस्मरणकार कई महीने तक दिल्ली के डिस्ट्रिक्ट जेल में साथ–साथ रहे थे.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६४ उपन्यासकार जैनेंद्र भी उनके साथ जेल में थे.[६५]

प्रो. विद्यावाचस्पति स्वतंत्रचेता और दृढ़निश्चयी थे. स्वामी श्रद्धानंद और लाला लाजपतराय से विचार–वैपरीत्य होने पर लालाजी द्वारा समझाये जाने के बावजूद भी इंद्रजी अपने इस मत पर दृढ़ रहे कि राजनीतिक चुनाव में काँग्रेस का समर्थन करना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है. सन् १६२६ के कौंसिल चुनावों में लालाजी और मदनमोहन मालवीय ने हिंदू हितों की रक्षा हेतु नेशनलिस्ट पार्टी की योजना बनाकर काँग्रेस के विरोध में अपने प्रत्याशी खड़े किये थे. दिल्ली की ओर से काँग्रेस ने मिस्टर आसफ अली को खड़ा किया और राष्ट्रवादी दल ने लाला शिवनारायण को. स्वामी श्रद्धानंद और 'पितृतुल्य' लाला लाजपतराय जैसे पूज्यपादों के विरोध की परवाह न करते हुए आपने अपनी 'अंतरात्मा की आवाज'[६६] के अनुसार काँग्रेस और मिस्टर आसफ अली का ही डटकर समर्थन किया था. इससे प्रो. विद्यावाचस्पति के दृढ़ व्यक्तित्व का पता चलता है. यह स्मरण रहे कि प्रो. विद्यावाचस्पति लाला जी को 'पिता के समान' मानते थे और लाला लाजपतराय जी के निधन पर उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ था 'मानों पिताजी को दूसरी बार शहादत प्राप्त हुई हो.'[६७] कभी–कभी जीवन में लिहाज या भय के कारण चोरी छिपे या गुप्त रूप से व्यक्ति को कुछ कार्य करने पड़ते हैं. श्री विद्यावाचस्पति के विद्यार्थी जीवन में भी इस प्रकार के क्षण आये. जिस समय वे सातवीं कक्षा में पढ़ते थे तब आर्य प्रतिनिधि सभा में उनके पिताजी के विरोध में रुपयों के गबन, कुर्बानी का ढ़ोंग, हिसाब की गलती आदि के अनेक आरोप लगाये गये थे. पिताजी पर लगाये गये ये तथा इस प्रकार के अन्य कटाक्षपूर्ण आरोप 'हितकारी' नामक अखबार में छपते थे. उसे लेकर हरिश्चंद्र–इंद्र सहोदर बंधु गंगा के किनारे किसी घनी झाड़ी में जा बैठते थे और उसका पारायण करते थे.'[६८] प्रो. विद्यावाचस्पति का कवि व्यक्तित्व 'देवदास गांधी' शीर्षक संस्मरण से प्रकट होता है. प्रो. विद्यावाचस्पति लिखित देशभक्ति का गीत गांधीजी के सत्याग्रह आश्रम में भी गाया जाता था.[६९] उनका राष्ट्रीय व्यक्तित्व महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, नेताजी सुभाषचंद्र बोस इत्यादि संस्मरणों में प्रकट हुआ है. लगभग पचास वर्ष बाद जब श्री विद्यावाचस्पति अपने जालंधर स्थित पैतृक हवेली को शौक से देखने गए, तो उसके बदले हुए रूप को देखकर दिल दुःखी हो गया. पिताजी ने यह हवेली गुरुकुल को दान में दी थी. उसके परिवर्तित रूप को देखकर श्री विद्यावाचस्पति ने जो कुछ अनुभव किया वह उन्हीं के शब्दों में निम्न प्रकार है.:–

'पिताजी ने जिस भावना से, बड़े प्रेम से बनायी हुई वह कोठी गुरुकुल को दान दी थी, गुरुकुल की स्वामिनी सभा (आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब) उस भावना से उसकी रक्षा न कर सकी. यदि सभा उस कोठी की यथार्थ रूप में रक्षा करती, तो भारत के विभाजन के पश्चात् उसे कार्यालय के लिये दर–दर का भिखारी न बनना पड़ता. उन्हें बना–बनाया खूब शानदार कार्यालय मिल जाता, परंतु सभा ने फूल को पत्तों के भाव बेचकर, जहाँ भावना का तिरस्कार कर दिया, वहाँ अपनी भी हानि की, आवश्यकता होने पर उन्हें फूल तो क्या पत्ते भी न मिले.'[७०] प्रो. विद्यावाचस्पति के इन हृदयोद्गारों में उनका सौम्य आक्रोश व विक्षोभ छिपा हुआ है. इसी प्रकार स्वामी श्रद्धानंद जी की शहादत के समय इंद्र जी ने डॉ. अंसारी और पुलिस को एक साथ ही टेलिफोन किया था. डॉ. अंसारी पहले आये और पुलिस बाद में. इस पर प्रो. विद्यावाचस्पति ने आक्रोश व्यक्त करते हुए कहा है, 'अनहोनी हो जाने पर शान दिखाना यह हिंदुस्तानी पुलिस की विशेषता है.'[७१] जिस आत्मीयता से उन्होंने हिंदू राष्ट्रनायकों का चरित्र चित्रण किया, उसी आत्मीयता से या उससे भी कुछ अधिक आत्मीयता से हकीम अजमल खाँ, डॉ. अंसारी, मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे मुस्लिम राष्ट्रनायकों का भी चरित्र चित्रण किया है. डॉ. अंसारी उनके ही नहीं उनके पिताजी के भी १६१६ से जीवन के अंतिम समय तक विश्वसनीय डॉक्टर थे. प्रो. विद्यावाचस्पति की लंबी बीमारी के समय भी डॉ. अंसारी ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिकित्सक रहे. यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि मिस्टर आसिफ अली का चुनाव–प्रचार करते समय तो उन्होंने अपने पिताजी और पितृतुल्य लालाजी का भी विरोध सहन किया था, जिससे स्पष्ट है कि इंद्र जी का व्यक्तित्व और दृष्टिकोण पूर्णतः प्रगतिशील, राष्ट्रीय, असांप्रदायिक और मानवतावादी था. बिहार के भयंकर भूकंप के पश्चात् वे अपने सहयोगियों के साथ भूकंप पीड़ित स्थानों पर सेवा कार्य संगठित करने के लिये भी गये थे. इस प्रकार श्री विद्यावाचस्पति के संस्मरणों में उनका व्यक्तित्व भी बीच–बीच में झाँकता है, जिसके कारण उनके संस्मरण पाठक के लिए सहज ग्राह्य एवं विश्वसनीय बन गये हैं.

३.५ परिवेश वर्णनः-

परिस्थिति एवं परिवेश के चित्रण द्वारा संस्मरणों में वास्तविकता एवं संजीवता आ जाती है और पाठकों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ता है. संस्मरण में वातावरण का चित्रण इसलिए आवश्यक है, क्योंकि देश और काल की पृष्ठभूमि के बिना पात्रों एवं लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं होता. देशकाल में वास्तविकता लाने के लिए स्थानीय ज्ञान भी आवश्यक है. श्री विद्यावाचस्पति के संस्मरणों में देशकाल के सजीव चित्रण हैं. 'मैं इनका ऋणी हूँ,' तथा 'आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति' में सन् १९०६ (सूरत अधिवेशन) से १९५१ के मध्य के भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष व गणतंत्र के उदय तक का परिवेश चित्रित है. भारतीय ग्राम्य जीवन की भीषण दरिद्रता[७२] अंग्रेजों का दमन चक्र[७३], जलियाँवाला हत्याकांड,[७४] स्वतंत्रता के लिये जनता की आंतरिक तड़प आदि का वर्णन प्रो. विद्यावास्पति की संस्मरणात्मक रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ पर देखा जा सकता है. १९२७ से लेकर १९३२ तक की भारतीय जेलों का यथार्थ वर्णन[७५] भी उनके संस्मरणों में अंकित है. इसी प्रकार बिहार राज्य में सन् १९३४ में आये भूकंप का वर्णन प्रो. विद्यावाचस्पति ने सांकेतिक किन्तु प्रभावशाली ढंग से किया है. भयानक भूकंप ने बिहार का अंग–भंग कर दिया था, घायल बिहार की आह सुनकर देश के कोने–कोने से सेवक लोग पटना पहुँच रहे थे. 'कर्मयोगी राष्ट्रपति' संस्मरण में इस भूकंप की अनुगूँज और भूकप पीड़ित राहत कार्य का वर्णन है.[७६] आर्यसमाजी पिता के पुत्र होने के कारण सन् १८९६ से १९२६ तक का आर्यसमाज का परिवेश उनके संस्मरणों में विद्यमान है. गुरुकुल कांगड़ी के यशस्वी संस्थापक के सुपुत्र होने के कारण सन् १९०२ से १९१७ तक की गुरुकुलीय वातावरण की झाँकी भी उनके संस्मरणों में विद्यमान है, जिसमें 'गुरुकुल कांगड़ी के प्रारंभिक विकास से संबंद्ध लंबे समुद्र मंथन का अत्यंत रोचकता के साथ वर्णन किया गया है.'[७७] महान् पिता के पुत्र तथा देशभक्त राष्ट्रीय पत्रकार होने के कारण काँग्रेस के १९०६ से १९५१ तक की राजनैतिक गतिविधियों का परिवेश भी प्रो. विद्यावाचस्पति की संस्मरणात्मक कृतियों में विद्यमान है. १९१९ से १९३६ तक के काँग्रेस के सभी अधिवेशनों में वे सम्मिलित हुए थे.

काल वर्णन के साथ–साथ प्रो. विद्यावाचस्पति के संस्मरणों में 'देश' वर्णन की विशिष्टता भी विद्यमान है. डॉ. शांति खन्ना के अनुसार– 'कहीं–कहीं संस्मरणों में हम किसी स्थान विशेष या नगर का वर्णन देखते हैं. ऐसे संस्मरण तभी सफल हो सकते हैं, यदि लेखक ने उस स्थान या नगर को देखा हो.'[७८] श्री विद्यावाचस्पति के संस्मरणों में ऐसे अनेक स्थलों का रोचक वर्णन मिलता है. उनके 'सरदार वल्लभभाई पटेल' संस्मरण से पता चलता है कि दिल्ली के आस–पास जाटों के इलाके में मोर का शिकार नहीं हो सकता. हरियाणे के बहुत से प्रदेशों में मोर बेफिक्री से नाच सकते हैं....और मौरवी में भी मोर इसी प्रकार निर्भय होकर विचरते हैं.[७९]

श्री आसिफ अली के पूर्वज दो पीढ़ी पहले नगीने से आकर दिल्ली में बसे थे. बस इसी आधार पर श्री विद्यावाचस्पति लिखते हैं, ''उत्तर प्रदेश की संस्कृति पर दिल्ली के तमद्दुन की कलम लगी हुई थी. उनमें दिल्ली की पुरानी संस्कृति और बिल्कुल नई संस्कृति का ऐसा सुंदर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेल था कि यदि हम उन्हें दिल्ली के व्यतीत काल को वर्तमान से जोड़ने वाली सुनहली शृंखला कहें तो अनुचित न होगा. उनके लिये गालिब और तुलसी में कोई भेद न था. समय आने पर वह गालिब और तुलसी दोनों के उद्धरण देते थे."[८०] दिल्ली की एक और विशेषता का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं, "प्रतिष्ठित नामों के पीछे 'साहब' शब्द का प्रयोग दिल्ली की उस समय की संस्कृति का आवश्यक अंग था."[८१] मौलाना अबुल कलाम आजाद संस्मरण में श्री विद्यावाचस्पति ने अपरोक्ष रूप से महाराष्ट्र.को अड़ियल और हठीला कहा है, "डॉ. खरे बहुत अड़ने वाले व्यक्ति थे. एक तो महाराष्ट्र के निवासी, फिर स्वभाव से हठीले."[८२]

सन् १९२४ में हुए सांप्रदायिक दंगों का विवरण देने के बाद दिल्ली की प्रभावोत्पादिका शक्ति का वर्णन करते हुए प्रो. विद्यावाचस्पति लिखते हैं, 'दिल्ली भारत का हृदय है. कलकत्ता और बंबई आकार में बड़े हैं, उसमें ऐश्वर्य और शिक्षा की बहुतायत है. यह सब कुछ होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि दिल्ली देश की अनुभव शक्ति का केंद्र है. उसके हर्ष और शोक का असर देश पर तुरंत और व्यापी होता है. जब दिल्ली में एकता का झोंका उठा तब देश भर में सुखकारी पवन बहने लगा और जब दिल्ली में सांप्रदायिक झगडे का उत्पात मचा, तो भारत प्रकंपित हो उठा'[८३] अपने 'दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन' संस्मरण में उन्होंने महाभारत काल से लेकर अंग्रेजों के काल तक का दिल्ली के उत्थान–पतन का इतिहास बताते हुए इस नगरी की उस मिट्टी की विशेषता की ओर संकेत किया है, जो नये–नये शासकों को अपनी ओर आकृष्ट करती है.[८४] "बेरिस्टर विनायकराव विद्यालंकार' संस्मरण में अपने सहाध्यायी व हैदराबाद राज्य के कॅबिनेंट मंत्री बने श्री राव जी की सादगी और सहज अनौपचारिक स्वभाव पर प्रकाश डालते हुए श्री विद्यावाचस्पति जी ने अप्रत्यक्ष रूप से दिल्ली के अभिनव मंत्री महोदयों के परिवर्तित होते हुए परिवेश और स्वभाव का निम्न प्रकार से बड़ा ही हृदयस्पर्शी और मनोरम चित्रण किया है.

"मुझे गत आठ वर्षो में दर्जनों मंत्री महोदयों के बंगलों पर जाने का अवसर मिला होगा, दिल्ली के मंत्री गण, राज्यमंत्रियों और उपमंत्रियों के रहन–सहन और रंग–ढंग को तो दिन–रात ही देखता हूं. श्री विनायकराव के बंगले पर जाकर मैंने अन्य मंत्रियों से जो भेद पाया, उसने मेरे मन पर बहुत प्रभाव डाला. प्रायः देखा जाता है कि मंत्री अथवा उपमंत्री पदारूढ़ होते ही पहला काम यह करते हैं कि बढ़िया खद्दर के अथवा खद्दर भंडार के रेशम के कुछ सूट बनने के लिये दे देते हैं, ताकि सप्ताह दो सप्ताह में वे स्टैण्डर्ड मिनिस्टिर बन सकें. श्री विनायक राव के वेश में मैंने कोई परिवर्तन नहीं पाया. वे लगभग उसी वेश में रहते थे, जिसमें मंत्री बनने से पहले रहा करते थे. मंत्री–पद पर आरूढ़ होने के पश्चात् पहली चिंता यह होती है कि निवास स्थान पर दो–चार फालतू टेलीफोन लगायें जाये. एक टेलीफोन तो सभी के यहाँ होता है. मंत्री महोदय के यहाँ भी एक ही टेलीफोन हो, तो फिर भेद ही क्या रहा? प्रायः देखा जाता है कि मंत्रियों के दफ्तर में, शयनागार में, वेटिंग रूम, और पी.ए. के कमरे में, अलग–अलग टेलीफोन लगाये जाते हैं. कभी–कभी एक ही मेज पर दो–दो टेलीफोन भी धरे रहते हैं. सुनते हैं कि इतने टेलीफोन भी काफी नहीं समझे जाते और प्रायः अधिक मांग बनी रहती है. मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ तथा प्रसन्नता भी हुई कि हैदराबाद राज्य के वित्तमंत्री के बंगले में केवल एक ही टेलीफोन था, और उसके पास कोई पी.ए. साहब भी विराजमान नहीं थे. पूछने पर श्री विनायकराव ने कहा, "मुझे घर पर पी.ए. की कोई आवश्यकता मालूम नहीं होती, वह दफ्तर में ही बैठता है. टेलीफोन सुनने के लिये चपरासी ही काफी है. आवश्यकता होने पर वह मुझे बुला लेता है." हमारे कुछ मंत्रियों तथा उपमंत्रियों को अपने बंगले के अंदर शरीर रक्षा के लिये गन–मैनों की जरूरत होने लगी है. कभी–कभी तो बंगले पर गारद पड़ जाते हैं. श्री विनायक राव के बंगले पर मैंने कोई गन–मैन नहीं देखा. अपने जीवन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ममता तो श्री विनायकराव को भी होगी ही, परन्तु प्रतीत होता है कि उनके मन में किसी से भय की आशंका नहीं थी. वह शहर में प्रायः खुले घूमते थे. लोग कहते थे कि वह अब भी वैसे ही निःशंक भाव से सबसे मिलते हैं, जैसे मंत्री बनने से पहले मिला करते थे.''[८५]

'पंजाब भारत वर्ष का बारूद घर है'– एक अंग्रेज लेखक के इस कथन से सहमत होते हुए प्रो. विद्यावाचस्पति कहते हैं, 'पंजाब में समस्यायें पैदा होती हैं, जिन्हें भारतवर्ष सुलझाता रहता है. '[८६] पंजाब के ही मालवा और मांझा नामक अंचल के संदर्भ में उन्होंने कहा है, ''यह प्रदेश अपने शारीरिक बल और जोश के लिए प्रसिद्ध है. :पंजाब का पुराना राष्ट्रगीत' 'पगड़ी संभाल ओ जट्टा' की अंतरा का– 'माझे दे जोर नाल, मालवे दे शोर नाल, कदी नइयों हारना'– पद इन्हीं दो प्रदेशों पर अभिमान प्रकट करता था.''फिरोजपुर पंजाब के उक्त जोरदार प्रदेश का ही हिस्सा है. 'सारे भारत भर से अंग्रेजी सरकार जितने सिपाहियों की भरती करती थी, उसका लगभग आधा हिस्सा पंजाब से लिया जाता था और उसमें भी कम से कम एक चौथाई हिस्सा उस इलाके से भरती होता है, जिसका केंद्र फिरोजपुर है. फिरोजपुर का इलाका सिपाहियों (और डाकुओं) का इलाका है. वहाँ लंबे–चौड़े और सुलभ अन्न–दूध से पले हुए किसान धूम–धाम से जीना और बेफिक्री से मरना जानते हैं. गुरु गोविंद सिंह ने चिड़ियों से बाज को परास्त किया था और अंग्रेजी सरकार ने जिनके भरोसे पर दुनिया को ललकारने की हिम्मत रखी थी उन सिपाहियों को जन्म देने वाली भूमि इन्हीं इलाकों में है.''[८७] अपनी राष्ट्रीय वृत्ति के फलस्वरूप श्री विद्यावाचस्पति को फिरोजपुर की जेल में रहने का सौभाग्य मिला और इसी जेल ने उन्हें 'वस्तुतः जीवित मनुष्यों को देखने का अवसर दिया. ' वहाँ उनके इतिहास सुने और विचारों का जो अध्ययन किया वह उनके लिए 'सैकड़ों पुस्तकों से अधिक ज्ञानवर्धक अनुभव था' इस प्रकार प्रो. विद्यावाचस्पति ने गुरुकुल कांगड़ी, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, मौरवी–गुजरात, दिल्ली, फिरोजपुर–पंजाब, महाराष्ट्र आदि स्थानों की विशेषताओं का रोचकता के साथ वर्णन किया है. निष्कर्ष यह है कि श्री विद्यावाचस्पति ने संस्मरणों में अत्यंत सजगता के साथ परिवेश तथा देश–काल परिस्थिति का चित्रण किया है, जिससे उनके संस्मरण यथार्थ, सजीव एवं प्रभावशाली बन गये हैं.

३.६ विचारधारा एवं उद्देश्यः-

संस्मरणकार यद्यपि स्वान्तःसुखाय रचना करता है, तथापि वह अपने अनुभवों एवं विचारों को दूसरों तक पहुँचाकर आत्मसंतोष अनुभव करता है, पर लेखक की यह विचारधारा प्रकरणानुसार एवं संबद्ध होनी आवश्यक है. प्रो. विद्यावाचस्पति ने भी अपने संस्मरणों में अपनी मान्यताओं और रूचियों को यत्र–तत्र प्रकट किया है. 'दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन' से लेखक के इतिहास विषयक ज्ञान का परिचय मिलता है,[८८] तो 'मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव' से अंग्रेजों की आंतक और अन्यायपूर्ण प्रशासकीय नीति का यथार्थ रूप पाठकों के सामने उजागर होता है, तथा 'मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला' संस्मरण से लेखक के एलोपॅथी, आयुर्वेदिक व होम्योपैथी चिकित्सा संबंधी विचारों का पता चलता है. 'उस जीवन के सुख–दुःख' संस्मरण से लेखक के पर्वतारोहण, तैराकी व क्रिकेट विषयक ज्ञान का परिचय मिलता है.[८९] 'महापुरुष' संस्मरण में उन्होंने अंग्रेजी भाषा विषयक पाश्चात्य मानसिकता पर तीव्र प्रहार किया है. प्रकरांतर से इससे उनकी राष्ट्रभाषा विषयक आस्था का संकेत मिलता है.[९०] 'शैशव' संस्मरण में पुराने कागजों, कापियों और फाइलों को सम्भालकर रखने की लेखकीय प्रवृत्ति का परिचय मिलता है.[९१] इससे लेखक की पुरातत्वीय अभिरूचि का भी आभास मिलता है. इसी प्रकार 'पत्रकारिता के अनुभव' से लेखक के पत्रकारिता विषयक दृष्टिकोण का ज्ञान प्राप्त होता है.[९२] धार्मिक शिक्षा–दीक्षा होने के बावजूद भी लेखक की राजनीतिक जीवन में आस्था है. प्रो. विद्यावाचस्पति ने धार्मिक नेता के रूप में आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानंद में आस्था व्यक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की है तो राजनैतिक नेता के रूप में लोकमान्य तिलक में आस्था अभिव्यक्त की है. उनका धार्मिक दृष्टि से वेद मतानुयायी आर्यसमाजी होना मानवतावादी दृष्टिकोण का घातक नहीं, अपितु पूरक है;इसलिये भी वे हकीम अजमल खाँ, डॉ. अंसारी, मौलाना अबुल कलाम आजाद और मिस्टर आसफ अली के संबंध में उत्कृष्ट संस्मरण लिख पाये हैं, जिससे उन्होंने यह भी सूचित किया है कि वेद व आर्यसमाज से प्राप्त वैचारिक दृष्टि हर प्रकार की संकीर्णता से मुक्त होती है. इससे लेखक के संप्रदाय निरपेक्ष आदर्श व्यक्तित्व का परिचय मिलता है.

संक्षेप में अभिप्राय यह है कि प्रो. विद्यावाचस्पति के संस्मरणों में उनके विचारों की अनेकत्र स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है, जिससे उनके संस्मरण प्रेरणाप्रद होने के साथ–साथ स्वान्तःसुखाय भी हैं. श्री विद्यावाचस्पति के अनुसार लोक कल्याण के उद्देश्य या संदेश से हीन साहित्य महान् नहीं हो सकता.

३.७ भाषा शैली:-

प्रो. विद्यावाचस्पति जी के संस्मरणों की शैली प्रभावोत्पादक तथा सुसंगठित है, वह आत्मीयता एवं संक्षिप्तता के गुणों से युक्त है, और उनके द्वारा किया गया विविध शैलियों का प्रयोग प्रशंसनीय है. उनके संस्मरणों में मुख्य रूप से छः शैलियों का प्रयोग मिलता है.– १. निबंधात्मक, २. आत्मकथात्मक, ३. भावात्मक, ४. व्यंग्यात्मक, ५. चित्रात्मक और ६. दार्शनिक.

१. निबंधात्मक शैली- इस शैली में संस्मरण लेखक निबंधकार के पर्याप्त समीप होता है. 'हिंदी साहित्य कोश' में इस विषय में लिखा है, "संस्मरण लेखक जो स्वयं देखता है, जिसका वह स्वयं अनुभव करता है, उसीका वर्णन करता है. उसके वर्णन में उसकी अपनी अनुभूतियाँ संवेदनाएँ भी रहती हैं. इस दृष्टि से वह शैली में निबंधकार के समीप है."[६३] इस प्रकार संस्मरण लेखक की प्रमुख शैली निबंधात्मक शैली मानी जा सकती है. प्रो. विद्यावाचस्पति ने अपने संस्मरणों में इस शैली का प्रयोग किया है. वे निबंधकार की भांति किसी विषय पर अपनी विचाराभिव्यक्ति अथवा घटना एवं स्थल का वर्णन प्रायः इसी शैली में करते हैं. निबंधात्मक शैली में लिखे गए अनेक संस्मरणों में गतिशीलता एवं प्रवाह तथा हृदय को प्रभावित करने का सामर्थ्य भी है. एक उदाहरण देखिये:–

'दिल्ली भारत की ५ हजार वर्ष पुरानी राजधानी है. अर्जुन ने खांड़व वन नाम के बीहड़ जंगल को जलाकर इंद्रप्रस्थ पुरी के लिए स्थान खाली किया था और महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से चतुर शिल्पी मय ने इंद्रप्रस्थ के दुर्ग का निर्माण किया था, तब से अब तक दिल्ली के सिर पर किसी न किसी रूप में भारत का ताज रहा है. इस बीच में यहाँ कई जातियाँ बबंडर की तरह आई, और बबंडर की तरह चली गई. सैकड़ों राजवंश विजेता बनकर सिंहासनारूढ़ हुए और यहाँ मिट्टी में अपनी हड्डियों को छोड़कर नाम शेष रह गए. बहुत से शासकों ने इसे बनाया, बढ़ाया और अनेक लुटेरे विजेताओं ने भी इसे जी खोलकर लूटा. यहाँ के निवासियों का कत्लेआम किया, और अपनी समझ में इसे बिल्कुल खोखला करके घर को वापिस चले गए, परंतु न जाने इस नगरी की मिट्टी में क्या विशेषता है कि नये शासकों ने फिर इसी को अपना महल बनाकर मरघट बनाना उचित समझा."[६४]

निबंधात्मक शैली के अंतर्गत प्रो. विद्यावाचस्पति के कुछ संस्मरणों में विवरणात्मक निबंधों की शैली द्रष्टव्य है– एक उदाहरण प्रस्तुत है, "जब चार अप्रैल के दिन दोपहर बाद की नमाज के पीछे जामा मस्जिद में मुसलमानों का एक विशाल जलसा हो रहा था और उसमें मौलाना अब्दुल्ला चूड़ीवाले ने आवाज देकर कहा, 'स्वामी श्रद्धानंद जी की तकरीर होनी चाहिये, तो 'नारा–ए–तकबीर' से मस्जिद गूँज उठी. दो–तीन जोशीले नौजवान उठे और तांगे पर जाकर नये बाजार से स्वामीजी की लिवा लाये. 'अल्ला–हो–अकबर' के नारों के साथ स्वामीजी मस्जिद की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदी पर आरूढ़ हुए. शायद यह भारत के ही नहीं, इस्लाम के इतिहास में पहला अवसर था कि एक मुसलमानेतर व्यक्ति ने जुम्मा मस्जिद की वेदी पर वे वाज किया. स्वामीजी ने ऋग्वेद के एक मंत्र से अपना व्याख्यान आरंभ किया और 'ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः' के साथ समाप्त किया. '[६५] हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति के अधिकांश संस्मरण निबंधात्मक शैली में ही लिखे गये हैं. कई संस्मरणों में इस शैली की इतनी अधिकता है कि वे संस्मरण की अपेक्षा संस्मरणात्मक निबंध अधिक प्रतीत होने लगते हैं. जैसे 'आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति' संग्रह के 'काँग्रेस में गांधी युग', 'गांधी युग के वक्ता', 'त्रिमूर्ति', 'द्विमूर्ति', 'गणतन्त्र में' आदि संस्मरणों में इस निबंधात्मक शैली का सुंदर प्रयोग मिलता है.

२. आत्मकथात्मक शैली- इस शैली के संस्मरण उत्तम पुरुष के रूप में लिखे जाते हैं. आत्म–संस्मरणों में इस शैली का प्रयोग होता है. संस्मरणों में भी इस शैली का प्रयोग सहज संभव है. बचपन से ही सहयात्री बनी अपनी विविध व्याधियों के विषय में प्रो. विद्यावाचस्पति 'आत्मकथात्मक' शैली में लिखेते हैं, ''वस्तुतः मैं खांसी का आजन्म रोगी हूँ. जब से मैंने होश संभाला, तभी से मैं खाँसी का मरीज समझा जाता हूँ, दो साल की आयु में बायें फेफड़े का निमोनिया, ४ साल की आयु में डबल निमोनिया, १६ साल की आयु में बायें पार्श्व की प्लुरसी और ३४ वर्ष की आयु में ब्रांको निमोनिया–इन सब आक्रमणों ने मेरे फेफड़ों को सामान्य रूप से और बायें फेफड़े को विशेष रूप से बहुत निर्बल और छलनी–सा कर दिया था.''[६६] जीवन की झांकियाँ' के तीनों खंड क्रमशः 'दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन', 'मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला', तथा 'मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव' नामक संस्मरण प्रमुखतया आत्मकथात्मक शैली में लिखित कृतियाँ हैं.

३. भावात्मक शैली- प्रो. विद्यावाचस्पति के कई संस्मरणों में पात्रों का चरित्रांकन भावुकतापूर्ण हुआ है. नेताजी सुभाषचन्द्र बोस संस्मरण में उनकी मृत्यु पर लिखित प्रो. विद्यावाचस्पति के ये उद्‌गार उनकी भावात्मक शैली का एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है. एक दिन प्रातः काल समाचार पत्रों में पढ़ा कि नेताजी सुभाषचन्द्र बोस जापान जाते हुए हवाई जहाज की दुर्घटना में समाप्त हो गए. भारतवासी उस समाचार को पढ़कर स्तब्ध रह गए, मेरे लिए तो उनकी स्मृति उस चित्र के रूप में विद्यमान है जिस पर उनके हस्ताक्षर हैं. मैं उसे देखता हूँ और कहता हूँ ''बहुत गौर से सुन रहा था जमाना, तुम्हीं सो गए दास्तां कहते कहते''[६७]

४. व्यंग्यात्मक शैली- प्रो. विद्यावाचस्पति के व्यंग्य अत्यंत चुटीले होते हैं. वे थोड़े से शब्दों में गहरी चोट करने में सिद्धहस्त हैं. उनकी इस व्यंग्यात्मक शैली ने उनके संस्मरणों में एक अनूठी मिठास भर दी है इस शैली के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं– बाबू राजेंद्रप्रसाद की सादगी का वर्णन करते हुए अंगूठा काटकर शहीद होने वाले अन्यों की प्रवृत्ति पर श्री विद्यावाचस्पति ने मार्मिक व्यंग्य किया है, ''वह (राजेंद्र बाबू) छोटे से छोटा काम, छोटे से छोटे तरीके पर करने को उद्यत हो जाते हैं. कई लोग छोटा काम तो कर लेंगे, परंतु धूमधाम से, यदि सादे कपड़े पहनेंगे, तो एक वक्तव्य देकर, यदि कुदाल से जमीन खोदेंगे, तो 'एसोसिएटेड प्रेस' को सूचना देकर, यदि गांव में काम करने जायेंगे, तो रिपोर्टरों को साथ लेकर.'' तथाकथित नेताओं की ढोल की पोल खोलते हुए वे कहते हैं, 'नेता तो कौड़ियों हैं, परंतु उनमें अधिकांश ऐसे हैं, जिन्हें हम अनुयायी विहीन नेता कह सकते हैं. ऐसे नेताओं में से कई अखबारों की कृति हैं, अखबारों की कृपा से ही वे प्रसिद्ध हो गये हैं. अधिकांश ऐसे भी हैं जो महात्मा (गांधी) जी की कृति हैं. वे केवल महात्मा जी की इच्छा से ही बने या बिगड़े हैं. डॉ. राजेंद्रप्रसाद से मुलाकात का वर्णन करते हुए नगर में फैली पाश्चात्य मानसिकता पर उन्होंने पैना व्यंग्य किया है, ''डॉ. राजेंद्रप्रसाद से मिलने का समय निश्चित किया,...मुख्यद्वार पर जो पाटी (साइन बोर्ड) लगी हुई थी उसमें केवल हिंदी और उर्दू में 'राजेंद्रप्रसाद' इतना लिखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ था. जिस नई दिल्ली की सड़कों पर साधारण टुटपूंजिये कोठीवाले के दरवाजे पर भी अंग्रेजी की पाटियाँ दिखाई देती हैं, उसमें एक उच्च अधिकारी के द्वार पर अंग्रेजी का बहिष्कार देकर चित्त प्रसन्न हो उठा.''[९८] 'थोथा चना बाजे घना' या 'अधजल गगरी छलकत जाय' की प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए वे लिखते हैं,...'भारतवर्ष में रोगी का हाल–चाल पूछने के समय प्रत्येक व्यक्ति के अंदर उतनी देर के लिये धन्वंतरि की आत्मा प्रवेश कर लेती है.'[९९] एक ही शब्द या वाक्य में व्यंग्य किस प्रकार कूट–कूट भरा जा सकता है यह तो प्रो. विद्यावाचस्पति से ही सीखा जा सकता है. पं. जवाहरलाल नेहरू को वे पट्टशिष्य न कहकर पटुशिष्य कहते हैं.[१००] ध्यान रहे कि सरदार पटेल महात्मा गांधी के पट्टशिष्य थे और उनकी तुलना में नेहरू को पटुशिष्य कहा गया है. प्रशासकीय विभाग में विशेषकर पुलिस विभाग में उत्कोच पाकर या खा–पीकर संतुष्ट होने की परंपरा बहुत पुरानी है. पुलिस की इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए प्रो. विद्यावाचस्पति लिखते हैं, 'घर वालों ने हमारे साथ फल, मिठाई, सोहन हलुवा आदि जो कुछ भी रक्खाथा, वह सब हमने पुलिस देवता को अर्पण कर दिया....इससे देवता प्रसन्न हो गये और कम से कम मुँह से कड़वी बात कहना बंद कर दिया.'[१०१] इस प्रकार प्रो. विद्यावाचस्पति ने व्यंग्यात्मक शैली का सुंदर प्रयोग किया है और चुभते हुए व्यंग्यों के छींटे उनके संस्मरणों में सर्वत्र विकीर्ण हैं.

५. चित्रात्मक शैली- संस्मरणनायकों का चरित्रांकन करते समय श्री विद्यावाचस्पति ने चित्रात्मक शैली का सुंदर प्रयोग किया है. अपने नायकों के व्यक्तित्व का रेखांकन उन्होंने चित्रों जैसा किया है. स्थान–स्थान पर प्रो. विद्यावाचस्पति का शब्द–शिल्प एवं भाषा की चित्रोपमता दर्शनीय है. लोकमान्य तिलक का एक शब्द–चित्र देखिए, 'मैंने लोकमान्य को कई दशाओं में देखा– हँसते हुए भी देखा, मराठी शैली में व्यंग्यपूर्ण उपहास करते हुए भी देखा और महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों की तरह केवल धोती पहनकर भोजन करते भी देखा.'[१०२] मिस्टर आसिफ अली के विषय में प्रो. विद्यावाचस्पति लिखते हैं, 'सिर पर लखनवीं ढंग की दुपल्ली टोपी, सुंदर सफेद अचकन और तंग पायजामा, पैरों में तिलई जूता, बोली में अजीब नज़ाकत और नफ़ासत.' प्रो. विद्यावाचस्पति ने डॉ. अंसारी के 'चेहरे पर अनवरपाशा की शान' को बरसते हुए देखा है और 'मार्शल स्टालिन की मूछों के समान सरदार पटेल की मूछों को उनके होठों में अंतर्हित भावों को छिपाने और चेहरे को कठोर रूप देने में सहयोगिनी' दर्शाया है.

प्रो. विद्यावाचस्पति द्वारा किया गया मुलतान सेंट्रल जेल के जेलर फजलुद्दीन का शब्द चित्र भी दर्शनीय है ''मेजर फजलुद्दीन का सभी कुछ चर्चा के योग्य था, मध्यम कद था, रंग ऐसा काला था कि तवे से उपमा देने में अत्युक्ति का दोष नहीं आ सकता था. शरीर खूब गठा हुआ था. चलते हुये गरदन या कमर में जरा सी भी लचक नहीं आती थी. जिस समय वह जेल के दौरे को आते थे, तब कोट पैन्ट और हैट पहने, बायाँ हाथ पैंट की जेब में, हायें हाथ में पुलिस वालों की रेव्यूलेशन स्टिक लिए गर्दन बिल्कुल अकड़ी हुई और चेहरा मुट्ठी की तरह बंधा हुआ होता था. इस हुलिये को देखकर यही कहने को जी चाहता था कि यह मनुष्य नहीं अपितु लोहे के कल पुर्जो का आदमी है जो चाबी के बल पर घूम रहा है.'[१०३] इस प्रकार व्यक्ति चित्रों के रूप में प्रो. विद्यावाचस्पति की चित्रात्मक शैली के अनेक उदाहरण उनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं.

६. दार्शनिक शैली:- प्रो. विद्यावाचस्पति प्रकांड विद्वान् एवं अद्भुत प्रतिभा संपन्न चिंतक और विचारक थे. अतः उनके समस्त साहित्य की तरह संस्मरणात्मक रचनाओं में भी दार्शनिक का सा गांभीर्य प्राप्त है. विषय गांभीर्य की अतिशयता प्रायः संस्मरणों की रोचकता को नष्ट कर देती है, पर कहीं–कहीं इस शैली का प्रयोग इसकी चारुता को बढ़ा देता है. प्रो. विद्यावाचस्पति के संस्मरणों में से इस शैली का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है, 'यदि आप किसी इलाके की मानवी विशेषताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को परखना चाहें, तो उसके केंद्र में बने हुए जेल का अध्ययन कीजिये. वहाँ आपको मनुष्य प्रकृति का काला रूप अपने अकृत्रिम ढंग पर दिखायी देगा'. प्रो. विद्यावाचस्पति के अनुसार जेल मनुष्य की 'परीक्षण शाला ' है, वे 'जेल के सहवास को मनुष्य के आदर–सत्कार की कसौटी' भी कहते हैं.[१०४]

३.८ मूल्यांकनः-

प्रो. विद्यावाचस्पति के संस्मरणात्मक गद्य की अनेक विशेषताओं के विवेचन के अनंतर उनकी सीमाओं का उल्लेख भी आवश्यक है. संस्मरणों में उन्होंने अपनी विचारधारा को कहीं पर भी आरोपित करने का प्रयत्न नहीं किया है. इसी कारण उनके संस्मरण बोझिलता के दोष से पूर्णतया मुक्त हैं, पर उनकी 'पत्रकारिता के अनुभव' नामक संस्मरण पुस्तक तथ्यात्मक अधिक है और भावात्मक कम.[१०५] प्रस्तुत पुस्तक में संगृहीत 'समाचार–पत्र का प्रारंभ काल', 'समाचार पत्र के उपयोग', 'समाचार-–पत्रों की शक्ति', 'भारत में पत्रकारिता–क्या मिशन से व्यवसाय बनेगी?' ये ६ वे परिच्छेद से १२वें परिच्छेद के प्रकरण तो पत्रकारिता से संबंधित विशुद्ध निबंध हैं. उनमें संस्मरण–कला का लव–लेश भी नहीं है. 'मेरे पिता' स्वतंत्र संस्मरणात्मक जीवनी संरचना है फिर भी उसका २२ पृष्ठों में सार–संक्षेप 'मैं इनका ऋणी हूँ' में दिया गया है. 'हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति' के प्रारंभ में संस्मरणकार के मित्र श्री बालकृष्ण द्वारा लिखित राष्ट्रपति राजेंद्रप्रसाद की ११ पृष्ठीय संक्षिप्त जीवनी भी दी गई है, जो संभव है आजादी के उषःकाल में आवश्यक रही भी हो, पर अब अनावश्यक ही प्रतीत होती है. एक विधा की रचना में दूसरी विधा की रचना को स्थान देना अटपटा व संस्मरण की सरलता के लिये घातक सा प्रतीत होता है. 'आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति' संस्मरणात्मक रचना के प्रारंभ में दी गई प्रस्तावना संस्मरण की दृष्टि से न सही, पर वक्तृत्व कला की दृष्टि से अत्यंत ही उपयोगी व आवश्यक है, पर इस रचना के 'काँग्रेस में गांधी युग', 'गांधी युग के वक्ता', 'द्विमूर्ति', 'गणतंत्र में' आदि संस्मरण, संस्मरणात्मक निबंध बन गए हैं, इनमें कहीं–कहीं निबंध तत्व प्रधान और संस्मरण तत्व गौण हो गया है. इन सीमाओं के होते हुए भी श्री विद्यावाचस्पति की गणना हिंदी के प्रमुख संस्मरणकारों में होती है. उनके संस्मरण यथार्थ जीवन से संबद्ध हैं. उनमें घटनाओं के नाटकीय विकास द्वारा रोचकता का संचार हुआ है. इनमें वर्णित सभी वृत्त मनोहारी हैं. विद्यावाचस्पतिजी के संस्मरण वैविध्यपूर्ण हैं. प्रमुख रूप में उनमें अपने समय के राष्ट्रीय गणमान्य नेताओं की राष्ट्रीय सेवाओं का मर्मस्पर्शी उल्लेख है, तो कहीं–कहीं धर्म, संस्कृति, इतिहास, शिक्षा, साहित्य, चिकित्सा, स्वास्थ्य, पत्रकारिता एवं कारावास के क्षेत्र में संपर्क में आये स्मरणीय व्यक्तियों के, राष्ट्र के लिए उपयोगी विशेषताओं का, गुणगान किया है और कहीं–कहीं समाज की उपेक्षित प्रतिभाओं को प्रकाश में लाने का काम भी किया है. कहीं 'अर्जुन' प्रेस के मशीनमैन–उस्ताद काशीराम[१०६] जैसे जन–सेवकों का और कहीं 'रोजी'[१०७] (कुत्ते) जैसे मूक पशुओं को आलोक में लाने का स्तुत्य प्रयास किया है. उनके ये संस्मरण इतने मार्मिक और हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं कि पाठक की आँखें अश्रुसिक्त हो जाती हैं. प्रो. विद्यावाचस्पति के संस्मरणों में पाठक की भावना को उद्वेलित एवं चेतना को उद्बुद्ध करने की अद्भुत क्षमता है. श्री विद्यावाचस्पति ने इन संस्मरणों द्वारा समसामयिक इतिहास का भी यथार्थ चित्रण किया है. कला रूप की दृष्टि से विद्यावाचस्पतिजी के संस्मरण, रेखाचित्र, कहानी और निबंध का अद्भुत समन्वय हैं, इनमें कहानी की मनोरंजकता, निबंध की सुसंगठितता, रेखाचित्र का सूक्ष्म विवरण और शब्द विधान तथा संस्मरण का संवेदन विद्यमान है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ

१. साहित्य शास्त्र–३७
२. हिन्दी गद्यः विधायें और विकास–११२
३. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त–५०४
४. आलोचनाः दिसम्बर १९६६–७६
५. अतीत के चलचित्र–८
६. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–५१
७. तत्रैव–३६
८. तत्रैव–३७
९. तत्रैव–४६
१०. तत्रैव–५०
११. तत्रैव–५७
१२. तत्रैव–६०
१३. तत्रैव–६४
१४. पत्रकारिता के अनुभव–१७–१८
१५. तत्रैव–३४
१६. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–४–५
१७. तत्रैव–४१
१८. तत्रैव–२८
१९. तत्रैव–५२
२०. तत्रैव–२९
२१. मैं इनका ऋणी हूँ–१११
२२. पत्रकारिता के अनुभव–१८
२३. तत्रैव–३४–३५
२४. मैं इनका ऋणी हूँ–२५–२६
२५. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–१५–१६
२६. मेरे पिता–१६५
२७. तत्रैव–१८८
२८. तत्रैव–२६७
२९. तत्रैव–१७२
३०. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–४७
३१. तत्रैव–५५
३२. तत्रैव–७३
३३. हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति–३८
३४. मैं इनका ऋणी हूँ–प्राक्कथन–१
३५. मेरे पिता–१७१
३६. मैं इनका ऋणी हूँ–५२–५३
३७. तत्रैव–प्राक्कथन–१
३८. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–८
३९. तत्रैव–११
४०. तत्रैव–१५
४१. मैं इनका ऋणी हूँ–४२
४२. तत्रैव–४४
४३. तत्रैव–४६
४४. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–२६
४५. तत्रैव–४८
४६. तत्रैव–५५
४७. मैं इनका ऋणी हूँ–३४
४८. तत्रैव–३०
४९. तत्रैव–७०–७५
५०. तत्रैव–१२१
५१. तत्रैव–११६
५२. मेरे पिता–५५
५३. तत्रैव–१२६
५४. तत्रैव–११२
५५. तत्रैव–१४३
५६. तत्रैव–१५३
५७. तत्रैव–१७३
५८. तत्रैव–१७८–७९
५९. तत्रैव–२५०
६०. तत्रैव–१८१
६१. तत्रैव–२६५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६२. मैं इनका ऋणी हूँ–६१
६३. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–६
६४. मैं इनका ऋणी हूँ–११७
६५. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–७२
६६. मैं इनका ऋणी हूँ–५८
६७. तत्रैव–५६
६८. मेरे पिता–१२८
६९. मैं इनका ऋणी हूँ–३५
७०. मेरे पिता–६
७१. तत्रैव–११७
७२. मैं इनका ऋणी हूँ–८१
७३. मेरे पिता–८६
७४. तत्रैव–६०
७५. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–७३
७६. हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति–४१–४२
७७. हिंदी गद्य साहित्य–१६७
७८. आधुनिक हिंदी का जीवनी परक साहित्य–२७१
७९. मैं इनका ऋणी हूँ–८१
८०. तत्रैव–१०६–१०७
८१. तत्रैव–१०१
८२. तत्रैव–६२
८३. मेरे पिता–२६०
८४. दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन–७
८५. विनायकराव अभिनंदन ग्रंथ–३२
८६. दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन–३०
८७. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव– ३१–३२
८८. दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन–७–१५
८९. मेरे पिता–७९–८२
९०. हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति–२६
९१. पत्रकारिता के अनुभव–२
९२. तत्रैव– २८, ६५, ७५, ७८, ८५, ९४, १०२
९३. हिंदी साहित्य कोश–८०३
९४. दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन–७
९५. तत्रैव–२२
९६. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–४१–४२
९७. मैं इनका ऋणी हूँ–१००
९८. हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति–२२, २०, २६
९९. मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला–१६
१००. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–६८
१०१. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–२६
१०२. मैं इनका ऋणी हूँ–११
१०३. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–६१–६२
१०४. तत्रैव–३२, ६०
१०५. हिंदी गद्य साहित्य–१६८–१६६
१०६. पत्रकारिता के अनुभव–४२
१०७. धर्मयुगः १० अगस्त–१६५८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४

विद्यावाचस्पति जी का जीवनी साहित्य

४.१ जीवनीः स्वरूप, विवेचनः-

जीवनी के पर्यायवाची के रूप में 'जीवन चरित' और 'जीवन–चरित्र' नाम भी प्रचलित है. कतिपय व्यक्ति 'जीवनी' ओर 'जीवन–चरित्र' में यह अंतर करते हैं कि जीवनी में तथ्यों पर और जीवन–चरित्र में चरित्र विश्लेषण पर अधिक बल दिया जाता है. जीवनी को अनेक विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है. डॉ. गुलाबराय के शब्दों में ''जीवनी एक मनुष्य के अंतर और बाह्यस्वरूप का कलात्मक निरूपण है.''[१] इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार 'जीवनी एक वर्णनात्मक रचना है जो सफलतापूर्वक कलात्मक शैली में एक व्यक्ति के कार्यों का प्रामाणिक विवरण देती है और उसके व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण करती है.[२] न्यू इनसाइक्लोपीडिया अमेरिकना में जीवनी का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए प्रतिपादित किया है कि– 'व्यक्ति के जीवन का इतिहास तथा उसके जीवन की घटनाओं का इतिहास एवं उसके मत, धारणा और समय की व्याख्या जीवनी है.'[३] 'हिन्दी साहित्य कोश' में व्यक्ति विशेष के जीवन वृत्तान्त को जीवनी[४] कहा गया है. एडगर जानसन का मत है 'जीवनी में तथ्यों को साहित्यिक रूप में अंकित किया जाता है.'[५] प्रारंभ में व्यक्ति विशेष का प्रशंसात्मक दृष्टिकोण से वर्णन करना ही जीवनी कहलाता था, परंतु संप्रति चरित्रकार के लिये यह आवश्यक हो गया है कि वह व्यक्ति के गुणदोषों का समभाव से चित्रण करे, यदि जीवनी में आदर्श ही आदर्श दिखलायेंगे तो एक ओर ऐतिहासिकता खण्डित होने का भय होता है और दूसरी ओर पाठकों का साधारणीकरण भी नहीं हो पाता. अतः 'जीवनीकार का दृष्टिकोण सर्वथा तटस्थ होना बहुत जरूरी है'[६] यदि चरित्र लेखक व्यक्तिगत राग द्वेष को प्रधान मानकर किसी व्यक्ति का चरित्रांकन करेगा तो वह अपने चरित्र नायक के साथ न्याय नहीं कर पायेगा.

जीवनी मूलतः इतिहास की एक शैली होते हुए भी इतिहास न होकर साहित्यिक विधा है. जीवनी में मनुष्य को व्यक्तिगत रूप में चित्रित किया जाता है जब कि इतिहास में मनुष्य का चित्रण सामूहिक रूप में किया जाता है. जीवनी में जहाँ इतिहासकार का सत्य है वहाँ उपन्यासकार का सर्जनात्मक दृष्टिकोण भी. जीवन चरित्र में घटनाओं को ऐतिहासिक सत्य के आधार पर निरखना–परखना भी अत्यावश्यक होता है. यह सब होते हुए भी जीवनी में घटनाओं के संयोजन के लिए कल्पना का आश्रय लिया जा सकता है, किन्तु इतिहास में इसके लिए कोई स्थान नहीं.

जीवनी और आत्मकथा में पर्याप्त अंतर है. आत्मकथा में लेखक स्वयं अपनी कथा कहता है. जब कि जीवन चरित्र में 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है' वाली बात होती है. जीवनी का लेखक किसी अन्य की कथा को अपने वर्ण्य विषय के रूप में ग्रहण करता है. जीवनी और आत्म–कथा की तरह जीवनी और संस्मरण भी दो भिन्न विधायें हैं. जीवनी में लेखक की दृष्टि अधिक वस्तुपरक होती है, जब कि संस्मरण में वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रधानता होती है. संक्षेप में जीवनी, इतिहास, आत्मकथा, संस्मरण आदि के निकट होते हुए भी अपने आप में एक स्वतंत्र साहित्यिक विधा है. जिसमें मनुष्य विशेष के अन्तःबाह्य जीवन का कलात्मक चित्रण होता है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४.२ जीवनी के तत्त्वः-

जीवन चरित्र में जीवनी के इन पांच तत्त्वों का होना अत्यावश्यक है. १) वर्ण्य विषय २) चरित्र चित्रण ३) वातावरण–सृष्टि ४) उद्देश्य ५) भाषा शैली. प्रामाणिक विश्वसनीय घटनाओं के आधार पर चरित्रनायक के संश्लेषण–विश्लेषण से जीवनी के वर्ण्य विषय का निर्माण होता है. वर्ण्य विषय में वास्तविकता, ऐतिहासिकता, तटस्थता, वैज्ञानिकता, रोचकता, संबद्धता एवं संक्षिप्तता का होना अत्यावश्यक है. चरित्र–चित्रण में मुख्य पात्र के अंतर्बाह्य स्वरूप का विश्लेषण और गुण–दोष का सहृदयतापूर्ण वर्णन होता है. वातावरण सृष्टि का तत्त्व चरित्र नायक के जीवन को उभारने के उद्देश्य से जीवनी में आवश्यक है पर यह तत्त्व चरित्र में गौण रुप में ही होता है. जीवनी का उद्देश्य अपने चरित्रनायक को अमरत्व प्रदान करना एवं पाठकों को उसके जीवनालोक से प्रेरणा प्रदान करना है. जीवन–चरित्र की शैली में सुसंगठितता एवं एकान्विती तथा उसकी भाषा में सुबोधता–सजीवता के अतिरिक्त साहित्यिक माधुर्य का भी होना अत्यावश्यक है. इन्हीं तत्त्वों से युक्त जीवनी साहित्यिक विधा का रूप ग्रहण कर सकती है, अन्यथा वह ऐतिहासिक विवरण मात्र हो जायेगी. जीवनी में चरित्रनायक के साथ ही उसकी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक स्थिति का असली चित्र भी अनायास दिखलायी देता है.

४.३ विद्यावाचस्पति जी का जीवनी साहित्यः-

श्री विद्यावाचस्पति के सर्जनात्मक वाङ्.मय में जीवनी साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है. हिन्दी में जीवनी विधा के प्रमुख उन्नायकों में उनकी गणना की जा सकती है. 'सफल जीवन–चरित्र लेखन उतना ही कठिन है, जितना कि सफल जीवन को अपने जीवन में निबाह ले जाना'[७] के अनुसार जीवनी लिखना एक अत्यंत उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है. श्री विद्यावाचस्पति ने पूर्ण निष्ठा से इस उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है. उनका जीवनी साहित्य इस प्रकार है– १) नैपोलियन बोनापार्ट (सन् १६१२), २) प्रिंस बिस्मार्क (सन् १६१४), ३) महावीर गेरीवाल्डी (सन् १६१६), ४) महर्षि दयानंद (सन् १६२७), ५) लाला लाजपतराय (सन् १६३०), ६) शहीद जतीन्द्रनाथदास का जीवन–चरित्र (सन् १६३१), ७) सम्राट रघु (सन् १६४४), ८) पं. जवाहरलाल नेहरू (सन् १६४५), ६) जीवन ज्योति (सन् १६५६), १०) मेरे पिता (सन् १६५७), ११) लोकमान्य तिलक और उनका युग (सन् १६६३). इस सूची से स्पष्ट है कि विद्यावाचस्पति का जीवनी वाङ्.मय परिमाण में प्रचुर है. साथ ही विविध क्षेत्रों से संबंधित महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के जीवन चरित और चरित्र लेख होने के कारण उसमें विषयगत वैविध्य भी विद्यमान है. उनका जीवनी वाङ्.मय पर्याप्त समृद्ध है. यहाँ अग्रिम पंक्तियों में उनकी साहित्यगत विशिष्टताओं का मूल्यांकन प्रस्तुत है.

४.४ वर्ण्य विषयः-

जीवनी के वर्ण्य विषय में चरित्रनायक के जीवन की विविध घटनायें रहती हैं. जीवनीकार उनका अन्वेषण एवं संचयन कर उन्हें एकसूत्रता में बांध जीवनी का रूप प्रदान करता है. विद्यावाचस्पति के जीवनी वाङ्.मय के वर्ण्य विषय में, सर्वप्रथम विशेषता के रूप में वर्ण्य विषय के वैविध्य को लिया जा सकता है. उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन चरित लिखे हैं. वर्ण्य विषय के आधार पर उस जीवनी वाङ्.मय को पांच वर्गों में बांटा जा सकता है– १– विदेशी स्वाधीनता प्रेमियों कीजीवनियाँ, २– स्वदेशी–क्रान्तिकारी–देशभक्तों की जीवनियाँ, ३– धार्मिक महापुरुषों की जीवनियाँ, ४– राजनैतिक महापुरुषों की जीवनियाँ, ५– संकीर्ण–चरित लेख.

'नैपोलियन बोनापार्ट', 'प्रिंस बिस्मार्क', 'महावीर गेरीवाल्डी' क्रमशः फ्रान्स, जर्मनी व इटली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के स्वाधीनता योद्धाओं की जीवनियाँ हैं. 'अमर शहीद जतीन्द्रनाथदास' राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के सेनानी हैं, जिन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए, क्रान्तिकारी जीवन का मार्ग अपना कर सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था. धार्मिक महापुरुषों से संबंधित जीवनियों में महर्षि दयानंद जीवनीकार के धार्मिक गुरु हैं, और स्वामी श्रद्धानंद तो उनके पिताजी के साथ–साथ आचार्य भी हैं. राजनैतिक महापुरुषों से संबंधित जीवनियों में सम्राट् रघु, लाला लाजपतराय, पं. जवाहरलाल नेहरू तथा लोकमान्य तिलक की जीवनियाँ प्रस्तुत की हैं. संकीर्ण चरित्र लेखों में पुरुषोत्तम राम, योगेश्वर कृष्ण, महात्मा बुद्ध, श्री गुरू नानकदेव, झाँसी की रानी, उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द, कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डॉ. शान्तिस्वरूप भटनागर, आचार्य चन्द्रशेखर वेंकटरमन, डॉ. राजेंद्रप्रसाद व पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा आदि पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, साहित्यिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्र से संबंधित जीवन वृत्त हैं. इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित नायकों की जीवनियाँ या जीवन वृत्त लिखने के क़ारण पं. विद्यावाचस्पति के वर्ण्य विषय में विविधता का समावेश हुआ है. जीवनी वाङ्मय के वर्ण्य विषय में विविधता श्री विद्यावाचस्पति के अपने जीवन एवं व्यक्तित्व की विविधोन्मुखता की ओर निर्देश करती है. क्योंकि आन्द्रे मॉरवा के कथनानुसार जीवनी, लेखक के लिए आत्म प्रकाशन का साधन है. 'जीवनीकार स्वयं अपने भावों तथा अनुभवों को चरित नायक के जीवन को माध्यम बनाकर प्रस्तुत करता है.'[८] पं. विद्यावाचस्पति राजनीतिज्ञ, इतिहासज्ञ, स्वाधीनता सेनानी, देशभक्त, आर्यसमाजी व वैदिक धर्म के अनुयायी थे. इसलिये इन विविध क्षेत्रों से चरितनायकों का चयन करना उनके लिए सहज–स्वाभाविक था.

जीवनी का वर्ण्य विषय प्रामाणिक एवं यथार्थ घटनाओं पर आधारित होना चाहिये. इतिहास और जीवनी में अन्तर होने पर भी जीवनी में इतिहास तत्त्व का निषेध नहीं होता, प्रत्युत् जीवनी लेखक भी इतिहास लेखक की भांति तथ्यों एवं तिथियों के अन्वेषण एवं उनके सक्रिय क्रमिक निर्देशन के प्रति सजग रहता है. जीवनी लेखक कल्पनाशील बन सकता है, पर उसकी सामग्री कल्पित नहीं होनी चाहिये, उसे बीती हुई घटनाओं पर गर्व करना चाहिये.[९] आन्द्रे मॉरवा का मत है, जीवनी विषयक प्रामाणिक तथ्यों के संचय के लिए तद्विषयक रचनाओं, मौलिक पत्रों एवं डायरियों के रूप में लिखित ज्ञात प्रमाणों का अध्ययन आवश्यक है.[१०] टी. शिप्ले जीवन चरित लिखने के लिए चरित्र नायक द्वारा लिखित दस्तावेजों को महत्वपूर्ण उपादान स्वीकार करते हैं.[११] अतःएव बोस्वाल ने स्वीकार किया है 'जीवनी लेखन साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा श्रमसाध्य है.[१२] क्योंकि जीवनी लेखक अपने कार्य का आरंभ लिखित एवं मुद्रित पत्रों के समूह एवं ज्ञात प्रमाणों के ढूढँने तथा अनुसंधान की छानबीन से करता है.

पं. विद्यावाचस्पति ने अपने जीवनी नायकों के जीवन–वृत्त की प्रामाणिकता का पूरा ध्यान रखने का प्रयास किया है. जीवन–वृत्त के संचय के लिए उन्होंने चरितनायक से साक्षात् संपर्क के साथ–साथ अन्य सभी उपादानों का भी समुचित उपयोग किया है. 'पं. जवाहरलाल नेहरू' के वृत्तसंचय के संबंध में विद्यावाचस्पति का कथन है– 'मेरे सौभाग्य से मुझे उनके जीवन चरित्र लिखने की ऐसी उत्तम सामग्री प्राप्त हो गई जिसके बिना यह प्रयास कभी सफल न होता.'[१३] यह सामग्री थी पं. जवाहरलालजी लिखित अंग्रेजी आत्मचरित्र की मूल कापी, जिसके बिना पं. नेहरू की जीवनी पूरा करना विद्यावाचस्पति के लिए अत्यन्त ही कठिन होता. महर्षि दयानंद विषयक जीवन सामग्री भी उन्हें स्वामी दयानंद के प्रत्यक्षदर्शी, अनुयायी, आर्यसमाज के यशस्वी नेता व अपने पिताश्री व आचार्य श्रद्धानंद तथा श्री मामराज आदि अनुसंधित्सुओं से प्राप्त हुई थी.[१४] केवल सुनी–सुनायी बातों के आधार पर जीवनी लिखने में विद्यावाचस्पति का विश्वास नहीं है. 'नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते'[१५] में उनका पूर्ण विश्वास था.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी दयानन्द लेखक के धार्मिक गुरु थे. अपने धार्मिक गुरु के व्यक्तित्व विकास की कथा को उन्होंने १८ परिच्छेदों में अंकित किया है. उनके जीवन की अनेक छोटी–बड़ी घटनायें अत्यंत मर्मस्पर्शी बन पड़ी हैं. स्वामीजी का जीवन सत्यप्रियता, निर्भीकता, संघर्ष–शीलता त्याग एवं बलिदान की घटनाओं से ओतप्रोत है. एक शैव कुलोत्पन्न जिज्ञासु विभिन्न पौराणिक मत–मतान्तरों का संशोधन करते हुए सहृदयता के साथ ईसाइयत और इस्लाम मत का भी खण्डन–संशोधन करता है, और अंत में पूर्ण मानवतावादी बन जाता है. पं. विद्यावाचस्पति ने बड़े मनोयोग से स्वामीजी के जीवन की छोटी–बड़ी घटनाओं को सुसंबद्ध एवं श्रृंखलाबद्ध रूप में चित्रित किया है. एक घटना दूसरी घटना को जन्म देती है और उसी के साथ कार्य–कारण की श्रृंखला आगे बढ़ जाती है. इसी प्रकार नैपोलियन बोनापार्ट, प्रिंस बिस्मार्क, महावीर गेरीवाल्डी, शहीद जतीनदास में घटनाओं का सांगोपांग एवं कालक्रमानुसार सुसंबद्ध वर्णन है.

विदेशी–देशी स्वाधीनता प्रेमियों की गौरव–गाथा लिखकर लेखक ने भारतवासियों में स्वाधीनता की चाह जगाने का प्रयास किया है. स्वाधीनता के पिपासुओं के लिए उनकी ये जीवनियाँ दीपस्तंभ हैं. स्वयं लेखक के शब्दों में– 'जो लोग समझते हैं कि भू माता वीरों से बांझ हो गयी है, वे गैरीवाल्डी के जीवन को पढ़ें. यदि वे स्वाधीनता के प्यासे हैं, तो उन्हें आशा का जल मिलेगा, और यदि वे दूसरों की स्वाधीनता का कलेवा किये बैठे हैं, तो उन्हें एक उपदेश और सावधान होने का इशारा मिलेगा.'[१६] 'शहीद जतीनदास' तो भारतीय स्वाधीनता के लिए आत्माहुति देने वाले शहीद को लेखक की भावभीनी श्रद्धाजंलि हैं.

१६ अध्यायों और दो परिशिष्टों में संपन्न पं. जवाहरलाल नेहरू की जीवनी भारत के प्रधानमंत्री की जीवनी नहीं, अपितु १९४२ के 'अंग्रेजों ! भारत छोड़ो !!' के वर्ष में लिखी गयी जीवनी है. अंग्रेजों की साम्राज्य मद से उत्पन्न मनोवृत्ति के प्रति हृदय में विद्रोह भाव रखने वाले[१७] युवक की जीवनी है. लेखक 'अपटूडेट वैरिस्टर' की ओर आकृष्ट नहीं हुआ है, अपितु 'खद्दरदारी विद्रोही'[१८] की ओर आकृष्ट हुआ है . 'स्वाधीनता प्राप्ति के लिए अंत तक बगावत जारी रखने का संदेश देने वाले[१९] जवाहर को उन्होंने 'स्वस्थ युवक से अधिक जोशीला', एक साधक से अधिक तपस्वी, और एक मजदूर से अधिक परिश्रमी[२०]पाया है. पं. विद्यावाचस्पतिजी की मरणोपरान्त १९६३ में प्रकाशित हुई जीवनी का नाम है– 'लोकमान्य तिलक और उनका युग.' यह जीवनी ४५ परिच्छेदों में संपन्न हुई है. लोकमान्य तिलक पं. विद्यावाचस्पति के राजनीतिक क्षेत्र के गुरू थे.[२१] इस प्रकार हमें लेखक किशोरावस्था से जीवन के अंतिम चरण तक अपने जीवन और लेखनी द्वारा स्वाधीनता के मन्त्र का जप करते हुए दिखलायी देते हैं. वेदरत्न आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार ने ठीक ही कहा है कि–'जीवन चरित्रों के आकलन में विद्यावाचस्पति की क्रान्तिकारी चेतना का विस्फोट उपलब्ध होता है. निष्काम राष्ट्र–सेवा, स्वातंत्र्य की कसक, बलिदान का संकल्प और नवचेतना का उन्मेष उनके व्यक्तित्व और लेखन में कूट–कूट कर भरा है.'[२२] पं. विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित 'जीवन–ज्योति' में लघु निबंधाकार तेरह जीवनियों का संकलन है. इनके वृत्त वर्णन में क्रमबद्धता तो है, पर सांगोपांग वृत्त नहीं. योगेश्वर श्रीकृष्ण के मृत्यु–प्रसंग का तो लेखक ने उल्लेख भी नहीं किया है.

४.५ चरित्र चित्रणः-

जीवनी में केवल घटनाओं का उल्लेख ही नहीं, किन्तु चरित्रनायक का शील निरूपण भी होता है. आधुनिक जीवनियों में तो विशेष रूप से चरित्र विश्लेषण को महत्व प्राप्त है. उपन्यास आदि विधाओं की अपेक्षा जीवनी का चरित्रांकन अधिक यथार्थ होने के कारण पाठक पर उसका अधिक प्रभाव पड़ता है. इसीलिए जीवनी लेखन चरित्र में वृत्तों एवं घटनाओं के माध्यम से नायक के चरित्र की विशेषताओं को अंकित करता है. परिस्थितियों के बीच उसके चारित्रिक विकास को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखलाता है और साथ ही उसकी मनोदशा का विश्लेषण करता है. यह सब तभी संभव है जब लेखक जीवनी नायक से तादात्म्य का संबंध रखता हो.

पं. विद्यावाचस्पति ने जीवनी नायकों के चरित्र का मार्मिक एवं प्रभावशाली ढंग से अंकन किया है. उन्होंने अपने चरित्र नायकों की विशेषता उनके अंतर्बाह्य स्वरूप के चित्रण द्वारा प्रस्तुत की है. बाह्य घटनाओं का नायक के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है, उसके मन में उस घटना की क्या प्रतिक्रिया होती है. इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है– "गेरीवाल्डी स्वधीनता देवी का उपासक था और मातृभूमि का सच्चा पुत्र था. उसने होश संभालकर चारों ओर नजर दौड़ाई तो अपनी मातृभूमि को विदेशियों के लोहेदार जूतों के तले कुचले जाते हुए देखा. उसके शुद्ध और तेजस्वी आत्मा को यह सह्य न हो सका उसके अंदर प्रेम, करुणा, जोश, साहस, ईश्वर प्रेम आदि जितने गुण थे वे सब एक ही गुण 'मातृभूमि के प्रति भक्ति' के दास हो गए. एक व्यापी भाव ने अन्य सब गुणों को दबा लिया किन्तु मारकर नहीं, अपितु अपने लिए सहायक बनाकर.'[२३] उक्त उद्धरण से गेरीवाल्डी की मनोव्यथा का, उसकी राजनीतिक चेतना का और साथ ही कर्तव्य परायणता की भावना का एक साथ दिग्दर्शन हो जाता है. इसी प्रकार 'महावीर गेरीवाल्डी' में नायिका की चारित्रिक महत्ता का निदर्शन भी द्रष्टव्य है– "जब गेरीवाल्डी ने रोम की रक्षा के लिए तलवार पकड़ी और आग की भट्टी में छलांग लगायी, तब एनिटा ने उसकी मंगल कामना की, उसका हाथ पकड़कर रोका नहीं. जब रोम का पतन होने पर एक व्यक्ति ने फ्रांस, आस्ट्रिया और नेपल्स, तीनों को खुला चेलेंज देकर जंगल का रास्ता लिया तब किसी ने उसे मूर्ख कहा और किसी ने कम समझ पुकारा. किन्तु एनिटा–सती एनिटा के मुँह से एक शब्द नहीं निकला. स्वतंत्रता की देवी की भांति मनुष्य वेश में घोड़े पर सवार हो पति की छाया बनना ही उसने अपना कर्तव्य समझा."[२४]

पं. विद्यावाचस्पति प्रणीत जीवनियों में नायकों का चरित्र गत्यात्मक है, और उनका विकास अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ है. घटनायें एवं परिस्थितियाँ ऐसी आती हैं कि नायक के चरित्र को अग्रसर कर जाती हैं. 'प्रिंस बिस्मार्क', 'महावीर गेरीवाल्डी', 'महर्षि दयानंद' और 'लोकमान्य तिलक' ऐसे ही चरितनायक हैं. जिनका जीवन निरन्तर विकसित होता रहता है. स्वामी दयानंद के संबंध में पं. विद्यावाचस्पति का कथन द्रष्टव्य है– "बनारस के शास्त्रार्थ के कारण स्वामीजी की ख्याति सारे देशे में फैल गयी. देश की दशा से चिंतित सुदूरवर्ती महानुभावों ने, काशी के पण्डितों को पराजित करने वाले वावदूक के वृत्तान्त पढ़कर हृदय को ढाढस दिया. उधर कलकत्ता, बंबई आदि के पण्डितों पर स्वामीजी की धाक बंध गयी....यश के विसतार के साथ स्वामीजी का दृष्टिक्षेत्र भी विस्तृत होने लगा...धीरे–धीरे स्वामीजी का कार्य करने का ढंग बदलने लगा. पुरानी केवल शास्त्रार्थ की या अपने डेरे पर प्रचार करने की रीति को छोड़कर नियमपूर्वक सभायें करने और उनमें व्याख्यान देने की पद्धति का अनुसरण होने लगा. स्वामीजी अब तक केवल संस्कृत में व्याख्यान देते थे, उसमें परिवर्तन हो गया. आप हिन्दी में व्याख्यान देने लगे. अब तक केवल कौपीन धारण किए रहते थे–आश्रम पर, सभा में, शास्त्रार्थ के समय, इसी वेष में रहते थे, वह भी बदलने लगा. सभा में आप कपड़े पहिनकर जाने लगे, इसी समय सत्यार्थप्रकाश भी लिखा.... यह परिवर्तन कार्य को अधिक विस्तृत और लोकोपयोगी बनाने का साधन हुआ."[२५]

पं. विद्यावाचस्पतिजी ने अपने जीवनी नायकों के बहिरंग एवं अंतरंग की बड़ी कुशलता से अंकन किया है. बहिरंग वर्णन में उनकी आकृति वेश–भूषा एवं कार्यों का उल्लेख है तथा उनके अंतरंग चित्रण में उनकी मनोदशाओं स्वभाव एवं गुण–दोषों का निरूपण है. चरित्र चित्रण में पं. विद्यावाचस्पतिजी का दृष्टिकोण सर्वत्र तटस्थ वैज्ञानिक के समान है, वे पात्रों की सबलताओं एवं दुर्बलताओं दोनों का उद्घाटन करते चलते हैं. उन्होंने अपनी जीवनियों में चरित्र नायकों के चरित्राकंन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए इन पांच विधियों का आश्रय लिया है. (क) चरित्र नायक के क्रिया–कलाप वर्णन द्वारा, (ख) चरित्र–नायक के वक्तव्यों द्वारा, (ग) चरित्र–नायक के संवादों द्वारा, (घ) अन्य व्यक्तियों के संस्मरणों द्वारा, (ड़) लेखकीय वक्तव्य द्वारा.

(क) चरित्र-नायक के क्रिया-कलाप वर्णन द्वारा- इस चित्रण विधि के द्वारा पं. विद्यावाचस्पतिजी चरित्र नायक के जीवन की घटनाओं एवं कार्यो का उल्लेख कर उनके चरित्र के किसी पक्ष का उद्‌घाटन करते हैं. ''क्रमिक संस्मरणात्मक जीवनी 'मेरे पिता' में ऐसी अनेक घटनाओं का सजीव वर्णन है, जिनसे स्वामी श्रद्धानन्द की दृढ़ता, सहनशीलता, स्पष्टवादिता, श्रद्धा, देशभक्ति, प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षा के प्रति आस्था, अदम्य साहस, स्वाभिमान आदि गुणों की अभिव्यक्ति मिलती है. 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' से स्पष्ट होता है कि तिलक इस बात में विश्वास नहीं रखते कि केवल भीख मांगने या प्रस्तावों से स्वाधीनता मिल जायेगी. स्वाधीनता के लिए वे 'केवल शब्दों को नहीं. अपितु क्रिया'[२६] को महत्व देते थे. सन् १९१८ में होमरूल आन्दोलन को तीव्र करने के लिए घुटनों में दर्द और घाव होते हुए भी उन्होंने रेल और मोटर से कुल मिलाकर दो हजार मील का सफर किया और पचास से भी अधिक भाषण दिये थे.[२७] इससे वृद्धावस्था में भी अपने सुख–चैन और नींद की उपेक्षा करने वाले लोकमान्य तिलक की असाधारण तीव्र देशाभिमान की झलक मिलती है. इसी प्रकार नैपोलियन बोनापार्ट, प्रिंस बिस्मार्क, शहीद जतीनदास, पं. जवाहरलाल नेहरू आदि के देशप्रेम, त्याग एवं बलिदान को पं. विद्यावाचस्पतिजी ने घटनाओं और कार्यो के माध्यम से व्यंजित किया है. वस्तुतः किसी व्यक्ति के क्रिया कलाप ही उसके व्यक्तित्व एवं चरित्र को साकार करने वाले होते हैं, और पं. विद्यावाचस्पतिजी ने जीवनी नायकों के कार्यो एवं घटनाओं द्वारा उनका व्यक्तित्व रेखांकित किया है.

(ख) चरित्र-नायक के वक्तव्यों द्वारा- चरित्र नायकों के वक्तव्य भी उनके चरित्र को प्रकाशित करने में सहायक होते हैं. महान् व्यक्ति की वाणी और क्रिया में साम्य होता है. वह जो कुछ कहता है वह उसके व्यक्तित्व का ही अंग होता है. महावीर गेरीवाल्डी का एक भाषणांश द्रष्टव्य है– ''मैं तुम्हें नये युद्ध और नये यश दिलाऊंगा, जो मेरे साथ चलना चाहे वह अपना होगा, किन्तु उनका मूल्य परिश्रम और खतरा है. मैं तुमसे मातृभूमि से प्रेम के सिवाय कुछ नहीं मांगता और बदले में न वेतन दे सकता हूँ, न आराम दे सकता हूँ, और न नियमपूर्वक खाने को भोजन ही दे सकता हूँ, जो इस भाग्य से सन्तुष्ट न हों वह पीछे रह सकता है.''[२८] इस वक्तव्य से गेरीवाल्डी की उस धैर्य–निष्ठा का पता चलता है जो आपत्ति में भी सुदृढ़ बनी रहती है, और डगमगाने का नाम तक नहीं लेती. जर्मनी को एकता के सूत्र में पिरानेवाले प्रिंस बिस्मार्क का 'वज्रादपि कठोराणि' रूप किसे नहीं मालूम? पर हम यहाँ एक ऐसा वक्तव्य उद्‌धृत करते हैं, जिससे हमें उनका 'मृदूनि कुसुमादपि' वाले रूप का भी परिचय मिलता है. समस्त जर्मनी को एक करने के बाद दक्षिण जर्मनी की एक रियासत बवेरिया को जर्मन में शामिल करना शेष रह गया था. बिस्मार्क असन्तुष्ट बवेरिया को जबरदस्ती जर्मनी में शामिल करने की अपेक्षा स्वेच्छा से जर्मनी में मिलने के इच्छुक बवेरिया रियासत की प्रतीक्षा करने के लिए तैयार था. एतदर्थ उसने बवेरिया से सन्धि करके उसे अन्य समस्त रियासतों की तुलना में बहुत–सी रियायतें दीं, जिसे पाकर बवेरिया खुशी–खुशी जर्मनी में आ मिला. इस सशर्त मेल पर लोगों ने बिस्मार्क को बहुत दोष दिये, पर बिस्मार्क ने 'कार्य हो गया, एकता पूरी हो गयी' की घोषणा करने के बाद जो वक्तव्य दिया, उससे राजनीतिज्ञ बिस्मार्क का लचकीला रूप ही प्रस्फुटित होता है– ''पत्र संपादक सन्तुष्ट नहीं होंगे, इतिहास लेखक संभवतः हमारे मेल को सिद्धांत विरूद्ध कहेंगे. शायद वे कहेंगे कि मूर्ख आदमी (बवेरिया रियासत से) अधिक मांग सकता था, उसे अवश्य मिल जाता उन्हें देना ही पड़ता. उसका बल ही उसका अधिकार था, किन्तु मेरी इच्छा थी कि ये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग यहाँ से संतुष्ट जांय. उन सन्धियों का लाभ क्या है, जिन पर लोगों से बलात्कार द्वारा हस्ताक्षर कराया जाय. मैं उनकी निर्बल दशा का लाभ नहीं उठाना चाहता. मेल में दोष है, किन्तु उन दोषों के कारण ही वह अधिक प्रबल है.''[२९]

चरित्र नायक के भाषणों के अतिरिक्त लेखों से भी उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है. इस दृष्टि से दैनिक केसरी के तेजस्वी संपादक लोकमान्य तिलक के कतिपय लेखांश द्रष्टव्य हैं– ''यथार्थ में इस देश के जो बुरे रीति–रिवाज हैं, उनकी रोक या सुधार के काम से 'केसरी' ने कभी मुँह नहीं मोड़ा है, वरन् वह सदैव अपना मत इस प्रकार प्रकट करता रहा है कि इन्हें धीरे–धीरे दूर करना चाहिए.''[३०] ''स्वराज्य के बिना हमारी जिंदगी और हमारा धर्म व्यर्थ है.''[३१] स्पष्ट है कि तिलक समाज–सुधार की तुलनामें स्वराज्य को प्राथमिकता देते थे.

३० अप्रैल १९०८ को, खुदीराम बोस नामक बंगाली युवक ने. प्रजा में फैले असन्तोष को, मुजफ्फरपुर के न्यायाधीश मिस्टर कॅनेडी पर बम प्रहार कर अभिव्यक्त किया. 'केसरी' में 'देश का दुर्भाग्य' शीर्षक से इस घटना पर टिप्पणी करते हुए तिलक जी ने लिखा– ''मुजफ्फरपुर काण्ड एक गंभीर दुर्घटना है. हम इसकी निंदा करते हैं और इसके विरूद्ध अपना मत प्रकट करते हैं, परन्तु हम यह नहीं समझते कि सरकार तक केवल इतने भाव प्रकाशित करने से हमारे कर्तव्य का पूरा पालन हो जाता है... ऐसे अवसरों पर यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि अधिकार संपन्न लोग देशवासियों की अभिलाषाओं की कहाँ तक उपेक्षा कर सकते हैं और (उसे) किस सीमा के आगे प्रजा के धैर्य की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये''[३२] तिलक इस प्रकार की घटनाओं को इस बात का चिह्न मानते थे कि देश वर्तमान राजनीतिक गुलामी से इतना असंतुष्ट है कि यहाँ इसमें शीघ्र ही सुधार न किया गया तो देश के नवयुवक धैर्य खो बैठेंगे, चाहे फिर उनका नाम वासुदेव चाफेकर हो या खुदीराम और कुछ. इसी दृष्टि विशेष के कारण भारतीय क्रान्तिकारियों के प्रति एक विशिष्ट सहानुभूति लोकमान्य के अन्तःस्थल में अंतर्निहित थी.

'आर्कटिक होम इन दी वेदाज' की भूमिका में लिखा लोकमान्य तिलक का लेखांश प्रस्तुत कर पं. विद्यावाचस्पतिजी ने तिलक की उस विद्वत्ता की ओर संकेत किया है, जिसने वेदों के समय के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा एक शताब्दी से की जा रही कल्पनाओं की जड़ों को हिला दिया था. चर्चित लेखांश इस प्रकार है– ''वेद के (यूरोपीय) विद्वानों ने उस समय वेदों का जो समय निर्धारित किया उसका आधार केवल वैदिक साहित्य का युगों में मनमाना विभाजन था, उनके हिसाब से वैदिक काल २४०० ई. पूर्व से अधिक नहीं हो सकता था. मैंने 'दि ओरियन' (सन् १८९३) में यह दिखाने का यत्न किया था कि उनके वे सब हिसाब न केवल बहुत ही छोटे, स्पष्ट और अनिश्चित भी थे. मैंने यह भी दिखाया कि वेद में ज्योतिष संबंधी जो निर्देश पाये जाते हैं, उनके आधार पर वैदिक समय का निर्णय अधिक प्रामाणिक रूप से किया जा सकता है.''[३३]

तिलक यदि राजनीतिज्ञ न होते तो एक अंतर्राराष्ट्रीय कीर्ति के महापंडित होते. सार्वजनिक जीवन में व्यस्त रहने के कारण उन्हें लेखन का अवसर ही नहीं मिल पाता था. विद्यावाचस्पतिजी ने उनके जेल जीवन संबंधी लेखांश देते हुए उनके भाष्यकार, अध्यवसायी व बहुभाषाविद् व्यक्तित्व को व्यक्त किया है, जेल जीवन विषयक तिलकजी का चर्चित लेखांश इस प्रकार है– ''वर्षो से मेरा यह विचार था कि भगवद्गीता पर आजकल जो टीकायें प्रचलित हैं, उनमें से किसी में उसका रहस्य ठीक प्रकार से नहीं बताया गया. अपने इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिए मैंने पश्चिमी और पूर्वी तत्वज्ञान की तुलना करके भगवद्गीता का भाष्य लिखा. ग्रंथ लेखन के अतिरिक्त मैंने फ्रेंच, जर्मन और पाली भाषाओं का स्वयमेव अध्ययन किया, गणित, ज्योतिष आदि के चिंतन में भी थोड़ा–बहुत समय दिया है और उसके संबंध में कुछ टिप्पणियाँ भी तैयार की हैं.''[३४]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) चरित्र नायक के संवादों द्वारा- चरित्र चित्रण में चरित्र के वक्तव्यों और लेखांशों की अपेक्षा वार्तालाप के माध्यम से अंकित चरित्रांकन की प्रणाली अधिक कलात्मक होती है. जीवनी में कथनोपकथन का पृथक् महत्व नहीं, फिर भी यदा–कदा चरित्र नायक की बातचीत का उसमें समावेश रहता है. इस बातचीत से नायक की उत्कृष्टता–निकृष्टता सहज अनुमेय हो जाती है. पं. विद्यावाचस्पतिजी ने 'नैपोलियन बोनापार्ट', 'प्रिंस बिस्मार्क', 'महावीर गेरीवाल्डी', 'महर्षि दयानंद' और 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' में यत्र–तत्र कथनोपकथन द्वारा भी चरित्र–चित्रण किया है. स्वामी दयानन्द की निर्भीकता उसके इस संवाद से व्यंजित है–

कर्णसिंह– 'तुम गंगाजी को नहीं मानते?'

स्वामीजी– 'जितनी गंगाजी उतनी मानते हैं.'

कर्णसिंह– 'कितनी?'

स्वामीजी– 'हम लोगों की तो गंगाजी कमण्डलु में है.'

(इस पर कर्णसिंह ने गंगास्तुति के कुछ श्लोक पढ़े)

स्वामीजी– 'यह सब तुम्हारी गप्प है. वह केवल पीने का पानी है, उससे मोक्ष नहीं हो सकता, मोक्ष तो केवल कर्मों से होता है. तुमको पोपों ने बहकाया है? (फिर स्वामीजी ने उसके माथे पर तिलक छाप देखकर कहा) 'तुमने क्षत्रिय होकर माथे पर यह भिखारियों का चिह्न क्यों धारण किया है'.

कर्णसिंह– 'हमारे स्वामीजी के सामने आपसे बातचीत भी न होगी तुम तो उनके सामने कीड़े के तुल्य हो तुझ–से तो उनके जूते उठाते हैं'.

स्वामीजी ने हँसकर कहा– 'अपने गुरु को शास्त्रार्थ के लिए बुलाओ, यदि उनमें आने का सामर्थ्य न हो तो वहाँ चलें.' (इस पर कर्णसिंह बेतुकी कहने लगा और स्वामीजी को धमकाने लगा. स्वामीजी ने धमकी के उत्तर में चक्रांकित संप्रदाय का खण्डन करते हुए कहा) 'तुम क्षत्रिय हो जो रामलीला में लौंड़ों का स्वांग भरवाकर और महापुरुषों की नकल उतरवाकर उनको नचवाते हो. अगर तुम्हारी बहू–बेटी को कोई नचवाये तो तुम्हें कैसे बुरा लगे.' (यह सुनकर कर्णसिंह की आँखें लाल हो गयीं और हाथ तलवार की मूठ पर गया...दयानंद ने....केसरी के सदृश गरज कर कर्णसिंह से कहा) 'अरे धूर्त यदि शस्त्रार्थ करना है तो जयपुर और धौलपुर के राजाओं से जा लड़ो, और यदि शास्त्रार्थ करना है तो अपने गुरु रंगाचार्य को वृन्दावन से बुलवा लो.' (इतने में वहाँ उपस्थित राजपूत कर्णसिंह को ललकारने लगे, कायर कर्णसिंह अपने पहलवानों के साथ वहाँ से चला गया. लोगों ने प्रार्थना की कि इस घटना की सूचना पुलिस में दी जाय इस पर स्वामीजी ने कहा) 'यदि वह अपने क्षत्रियत्व को पूरा न कर सका तो हम क्यों अपने सन्यास धर्म से पतित होवें, संतोष करना ही परमधर्म है.'[३५]

इसी प्रकार 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' में तिलक की दृढ़ता भी अग्रिम संवाद में व्यंजित है. बात सूरत अधिवेशन की है. लोकमान्य तिलकजी ने स्वागताध्यक्ष के पास यह लिखकर भेज दिया था कि– जब अध्यक्ष के नाम का प्रस्ताव तथा अनुमोदन हो चुके तब अधिवेशन को स्थगित करके मुझे संशोधन का प्रस्ताव उपस्थित करने का समय दिया जाय. सुरेन्द्रबाबू के प्रस्ताव के बाद पं. मोतीलाल नेहरू समर्थन के लिए खड़े हुए. उन्होंने थोड़े से शब्दों में घोष के नाम का अनुमोदन किया. उनका भाषण समाप्त होते ही प्रतिनिधियों से सम्मति लिये बिना ही स्वागताध्यक्ष ने डॉ. घोष से अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठकर भाषण प्रारंभ करने की प्रार्थना की. डॉ. घोष 'लेडीज एण्ड जेंटलमेन' से आगे कुछ कहते कि लोकमान्य उनकी मेज के सामने खड़े हो गये और बोलना प्रारंभ किया–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'प्रतिनिधि भाइयो, मैंने एक संशोधन उपस्थित करने की सूचना दी थी, मैं उसे उपस्थित करने आया हूँ.'

स्वागताध्यक्ष मि. मालवीय आवेशपूर्ण स्वर में बोले– 'आपको इस समय बोलना नियम विरूद्ध है.'

लोकमान्य ने उत्तर दिया– 'आप इस समय सभापति नहीं है.'

इस पर डॉ. घोष ने यह समझकर कि मि. मालवीय सभापति नहीं, तो मैं हूँ, लोकमान्य से कहा– 'मैं व्यवस्था देता हूँ कि आपका बोलना नियम विरूद्ध है.'

लोकमान्य ने तुरन्त उत्तर दिया– 'आप नियमपूर्वक अध्यक्ष नहीं चुने गये.'[३६]

(घ) अन्य व्यक्तियों के संस्मरणों द्वारा चरित्र नायक का चरित्र चित्रण- जीवनी में संस्मरणों का उपयोग केवल जीवनीगत तथ्यों की प्रामाणिकता के लिए नहीं, वरन् नायक के चरित्र निरूपण की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है.' 'महावीर गेरीवाल्डी', 'महर्षि दयानंद', 'पं. जवाहरलाल नेहरू' और 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' में पं. विद्यावाचस्पति ने अपने व अन्य व्यक्तियों के संस्गरणों के माध्यम से चरित्र नायकों के व्यक्तित्व एवं चरित्र को अंकित किया है. 'महावीर गेरीवाल्डी' के साहसी स्वभाव के विषय में 'एक दर्शक' का संस्मरण है– 'यह रहस्यमय विजेता कीर्ति की अद्‌भुत चमक से घिरा हुआ था, वह न राजसभा के विवादों को जानता था और न जानना चाहता था. जिस दिन रिपब्लिक पर आक्रमण होने वाला था, उसी दिन वह रोम में घुसा. रोमन लोगों के आत्माओं ने स्वयं ही जान लिया कि सारा जनसमूह आशा और रक्षा का एकमात्र आधार समझकर उसी की ओर झुक पड़ा.'[३७]

सन् १९३७ में पं. नेहरू जी द्वारा किये गए धारासभाई चुनाव के तूफानी दौरों का वर्णन करते हुए पं. विद्यावाचस्पतिजी ने पं. नेहरू जी की समयबद्धता के बारे में टिप्पणी की है– 'प्रातःकाल ५ बजे उठकर नित्यकर्मों से निवृत्त होकर सुबह का नाश्ता और ठीक सात बजे दौरे के लिए रवाना होना. यदि नाश्ता सात बजे से दो–चार मिनिट भी पीछे आया तो प्रबंधकों की मुसीबत हो जाती थी. पंड़ित जी छोटा एटेचीकेस हाथ में लेकर ठीक सात बजे चल पड़ते, यदि चाय पिलाने वालों को गरज हो तो भागकर कहीं रास्ते में चाय पिला सकते थे, यदि सड़क व मोटर तैयार मिली तो ठीक अन्यथा कभी कभी पैदल ही रवाना हो जाते थे. मोटर पीछे से आती रहती थी. मैंने कई बार यह भी देखा कि यदि उनके सेक्रेटरी के तैयार होने में पांच मिनिट लग गये तो उसे जोरदार झाड़ खाने के अलावा पीछे छूटना पड़ता था.''[३८]

(ड़) लेखकीय वक्तव्य द्वारा चरित्र चित्रण- पं. विद्यावाचस्पति ने चरित्र नायकों के संबंध में अधिकतर अपनी ओर से ही वर्णन किया है. प्रथम पुरुष में अपनी प्रिय ऐतिहासिक शैली में वे अपने पात्रों का चरित्रांकन करते हैं. इस प्रकार वे नायक के अंतरंग और बहिरंग के मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हैं. जर्मन साम्राज्य की पुनर्स्थापना करने वाले प्रिंस बिस्मार्क के संबंध में पं. विद्यावाचस्पतिजी लिखते हैं– ''उसके स्वभाव में सबसे बड़ा अंग यह था कि वह और किसी की सम्मति को अपनी सम्मति से ऊँचा मानने को तैयार न होता था, वह सम्मतियों में बड़ा हठीला था.''[३९] लोकमान्य तिलक के बाह्य व्यक्तित्व के विषय में पं. विद्यावाचस्पति का कथन है– ''उनके मुखमण्डल पर असाधारण बुद्धि, गंभीरता और तपश्चर्या के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहे थे. थोड़ी देर तक उनके शांत चेहरे को देखते हुए यह प्रतीत होने लगता था कि हम सचमुच एक क्रांतिकारी को देख रहे हैं. माथे पर विचार की रेखायें थीं, मानो क्रांति का शरीरधारी पुतला हो.''[४०] राष्ट्र के लिए 'विषपान' कर 'अमृतदान' देने वाले गेरीवाल्डी की महत्ता का वर्णन करते हुए पं.

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यावाचस्पति कहते हैं– 'गेरीवाल्डी...आदि देशभक्त अपनी जाति को अत्याचारों की श्रृंखलाओं से छुड़ाना चाहते थे, अतः उनके भाग्य में कैदखाना, निर्वासन, भूख और दरिद्रता लिखे थे. इस बात को वे भी जानते थे और जानकर भी मोक्ष के मार्ग को नहीं छोड़ना चाहते थे. महात्माओं का यही तो महत्व है."[४१] बालक मूलशंकर (दयानन्द) की उत्तरोत्तर वैराग्योन्मुख होती हुई प्रवृत्ति के संबंध में वे लिखते हैं– "तपे हुए लोहे पर चोट लगी. मूलशंकर का हृदय बहिन की मृत्यु के दृश्य से पहले ही नरम हो चुका था. इस दूसरी चोट ने (चचा की मृत्यु ने) उसे पूरी तरह वैराग्य की ओर झुका दिया."[४२] इसके अतिरिक्त स्वलिखित जीवनियों की प्रस्तावनाओं में भी पं. विद्यावाचस्पतिजी ने अपने नायकों के महत्वपूर्ण गुणों का संक्षिप्त परिचय दिया है. पं. नेहरू के स्वभाव का अंकन वे इन शब्दों में करते हैं– 'जवाहरलाल जी की साहसपूर्ण स्वाधीन चिंतन शैली पर यूरोपियन शिक्षा का गहरा प्रभाव है,[४३] 'मानी स्वभाव, अटूट साहस, नेतृत्व और निर्भयता जैसे सब गुण जवाहरलाल जी को अपने पिता से ही प्राप्त हुए हैं.'[४४] महावीर गेरीवाल्डी के गुणों का संक्षेप में परिचय देते हुए पं. विद्यावाचस्पति जी ने टिप्पणी की है– "गेरीवाल्डी... मुखिया था. उसका जीवन निःस्वार्थता और बहादुरी के शास्त्र का एक आवश्यक अध्याय था."[४५]

जीवन चरित्र में जीवनी नायक के अतिरिक्त उसके घनिष्ट संपर्क में आने वाले अनेक पात्र होते हैं. पं. विद्यावाचस्पति जी ने ऐसे व्यक्तित्वपूर्ण पात्रों की यत्र–तत्र झलक दी है. गेरीवाल्डी के गुरु मेजिनी के विषय में विद्यावाचस्पति जी लिखते हैं– "सरकार ने मेजिनी को किले में बंद कर दिया और उसका यश और प्रभाव बंधन तोड़कर चारों दिशाओं में भाग निकला. शासक लोगों ने उसके लेख छापने वाले समाचार पत्र बंद कर दिये, तो बीसियों गुप्त मार्गो से होकर उसके देशभक्ति पूर्ण लेख नदी प्रवाहों की भांति दिग्दिगन्तर में फैलने लगे. मेजिनी के गुण–सुवर्ण पर सरकार के अत्याचारों ने आग का काम किया. वह और भी चमकने लगा. वह चमक फैलती गयी और नवयुवक इटली को जीवन की चमक दिखाने लगी."[४६] विद्यावाचस्पति जी ने गेरीवाल्डी के गुरु मेजिनी को 'स्वतंत्रता का हृदय' कहा है तो गेरीवाल्डी के सहयोगी पत्रकार एवं राजनीतिज्ञ कावूर को 'सिर' तथा 'स्टीम ऐंजिन' कहा है.[४७] 'महावीर गेरीवाल्डी' में विद्यावाचस्पति जी ने पीड़मौंट के राजा विक्टर इम्मेनुअल का भी रेखाचित्र अंकित किया है.[४८] 'महर्षि दयानन्द' में महर्षि के गुरु ब्रह्मर्षि विरजानन्द,[४९] समसामयिक सुधारक केशवचन्द्र सेन,[५०] और थियोसॉफिकल सोसाइटी के संस्थापक मॅडम ब्लैवेट्स्की,[५१] 'पं. जवाहरलाल नेहरू' में नेहरू के पिता मोतीलाल,[५२] सहधर्मिणी कमला[५३] तथा महात्मा गांधी[५४] का चरित्र अत्यन्त सजीव एवं मार्मिक है. 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' जीवनी में तिलक जी के पारिवारिक सदस्यों के अतिरिक्त महात्मा फुले, लोकहितवादी,[५५] विष्णुशास्त्री चिपलूणकर,[५६] महादेव गोविंद रानड़े,[५७] गोपाल गणेश आगरकर,[५८] पण्डिता रमाबाई,[५९] गोपाल कृष्ण गोखले,[६०] महात्मा गांधी[६१] आदि गणमान्य नेताओं के चरित्र भी अंकित हैं. चरित्रनायक की जीवन यात्रा के कितने ही अन्य सहचर भी लेखक की सहृदयता के कारण इसमें चित्रित हैं. पं. विद्यावाचस्पति जी के चरित्रांकन की एक अन्य विशिष्टता उनका तटस्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण है. चरित्र नायकों का चरित्रांकन करते समय वे उन्हें मानवीय रूप में प्रस्तुत करते हैं. वह उनके जीवन का उज्जवल पक्ष एवं कुरूपता का सत्य एवं यथार्थ अंकन करते हैं. समाज सुधार की तुलना में राजनीतिक स्वाधीनता को प्राथमिकता देने वाले लोकमान्य तिलक का चरित्रांकन करते हुए विद्यावाचस्पति जी ने प्रतिपादन किया है, "तीव्र समाज–सुधार का विरोध उनकेविश्वास का अंग नहीं था, अपितु नीति का अंग था".... "जहाँ लोकमान्य तिलक विचारों में समाज सुधार के समर्थक थे और हिन्दू जाति में प्रचलित हानिकारक रूढियों को तोड़ना आवश्यक मानते थे. वहाँ राजनैतिक आन्दोलन में समाज–सुधार, हानिकारक न हो जाय, यह सोचकर समाज–सुधार की गाड़ी को थाम–थाम कर चलाने के पक्षपाती थे."[६२]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महात्मा गांधी के यथार्थ रूप का चित्रण करते हुए विद्यावाचस्पति जी कहते हैं– "महात्मा जी केवल संत ही नहीं, बहुत बड़े संगठन कर्ता हैं– इसका परिचय मुझे स्लेट पर लिखे हुए इस उत्तर के बाद मिला– 'मेरी तो सलाह है कि तुम इस वर्ष काँग्रेस को दिल्ली में निमन्त्रित मत करो. मेरे चेहरे पर जो असर हुआ उसे महात्मा जी भांप गये कि मेरे अंदर विद्रोह की भावना जागृत हुई है. मेरे आश्रम से आने के कुछ मिनिट पीछे ही गांधी–संसार की मशीनों के कल–पुर्जे घूमने लगे. आश्रम से कैंप में पहुँचकर संदेश वाहकों ने गुजरात, महाराष्ट्र आदि गांधीवादी प्रान्तों के नेताओं को आदेश दे दिया कि दिल्ली के निमंत्रण का विरोध किया जाय."[६३]

पं. नेहरू की हिन्दुस्तानी में व्याख्यान देने से घबड़ाने की प्रारंभिक स्थिति का उल्लेख करते हुए विद्यावाचस्पति जी ने विवेचन किया है. "इंग्लैंड में इतने वर्षो तक रहने के कारण हिंदुस्तानी भाषा पर इतना प्रभुत्व नहीं था, और जबान परदेसी–सी प्रतीत होती थी, परन्तु किसान तो अंग्रेजी समझते नहीं थे, और उनसे कुछ कहे बिना जवाहर लाल जी से न रहा गया. इसलिए लाचार होकर आपको हिन्दुस्तानी में व्याख्यान देने का अभ्यास डालना ही पड़ा."[६४] नेहरू जी की निर्बलता का स्पष्टरूपेण उल्लेख करते हुए विद्यावाचस्पति जी लिखते हैं– जवाहरलाल जी में सदा एक निर्बलता रही है. जहाँ महात्मा गांधी उनके विरूद्ध हों वहाँ वह झुक जाते हैं. कलकत्ते में उनके पूर्ण स्वाधीनता संबंधी प्रस्ताव के स्वीकार हो जाने की पूरी आशा थी, यदि महात्मा जी अपने उदार और नरम हथियारों से जवाहरलाल जी को निर्जीव करके न डाल देते."[६५] इन सबसे विद्यावाचस्पति जी की चरित्र–चित्रण संबंधी तटस्थता एवं वैज्ञानिकता का परिचय मिलता है. इस प्रकार पं. विद्यावाचस्पति जी अपने जीवन–साहित्य के चरित्र–चित्रण में अत्यन्त सफल रहे हैं, उन्होंने अपने जीवनी नायकों को मानवीय धरातल पर चित्रित किया है.

४.६ परिवेश वर्णन :-

जीवन–चरित्र का नायक देश–काल की सीमा में आबद्ध होता है. उसके कार्य दूसरे के कार्यो से संबंधित एवं उसका जीवन सम–सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है. इसलिए वातावरण का चित्रण जीवनी लेखक के लिए अनिवार्य हो जाता है. पं. विद्यावाचस्पति जी में वातावरण चित्रण की अद्‌भुत क्षमता है. देश–काल के चित्रण में विद्यावाचस्पति जी ने चरित्र नायक से संबद्ध स्थानों एवं परिवेश का सजीव एवं यथार्थ रूप प्रस्तुत किया है, विद्यावाचस्पति जी के जीवनी साहित्य में देश–काल का फलक अत्यन्त विशद है. देश–वर्णन में विद्यावाचस्पति जी ने विभिन्न प्रदेशों, नगरों एवं गांवों का भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिचय दिया है. उनके गहन ऐतिहासिक पाण्डित्य का सर्वत्र दिग्दर्शन होता है और साथ ही भारतीय प्रदेशों की यात्रा का उनका स्वानुभूत परिचय भी है. 'महावीर गेरीवाल्डी' में विद्यावाचस्पति जी ने गेरीवाल्डी की जन्मभूमि का जो ऐतिहासिक परिचय दिया है, वह द्रष्टव्य है– "इटली में नाईस नाम का एक नगर है, जो देश के एक छोर पर होने के कारण कई हाथों में घूम चुका है. पहले वह इटालियन लोगों के पास था, फिर उस पर टर्की के बेड़े ने धावा किया. फ्रेंच वीरों ने उसे दो बार सर किया और नैपोलियन के पीछे वह सार्डिनिया की रियासत के अधीन हो गया. एक विलक्षण चरित्र वाले महापुरुष की जन्म–पुरी में जैसी विलक्षणता होनी चाहिये. वह नाईस में विद्यमान थी."[६६]

पं. जवाहर लाल जी के उपनाम 'नेहरू' में समाविष्ट देश विशेष का स्पष्टीकरण करते हुए विद्यावाचस्पति जी लिखते हैं. "पहले यह परिवार 'दरिया कौल' कहलाता था, परन्तु दिल्ली में चान्दनी चौक की नहर के किनारे रहने के कारण 'नेहरू' नाम से पुकारा जाने लगा."[६७] इसी प्रकार 'प्रिंस बिस्मार्क' में प्रशिया[६८]; 'महर्षि दयानन्द' में हिमालयीन प्रदेश[६९]; 'पं. जवाहरलाल नेहरू' में काश्मीर[७०]; 'लोकमान्य तिलक और उनकी धुन में मुंबई' आदि का वर्णन प्रासंगिक रूप में हुआ है. कहीं–कहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर इन स्थलों की भौगोलिक स्थिति और कहीं पर उनके ऐतिहासिक महत्व आदि का यथार्थ परिचय भी विद्यावाचस्पतिजी ने दिया है, पर उनकी वृत्ति देश–विदेश के चित्रण की अपेक्षा देशवासियों के चित्रण में अधिक रही है. स्थान वर्णन में विद्यावाचस्पति जी का ध्यान प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर गया तो है, पर बहुत कम. प्रकृति चित्रण उनके साहित्य में मुख्य तत्व के रूप में नहीं, अपितु सहयोगी तत्व के रूप में आया है. 'प्रिंस बिस्मार्क' में लड़ाई के वर्णन का चित्रण करते हुए सूर्य भगवान को विद्यावाचस्पतिजी ने दर्शक के रूप में चित्रित करते हुए कहा है – "रात भर गोलियाँ दनदनाती रही.... खूब नरहत्या हुई.... आखिर प्रभात हुआ. पूर्व दिशा से उदित होते हुए भगवान् भास्कर ने बर्लिन की गलियों को लहू से लाल देखा. सूर्य भी प्रातःकाल पूर्व दिशा में सिंदूर बिखेरता है, किन्तु उसका प्रयोजन रक्षा होता है, नाश नहीं. देव और मनुष्य में यही भेद है. मनुष्य का बखेरा हुआ सिन्दूर उसके राक्षसीय भावों का परिचायक होता है[७२]" संक्षिप्त में काश्मीर का सौन्दर्य वर्णन करते हुए विद्यावाचस्पतिजी लिखते हैं– "काश्मीर... का आकर्षण भी असाधारण है. वहाँ पहुँचकर छूटना आसान नहीं है. उन हरी–भरी घाटियों में गजब की मनमोहिनी शक्ति है[७३]" हरिद्वार के सप्तस्रोत से उत्तर की ओर दिखाई देने वाले प्राकृतिक दृश्य का जो मनोरम चित्र विद्यावाचस्पतिजी ने खींचा है, वह द्रष्टव्य है – "पर्वत के पीछे पर्वत, जंगल के ऊपर जंगल, यही क्रम बराबर चला गया है. यहाँ तक कि हिमालय की गगनभेदिनी चोटियाँ चांदी के सदृश चमकते हुए बर्फ के मुकुट में अंतर्धान हो गई हैं. इस चांदी का पिघला हुआ प्रवाह, घाटियों, कन्दराओं और तलहटियों में से होकर हरिद्वार के पास से गुजरता है, जल क्या है, नीलमणियों की छवि से प्रतिबिम्बित शुद्धतम अमृत है, जिसकी शीतलता सोने में सुगंध के समान है".[७४]

एकाधिक स्थानों में विद्यावाचस्पतिजी देश वर्णन के अंतर्गत उस भू–भाग का भौगोलिक परिचय देने के अतिरिक्त वहाँ के निवासियों और उनके स्वभाव विशेष का भी उल्लेख करते हैं. उन्होंने पंजाब की मीमांसा इस प्रकार की है, "पंजाब का हृदय नर्म है, उस पर प्रभाव डालनासहज है. पंजाबियों के हृदय प्रभाव को शीघ्र ले लेते हैं और फिर उसके अनुसार क्रिया और प्रतिक्रिया के आरंभ होने में देर नहीं लगती. पंजाबी के सोचने और करने में थोड़ा ही अन्तर है. अन्य प्रान्तों के लोग समझ ही नहीं सकते कि एक पंजाबी ने कब सोचा, कब कहा और कब किया? जितनी देर में उनका सोचना समाप्त होता है उतने में पंजाबी कर डालता है."[७५] महाराष्ट्र के विषय में विद्यावाचस्पति जी ने प्रतिपादित किया है, "महाराष्ट्र प्रान्त भौतिक दृष्टि से अपनी कठोरता के लिए प्रसिद्ध है. वहाँ मैदान कम और ऊँची–नीची पहाड़ियाँ अधिक हैं. महाराष्ट्र के निवासियों की परिश्रमशीलता और खरेपन का यह भी एक कारण है. खरेपन से मेरा अभिप्राय यह है कि उनमें अभिधा का प्रेम अधिक और व्यंजना का कम है और जब व्यंजना आती भी है तो अभिधा की कठोरता को नरम नहीं करती, अपितु उसकी सहायक बन जाती है, जो लोग महाराष्ट्र की इस विशेषता को नहीं समझते, वे प्रायः उस प्रान्त के संबंध में गलत राय बना लेते हैं. साधु भाषा में शिवाजी की चतुराई को 'धूर्तता' कहना या किसी राजनीतिज्ञ को बुरा लिखने के स्थान पर 'लबाड' लिखना भाषा की अभिधा प्रधानता का सूचक हो सकता है, विद्वेष या खोट का सूचक नहीं."[७६]

कुंभ मेले को भारतभूमि की एकता को सिद्ध करने वाला बतलाते हुए विद्यावाचस्पतिजी ने कहा है – "भीड़ में दृष्टि उठाकर देखिए कहीं अनघड़ पंजाबी का साफा दिखलायी देता है, तो कहीं लखनऊ के शौकीन की दुपल्ली टोपी में से घुंगराले बाल दृष्टिगोचर होते हैं. कहीं मद्रासी के नंगे सिर पर गोखुर से दुगुनी शिखा नजर आती है, तो कहीं नाजुक गुजराती के नाटे शरीर के शिरोभाग पर लाल पगड़ी सुहाती है. सारांश यह है कि भारत भर के हिन्द निवासी एक डोरी में बंधे हुए हैं. कुंभ के मेले पर अविश्वासी से अविश्वासी हृदय भी इस बात पर विश्वास किये बिना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न रहेगा."[७७] यूरोप के विषय में विद्यावाचस्पतिजी ने टिप्पणी की है, वहाँ पर 'किसी भले मानस को बिना कोट पहने मिलना उसका अपमान समझा जाता है.'[७८]

काल–वर्णन में पं. विद्यावाचस्पतिजी ने राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण किया है. 'पं. जवाहरलाल नेहरू' में शोषित किसान के संघर्ष का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करते हुए विद्यावाचस्पतिजी ने लिखा है – "अवध के किसान भारत के दरिद्रतम प्राणी हैं. उनकी परिस्थिति मनुष्यों की भी नहीं. सरकार और ताल्लुकेदार इन दो भारी शिलाओं के नीचे आकर उनके शरीर की हड्डियाँ तक पिस रही हैं. जमीन अनाज पैदा करे या न करे, उनके पास खाने योग्य अन्न हो या न हो, लगान तो मिलना ही चाहिये, सीधी तरह न मिलेगा तो ताल्लुकेदार के कारिन्दे उनके पेट में से निकालेंगे... किसानों की यह दशा हो रही थी कि मार खायें और रोने न पायें, उनके पेट से खुर्च–खुर्च कर मालगुजारी निकाल ली जाती थी और जब शिकायत करे तो पीटा जाता था... जहाँ जमींदारी पद्धति है, वहाँ तो उन बेचारों की मौत है. सरकार का पेट भरना चाहिये और जमींदार की रईसी भी चलनी चाहिये. यह सब किसके सर पर? उस गरीब किसान के सर पर, जो रात और दिन मेहनत करके दो समय पूरा और पुष्ट भोजन नहीं पा सकता, न जिसके सिर पर छिपाने को मिट्टी का झोपड़ा है और न लज्जा ढकने को पूरा कपड़ा."[७९] सन् १८६३ के जर्मन के राजनीतिक आन्दोलन के विषय में पं. विद्यावाचस्पति ने प्रतिपादित किया है, "इस समय प्रशिया में क्या दशा थी? राष्ट्रीयता के विचार फ्रांस और इंग्लैण्ड से आकर प्रजा के दिलों में स्थान पा चुके थे. प्रजा राजा के तथा राजमन्त्रियों के अधिकारों को कम करके अपने अधिकारों को बढ़ाना चाहती थी. राजा पर प्रसिद्ध प्रशियन विश्वास की मात्रा कम हो रही थी. राजसभा, जिसके देश के प्रतिनिधि, राजकार्यों पर विचार करते थे, राजा से और मन्त्रि दल से नाराज थी. केवल नाराज ही नहीं थी, उसके दिल में अक्षरशः फ्रांस की राज्य क्रान्ति का अनुकरण करने की लौ लग रही थी. अपनी इच्छा को न मानने वाले राजा के लिए राज्य करना असंभव हो जाय, यही उसका यत्न था. "[८०]

सन् १७८६ में फ्रांस के स्वाधीनता संग्राम की शौर्य गाथा 'नैपोलियन बोनापार्ट' में चित्रित की गई है. 'प्रिंस बिस्मार्क' में सन् १८११ से १८७१ तक के जर्मनी स्वाधीनता के इतिहास का अनुशीलन कर जर्मन साम्राज्य की पुनःस्थापना की पूर्व पीठिका प्रस्तुत की गई है. सन् १८२० से १८७१ तक की इटली के स्वाधीनता संग्राम की गौरव गाथा 'महावीर गेरीवाल्डी' में अभिव्यक्त हुई है. 'अमर शहीद जतीनदास का जीवन चरित', 'पं. जवाहर लाल नेहरू', और 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' में भारतीय स्वाधीनता संग्राम के सुन्दर और उत्साहवर्धक चित्र प्रस्तुत करने में पं. विद्यावाचस्पतिजी सफल रहे हैं. सूरत अधिवेशन (सन् १९०६) के पश्चात लखनऊ अधिवेशन (१९१६) का चित्र प्रस्तुत करते हुए भारतीय राजनीतिक जागृति का अंकन 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' की इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है "वहाँ (लखनऊ में) मानो त्रिवेणी संगम हो गया, काँग्रेस की वेदी पर – गर्मदल, नर्मदल और मुस्लिम लीग – तीनों मिल गये. वहीं पर पहले पहल गांधीजी, तिलक महाराज और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी एक साथ काँग्रेस के मंच पर दिखाई दिये. मानों राष्ट्रीय महासभा का उजड़ा हुआ घर फिर से आबाद हो गया."[८१]

'महर्षि दयानन्द' तथा 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' में भारतीय समाज एवं धर्म के अनेक चित्र हैं, जिनमें उनके शुक्ल पक्ष के साथ कृष्ण पक्ष भी हैं. पं. विद्यावाचस्पति जी के अनुसार भारत की सुन्दरता एवं कुरूपता के दर्शन अनायास कुंभ मेलों के अवसर पर हो जाते हैं. कुंभ मेले में दिखाई देने वाले उज्जवल पक्ष का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं– "हिन्दू जाति श्रद्धामयी है. उस श्रद्धा का कुंभ के मेले में मानों समुद्र उमड़ पड़ता है. जहाँ एक ओर ऐसे वृद्ध पुरुष लठिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टेक कर स्टेशन से धर्मशाला की ओर जाते दिखाई देंगे, जिनकी कमर झुक गई है, दांत मुँह को छोड़ भागे हैं, एक पांव यमपुरी की दहलीज पर धरा जा चुका है, वहाँ दूसरी ओर दूधमुँहे बच्चों को गोद में लिये, धूप और प्यास का कष्ट सहन करती हुई, असूर्यंपश्या हिन्दू ललनायें भारत की माताओं के अतुल विश्वास और तप की सूचना देंगी, कुंभ पर गृहस्थ लोग लाखों की संख्या में एकत्र होकर साधु–संतों के दर्शन करते हैं. गंगा के विशुद्ध शीतल जल में स्नान करके अपने को धन्य मानते हैं, और अब तक भी हिन्दूपन जीवित है, इसकी सूचना देते हैं, ऐसे ही मेले भारत की आर्य जाति की एकता सिद्ध करते हैं.''[८२] शुक्लपक्ष के उपरान्त कुंभ मेले में दिखाई देने वाले कृष्णपक्ष का वर्णन करते हुए विद्यावाचस्पति जी स्वीकार करते हैं – (वहाँ) ''छलकपट आलस्य और स्वार्थ के पुतले बिना ढूँढ़े ही मिल जायेंगे. भोगमय त्याग, दुराचारमय साधु–स्वभाव और हृदय का विरोधी रूप आपको पग–पग पर दिखाई देगा. जो गृहस्थ नहीं हैं, उनके अंतःपुर में पुत्र–कलत्र, जिनकी आमदनी का कोई साधन नहीं है, उनके डेरों पर हाथी और घोड़े, और जो त्यागी कहलाते हैं, उनके सन्दूकों में लाखों के तोड़े; यह सब कुछ बिना विशेष यत्न के ही दीख जायगा. सरल हृदय भक्त और भक्तिनों के विश्वास का घात करने वाला वेशधारी मठेश्वर भिन्न–भिन्न उपायों से अपने इन्द्रिय–सुख की साधना में मग्न दिखाई देंगे, जिसे हिन्दू धर्म की गिरी हुई दशा देखनी हो वह आँखें खोलकर एक बार हरिद्वार के कुंभ की सैर कर आये. जहाँ एक ओर कुंभ पर एकत्र हुआ जनसमूह देशभर के हिन्दुओं की मौलिक एकता को सूचित करता है वहाँ साथ ही वह हिन्दुओं की नासमझी और अंधी श्रद्धा में एकता को भी सूचित करता है.''[८३]

हिन्दुओं के अज्ञान–अंधकार को दूर करने के लिए समाज–सुधार का कार्य अत्यावश्यक था. ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, सत्यशोधक समाज और आर्यसमाज के कार्यकर्ता इस दिशा में सक्रिय भी थे, पर एक वर्ग ऐसा भी था जो समाज–सुधार का कार्य लोगों की परंपरागत सांप्रदायिक भावनाओं को दुखाने वाला होने के कारण, कहीं वह राजनीतिक आन्दोलन में बाधक न बने, यह सोचकर, समाज–सुधार के कार्य को रोक–रोक कर चलाने का पक्षपाती था. वह देश में फैली सामाजिक–धार्मिक परिस्थितियों के कृष्णपक्ष को नजर अन्दाज करके राजनीतिक स्वाधीनता को पहले प्राप्त करना चाहता था. उन्हें यह भय था कि यदि स्वदेश की चेतन सत्ता ही नष्ट हो जायेगी फिर समाज–सुधार का प्रश्न भी लगभग समाप्त प्रायः हो जायेगा. 'लोकमान्य तिलक और युग' में देश की इस किंकर्तव्यविमूढ़ता का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि – ''उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षो में देश की राजनैतिक परिस्थिति दिनोंदिन बिगड़ रही थी. अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी सभ्यता का जादू राष्ट्र के आंतरिक रस को चूस रहा था. ऐसी दशा में स्वाधीनता की भावना से भरे हुए भारतीय हृदय यदि बेचैन हो उठे थे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी. वे अनुभव करने लगे थे कि देश के सामने समाज–सुधार, शिक्षा–सुधार आदि की अनेक समस्यायें विद्यमान होते हुए भी जो समस्या अन्य समस्याओं की जननी है, वह राजनैतिक दासता की समस्या है, पहले उसे हल कर लेना अनिवार्य है. उसके रहते कोई समस्या भी पूरी तरह हल नहीं हो सकती.''[८४] इस प्रकार पं. विद्यावाचस्पति जी ने अपने चरित्र ग्रंथों में आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थिति का चित्रण किया है.

देश–काल वर्णन की उपरोक्त विवेचना के पश्चात् यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विद्यावाचस्पतिजी का गंभीर ऐतिहासिक ज्ञान झलकता है. साथ ही अनेक स्थानों की विद्यावाचस्पतिजी ने स्वयं यात्रा की है, इसलिये उनके वर्णन सजीव यथार्थ एवं स्वाभाविक प्रतीत होते हैं. परिवेश वर्णन में विद्यावाचस्पतिजी की दृष्टि समाज के सभी रूपों पर टिकी हुई प्रतीत होती है और सभी का वर्णन उनकी विभिन्न जीवनियों में है. इसके अतिरिक्त परिवेश वर्णन में कहीं–कहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने तुलनात्मक वर्णन भी प्रस्तुत किए हैं. फ्रांस, इटली और जर्मनी का वर्णन करते हुए विद्यावाचस्पतिजी भारतीय इतिहास की ओर भी संकेत करते हैं. जर्मन साम्राज्य की पुनःस्थापना का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है– "भारतवर्ष रूपी उद्यान किसी दिन हरा–भरा था, वह फलों और फूलों से लदा हुआ था, किसे अनुमान था कि इतना शीघ्र ही उस पर मुसलमानों का दल टिड्डियों की तरह आ टूटेगा और उसके सारे गौरव को मिट्टी में मिला देगा."[९५] इस प्रकार विद्यावाचस्पतिजी निजी जीवनी–कृतियों में वातावरण का चित्रण कर इतिहास की झलक प्रस्तुत करते हैं. इस तरह 'नैपोलियन बोनापार्ट', 'प्रिंस बिस्मार्क' तथा 'महावीर गेरीवाल्डी' में १८ वीं व १९ वीं सदी की यूरोप देशीय राजनीतिक उथल–पुथल की झांकी है. 'महर्षि दयानंद', 'अमर शहीद जतीनदास', 'पं. जवाहरलाल नेहरू' व 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' में उन्नीसवीं सदी से लेकर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अपने यथार्थ रूप में प्रस्तुत है.

४.७ शैली:-

जीवन–चरित में शैली का महत्व सर्वाधिक है. शैली की शक्ति से साधारण चरितनायक की जीवनी भी आकर्षक बन जाती है. चरित्रकार को किसी काल्पनिक नायक की अवतारणा तो करनी नहीं होती, उसे केवल एक सांचा तैयार करना होता है, जिसमें उसके चरित्रनायक की घटनायें सुसंबद्ध रूप में प्रस्तुत हो सकें. यही सांचा शैली के नाम से पुकारा जाता है. 'एक सफल शैलीकार की लेखनी के पारस–स्पर्श से ही जीवनी साहित्यिक विधा का रूप धारण कर पाती है. इसलिये चरित्रनायक के जीवन की घटनाओं के समूह से अग्राह्य को त्यागकर, अपेक्षित को ग्रहण कर सम्यक् सामंजस्य स्थापित करते हुए जीवनी में सर्वत्र एकसूत्रता का निर्वाह करना चरित्रकार का सर्वोपरि कर्तव्य है.'[९६] इस दृष्टि से विद्यावाचस्पति जी हिन्दी के सफल जीवनी लेखक एवं शैलीकार हैं. उन्होंने अपने चरित्रनायक से संबद्ध अपेक्षित तत्वों का संश्लेषण, विश्लेषण, निर्वाचन एवं संस्थापन अत्यंत बुद्धिमत्ता से किया है. जीवन–वृत्त के वर्णन में सर्वत्र सुसंगठन एवं अन्विति है. आवश्यक का समावेश एवं अनावश्यक का परिहार है. सर्वत्र, तटस्थ एवं निरपेक्ष होकर अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को विसर्जित न करते हुए विद्यावाचस्पति जी ने अपने चरित्रनायकों के गुण–दोषमय व्यक्तित्व का वर्णन आकर्षक शैली में किया है. अधिकांश जीवनियाँ वर्णन–विश्लेषण प्रधान शैली में ही लिखी गयी हैं. कहीं–कहीं संवादात्मक एवं संस्मरणात्मक शैली का प्रयोग कर विद्यावाचस्पतिजी ने वृत्तों को सहज एवं भव्य रूप में प्रस्तुत किया है. इस दृष्टि से उनकी जीवनियाँ अत्यंत सफल सिद्ध होती हैं.

पं. विद्यावाचस्पतिजी की भाषा सर्वत्र सुबोध, सरस एवं सहज है. साथ ही उसमें साहित्य माधुर्य, सौष्ठव एवं परिनिष्ठता भी है. जीवन की किसी घटना का वर्णन हो, स्थान अथवा देश की स्थिति एवं परिवेश का चित्रण हो, पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व अंकित करना हो, अथवा अपनी विचारधारा की अभिव्यक्ति करनी हो सर्वत्र विद्यावाचस्पतिजी की भाषा–शैली समर्थ एवं सशक्त रूप में वर्तमान है. कहीं शिथिलता नहीं. शैली द्वारा ही वे जीवनी के तथ्यों को रोचक रूप प्रदान कर सकते हैं. उनकी जीवनियाँ औपन्यासिक शैली की तरह ही प्रवाहमयी हैं. सरल भाषा शैली में महावीर गेरीवाल्डी के विवाह का वर्णन द्रष्टव्य है– "समुद्र के तट पर एक पहाड़ी थी. दृष्टि दौड़ते–दौड़ते एक पहाड़ी पर पड़ी. देखा, तो वहाँ तीन–चार युवती कन्यायें घूम रहीं थीं, उनमें से एक पर नायक की दृष्टि जा पड़ी. उसके अन्तःकरण ने कहा– 'यही सुन्दरी मेरी प्राणेश्वरी होगी.' जहाज किनारे पर लगाकर गेरीवाल्डी गांव के पास पहुँचा. इतनी देर में कन्यायें अपने–अपने घरों को चली गयीं थीं. अब उस प्राणेश्वरी को कहाँ ढूँढा जाय, न जाने वह किस घर की चाँदनी थी. घर–घर ढूँढना अनुचित था, तो भी गेरीवाल्डी गांव में चक्कर लगाने लगा, एक द्वार पर एक महाशय खड़े थे जो गेरीवाल्डी के पूर्व परिचित थे. उन्होंने गेरीवाल्डी को घर में बुला लिया और आतिथ्य किया. आतिथ्य करने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गृहपति ने कन्या को बुलाया. दैवयोग देखिये. वही कन्या गैरीवाल्डी को जहाज पर से दिखाई दी थी. उसे ही उसने आँखों की जयमाला पहनायी थी. पिताजी की आँख बचाकर मिलना तो कठिन कार्य न था. दूसरे दिन न वहाँ गेरीवाल्डी था–न वह कन्या. कन्या का नाम एनीटा था. एनीटा को गेरीवाल्डी ने इतना ही कहा 'तू मेरी है' और वह उसकी हो गयी. दोनो प्रेमी भुजा में भुजा दिये घर से बाहर हो गये. यह एनीटा जगप्रसिद्ध एनीटा है. गेरीवाल्डी के साथ एनीटा ने भी दीनों के दुःख हरने के लिए और स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए अपना लहू बहाया था और जान को खतरे में डाला था.''[८७]

पं. विद्यावाचस्पति की शैली में तथ्य निरूपण एवं वर्णन–विश्लेषणात्मक की प्रधानता है, पर प्रवाह सर्वत्र विद्यमान है. भाषा में संस्कृत के तत्सम्, तद्भव, देशी, विदेशी शब्द सहज स्वाभाविक रूप से आ जाते हैं तथा उसमें मुहावरों का प्रयोग भी दर्शनीय है. 'प्रिंस बिस्मार्क' से एक उदाहरण प्रस्तुत है – 'चाहे भिन्न समयों में एक ही देश की, और चाहे एक समय में अनेक देशों की दशा पर दृष्टि डालिये, आप सब कुछ गड़बड़ पायेंगे. काल रूपी मदारी की चालों को समझना लोहे के चने चबाना है. इस प्रकार साधारणतया इतिहास पर दृष्टि डालें तो वह तूफान से इतराये हुए समुद्र की भांति प्रतीत होता है. एक लहर आकाश से बातें कर रहीं है, तो दूसरी लहर किनारे से टक्कर मार रही है. कहीं पानी का पहाड़ है, तो कहीं गहरा कुआँ है, किन्तु जरा गहरी दृष्टि से देखिए, और सारा दृश्य ही बदल जायेगा जो लोग इसकी निराली चालों को विवेक की गहरी नजर से परखते हैं, वे ही उस नुकीले मनकों में एक सूत्र पिरोया हुआ पाते हैं. उनकी दृष्टि में इतिहास एक 'बुझारत' नहीं रहता किन्तु संसार रूपी महासंग्राम का क्रमबद्ध महाकाव्य हो जाता है. एक लड़ी में सब घटनायें बंध जाती हैं. एक तागे में सब मनके पिरोये जाते हैं.''[८८]

जीवनी की घटनाओं में रोचकता का गुण अनिवार्य है. यही रोचकता रसज्ञ मनोरंजिनी शक्ति है, जो सहृदय पाठक को अभिभूत करती है, जीवनी में यह रोचकता एक तो विषयगत होती है तथा दूसरी शैलीगत. चरित्रनायक के जीवन–संघर्ष, मानसिक द्वन्द्व, घात–प्रतिघात एवं घटनाओं के वैविध्य से पं. विद्यावाचस्पतिजी की जीवनियाँ रोचक हैं ही. साथ ही शैलीगत रोचकता भी उनमें विद्यमान है. उनकी मार्मिक वर्णनात्मक शैली, प्रवाहमयी भाषा, चित्रात्मकता और घटनाओं के क्रमिक संयोजन से उनकी जीवनियों में अद्भुत रोचकता एवं सरसता का संचार हुआ है.

इस प्रकार विद्यावाचस्पतिजी की शैली जीवन–वृत्त के तथ्यों के संश्लेषण–विश्लेषण के साथ उन्हें सुचारू रूप में संयोजित करती हुई, दृष्टिगोचर होती है. तथ्य निरूपण एवं वर्णनात्मक के प्रलोभन का संवरण न करती हुई भी वह आकर्षक सहज एवं रोचक है. भाषा की सहजता एवं स्वाभाविक माधुर्य उसकी अपनी विशिष्टता है.

४.८ उद्देश्यः-

जीवनी का उद्देश्य अपने जीवनी के नायक को अमरत्व प्रदान करना तथा उसके जीवन चरित्र से पाठकों को चरित्र निर्माण की प्रेरणा देना होता है. मनुष्य एक अनुकरणशील प्राणी है. वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसा नेतृत्व चाहता है, जिसके पदचिह्नों पर चलकर वह अपने लक्ष्य तक सहजतया पहुँच सके. इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जीवनियों की रचना की जाती है. सर सिडनी के शब्दों में 'सभ्य मानव में यह स्वाभाविक अभिलाषा रहती है कि वह जनसाधारण में अपने चरित्र एवं कार्यों के द्वारा असाधारण अथवा महान् व्यक्तियों की स्मृति को जीवित रखे, जीवनी उसकी पूर्ति है.''[८९] इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये जीवनियों की रचना की जाती है. यदि आप सामाजिक क्षेत्र में, क्रान्ति लाना चाहते हैं तो महर्षि दयानन्द, महात्मा फुले, डॉ. अंबेडकर, यदि आप राष्ट्र निर्माता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनना चाहते हैं तो प्रिंस बिस्मार्क, अब्राहम लिंकन, सरदार पटेल, यदि आप यशस्वी साहित्यकार बनना चाहते हैं तो कालिदास, शेक्सपियर और महादेवी वर्मा के जीवन चरित आपके पथ–प्रदर्शक होंगे, जीवनी में लेखक के निजी विचारों की अभिव्यक्ति का भी परोक्ष रूपेण समावेश रहता है क्योंकि लेखक की जो अनुभूतियाँ मन में संचित होती रहती है, अभिव्यक्ति का मार्ग खोलती हैं, ओर जब लेखक और जीवनी के नायक में समान भावना मिलती है तो वह जीवन–चरित्र की रचना करता है. मनुष्य को साहित्य का लक्ष्य स्वीकार करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं– ''वास्तव में हमारे अध्ययन की सामग्रीप्रत्यक्ष मनुष्य है. आपने इतिहास में इसी मनुष्य की धारावाहिक जय यात्रा की कहानी पढ़ी है. साहित्य में इसी के आवेगों, उद्‌वेगों और उल्लासों का स्पन्दन देखा है. राजनीति में इसी की लुका–छिपी के खेल का दर्शन किया है, और अर्थशास्त्र में इसी रीढ़ की शक्ति का अध्ययन किया है.''[६०] इसी धारणा को डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे ने अत्यन्त ही संक्षेप में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि– ''साहित्य मनुष्य जीवन का अध्ययन है, कहीं यह अध्ययन कल्पना के सहारे किया जाता है और कहीं वास्तविक जीवन तथ्यों के माध्यम से.''[६१]

पं. विद्यावाचस्पतिजी की सभी जीवनी कृतियाँ सोद्देश्य हैं. 'महावीर गेरीवाल्डी' (१८०७–१८८२) का आदर्श चरित्र प्रस्तुत करते हुये स्वयं उन्होंने कहा है– ''हे भारत के देशभक्तों ! यूरोप के व्यापार भक्तों का अनुकरण छोड़कर, सच्चे भक्त गेरीवाल्डी के पदानुगामी बनो. स्वार्थ से सने हुए देशप्रेम का पाठ छोड़कर स्वार्थ–त्यागयुक्त देशभक्ति की माला जपो, और आराम कुर्सी को देशभक्ति का पाठ पढ़ाना छोड़कर कार्य के मैदान में खम ठोककर आओ, तभी मातृभूमि के दुःख दूर होंगे और तभी हमारी आशायें पूर्ण होंगी.''[६२] गेरीवाल्डी की जीवनी को 'स्वाधीनता की अभिलाषा', 'स्वाधीनता के लिए यत्न' और 'स्वाधीनता की लब्धि' इन तीन भागों में विभाजित कर लेखक ने पाठकों को यह संकेत दिया था कि स्वाधीनता के प्रति ललक जगने पर जब उसके लिए एड़ी से चोटी तक यत्न किया जाता है तो वह स्वाधीनता निश्चित रूप से गलहार बन जाती है.

'नैपोलियन बोनापार्ट' (१७६९–१८२१) और 'प्रिंस बिस्मार्क' (१८१५–१८९८) जीवनी भी विद्यावाचस्पतिजी ने पाठकों में देशभक्ति के भाव भरने की दृष्टि से ही रची थी. उन्होंने 'प्रिंस बिस्मार्क' के द्वितीय अध्याय का शीर्षक ही 'स्वाधीनता की कथा' रखा था. वे तो भारतवासियों को स्वाधीन देशों की कथा सुनाकर 'हिमाद्रि शिखरों'[६३] को पराधीनता के पाश से मुक्त कराने का संदेश दे रहे थे. प्राचीन आर्य राजनीति से विरक्त व अनभिज्ञ हुई भारतीय प्रजा को 'राजनीति का सुदीर्घ पाठ' पढ़ाने के लिए ही उन्होंने 'प्रिंस बिस्मार्क' नामक जीवनी लिखी थी. इसी उद्देश्य से वे अमेरिका के देशभक्त जार्ज वाशिंगटन (१७३२–१७९९) की भी जीवनी लिखना चाहते थे.[६४]

६३ दिन तक भूख हड़ताल करने के उपरान्त भी न डगमगाने वाले 'अमर शहीद जतीनदास' की जीवनी लिखकर पं. विद्यावाचस्पतिजी ने पराधीन भारत के सामने उन देशभक्तों का आदर्श प्रस्तुत किया था जो कष्ट सहिष्णुता एवं बलिदान के माध्यम से ब्रिटिश सत्ता की जड़ें उखाड़ फेंकने में प्रयत्नशील थे. शहीद जतीन को भावपूर्ण श्रद्धांजलि प्रस्तुत करते हुए उन्होंने टिप्पणी की थी, 'हे अग्नि के पतंगे, तुम तो चल दिये पर गजब कर गए, इस सूखे हुए जंगल में आग लगा गये. जलियाँवाले बाग ने वह आग नहीं लगायी जा तुमने लगा दी है. तुमने अपनी कुर्बानी से जो आग लगायी है, वह आसानी से न बुझेगी, वह ऐसी धधकेगी कि इसकी ज्वालाओं की ज्योति लंदन के पार्लियामेंट के हॉल पर दिखाई देगी. इसकी तपिश किंग जार्ज की आरामगाह में पहुँचकर वहाँ के निवासियों को बेचैन कर देगी.''[६५] इसी प्रकार 'लाला लाजपतराय' नामक जीवनी में पं. विद्यावाचस्पतिजी ने प्रतिपादित किया था, 'स्वतंत्रता का सुकुमार पौधा जिस पोषक पदार्थ पर पनपता है, वह पोषक द्रव्य शहीद का खून है, फाँसी लगाने वाले की रस्सी या जल्लाद की कुल्हाड़ी या बन्दूकची की गोली व्यक्तित्व जीवन को बुझा देती है, किन्तु इससे आगे यह एक और काम करती है और वह यह कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामूहिक इच्छा को अधिक तीव्र और बलवती बना देती है.'[६६]

'लोकमान्य तिलक और उनका युग' में विद्यावाचस्पतिजी ने उस युग का चित्रण किया है जब देश की राजनीति भिक्षावृत्ति और वैधानिकता की बंद कोठरी में से निकल स्वाधीनता की मांग हेतु चुनौती के खुले मैदान में खड़ी हो गई थी, तथा 'पं. जवाहरलाल नेहरू' में महात्मा गांधी के नेतृत्व में लड़ी गयी स्वाधीनता के अंतिम पर्व की लड़ाई का चित्रण किया है, जिसे 'असहयोग' और 'भारत छोड़ो' के नाम से संबोधित किया गया. इस जीवनी में पं. नेहरू के साथ जुड़ी सन् १९४५ तक की घटनाओं का अंकन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है. पं. विद्यावाचस्पतिजी द्वारा लिखी समाज–सुधारक 'महर्षि दयानन्द' की जीवनी भी आदि से अंत तक देशभक्ति से ओतप्रोत है. 'विशाल भारत' के अनुसार इसमें वर्णित "भारत की तत्कालीन दशा का वर्णन पढ़कर हृदय प्रकम्पित हो उठता है."[६७] एक क्षत्रिय राजा का सर्वांग परिपूर्ण आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने कालिदास द्वारा विरचित 'रघुवंश' के आधार पर 'सम्राट रघु' नामक जीवनी लिखी है. निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है पं विद्यावाचस्पतिजी ने जीवनी साहित्य में विदेशी महापुरुषों को नायक बनाया हो या स्वदेशी महापुरुषों को, चाहे वे फिर महापुरुष धार्मिक, साहित्यिक या वैज्ञानिक क्षेत्र के क्यों न हो, पर उनका एक मात्र उद्देश्य यही रहा कि देशवासियों में स्वाधीनता की प्राप्ति व उसकी रक्षा की भावना कूट–कूट कर भरें. उनकी समस्त जीवनियाँ राष्ट्रीय भावना के प्रचार–प्रसार के सुनिश्चित उद्देश्य को लेकर ही लिखी गई हैं. इन जीवनियों में स्थान–स्थान पर लेखक ने भी अपनी विचारधारा को प्रकट किया है, पर प्रमुखरूपेण चरित्र नायकों के व्यक्तित्व, चरित्र एवं उनके कार्यों द्वारा ही अपने अभीष्ट को अभिव्यक्त किया है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ

१. काव्य के रूप–२३३
२. इनसाइक्लोपीड़िया ब्रिटानिका–५६३
३. दि इनसाइक्लोपीड़िया अमेरिकना–खण्ड=३–७२२
४. हिन्दी साहित्य कोश, ३०५
५. वन माइटी टोरैण्ट–४०
६. हिन्दी साहित्य में जीवन चरित का विकास–१३
७. एमीनेंट विक्टोरियंस–७
८. आस्पैक्टस ऑफ बायोग्राफी–१०२
९. लिटरेरी बायोग्राफी–१
१०. आस्पैक्टस ऑफ बायोग्राफी–२०
११. डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर–७३
१२. दि पर्सफैक्टिव ऑफ बायोग्राफी–८
१३. पं. जवाहरलाल नेहरू–च
१४. आर्यसमाज का इतिहासः प्रथम भाग–क
१५. मेरे पिता–३
१६. महावीर गेरीवाल्डी–झ
१७. पं. जवाहरलाल नेहरू–घ
१८. तत्रैव–ड.
१९. तत्रैव–१४२
२०. तत्रैव–१३७
२१. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–८
२२. प्रह्लादः त्रैमासिक–अप्रैल १९९०–१६
२३. महावीर गेरीवाल्डी–७–८
२४. तत्रैव–१२८
२५. महर्षि दयानंद–७८–७९
२६. लोकमान्य तिलक और उनका युग–१२६
२७. तत्रैव–१६०
२८. महावीर गेरीवाल्डी–१२६
२९. प्रिंस बिस्मार्क–१४६
३०. लोकमान्य तिलक और उनका युग–३६
३१. तत्रैव–१३६
३२. तत्रैव–१५७
३३. तत्रैव–६२–६३
३४. तत्रैव–१६६
३५. महर्षि दयानंद–५९–६१
३६. लोकमान्य तिलक और उनका युग–१५१
३७. तत्रैव–१०८–६
३८. पं. जवाहरलाल नेहरू–१०६
३९. प्रिंस बिस्मार्क–१०
४०. लोकमान्य तिलक और उनका युग–१८१
४१. महावीर गेरीवाल्डी–१२५
४२. महर्षि दयानंद–८
४३. पं. जवाहरलाल नेहरू–घ
४४. तत्रैव–ड.
४५. महावीर गेरीवाल्डी–ज
४६. तत्रैव–२२–२३
४७. तत्रैव–१४१–४२
४८. तत्रैव–१३७
४९. महर्षि दयानन्द–१९–२८
५०. तत्रैव–८२–८६
५१. तत्रैव–१४५–१५०
५२. पं. जवाहरलाल नेहरू–३–६
५३. तत्रैव–४७–४८, ७७–७८
५४. तत्रैव–३३–३४, १०२
५५. लोकमान्य तिलक और उनका युग–६
५६. तत्रैव–७
५७. तत्रैव–८–९
५८. तत्रैव–१६–१७, ३४–३५
५९. तत्रैव–३५–३६
६०. तत्रैव–१७०–७६
६१. तत्रैव–२२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६२. तत्रैव–४२
६३. पं. जवाहरलाल नेहरू–१०२
६४. तत्रैव–२६–२७
६५. तत्रैव–६६–६७
६६. महावीर गेरीवाल्डी–१०
६७. पं. जवाहरलाल नेहरू–३
६८. प्रिंस बिस्मार्क–७५, ८३–८४
६९. महर्षि दयानन्द–५०–५१
७०. पं. जवाहरलाल नेहरू–१६
७१. लोकमान्य तिलक और उनका युग–१६
७२. प्रिंस बिस्मार्क–४६
७३. पं. जवाहरलाल नेहरू–१६
७४. महर्षि दयानन्द–५०–५१
७५. तत्रैव–११७–११८
७६. लोकमान्य तिलक और उनका युग–७४
७७. महर्षि दयानंद–४६
७८. प्रिंस बिस्मार्क–६५
७९. पं. जवाहरलाल नेहरू–२५
८०. प्रिंस बिस्मार्क–७५
८१. लोकमान्य तिलक और उनका युग–१८०
८२. महर्षि दयानन्द–४६
८३. तत्रैव–५०
८४. लोकमान्य तिलक और उनका युग–७५
८५. प्रिंस बिस्मार्क–१
८६. एमीनेंट विक्टोरियंस–८
८७. महावीर गेरीवाल्डी–४७–४८
८८. प्रिंस बिस्मार्क–१–२
८९. दि पर्सफैक्टिव ऑफ बायोग्राफी–७
९०. अशोक के फूल–१८०
९१. साहित्य शास्त्र–१५६
९२. महावीर गेरीवाल्डी–६
९३. प्रिंस बिस्मार्क–२
९४. तत्रैव–५
९५. 'प्रह्लाद' (अप्रैल १९६०)–४
९६. तत्रैव–४
९७. मेरे पिता–परिशिष्ट–वाचस्पति पुस्तक भण्डार–सूचीपत्र–८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५

विद्यावाचस्पति जी का उपन्यास साहित्य

५.१ उपन्यासः स्वरूप, विवेचनः-

उपन्यास शब्द का निर्माण 'उप' उपसर्ग पूर्वक 'न्यास' शब्द से हुआ है–जिसका अर्थ है–निकट रखना. 'उपन्यास के द्वारा साहित्यकार अपने कथा को पाठकों के तहेदिल तक पहुँचाता है.[१] साहित्य की जीवनी, संस्मरण आदि विधाओं का समावेश तथ्याश्रित विधाओं के अंतर्गत होता है तो उपन्यास, कहानी आदि का समावेश कल्पनाश्रित विधाओं के अन्तर्गत. आधुनिक उपन्यास में प्राचीन 'उपन्यास' के युक्तियुक्त ढंग से अर्थ की प्रस्तुति व मनोरंजन करने के भाव तो हैं ही, पर अब वह केवल इन दो गुणों तक ही सीमित नहीं रह गया है, अपितु अब उसके माध्यम से व्यापक जीवन की यथार्थ व्याख्या करने का महत्वपूर्ण कार्य भी हो रहा है. प्रसिद्ध समालोचक राल्फ फाक्स के अनुसार– 'उपन्यास वह पहली गद्य विधा है, जिसमें मानव को उसकी सम्पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है.'[२] आकार के दृष्टिकोण को सामने रखते हुए 'दि न्यू पिक्चर्ड इन्साइक्लोपीडिया' में 'उपन्यास दीर्घ आकार की गद्य में उस कल्पित कथात्मक रचना को कहा गया है, जिसमें जीवन के यथार्थ स्वरूप की परिचायक कथा तथा पात्र सर्जित किये गये हों.' डॉ. गुलाबराय के शब्दों में 'उपन्यास कार्यकारण श्रृंखला में बंधा हुआ वह गद्यात्मक कथानक है, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार एवं पेचीदगी के साथ जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से संबंधित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्‌घाटन किया जाता है.'[३] आधुनिक काल में उपन्यास विधा का यथार्थवाद से अविभाज्य–सा संबंध हो गया है. हेनरी जेम्स ने भी उपन्यास में यथार्थवाद की प्रवृत्ति को उसके स्वरूप निर्माण में महत्वपूर्ण माना है. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी यथार्थ को उपन्यास साहित्य का प्राणतत्व मानते हुए कहते हैं– ''कविता यथार्थवाद की उपेक्षा कर सकती है, संगीत यथार्थ को छोड़कर भी जी सकता है, पर उपन्यास और कहानी के लिए यथार्थ प्राण है.'[४] चरित्र चित्रणात्मकता की दृष्टि से सुप्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द ने उपन्यास की परिभाषा करते हुए लिखा है– ''मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ. मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है.''[५]

५.२ उपन्यास के तत्व एवं प्रकारः-

उपन्यास के मुख्य छः तत्व माने गये हैं. १) कथानक, २) चरित्र चित्रण, ३) संवाद, ४) देशकाल, ५) भाषा शैली और ६) उद्देश्य. प्रथम पांच तत्वों के विषय में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों में सहमति है, किन्तु अंतिम छटे तत्व के संबंध में मतभेद है. पाश्चात्य विद्वान् हड़सन ने छटे तत्व को 'उपन्यासकार द्वारा प्रस्तुत आलोचना, व्याख्या, अथवा 'जीवन दर्शन' कहा है,[६] तथा भारतीय विद्वानों ने इसी को 'उद्देश्य' की संज्ञा दी है.[७]

तत्वों की दृष्टि से उपन्यासों के विभिन्न प्रकार हैं. जिस उपन्यास में जिस तत्व की प्रधानता होती है, उसी आधार पर उपन्यासों का विभाजन किया जाता है, उपन्यास में कथानक की प्रधानता होने पर उसे कथानक प्रधान, चरित्र की प्रधानता होने पर चरित्र प्रधान कहा जाता है. संवादों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आधार पर उपन्यासों का विभाजन नहीं किया जाता.[८] देश काल की प्रधानता होने पर आंचलिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के रूप में विभाजन किया जाता है. शैली तत्व की प्रधानता होने पर ऐतिहासिक शैली, आत्मकथा शैली पत्र व डायरी शैली के रूप में विभाजन किया जाता है. उद्देश्य तत्व के आधार पर आदर्शवादी, यथार्थवादी, प्रगतिवादी आदि अनेक वर्गों में विभाजन किया जाता है. वर्ण्य विषय की दृष्टि से भी उपन्यासों का विभाजन किया जाता है. यथा मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, मार्क्सवादी, राजनीतिक आदि.

विद्यावाचस्पतिजी के उपन्यासों का आत्यन्तिक रूप से विभाजन करना कठिन है, क्योंकि उनके उपन्यास मनोवैज्ञानिक होते हुए भी सामाजिक हैं. ऐतिहासिक होते हुए भी राजनैतिक हैं. सामाजिक होते हुए भी जमींदारी प्रथा के विरोध के कारण प्रगतिवाद या प्रगतिशीलता की आंधी से प्रभावित होने का सन्देह पैदा करते हैं. उनके उपन्यास न तो शुद्ध ऐतिहासिक, न शुद्ध सामाजिक, न ही शुद्ध प्रगतिशील और न ही शुद्ध राजनैतिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि उपन्यासकार बहुत समय तक तत्कालीन राजनीति और समाज–सुधार आन्दोलन के सक्रिय अंग रह चुके थे, इसलिये उनके मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों में राजनीतिक–सामाजिक विचार ऐसे घुल–मिल गए हैं कि उनको पृथक् नहीं किया जा सकता. पुनरपि जिसमें जिस स्वर की प्रधानता है, उसी के आधार पर उन्हें ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक या सामाजिक उपन्यास कहा जा सकता है. डॉ. देवराज उपाध्याय का मत है कि, 'बीसवीं सदी के आरंभ में ही हिन्दी उपन्यास की विकासमूलक भूमिका मनोविज्ञान के क्रोड़ में पालित–पोषित होने लगी थीं.'[९] डॉ. विष्णुदत्त राकेश[१०] और डॉ. धनराज मानधने[११] ने विद्यावाचस्पतिजी के 'अपराधी कौन' को मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा है. इसी प्रकार कथ्य की दृष्टि से स्थूल रूप में उसके 'जमींदार' उपन्यास को प्रगतिवादी उपन्यास कहा जा सकता है. पर वर्ण्य विषय की दृष्टि से उनके उपन्यासों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है. (१) ऐतिहासिक उपन्यास और (२) सामाजिक उपन्यास.

५.३ विद्यावाचस्पतिजी का उपन्यास साहित्यः-

हिन्दी उपन्यास के विकास को चार युगों में विभाजित किया जा सकता है. १–प्रेमचन्द पूर्व युग अर्थात् भारतेन्दु युग. २– प्रेमचन्द युग. ३– प्रेमचन्दोत्तर युग. ४– स्वातन्त्र्योत्तर युग. विद्यावाचस्पतिजी प्रेमचन्द व प्रेमचन्दोत्तर युग के उपन्यासकार हैं. उन्होंने विषय की दृष्टि से सामाजिक उपन्यासों की रचना की है, केवल 'शाह आलम की आँखें' उपन्यास इसका अपवाद है, जिसे ऐतिहासिक तथ्यों के समावेश के कारण 'ऐतिहासिक उपन्यास' के नाम से संबोधित किया गया है.

विद्यावाचस्पतिजी ने कुल छः उपन्यास लिखे हैं. १– 'शाह आलम की आँखें' (१९१८), २– 'अपराधी कौन' (१९३२), ३– 'जमींदार' (१९३६), ४– 'सरला की भाभी' (१९४४), ५– 'सरला' (१९४५) और ६– 'आत्म बलिदान' (१९४८). अन्तिम दो उपन्यास इस पद्धति से लिखे गये हैं कि उन्हें अपने पूर्ववर्ती 'सरला की भाभी' उपन्यास का विकसित रूप भी कहा जा सकता है, और स्वतंत्र उपन्यास भी. विद्यावाचस्पतिजी के उपन्यासों में उनके व्यक्तित्व और युग की गहरी छाप है. प्रो. विजयेन्द्र स्नातक का यह मत है कि, 'यदि सामाजिक यथार्थ की भूमि पर उनके उपन्यासों का अध्ययन किया जाय तो वे प्रेमचन्द परम्परा के सफल उपन्यासकार स्वीकार किये जायेंगे.'[१२] हमारी दृष्टि में वे 'प्रेमचन्द–प्रेमचन्दोत्तर युग' के आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी उपन्यासकर है. उन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के उपन्यास लिखे हैं.

५.४ ऐतिहासिक उपन्यासः-

विद्यावाचस्पतिजी का सर्वप्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'शाह आलम की आँखें' है, जो कि उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकमात्र ऐतिहासिक उपन्यास है. जिसे उन्होंने १९१८ में लिखा था.[१३] तभी वह धारावाहिक रूप में 'सद्धर्म प्रचारक' साप्ताहिक में प्रकाशित हुआ था, पर उसका पुस्तक रूप में प्रकाशन सन् १९३२ में हो पाया. उपन्यास के प्रकाशन में विलम्ब होने का कारण स्वयं लेखक के राष्ट्रीय आन्दोलन के भंवर में फँस जाना है. लेखक ने यह उपन्यास सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ हेनरी जार्ज कील द्वारा लिखित 'मुगल एम्पायर' नामक पुस्तक के आधार पर लिखा है.[१४] इस उपन्यास की घटनायें लगभग सन् १७८० के आसपास की हैं. सभी घटनायें इतिहास परक न होकर लेखक ने कल्पना का भी सहारा लिया है– सुल्तानपुरं ग्रामवासी तेजसिंह अपने ही ग्राम के निवासी गुलाबसिंह की कन्या कमला से प्यार करने लगता है. उसी ग्राम में वसन्तोत्सव के काल में शाह आलम का पर्दापण होता है. शाह कमला को देखकर मन्त्रमुग्ध हो जाता है, और गुलाबसिंह से अपनी कन्या को सौंपने का अनुरोध करता है. उसी समय शाह के सेवक कमला का अपहरण कर लेते हैं, किन्तु कमला एक सतर्क कन्या थी, वह मार्ग में ही अवसर पाकर भाग निकलती है. फलस्वरूप शाह अपने सेवक गुलाम कादिर को किले से बाहर निकाल देता है. तेजसिंह कमला के अपहरण से आग बबूला हो शाह के विरूद्ध कह उठता है कि– 'जो विदेशी है, वह जब तक मेरे देश की स्वाधीनता पर बंधान डालता है, मेरा शत्रु है.'[१५] उदयपुर के राजा प्रतापसिंह और जोधपुर के युवराज विजयसिंह से तेजसिंह की भेंट होती है, और सब मिलकर युद्ध की तैयारी में लग जाते हैं, परंतु अचानक तेजसिंह एक आकस्मिक घटना का शिकार होकर देवालय में शरण लेता है, जहाँ कमला उसकी सेवा करती है. शाह के सेवकों द्वारा अपहृत कमला गुलाम कादिर के चंगुल से भाग आई थी, और वह तेजसिंह की सेवा के बाद साधु का वेश धारण कर राष्ट्रीय जन–जागरण में लग जाती है.दूसरी ओर गुलाम कादिर का शाह के प्रति षडयंत्र सफल हो जाता है, और वह शाह को बन्दी बनाकर स्वयं राजगद्दी पर बैठ जाता है. शाह के प्रति उसका विद्रोह बहुत भयंकर है, वह शाह की आँखें फोड़ देता है और उसके परिवार के साथ दुराचार करता है, जिससे उसकी सर्वत्र बदनामी फैल जाती है. तेजसिंह और कमला गुलाम कादिर के विरोध में सैनिक एकत्रकर लाल किले पर आक्रमण कर देते हैं. तेजसिंह और कमला के मिलन के साथ ही उपन्यास की यह कथा समापत हो जाती है.

५.५ सामाजिक उपन्यासः-

कालक्रम के अनुसार विद्यावाचस्पतिजी की प्रथम सामाजिक औपन्यासिक कृति 'अपराधी कौन' है. 'बीजारोप', 'सिंचन', 'केनिंग', 'मजदूर जीवन', 'पांच वर्ष पीछे', 'हड़ताल', 'मजदूर से डाकू', 'डाकू से आजन्म कैदी' और 'हत्या' इन ६ परिच्छेदों में उपन्यास विभक्त है. रचनाकार ने इस उपन्यास के अंत में यह प्रश्न उपस्थित किया है कि आखिर 'असली अपराधी कौन था? उम्मेद या वह सामाजिक राजनीतिक संगठन जिसने उसे अपराधी बनाया.'[१६] उम्मेद एक श्रमिक परिवार से सम्बद्ध व्यक्ति है, उसके पिता जवाहरसिंह की मौत शराब पीने से हुई. उस समय केवल वह ६ वर्ष का बालक था, उम्मेद की माँ अनारो उसी मिल में नौकरी करने लगती है जिसमें उसके पति नौकरी करते थे. गरीबी के कारण अनारों अपने बेटे को स्कूल में नहीं भेज पाती. परिणामस्वरूप स्वच्छंद वातावरण में पलता हुआ वह शैतान पार्टी का मुखिया बन जाता है. इस बीच उसकी माँ बीमार हो जाती है और एक दिन नारंगी लूटने की शैतानी के कारण उम्मेद पुलिस की चपेट में आ जाता है और उसे कोतवाली में रखा जाता है. अनारो पुलिस के दरबार में पहुँचती है, और अपने 'उम्मेद को देखने की इच्छा व्यक्त करती है, किन्तु पुलिस के दुर्व्यवहार के कारण वह अपने बेटे से मिल नहीं पाती. अपनी माँ को धक्का देने वाले पुलिस को ईंट मारने पर पुलिस वाले उसे बारह बेतों की सजा देते हैं. तीन मास की जेल भुगतकर जब वह घर आता है तब उसे अपनी माँ की मृत्यु का समाचार मिलता है, अब वह समझ नहीं पाता कि क्या करे और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घूम–फिरकर उसी मिल में मजदूरी करने लगता है जहाँ माँ काम करती थी. उसी समय उसका परिचय एक श्यामा नामक स्त्री से हो जाता है. मिल के खजांची भरूचा के बलात्कार से मिल–मजदूरनी श्यामा को बचाने के सिलसिले में वह मरते–मरते बचता है. उम्मेद खजांची के षडयंत्र में फंसकर नौकारी से निकाल दिया जाता है और श्यामा से भी उसका वियोग हो जाता है. ऐसी स्थिति में वह विद्रोही बन जाता है और जीवन बिताने के लिए अन्य कोई मार्ग न सूझने पर वह डाकू मानसिंह के संपर्क में आ डाकू बन जाता है. खजांची भरूचा उम्मेद का इरादा समझ गया था इसलिए उसने श्यामा को अपनी वासना का शिकार बनाया और डाकू उम्मेदसिंह को श्यामा की हत्या के लिए अपराधी करार दे दिया गया. उसे आजन्म कारागार की सजा दे दी गयी. सुलतानपुर की जेल में उसे कठोर यातानाओं का सामना करना पड़ा. परिणामस्वरूप उम्मेद का सारे जीवन भर का क्रोध अत्याचार करने वाले नम्बरदार कालेखाँ पर केन्द्रित हो गया. "वह उसकी नजरों में माता को धक्का देने वाले सिपाही, बचपन में बेत लगाने वाले जेली, कारखाने में अत्याचार करने वाले भरूचा और सुलतानपुर के सब जेल अधिकारियों का प्रतिनिधि–सा दिखाई दे रहा था."[१७] इसका परिणाम यह हुआ कि जेल की दीवार फांदकर भागने से पूर्व जब उसने पीछे मुड़कर कालेखाँ को देखा तो भागने की स्कीम भूल उसकी गंजी खोपड़ी पर कील ठोक उसकी हत्या के अपराध में स्वयं गिरफ्तार हो गया. कैदियों के भाग जाने के जुर्म में पकड़े गये रहमतुल्ला और चन्दन अपनी पोल न खुले इसलिये अस्पताल में उम्मेद का गला घोंटकर हत्या कर देते हैं. रहस्य खुलने पर रहमतुल्ला को भी फाँसी हो जाती है.

उपन्यास के अन्त में प्रतीत होता है कि– उम्मेद के अपराधी बनने में स्वयं वह उतना उत्तरदायी नहीं है, जितनी की परिस्थितियाँ. घर की गरीबी, आस–पड़ोस का दूषित माहौल, जेल के अधिकारियों का कूट संगठन और लालची कुप्रवृत्ति. ये सब उसे अपराधी बनाने के लिए उत्तरदायी हैं. अपराधी बनते नहीं, बनाये जाते हैं. उम्मेद भी अपराधी न बनता अगर उसे उक्त परिस्थितियों से गुजरना न पड़ता. विद्यावाचस्पतिजी ने अपनी यह औपन्यासिक कृति भारत के दरिद्र नारायण को समर्पित करते हुए कहा है– "हे भारत के अभागे गरीब यह तेरी दुःख कहानी तेरे ही चरणों में समर्पित करता हूँ."[१८]

विद्यावाचस्पतिजी की दूसरी सामाजिक औपन्यासिक कृति 'जमींदार' है. उपन्यास की कथा ४४ परिच्छेदों में विभक्त है. इसमें उस काल का चित्रण है जब भारत में जमींदारी प्रथा व्याप्त थी और नारियों की स्थिति बहुत ही दयनीय थी. उपन्यास के पात्र दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं. – एक वर्ग जमींदारी वर्ग से संबंधित और दूसरा वर्ग मजदूर वर्ग से.

औपन्यासिक कथा में तुलसी नामक एक चमार है जो अपनी जाति में प्रतिष्ठित है. उसके दो लड़के थे बुन्दू और भज्जू. दोनों सड़क के किनारे गूलर के पेड़ के नीचे खाना खा रहे थे. उसी समय तेज रफ्तार से आती हुई एक लारी बुन्दू को कुचलते हुए निकल जाती है, जिससे बुन्दू की घटनास्थल पर ही मृत्यु हो जाती है. लारी का ड्राइवर वीरगढ़ के जमींदार रूपचन्द का आदमी था. रूपचन्द के यहाँ लड़की की शादी थी, और बारात का आगमन हो रहा था, उसी समय ग्रामवासी बच्चे की लाश लेकर जमींदार के घर गये. अहंकारी जमींदार खुद तो उनसे मिलने घर से बाहर नहीं निकला, पर उसने बड़ी क्रूरता से अपने लठैतों को भेजा, जिन्हें देखकर ग्रामवासी रफूचक्कर हो गये. बच्चे के पिता तुलसी भी बुन्दू की लाश छोड़कर भाग गया. रूपचन्द का संकेत पाकर नौकर जुहूर बच्चे की लाश को एक पेड़ के नीचे दफना देता है. ग्रामवासी पुलिस की शरण में जाते हैं, पर पुलिस भी जमींदार रूपचन्द से थरथर कांपती थी. आखिर तुलसी चमार भयभीत होकर अपना गांव छोड़कर अपनी बेटी की ससुराल भागलपुर चला गया. उसकी बेटी भागलपुर की रानी दयावती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के यहाँ पशुओं की देख–रेख करती है. रूपचन्द की रानी दयावती से अनबन थी. जब रूपचन्द को इस बात की खबर लगी कि तुलसी चमार को रानी दयावती ने शरण दी है तो उसने क्षुब्ध होकर प्रतिशोध की भावना से तुलसी के पूरे गांव को ही जला डाला. ग्रामवासियों और रूपचन्द के बीच मध्यस्थता करने वाला राजा रामसिंह नामक व्यक्ति इतना चतुर है कि किसी को भी चैन से नहीं बैठने देता. आखिर वह अपनी कपट बुद्धि से तुलसी को रूपचन्द के जाल में फांस देता है. रूपचन्द उस पर चोरी का इल्जाम लगाकर जेल भिजवा देता है और उसके भाई खुशीराम को धोखे से मार डालता है. रानी दयावती और रूपचन्द का टकराव तो चलता ही रहता है, पर दयावती का देवर गजेन्द्रसिंह और राजा रामसिंह भी जमींदार रूपचन्द से मिलकर दयावती के खिलाफ सांठ–गांठ करते हैं, परिणामस्वरूप दयावती के पति राजा वीरेन्द्रसिंह के मित्र रिपुदमनसिंह और रूपचन्द आदि में ठन जाती है. रिपुदमनसिंह अत्यन्त क्रोधी है वह जमींदार रूपचन्द के किसी भी अपशब्द को सहन नहीं कर सकता. उधर रूपचन्द भी भड़क कर रिपुदमन से कहता है– मैं तुम्हारे चेहरे पर नाक का भी निशान नहीं रहने दूंगा. रिपुदमनसिंह भी आवेश में प्रत्युत्तर देता है– 'आज से आठवें दिन के भीतर यदि रूपचन्द जिन्दा रहा तो मैं अपने हाथ से अपनी नाक काट दूँगा.'[१९] अन्त में रिपुदमनसिंह और तुलसी मौका पाकर जमींदार रूपचन्द को मार डालते हैं.

विद्यावाचस्पति जी की तीसरी सामाजिक औपन्यासिक कृति 'सरला की भाभी' है. जमींदार उपन्यास लिखने के बाद आपने जितने भी उपन्यास लिखे, उन सबके प्रमुख पात्र 'जमींदारी' परिवेश से जुड़े हुए हैं. 'सरला की भाभी' भी उनमें से एक है. यह विद्यावाचस्पति जी का सबसे प्रिय उपन्यास है.[२०] इसमें सरला एक बालिका के रूप में है जो घर के सुख–दुःखों को अनुभव करने लगी है. 'भारतीय समाज की पारिवारिक रूढ़ियों का दिग्दर्शन कराना' इस उपन्यास का उद्देश्य है.[२१] जमींदार परिवेश के त्यागी–ब्राह्मण–जमींदारों की ओर संकेत करते हुए कहा गया है– 'वे इतने पुराणपंथी थे कि लड़कियों को पढ़ाना तक पाप मानते थे.'[२२] इस उपन्यास के चार परिच्छेद हैं– 'तीसरा विवाह', 'दो वर्ष बाद', 'गंगास्नान' और 'अग्निपरीक्षा.'

इस उपन्यास की नायिका चम्पादेवी है, जो 'सरला की भाभी' अर्थात् सरला की माँ है. जमींदार वकील गोपीशरण की वह इकलौती पुत्री है. १५ वर्ष सम्पन्न होने के बाद उसका विवाह गोपालकृष्ण से होता है. गोपालकृष्ण भी संपन्न जमींदार परिवार से संबंधित है. और बैरिस्टरी करने हेतु विलायत जाने का इच्छुक है. सात महीने के विवाहित जीवन के बाद वह विदेश जाने लगता है, तब चम्पादेवी कहती है– 'नाथ ! परदेश जाकर इस दांसी को भूल न जाना.... मेरे सिर पर हाथ रखकर प्रतिज्ञा करो कि तुम मुझे भूलोगें नहीं,[२३] पर गोपालकृष्ण विलायत जाकर अपने प्रण को भूल जाता है, और एक विलायती मेम से दूसरी शादी कर लेता है. १६ वर्ष बीत जाते हैं. चम्पा की कन्या 'सरला' मैट्रिक उत्तीर्ण हो जाती है. जब गोपालकृष्ण विलायत से लौटते हैं तो चम्पा अपनी वियोग व्यथा की दारूण कथा सुनाती है, पर विरह के कारण कुरूप हुई चम्पा के मलिन वस्त्रों को देखकर गोपालकृष्ण अपनी भाभी देवकी से कहता है– 'हटाओ इस कुतिया (बुढिया) को, नहीं तो मैं बाहर जाता हूँ'[२४] कालान्तर में गोपालकृष्ण ने चम्पा के स्नेह सत्कार को भूलकर रामकली नाम की स्त्री से तीसरा विवाह कर लिया. देवर के इस तीसरे विवाह में भाभी देवकी ने बड़े उत्साह से भाग लिया. निर्धन कृषक कन्या रामकली के रूप यौवन पर गोपालकृष्ण इतना मुग्ध हुआ कि पुत्री सरला और पत्नी चम्पा को छोड़कर चला गया. जैसे ही रामकली को पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है, परिवार में संघर्ष बढ़ता है. अब तक परिवार में देवकी का ही पुत्र था. रामकली को पुत्रोत्पत्ति के समाचार से देवकी के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो गयी. परिणामस्वरूप उसने यह कहना शुरू कर दिया कि– 'यह अवैध पुत्र है. किसी नाई का बेटा है, रामकली का नहीं.' इस तरह परिवार में संघर्ष बढ़ गया. फलतः परिवार के तीनो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाई जमींदारी की संपत्ति को लेकर अलग–अलग हो गये. माधवकृष्ण की पत्नी रमा के सिवाय असहाय चम्पा की ओर कोई भी ध्यान नहीं देता था. कालान्तर में रामकली के प्रति गोपालकृष्ण का आकर्षण समाप्त हो जाता है और वह पारिवारिक जीवन से उकताकर 'बेलूर' ग्राम में निवास करने लगता है. उन्हीं दिनों अनुज माधवकृष्ण उसे परामर्श देता है कि मन की अशान्ति चम्पा के सिवाय दूर नहीं हो सकती अतः उसे अपने पास बुला लो. चम्पा गोपालकृष्ण के साथ रहने लगती है और इसी के साथ गोपालकृष्ण की रामकली के प्रति विरक्ति और चम्पा के प्रति आकर्षण बढ़ता है. जब रामकली के प्रति अनासक्ति का भाव बहुत अधिक बढ़ गया तो गोपालकृष्ण ने उसे चम्पा से अलग करने का विचार किया और गंगास्नान के बहाने उसे इलाहाबाद ले गया और 'कलंकिनी' सिद्ध कर उसे वहीं छोड़ दिया. रामकली विवश होकर मैके चली गयी, पर जब उसे अपने पुत्र के नामकरण संस्कार का पता चला तो वह बेलूर ग्राम पहुँची जहाँ से उसे अपमानित करके निकाल दिया गया. अपमानित होकर जब रामकली उसी गांव के मंदिर में शरण लेती है तो अकस्मात् चम्पादेवी की उस मन्दिर में रामकली से भेंट होती है. रामकली अपनी व्यथा–कथा को सुनाती है और चम्पादेवी उससे व्यथित हो अपने आपको कोसती हुई अपने पति, पुत्री व देवरानी रमा के नाम पत्र लिखकर अज्ञातवास के लिये निकल पड़ती है. यह कोई नहीं जान पाता कि चम्पादेवी कब और कहाँ चली गई. यहीं पर इस उपन्यास की कथा समाप्त हो जाती है.

विद्यावाचस्पति जी की चौथी सामाजिक औपन्यासिक कृति 'सरला' है. 'सरला का बंबई आगमन', 'महिला आश्रम में', 'भारतीबाई की जांच–पड़ताल', 'तीर्थयात्रा', 'सरला की वापसी', 'रामकली की मृत्यु', 'प्रकृति का न्याय' इन छः परिच्छेदों में उपन्यास विभाजित है. इसमें 'सरला बाह्य जगत् के संपर्क में आती है और उसके खोटे–खरे रूप को देखती है. 'धार्मिक दंभ का भंडाफोड़ इस उपन्यास में हुआ है.'[२५]

'सरला' उपन्यास सरला को केन्द्र में रखकर लिखा गया है. प्रथम परिच्छेद में सरला अपने पिता गोपालकृष्ण के साथ बंबई में दिखलायी देती है. गुजरात से बंबई आये २५ वर्षीय प्राणजीवन नामक युवक से सरला की भेंट होती है. प्राणजीवन उसी 'महिला आश्रम' में प्रधानाचार्य है जिसमें सरला अध्ययन के लिए प्रविष्ट होती है. दोनों एक–दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं और भविष्य के विषय में सोचने लगते हैं. जब सरला को यह पता चलता है कि आश्रम की अधिष्ठात्री बालविधवा भारतीदेवी उसके और प्राणजीवन की घनिष्ठता को पसन्द नहीं करती तो वह आश्रम छोड़ देती है. तत्पश्चात् उपन्यास में सरला की माँ चम्पादेवी का वर्णन किया गया है.

विद्यावाचस्पतिजी की पांचवी व अन्तिम सामाजिक औपन्यासिक कृति 'आत्म बलिदान' है. 'सरला की भाभी' और उसके बाद लिखे गये 'सरला' और 'आत्म बलिदान' ये तीनों उपन्यास एक ही श्रृंखला की कड़ियाँ हैं. प्रत्येक कड़ी सरला के जीवन के एक अध्याय की कहानी सुनाती है. आत्म बलिदान उपन्यास की केन्द्रबिन्दु सरला ही है, 'भूकम्प', बैलूर में जीवन प्रवाह', जमींदारी का बंटवारा', 'सरला का विवाह', 'सार्वजनिक जीवन की धूप–छांह' और 'बलिदान' नामक छः परिच्छेदों में उपन्यास की कथा विभाजित की गई है. जिसमें सरला विवाहित होकर सार्वजनिक जीवन के संघर्ष में आती है, जहाँ स्वार्थ और अहंकार के अत्याचारों से आहत होकर वह मातृभूमि की बलिदेवी पर अपनी आहुति दे देती है. उपन्यास आदर्शोन्मुख यथार्थवादी है, क्योंकि 'इसमें देश के स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व के राजनीतिक जीवन के एक तिरोहित भाग पर दीपक की ज्योति डाली गई है.'[२६]

'आत्म बलिदान' उपन्यास का घटनाक्रम बिहार के भूकम्प से शुरू होता है. सरला बिहार के जमींदार की कन्या थी, अतः भूकम्प के समय जन–धन की अपार क्षति होने से सरला के माता–पिता उसे बंबई ले आते हैं. कुछ समय बाद पिता का निधन हो जाता है. सरला और चम्पा भूकम्प पीड़ितों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सेवा में मग्न हो जाते हैं. बनारस से आये हुए स्वयंसेवक दल के नेता रामनाथ से इन दोनों का परिचय हो जाता है. चम्पा रामनाथ के सौम्य व्यवहार से प्रभावित हो अपनी बेटी सरला का विवाह रामनाथ से कर देती है. रामनाथ राजनीति में सक्रिय हो जाता है और सरला उसकी सहयोगिनी बन जाती है. राजनीतिक भाषण के कारण रामनाथ दो वर्ष की सजा पाते हैं और सरला राजनीति के क्षेत्र में एकाकी रह जाती है और अपने सरल स्वभाव के कारण वह प्रान्त भर की 'अजातशत्रु' ही नहीं, अपितु प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी की प्रधान भी चुन ली जाती है. किन्तु यह उसके लिए शुभदायी सिद्ध नहीं होता. रामनाथ सरला के विषय में झूठी अफवाहें सुनता है, जिससे दोनों के संबंध कटु हो जाते हैं. कुछ समय बाद सरला को रूग्णावस्था में छोड़ रामनाथ काँग्रेस पार्टी के वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित होने बंबई चला जाता है. इधर गांधीजी का 'करो या मरो' का सन्देश प्राप्त कर सरला अगस्त १९४२ को पटना में झंडा हाथ में लेकर निर्भीकता के साथ जुलूस का नेतृत्व करती है और इसी समय पुलिस की एक गोली उसके माथे को पार कर जाती है और वह वहीं शहीद हो जाती है. यह सरला का परिवार के साथ–साथ राष्ट्र के लिए भी बलिदान साबित हो जाता है.

५.६ विद्यावाचस्पतिजी की उपन्यास कलाः कथानकः-

उपन्यास के सात तत्वों में सर्वप्रथम कथानक है. यह कथानक कार्यकारण श्रृंखला में बंधा हुआ और रोचक होता है. विषय वस्तु की दृष्टि से कथानक की मौलिकता के साथ उसके प्रस्तुतीकरण का शिल्प भी सजीव होना आवश्यक है. विद्यावाचस्पति जी का चाहे 'शाह आलम की आँखें' (१९१८), नामक ऐतिहासिक उपन्यास हो, चाहे फिर 'सरला की भाभी' (१९४४) आदि सामाजिक उपन्यास हों, सभी जगह तथ्यात्मकता की प्रधानता है. डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे के शब्दों में 'उनके उपन्यासों में तथ्यात्मकता की प्रधानता उनके पत्रकार होने के कारण आ गयी है.'[२७] विद्यावाचस्पति जी एक सफल इतिहासकार भी थे. उनका ऐतिहासिक उपन्यास पढ़ते समय पाठक को आनन्द तो आता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह कल्पना की सूक्ष्मता के स्थान पर इतिहास का रोचक वर्णन पढ़ रहा हो. डॉ. ज्ञानवती दरबार ने टिप्पणी की है, 'इतिहास और कल्पना में जो समन्वय थैकर ने स्थापित किया है उसका विद्यावाचस्पति जी की रचनाओं में अभाव है.'[२८] कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर का कथन है– 'अपराधी कौन' उपन्यास पढ़ते समय वह एक संस्मरण ग्रंथ मालूम होता है.'[२९] इस प्रकार स्पष्ट है कि उपन्यासकार विद्यावाचस्पति पर उनका पत्रकार, इतिहासकार और संस्मरण लेखक हावी हो गया है. 'अपराधी कौन का कथानक विषय की दृष्टि से मौलिकता व नवीनता से युक्त है. समाज में प्रचलित दण्डविधान की पद्धति पर उसमें गहरी चोट की गई है.

उम्मेद एक निर्धन बालक था, मजबूरी ने उसे चोर बना दिया और अनावश्यक जेल की सजां पाकर वह डाकू बन गया. उपन्यास का कथानक मौलिक और नवीन होते हुए भी उपदेशात्मकता के स्वर के कारण उपन्यास की सरसता, सहजता व रोचकता को आघात पहुँचा है. विद्यावाचस्पति जी के सभी उपन्यासों में स्थान–स्थान पर उपन्यासकार पाठकों को संबोधित करते हुए दिखलायी देता है, जिससे उनकी शैली में कथावाचक जैसी उपदेशात्मकता आ गयी है, पुनरपि कथ्य की दृष्टि से उनके उपन्यास प्रभावशाली हैं, पर 'कथा संयोजन की दृष्टि से उनके उपन्यासों में हल्कापन आ गया है. डॉ. ज्ञानवती दरबार के अनुसार– 'कथा साहित्य की दिशा में इन्द्र जी ने जो प्रयोग किये वे लोकप्रिय भले ही हुए हों, पर संपूर्ण सफल नहीं कहे जा सकते... उनके उपन्यासों का कथानक कहीं–कहीं शिथिल है,'[३०] संक्षेप में विद्यवाचस्पति जी के उपन्यासों का कथानक कार्य–कारण शृंखला की दृष्टि से सुसंगठित नहीं है. कथा निर्माण की कलात्मक विशेषताओं का प्रायः उनमें अभाव है. उनके ऐतिहासिक उपन्यास 'शाह आलम की आँखें' में तो इतिहास अधिक और कला–कल्पना कम है. विद्यावाचस्पति जी के उपन्यासों में कथा शिल्प की इन न्यूनताओं का सर्व प्रमुख कारण उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोद्देश्यता है. वे कला के सप्रयोजन उपयोग के समर्थक हैं. उन्होंने अपने उपन्यासों की रचना प्रायः आर्यसमाज के सामाजिक और राष्ट्रीय नवजागरण की दृष्टि से प्रेरित होकर की है, अतःएव विद्यावाचस्पति जी की उपन्यास कला पर समय–असमय उनका दर्शन हावी हो जाता है तथा कथा शिल्प अविकसित रह जाता है. कथा–शिल्प में शैथिल्य का दूसरा बड़ा कारण उपन्यासकार का विवरण मोह प्रतीत होता है. उनमें उपन्यासकार की अपेक्षा इतिहासज्ञ के तत्व अधिक प्रधान एवं प्रभावशाली हैं, परिणामस्वरूप उपन्यास बोझिल बन गया है. विद्यावाचस्पति जी ने अपने उपन्यासों को कथ्य के आधार पर कथा शीर्षकों में विभाजित किया है. परिच्छेदों के शीर्षक देने से भी कथाशिल्प में न्यूनता आ गयी है. कथा विषयक पाठक की कौतूहल वृत्ति एवं जिज्ञासु को ये शीर्षक शान्त कर देते हैं, और कथा को पढ़ने की उत्सुकता समाप्त–सी हो जाती है. 'अपराधी कौन', 'सरला की भाभी', 'सरला', 'आत्म बलिदान' में परिच्छेदों के शीर्षक दिये गये हैं, पर 'शाह आलम की आँखें' तथा 'जमींदार' में परिच्छेदों के शीर्षक नहीं दिये गये हैं, पर इन उपन्यासों के शीर्षक ही ऐसे हैं जिनसे कथा का संकेत प्राप्त हो जाता है. जिज्ञासा अथवा कौतूहल प्रेमचन्द–प्रसाद कालीन उपन्यासों का प्राणतत्व है. विद्यावाचस्पति जी का इस ओर जितना ध्यान जाना चाहिये था, उतना नहीं जा पाया है. निष्कर्ष यही है कि विद्यावाचस्पति जी का कथा संयोजन अप्रौढ एवं अविकसित है. पुनरपि उनके कथानकों की विशिष्टता यह है कि उसमें उनका स्पष्ट जीवन–दर्शन प्रतिपादित हुआ है, तथा उसमें सफलता के साथ मानव–जीवन का चित्रण किया गया है. कथा शिल्प के अपेक्षित कौतूहल एवं जिज्ञासा के अभाव में भी विद्यावाचस्पति जी के उपन्यास रोचक हैं. यह रोचकता युद्ध एवं साहस के प्रसंगों तथा प्रेम–प्रसंगों द्वारा वे अपने उपन्यासों में लाते हैं. वे इतिहास तथा कल्पना इन दो विरोधी तत्वों के बहुत कुछ सीमा तक समन्वय करने में भी सफल हुए हैं. उनके उपन्यासों के कथानकों में वैचारिक मौलिकता, घटनात्मकता के साथ सत्यता और पारस्परिक सम्बद्धता भी है.

५.७ चरित्र चित्रणः-

उपन्यास का दूसरा तत्व चरित्र चित्रण है. शास्त्रीय दृष्टि से उपन्यास के उपकरणों में कथानक के पश्चात् चरित्र चित्रण को स्थान दिया जाता है. कथानक और चरित्र का इतरेतराश्रय संबंध है. इन्हें एक दूसरे से कभी पृथक् नहीं किया जा सकता. चरित्र की व्याख्या करते हुए बाबू गुलाबराय ने कहा है – 'चरित्र से तात्पर्य है, पात्र के व्यक्तित्व का बाह्य और आंतरिक स्वरूप.'[३१] मानव चरित्र में स्वभावगत भिन्नता पायी जाती है. समस्त पात्र अपने–अपने स्वभाव के अनुसार वर्गो का प्रतिनिधित्व करते हैं वर्गो के आधार पर पात्रों को दो भिन्न श्रेणियों में रखा गया है. १– वर्ग प्रधान पात्र – जो अपनी सामान्य विशेषताओं एवं आर्थिक हितों में समानता के कारण किसी विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं. २– व्यक्तित्व प्रधान पात्र – जो बौद्धिक दृष्टि से अपनी निजी विशेषताओं के कारण उपन्यास के अन्य पात्रों से किंचित भिन्न एवं विलक्षण होते हैं. चरित्र चित्रण का एक और भेद भी स्वीकार किया गया है – स्थिर और परिवर्तनशील. स्थिर चरित्र अपरिवर्तनशील होते हैं. प्रायः वे ऐतिहासिक या पौराणिक होते हैं तथा परिवर्तनशील चरित्र घात–प्रतिघातों से प्रभावित होते हुए उत्थान और पतन के झोंके में झूलते रहते हैं. विद्यावाचस्पति जी के 'शाह आलम की आँखें' का शाह आलम स्थिर चरित्र है और 'अपराधी कौन' का उम्मेदसिंह गतिशील चरित्र है. प्रमुख रूप से चरित्र चित्रण की दो शैलियाँ हैं. १– विश्लेषणात्मक या ऐतिहासिक पद्धति और २– अभिनयात्मक या नाटकीय पद्धति, पहली प्रत्यक्ष पद्धति है और दूसरी परोक्ष. विद्यावाचस्पति जी ने प्रधान रूप से पहली विश्लेषणात्मक पद्धति को ही अपनाया है.

पात्र-चयन-परिधि - विद्यावाचस्पति जी ने ऐतिहासिक उपन्यास के प्रमुख पात्रों का चयन इतिहास से किया है. शाह आलम, गुलाम कादिर, रामसिंह और माधोजी सिंधिया. मुगल कालीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐतिहासिक पात्र हैं. इस उपन्यास में लेखक ने इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त काल्पनिक पात्रों की भी सृष्टि की है. 'ह्रासोन्मुखी सामन्तवाद और मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख काल में तेजसिंह जैसे स्वाभिमानी राजपूत की अवधारणा कर स्वातन्त्र्य चेतना का सूत्रपात लेखक ने किया है.'[३२] उनके 'शाह आलम की आँखें' के अतिरिक्त शेष सभी सामाजिक उपन्यासों के पात्र काल्पनिक हैं. १८वीं १९वीं सदी के सजीव व्यक्तित्व विद्यावाचस्पति जी ने अपने पात्रों द्वारा प्रस्तुत किये हैं. उनके पात्र विविध वर्गो से संबंधित हैं, वे शासक व शासित, शोषक व शोषित, पूंजीपति व श्रमिक वर्ग के पात्र हैं.

चरित्र-निर्माण का स्रोत - लेखक का निजी व्यक्तित्व भी चरित्र चित्रण का एक बहुत बड़ा स्रोत होता है. जर्मन उपन्यासकार गेटे ने अपने जीवन की अनेक समस्याओं एवं विशिष्टताओं को वर्ण्य विषय के रूप में प्रस्तुत किया है. उनके उपन्यास 'विल्हेम मीस्टर्स अप्रेटिंसशिप' के नायक विल्हेम मिस्टर के विषय में जार्ज ल्यू काक्स का कथन है कि – 'उसमें गेटे के बहुत से व्यक्तिगत गुण समाविष्ट हैं और उसके विकास में उनके स्रष्टा के जीवन की अनेक घटनायें हैं.'[३३] हेन्री जेम्स भी चरित्र निर्माण का एक बहुत बड़ा स्रोत लेखक को ही मानते हैं.[३४] काल्पनिक पात्र तो विशेष रूप से लेखक के व्यक्तित्व व परिवेश के मूर्त रूप होते हैं. यही स्थिति विद्यावाचस्पति जी के औपन्यासिक चरित्र नायकों की है. बिहार भूकम्प सेवा कार्य के दिनों में 'आत्म बलिदान' का नायक रामनाथ, देहाती खद्दरधारी हुलिया में, अपनी अद्भुत सादगी के साथ रहने वाले राजेन्द्रबाबू के सामने आ जाने पर भी विद्यावाचस्पति जी की तरह यही पूछता है – 'राजेन्द्रबाबू नहीं आये क्या?'[३५] विद्यावाचस्पति जी ने भी गया कांग्रेस के अवसर पर राजेन्द्रबाबू के भाषण देने के लिए खड़े होने पर यही पूछा था कि "क्या राजेन्द्रबाबू उपस्थित नहीं हैं?"[३६] राजेन्द्रबाबू की टोपी का वर्णन जैसा 'आत्म बलिदान' में है, वैसा ही अक्षरशः उनके संस्मरणों में है.[३७] जब भयानक भूकम्प ने बिहार का अंग–भंग कर दिया, तो लेखक बिहार रिलीफ कमेटी के कार्यालय में दिल्ली से पटना पहुँचा था, तब उन्होंने जो कुछ अनुभव किया लगभग उसी प्रकार का अनुभव 'आत्म–बलिदान' का नायक रामनाथ करता है.[३८]

'सरला की भाभी' उपन्यास का नायक गोपालकृष्ण है. वह अपनी विवाहिता पत्नी को उस समय छोड़कर विलायत चला जाता है, जब वह गर्भवती थी. इस प्रसंग को पढ़ते समय विद्यावाचस्पति जी के अग्रज हरिश्चन्द्र की प्रतिमूर्ति सामने नजर आने लगती है, वे भी अकस्मात् घर–संसार को छोड़कर विलायत चले गये थे. गोपालकृष्ण के विलायत रवाना होते समय चंपादेवी कहती है कि – 'मेरे सिर पर हाथ रखकर प्रतिज्ञा करो कि तुम मुझे भूलोगे नहीं.' ऐसा प्रतीत होता है कि यह हृदयद्रावक कथन चम्पा का नहीं, अपितु विद्यावाचस्पति जी की भाभी सुभद्रा का है जो जीवन भर के लिए विलायत जाकर अदृश्य हो जाने वाले अपने पति के दर्शन न तो स्वयं कर पाती है और न ही अपने पुत्र को करा पाती है. 'सरला की भाभी' में अंग्रेज लड़की की आर्यसमाज मन्दिर में शुद्धि की गई है. शुद्धि या मत परिवर्तन के बाद उसे 'लूसी' से शान्तिदेवी बना दिया गया है.'[३९] वस्तुतः यह लूसी नहीं; अपितु कराची की 'असगरी बेगम है, जिसने स्वेच्छा से विद्यावाचस्पति के पिता स्वामी श्रद्धानंद की उपस्थिति में देहली आर्यसमाज में वैदिक धर्म स्वीकार कर 'शान्तिदेवी' नाम ही ग्रहण किया था.[४०] विद्यावाचस्पति जब तक जीवित रहे तब तक हर महीने उन्हें पत्र लिखा करते थे.[४१] दोनों में आजीवन भाई–बहिन का आत्मीय संबंध बना रहा.

विद्यावाचस्पति जी के धर्मक्षेत्र के गुरु एवं श्रद्धेय स्वामी दयानंद थे. स्वामी जी के बाल्यावस्था के दो नाम थे – मूलशंकर और दयाराम. कतिपय सन्यासियों में नया नाम ग्रहण करते समय अपने पूर्व नाम की स्मृति को किसी न किसी रूप में सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति पायी जाती है. संभव है इस प्रवृत्ति से प्रेरित होकर स्वामीजी ने सन्यासाश्रम में प्रवेश करते समय अपना नाम दयाराम से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दयानंद स्वीकार किया हो. दयानंद वस्तुतः दयासागर थे. जब विद्यावाचस्पति जी को अपने जमींदार उपन्यास में एक दयासागर स्त्री पात्र की सृष्टि करनी आवश्यक प्रतीत हुई, तब उन्होंने उसका नाम रानी दयावती ही रखा. विद्यावाचस्पति जी ने प्रतिपादित किया है, 'कहा जाता है कि स्वामीजी को विष देने वाले रसोइए जगन्नाथ को जब पश्चात्ताप हुआ, तो उसने अपना दोष स्वामीजी के सामने स्वीकार किया. स्वामीजी ने इस भय से कि लोग जगन्नाथ को कठोर दण्ड न दिलवा दें, सिरहाने के नीचे से पांच सौ रूपये की थैली देते हुए कहा– "जो हुआ सो हुआ, अब तुम इस रूपए को लेकर नेपाल भाग जाओ.[४२] इस घटना की स्मृति मस्तिष्क में होने के कारण ही विद्यावाचस्पति जी ने अपने 'जमींदार' उपन्यास में लिखा है – 'रानी दयावती ने ५००० रूपयों की थैली तुलसी के हाथ में देते हुए कहा – "बस, अब एक मिनिट भी यहाँ पर मत रूको. इसी समय रवाना हो जाओ और आम रास्ते को छोड़ते हुए बरेली तक पैदल चले जाओ. वहाँ से रेल पर सवार होकर पहाड़ की ओर चले जाना. पहाड़ी रास्ते से जल्दी ही तुम नेपाल की सीमा में पहुँच जाओगे."[४३]

विद्यावाचस्पति जी अपने राष्ट्रीय–राजनैतिक जीवन में तीन बार दिल्ली–फिरोजपुर आदि स्थानों की जेलों में रहे. तत्कालीन जेल– जीवन के अनुभवों के आधार पर ही उन्होंने 'अपराधी कौन' नामक उपन्यास की रचना की है.[४४]

विद्यावाचस्पति जी सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में आर्यसमाज के साथ व राजनीतिक क्षेत्र में काँग्रेस के साथ एकाकार हो गये थे. उनके उपन्यास के पात्र भी सामाजिक रूढ़ियों एवं जर्जरित परम्पराओं के प्रति विद्रोह करते हैं, उनमें शोषण एवं अन्याय के विरूद्ध क्रान्ति की जबरदस्त भावना है. बिहार के भूकम्प और भारत छोड़ो आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर रचित 'आत्म बलिदान' उपन्यास की कथा उनके सामाजिक–राजनैतिक जीवन के निजी एवं निकट की घटनाओं से बुनी हुई है. विद्यावाचस्पति जी के 'शाह आलम की आँखें', 'अपराधी कौन', 'सरला' आदि उपन्यासों में क्रमशः स्वामी कमलानंद, स्वामी भूतानंद एवं स्वामी योगानन्द आदि साधु–सन्यासियों की सृष्टि हुई है. इसका एक कारण यह भी है उनके पिता (स्वामी श्रद्धानंद) सन्यासी थे. वह भी उदासीन मौनी बाबा सन्यासी नहीं, कर्मयोगी सन्यासी. लोकमान्य तिलक ने एक बार इस निर्भीक वीर सन्यासी के बारे में कहा था– 'मैंने 'गीताभाष्य' में जिस कर्मयोग की व्याख्या की है, उसका साक्षात् रूप यदि देखना हो तो वह स्वामी श्रद्धानंद में है.' विशेष रूप से 'सरला' उपन्यास में चित्रित साधना समाज के सर्वेसर्वो स्वामी योगानन्द के व्यक्तित्व पर आर्य सन्यासी स्वामी श्रद्धानन्द की छाया नजर आती है.

पुरुष-पात्र- विद्यावाचस्पतिजी के उपन्यासों के पात्र मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते है. नायक और प्रतिनायक. शेष पात्र इन दोनों वर्गों के सहयोगी पात्र हैं. तेजसिंह (शाह आलम की आँखें), उम्मेदसिंह (अपराधी कौन), रामनाथ (आत्म बलिदान) नायक पात्र हैं. शाह आलम (शाह आलम की आँखें), कालेखाँ (अपराधी कौन), रूपचन्द (जमींदार), पं. रामधन (सरला की भाभी) आदि प्रतिनायक या खलनायक पात्र हैं. प्रथम वर्ग के नायक पात्रों के प्रति लेखक की सहानुभूति प्रकट हुई है, और प्रतिनायकों के प्रति उनकी विरक्ति एवं घृणा व्यक्त हुई है. इन प्रतिनायक पात्रों के अवगुणों को विद्यावाचस्पतिजी ने उभारा है. नायक पात्र लेखक के निजी आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे अन्याय–शोषण के विरूद्ध आवाज बुलंद करने वाले तथा समाज–सुधार व राष्ट्रोद्धार की भावनाओं का वहन करने वाले हैं. उनमें शूरवीरता, उत्साह, पौरूष आदि के गुण प्रायः समान हैं. 'शाह आलम की आँखें' में ५५, 'अपराधी कौन' में ६३, 'जमींदार' में ५८, 'सरला की भाभी' में १७, 'सरला' में १६ और 'आत्मबलिदान' में २४ पुरूष पात्र हैं.

नारी-पात्र- विद्यावाचस्पति जी के उपन्यासों में सबल नारी चरित्रों का चित्रण होता है, पर 'कमलादेवी' (शाह आलम की आँखें) और रानी दयावती के सिवाय कोई भी नायिका या नारी फलागम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाती. कमलादेवी साहसी है. शाह आलम के अनुचर जब उसका अपहरण कर लेते हैं, तो वह साहस के साथ मार्ग में ही पलायन कर जाती है. अपने क्षत्रिय प्रेमी के संकट में पड़ने पर वह उसकी देवालय में सेवा करती है और तत्पश्चात् सन्यासिनी का वेश धारण कर स्वामी केवलानन्द के रूप में राष्ट्रीय जन जागरण के लिए निकल पड़ती हैं. गुलाम कादिर के कुकृत्य जब बहुत अधिक बढ़ जाते हैं, तब तेजसिंह के साथ कमला भी सैनिकों के संगठन में लग जाती है, और लाल किले पर आक्रमण कर द्रोपदी और दुर्गा का रूप धारण कर लेती है. गुलाम कादिर के यमपुर चले जाने के बाद गुलाब (तेजसिंह) और चमेली (कमला) का पाणिग्रहण हो जाता है. जब हम कमलादेवी का तेजसिंह के साथ राष्ट्रीय जन–जागरण व युद्धभूमि में साथ–साथ देखते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कथाकार जयशंकर प्रसाद की कथा कला से विद्यावाचस्पति जी की चरित्र–चित्रण पद्धति निश्चित रूप से प्रभावित हुई है. नारी चरित्रों में रानी दयावती (जमींदार) का चरित्र भी उल्लेखनीय है. उसमें पुरूषोचित साहस है, प्रजा के सुख के लिए वह अहर्निश चिंतित रहती है. शरणागत के प्रति वह 'यथा नाम तथा गुण' है. वह सज्जनों के लिए सर्वहितकारिणी और दुष्टों के लिए दुर्गा है.

उम्मेदसिंह की माँ अनारो (अपराधी कौन) एक अशिक्षित साधनहीन, निर्धन मजदूर महिला है, जो दवा के अभाव में और पुत्र के वियोग में असमय काल–कवलित हो जाती है. चम्पा (सरला की भाभी) कर्तव्यपरायणा, अतिशय सहिष्णु और पतिव्रता नारी है, उसके पति (गोपालकृष्ण) द्वारा सतायी हुई अपनी सौत रामकली की व्यथा कथा जानकर वह अज्ञातवास को निकल पड़ती है. रामकली (सरला की भाभी) का चित्रण एक जमींदार के विलासपूर्ण जीवन और वासना के चक्र में फंसी अभागी नारी के रूप में किया गया है. सरला (सरला व आत्मबलिदान) उदात्त चरित्र वाली सुशिक्षित महिला है. स्वतंत्रता सेनानी है. झूठी अफवाहों के कारण जब दाम्पत्य संबंध कटु हो जाते हैं, तब वह वैयक्तिक प्रेम के क्षेत्र में न फंसे रहकर १६४२ की अगस्त क्रान्ति का नेतृत्व करते हुए 'मातृभूमि पर अपना शीष चढ़ा देती है.' यही सरला का आत्म बलिदान है. विद्यावाचस्पति जी ने कमला (शाह आलम की आँखें) को प्रेयसी के रूप में, दयावती (जमींदार) को भागपुर की कुशल प्रशासिका जमींदार के रूप में, अनारो (अपराधी कौन) को साधनहीन माँ के रूप में, चम्पा (सरला की भाभी) को कुशल गृहिणी के रूप में व सरला (सरला व आत्म बलिदान) को राष्ट्र सेविका के रूप में चित्रित किया है. 'सरला की भाभी' रामकली के माध्यम से 'नारी की करूण स्थिति का चित्र' पाठकों के सामने प्रस्तुत किया गया है. 'शाह आलम की आँखें' में ४, 'अपराधी कौन' में १०, 'जमींदार' में १४, 'सरला की भाभी' में १४, 'सरला' में ६ और 'आत्म बलिदान' में ६ नारी पात्र हैं. कमला, अनारो, दयावती, चम्पा, रामकली, सरला ही विद्यावाचस्पति जी के उपन्यासों के मुख्य नारी पात्र हैं.

बहिरंग चित्रण- बहिरंग चित्रण का संबंध पात्रों की आकृति, वेशभूषा, अवस्था, नाम, क्रिया, अनुभव आदि से होता है. विद्यावाचस्पति जी के उपन्यासों में पात्रों के बहिरंग चित्रण की प्रवृत्ति अधिक है. पात्रों के बहिरंग चरित्र–चित्रण की ओर उनका झुकाव इस बात का परिचायक है कि चरित्र–चित्रण में उनका दृष्टिकोण इतिहासकार का अधिक और उपन्यासकार का कम है.

विद्यावाचस्पति जी को बहिरंग चित्रण के अन्तर्गत पात्रों की आकृति एवं वेशभूषा का वर्णन अभीष्ट रहा है. ऐसे वर्णनों से उनकी रचनायें भरी पड़ी हैं. 'शाह आलम की आँखें' में तेजसिंह की बाह्यकृति का वर्णन इस प्रकार है. –'उस राजपूत युवा की अवस्था लगभग २४ वर्ष होगी. उसका ऊँचा कद, उन्नत ललाट, विशाल आँखें, विस्तीर्ण पेशानी और सुदृढ पट्टेदार शरीर स्पष्टतया सूचित कर रहे थे कि वह एक ऊँचे वंश का राजपूत है.'[४५] 'अपराधी कौन' में उम्मेदसिंह का हुलिया देखने लायक है – 'बाल खड़े हुए, मुँह पर कालिमा, कपड़े मैले, पांव लड़खड़ाते हुए, आँखों में थकान.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[४६] 'सरला' में सरला की बाह्यकृति का वर्णन इस प्रकार किया गया है – 'रंग बहुत गोरा न सही, साफ था, चेहरा लम्बाई पर होता हुआ भी गोलाई में समाप्त हो जाता था. आँखें चेहरे के अनुपात में ठीक थी. न बहुत लजीली, न सर्वथा निःसंकोच.... सरला के चेहरे में सबसे अधिक सुंदर और आकर्षक वस्तु उसकी आँखें ही थीं. नाक छोटी और नुकीली थी. होंठ पतले और भावपूर्ण थे, माथा सामान्य से अधिक ऊँचा था.'[४७] इसी प्रकार प्राणजीवन[४८] ('सरला'), रामकली[४९] ('सरला की भाभी'), कमलादेवी[५०] ('शाह आलम की आँखें) इत्यादि के चरित्रांकन में भी उपन्यासकार ने उसकी बाह्यकृति का वर्णन किया है

आकृति के साथ पात्रों की वेशभूषा का भी सजीव वर्णन हुआ है. 'अपराधी कौन' में हवालाती कालेखाँ के आकार–प्रकार एवं वेशभूषा का चित्रात्मक वर्णन द्रष्टव्य है – 'वह कोई पैंतीस साल की उम्र का हट्टा–कट्टा आदमी था, लंबा कद, बड़ी–बड़ी मूछें, भयावनी आँखें, सिर पर पेशावरी टोपी, बदन पर लुंगी, सलवार और कोट[५१] 'अपराधी कौन' के नायक बाल–मजदूर उम्मेदसिंह की वेशभूषा की ओर उपन्यासकार ने इस प्रकार संकेत किया है – 'उसके शरीर पर केवल दो कपड़े थे एक पाजामा था, दूसरा फटा हुआ कुरता, सिर और पांव से वह नंगा था. उन चीथड़ों में से उसकी बड़ी–बड़ी आँखें, गोल चेहरा और सुग्गे की–सी उभरी हुई नाक से प्रतीत हो रहा था, मानो कीचड़ में से कमल का फूल झलक रहा है. इस समय उस कमल के फूल पर बहुत–सा गर्द गुबार पड़ा हुआ था.'[५२] इसी तरह अन्यत्र भी विद्यावाचस्पति जी ने चरित्रांकन में पात्रों के आकार–प्रकार एवं वेशभूषा का चित्रात्मक वर्णन किया है. उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द के मतानुसार 'किसी चरित्र की रूपरेखा अंकित करते समय हुलिया नवीसी की जरूरत नहीं. दो–चार वाक्यों में मुख्य–मुख्य बातें कह देनी चाहियें.'[५३]

वस्तु जगत् की भांति उपन्यास जगत् के पात्रों का भी कोई न कोई नाम अवश्य होता है. यह नाम सार्थक एवं उसके चरित्र का व्यंजक होता है. पात्रों का नामकरण करते समय उपन्यासकार के सामने पात्रों का समूचा चरित्र विकास आ जाता है. उसके गुणावगुण उसे प्रत्यक्ष दिखलायी देते हैं. चरित्रचित्रण में विद्यावाचस्पति जी ने पात्रों को यथोचित नाम प्रदान किये हैं, 'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति उनके अनेक पात्रों पर चरितार्थ होती है. जैसे– 'जमींदार' उपन्यास में भागपुर की रानी का हृदय दयावान होने के कारण ही उसका नाम दयावती रखा गया है. 'रिपुदमनसिंह' दयावती के रिपु ज़मींदार रूपचन्द का दमन करता है, इसी कारण उसका नाम रिपुदमनसिंह है. 'अपराधी कौन' का उम्मेदसिंह एक ऐसा पात्र है, जिससे अन्याय के निवारण करने की हर हमेशा उम्मीद की जा सकती है. इसी उपन्यास का कालेखाँ रंग रूप से ही नहीं स्वभाव से भी भयानक है. 'सरला' उपन्यास की सरला वस्तुतः सरल हृदया है. ग्रामीण पात्रों के नाम अनारो, सुखदेई, घीसा ('अपराधी कौन'), बुन्दू, भज्जू, खचेड़ू, पीरू, कल्लू ('जमींदार'), चेतू, खुनिया, पुनिया, चुनिया ('सरला की भाभी'), हरदेई, गुलाबदेई, बदलू ('सरला'), टहलिनी ('आत्मबलिदान') आदि स्वाभाविक नाम हैं, जो ग्राम्य होने के साथ–साथ अशिक्षित वर्ग के प्रतीक हैं, अभिप्राय यह है कि विद्यावाचस्पति जी ने अपने कतिपय काल्पनिक पात्रों के नामकरण द्वारा भी उनके चरित्र की ओर संकेत किया है.

विद्यावाचस्पति जी ने यत्र–तत्र पात्रों के अनुभाव चित्रण के द्वारा भी उनके चरित्रों पर प्रकाश डाला है. देखिए विवाह हेतु कन्या (सरला) दर्शन के समय रामनाथ घर में किस प्रकार प्रविष्ट हो रहे हैं. –'तांगे से उतरने पर उसने अपने खद्दर के कुर्ते और धोती पर पड़ी हुई गर्द को अच्छी तरह झाड़ा. सिर पर खद्दर की जो गांधी टोपी थी, उसे साफ करके और नोक मिलाकर, फिर सिर पर कुछ थोड़ा–सा टेढ़ा कोण बनोते हुए रख लिया और अन्त में आँखों पर से चश्मा उतारा, उसे रूमाल से पोंछकर नाटकीय अदा से उसे नाक पर लगा लिया.'[५४] गोपालकृष्णसिंह और चम्पा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घर में 'लूसी' मेम के बाद एक और सौत आ जाने से रमा–सरला अर्थात् चाची–भतीजी का एक मर्मस्पर्शी करूण अनुभाव भी दर्शनीय है. चम्पा की पुत्री – 'सरला... की आँखों से झर–झर आँसू बहने लगे. सरला अपना सिर रमा की गोद में ड़ालकर रोने लगी और उसके मुंह को रमा की आँखों से निकले हुए आँसू भिगोने लगे.'[५५]

विद्यावाचस्पति द्वारा चित्रित युद्ध–वर्णन के प्रसंगों में भी प्रेमी–प्रेमिका के अनुभावों का चित्रण मिलता है – "तेजसिंह दरवाजे से कुछ आगे बढ़ गया. पठान सिपाही खाई के पार ही ठहर गये. कमलादेवी भागकर ऐन पास आ पहुँची. उस समय तेजसिंह और कमलादेवी दोनों पास–पास थे और सब लोग कुछ दूरी पर थे. औरों को धोखा देने के लिए तेजसिंह ने जोर से डपटकर कमलादेवी से कहा – 'अरी पगली कहाँ भागी आती है और बिल्कुल पास ही जाकर कन्धे पर हाथ रखकर कान में कहा– "कमलादेवी तुम कहाँ." कमलादेवी ने कान में कहा– "मैं अपने प्राणनाथ के पास. " दरवाजे पर और राजपूत तमाशा देख रहे थे. तेजसिंह ने देखा कि अन्यों के आने पर मामला बिगड़ जायेगा, धीरे से कमलादेवी के कान में कहा– 'तुम पगली ही बनी रहो, मैं ठीक कर लूँगा. " कमलादेवी जोर से चिल्लाकर कहने लगी "मुझे छोड़ ! छोड़ ! कौन है, शिव की पार्वती को छूता है."[५६] संक्षेप में यहाँ इतना ही संकेत करना पर्याप्त होगा कि विद्यावाचस्पति जी ने पात्रों के चरित्रांकन में उनका अनुभाव चित्रण भी किया है.

अन्तरंग चित्रण- पात्रों के जीवन स्वरूप को जानने के लिए उनकी आन्तरिक चेतना को जानना, उसके अन्तर्मन का विश्लेषण करना अनिवार्य है. विद्यावाचस्पति जी के उपन्यासों में पात्रों के अर्न्तमन का विश्लेषण भी मिलता है, प्रमुख रूप से वे अपने नायकों की विशेषताओं का ही वर्णन करते हैं, उनके अंतर्द्वन्द्व के चित्रण में उनकी बुद्धि विशेष रूप से नहीं रमती. इसका कारण यह है कि उसके पात्र अपने स्रष्टा की तरह जीवन और जगत् के प्रति सुनिश्चित एवं स्पष्ट विचारधारा रखते हैं. वे अपने निर्धारित जीवन–दर्शन के अनुसार कार्य करते हैं. पुनरपि पात्रों के स्वभाव वर्णन में उनकी आन्तरिक प्रवृत्ति का चित्रण हो जाता है. विद्यावाचस्पति जी ने पात्रों के अर्न्तमन का भी विश्लेषण कियाहै. उम्मेदसिंह की हत्या में सहभागी चन्दनसिंह का बयान देखिए– "मैंने पूरे जोर से उसके घुटनों का दबाया और उस पर बैठ गया. रहमतुल्ला ने गर्दन दबा रखी थी, वह छाती पर बैठ गया.... एक बार गले से घरघराहट की आवाज सुनाई दी और बस उसके जीवन का टिमटिमाता–सा दिया बुझ गया. जब उसका शरीर लाश होकर पड़ गया, तब मेरे दिल में एक तीर–सा चुभ गया, मुझे अनुभव हुआ कि मैंने बुरा किया और मैं चुपचाप... बाहर आ गया... कोठरी में लेटकर सोने की चेष्टा की, परन्तु उम्मेद के गले की वह अन्तिम घरघराहट की आवाज मेरे कानों में आती ही रही. मैंने आँखें बन्द कीं, तो वह आवाज और भी जोर से आने लगी ! मैंने कान बंद किए तो अंदर से एक इस जोर की आवाज उठी कि मैं सह न सका और कोठरी से बाहर निकलकर एक दरख्त के नीचे बैठ गया... वही घरघराती हुई आवाज मेरे कानों में गूँज रही थी. फिर क्या हुआ मुझे मालूम नहीं, मुझे जब होश आया तो मैंने अपने आपको पागलखाने के एक कमरे में पाया. यद्यपि अब मेरा होश ठिकाने है और मैं सब कुछ देख और समझ सकता हूँ, पर वह घबराहट की आवाज अब भी मेरे कानों में गूंजती रहती है. जब मैं उसे सुनता हूँ तो मेरा दिल धड़कने और सिर घूमने लगता है."[५७]

इसी तरह अन्यत्र भी 'अपराधी कौन' (पृ. ५७–५८, ६२, ६६–१००, १०६–७, २१२–१३, २२७–२८), 'शाह आलम की आँखें' (१६३), 'सरला की भाभी' (२७, १७३), 'सरला' (३७, १६७, २२३–२४), 'आत्म बलिदान' (१०, ३७, ५८, ८०, ८१, ६४, १०१, २२२–२३, २३३) में विद्यावाचस्पति द्वारा किये गये पात्रों के अर्न्तमन के विश्लेषण उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं. प्रो. विजयेन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्नातक ने ठीक ही कहा है कि – 'विद्यावाचस्पति जी ने 'कहीं–कहीं' मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण किया है, किन्तु ऐसे स्थल अत्यल्प हैं.'[५८] उनकी दृष्टि पात्रों को उनके ऐतिहासिक रूप में चित्रित करने की ओर अधिक रही है. वे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की तरह पात्रों के संघर्ष को उभार नहीं पाये. उन्होंने उपन्यासकार की अपेक्षा इतिहासकार की चरित्र चित्रण की पद्धति का अधिक उपयोग किया है. इतिहासकार की पहुँच पात्र के व्यक्त अंश तक ही होती है, अव्यक्त से उसका कोई संबंध नहीं होता. उनकी उपन्यास कला की शक्ति पात्रों के व्यक्त रूप अर्थात् आचार–व्यवहार को चित्रित करने में ही लगी रही है. अतः औपन्यासिक चरित्र चित्रण की दृष्टि से उन्हें यथेष्ट सफलता नहीं मिल पायी है. अपने चरित्र–चित्रण में उन्होंने प्रत्यक्ष चित्रण पद्धति–वर्णनात्मक पद्धति के साथ–साथ चरित्रांकन के लिए नाटकीय पद्धति का भी आश्रय लिया है, जिसमें घटनाओं, पात्रों की क्रियाओं–प्रतिक्रियाओं संवादों एवं अन्य पात्रों के माध्यम से वे चरित्र–चित्रण प्रस्तुत करते हैं.

५.८ संवादः-

संवाद उपन्यास का तीसरा तत्व है. व्यक्ति वही होता है, जो अपने आपको अभिव्यक्त करे और अभिव्यक्ति का सबसे अच्छा माध्यम संवाद ही है. उपन्यास में प्रायः दो अथवा अधिक पात्रों के वार्तालाप के लिए कथोपकथन या संवाद शब्द प्रयुक्त होता है, परन्तु कभी–कभी एक ही पात्र आत्मतल्लीनता की स्थिति में स्वयं से ही वार्तालाप करने लगता है. इसे स्वगत कथन कहा जाता है. प्रेमचन्द औपन्यासिक संवादों के विषय में लिखते हैं. – 'उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाय उतना ही अच्छा है.'[५९] कथोपकथन का उद्देश्य है कथानक का विकास, पात्रों की व्याख्या तथा लेखक के आशय को स्पष्ट करना. उपयुक्तता, स्वाभाविकता, संक्षिप्तता, उद्देश्यपूर्णता, पात्रानुकूलता, व्यंग्यात्मकता, भावात्मकता आदि संवाद के आवश्यक गुण हैं. पात्र कथा–प्रवाह में धीरे–धीरे पृथक् हो जाते हैं, उनमें निकटता लाने के लिए भी कथोपकथन बड़े उपयोगी होते हैं.

विद्यावाचस्पति जी ने अपनी औपन्यासिक कृतियों में संवादों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है. 'सरला की भाभी' उपन्यास का प्रारंभ ही संवादों के साथ हुआ है और इस उपन्यास की अगली कडी 'सरला' उपन्यास तो संवाद प्रधान रचना है. अन्य उपन्यासों में भी संवादों का प्रभूत प्रयोग है. विद्यावाचस्पति जी के संवाद केवल सजावट के लिए नहीं है, उन्होंने संवादों द्वाराकथा का विकास (जैसे 'अपराधी कौन' में – हीरासिंह, गुलाबसिंह और चन्दनसिंह का वार्तालाप–पृ. २२५) करने के अतिरिक्त पात्रों के व्यक्तित्व का भी उद्घाटन किया है. (जैसे 'आत्मबलिदान' उपन्यास में देवकी–माधवकृष्ण–राधाकृष्ण के वार्तालाप से देवकी के कठोर व्यक्तित्व का चित्रण–पृ.६०, 'सरला' में जर्नादन पण्डित और महात्मा के वार्तालाप से चंपा का चरित्र चित्रण पृ. १६६–२०४) संवादों से विद्यावाचस्पति जी के स्त्री–शिक्षाविषयक विचारधारा को भी अभिव्यक्ति मिली है. (जैसे 'सरला' उपन्यास में महात्मा द्वाराचम्पा को सार्थक गायत्री जप करने का उपदेश देकर केवल स्त्री शिक्षा का समर्थन ही नहीं किया है अपितु उसे वेदाधिकारी भी बनाया गया है–पृ. २००–२०१). विद्यावाचस्पति जी के संवाद संक्षिप्त ('सरला' उपन्यास में रमा–सरला संवाद पृ.१८–१६, गोपालकृष्ण–सरला संवाद–पृ. २४), एवं दीर्घ (जैसे 'जमींदार' उपन्यास में बूढ़ी ब्राह्मणी रानी दयावती संवाद–पृ.७१, राजा रामसिंह–रूपचन्द संवाद–पृ.७३) दोनों प्रकार के हैं. पर दीर्घ ऊबाऊ संवादों की मात्रा नगण्य सी है. औपन्यासिक संवाद भावात्मक (जैसे 'जमींदार' में रूपचन्द–रिपुदमनसिंह संवाद–पृ. १३५), रिपुदमनसिंह–रानी दयावती संवाद–पृ. १५१) नाटकीय (जैसे 'जमींदार' में दयावती–रूपचन्द संवाद–पृ. ११४–११६, तथा दयावती–गजेन्द्रसिंह संवाद ११८–१६), एवं व्यंग्यात्मक (जैसे– 'जमींदार'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ही रूपचन्द–रिपुदमनसिंह संवाद–पृ. १३२–१३४) हैं. इन संवादों में यथोचित्त संक्षिप्तता, पैनापन और कार्यानुसार गतिशीलता भी है. संक्षिप्तता और भावात्मकता की दृष्टि से क्रमशः 'सरला' उपन्यास के माणिकलाल–प्राणजीवन संवाद (पृ. ८०) और भारतीबाई–प्राणजीवन संवाद (पृ. ११७–१८) अतिशय उत्कृष्ट हैं.

संवादों की भाषा पात्रानुकूल एवं वातावरणानुरूप है (जैसे–'अपराधी कौन' में रहमतुल्ला–बेगम की बातचीत–पृ. २३६) 'जमींदार' में रानी दयावती–तुलसी की बातचीत–पृ. १४३), 'शाह आलम की आँखें', 'अपराधी कौन' व 'जमींदार' उपन्यास में पात्रानुकूल संस्कृत, उर्दू और देशज शब्दों का प्रयोग संवाद में किया गया है. व्यंग्यात्मक संवाद की दृष्टि से 'आत्म–बलिदान' का रामनाथ–डॉ. कैलाश संवाद (पृ. १०७) भी उल्लेखनीय है.

इस प्रकार विद्यावाचस्पति कृत उपन्यासान्तर्गत संवाद संक्षिप्त सजीव एवं गतिशील है.प्रायः संवाद 'अभिधा' शैली में ही लिखे गये हैं. लक्षणा और व्यंजना से उनका संबंध नहीं है, पुनरपि संवाद–कला की दृष्टि से उनकी रचनायें उत्कृष्ट न सही, पर उत्तम कोटि की जरूर हैं. आधुनिक युग में मनोभावों को चित्रित करने के लिए उपन्यासों में स्वगत–कथन अत्यावश्यक माने गये हैं, पर विद्यावाचस्पति के उपन्यासों में एक दो अपवादों को छोड़कर प्रायः उनका अभाव ही है. संक्षेप में औपन्यासिक संवाद की जो सैद्धान्तिक विशेषताएं हैं, वे प्रायः विद्यावाचस्पति जी के उपन्यासों में न्यूनाधिक रूप में पायी जाती हैं.

५.६ देश-कालः-

देश काल उपन्यास का चौथा मूल तत्व है. इसके अन्तर्गत किसी भी देश अथवा समाज की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ, आचार–विचार; रूढ़ियाँ, प्रथायें, रीति–रिवाज तथा समाज की विशेषताएं एवं कुरीतियों आदि का चित्रण किया जाता है. ऐतिहासिक उपन्यासों में भी ऐतिहासिक घटनाओं की अपेक्षा तत्कालीन जीवन–चित्रण को अधिक महत्व दिया जाता है. विद्यावाचस्पति जी के उपन्यासों में देश और काल का सजीव चित्रण हुआ है.

देश-चित्रण- विद्यावाचस्पति जी के उपन्यास विविध स्थानों और घटनाओं से सम्बद्ध हैं. 'शाह आलम की आँखें' का मुख्य घटना स्थल सुजानपुर (दिल्ली) व लालसोठ (जयपुर) नामक गांव है. 'अपराधी कौन' का मुख्य घटना स्थल दिल्ली और पंजाब के ग्राम्य परिसर तथा उसके जेलों से सम्बद्ध हैं. 'जमींदार' का घटना स्थल वीरगढ़, भागपुर और लाटपुर नामक गांव है. 'सरला की भाभी' का घटना स्थल सरजानपुर, बैलूर तथा प्रयाग है, 'सरला' उपन्यास का घटना स्थल हरिद्वार व बंबई है, और 'आत्मबलिदान' का घटना स्थल बम्बई व पटना से सम्बद्ध है. विद्यावाचस्पति जी ने देश अथवा भूगोल वर्णन में पर्याप्त सतर्कता से काम लिया है.

काल-चित्रण- 'शाह आलम की आँखें' उत्तर मुगलकालीन उपन्यास है. इसका घटनाकाल १७८७ है. इसमें दिल्ली के मुगल बादशाह 'शाह आलम' (द्वितीय) के विरूद्ध घटित राजनीतिक षडयंत्रों एवं शाह के अंधे होने की कथा है. मुख्य घटना केन्द्र दिल्ली से १८ किलोमीटर पर स्थित सुजानपुर व जयपुर से ४३ किलोमीटर पर स्थित लालसोठ गांव है. विद्यावाचस्पति जी ने सन् १९२७–२८ व १९३० में जो जेल जीवन का अनुभव दिल्ली व पंजाब की जेलों में प्राप्त किया उसी पर 'अपराधी कौन' उपन्यास की रचना हुई है. 'जमींदार' उपन्यास का काल १९३६ से पूर्व का है, जब देश में राष्ट्रीय सरकारें अभी स्थापित नहीं हो पायी थीं. 'जमींदार' उपन्यास के चार घटना केन्द्र मुख्य हैं. रेलवे स्टेशन से ८ मील दूरी पर स्थित वधू के पिता रूपचन्द जमींदार का गांव वीरगढ़, वीरगढ़ से १५ मील दूरी पर स्थित वर पक्ष का गांव रामपुर खुर्द, रूपचंद जमींदार के आतंक से आतंकित तुलसी किसान का गांव लालगढ़, जहाँ से सरकारी अस्पताल दस मील दूर और लाटपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ११ मील दूर तुलसी को शरण देने वाली तथा जमींदार रूपचन्द के अहम् को चकनाचूर करने वाली विधवा रानी दयावती का गांव भागपुर. 'सरला की भाभी', 'सरला' और 'आत्म बलिदान' उपन्यास की कथा स्वातन्त्र्य पूर्वकालीन १६ वीं सदी के पूर्वार्द्ध की है. 'सरला की भाभी' में भारतीय समाज की पारिवारिक रूढ़ियों का वर्णन किया है. 'सरला' में धार्मिक दंभ का भण्ड़ाफोड़ किया गया है और 'आत्म–बलिदान' में सन् १६३४ में बिहार भूकम्प से लेकर सन् १६४२ के अगस्त क्रांति तक की राजनीतिक कथा कही गयी है.

५.१० परिवेश चित्रणः-

विद्यावाचस्पति जी के उपन्यासों में खिलाफत, कम्युनिस्ट व काँग्रेस आंदोलन की झलक बतलाकर राजनीतिक परिवेश का चित्रण यथोचित रूप में किया गया है. बात उस समय की है जब यूरोप का पहला महायुद्ध छिड़ गया था. टर्की जर्मनी का साथी बनकर इंग्लैण्ड के विरूद्ध युद्ध में उतर गया था. टर्की के बादशाह की सारे मुस्लिम जगत् में काफी प्रतिष्ठा थी, सभी लोग उसे खलीफा, धर्माध्यक्ष और प्रधान मानते थे. पर युद्ध में जर्मनी की हार होते ही विजयी इंग्लैण्ड ने टर्की के खलीफापन को उड़ा दिया. अंग्रेजों की इस कार्यवाही के विरोध में भारत में जो आन्दोलन छिड़ा था वह खिलाफत आन्दोलन कहलाया. इस कारण भी मुस्लिम नेताओं का झुकाव अंग्रेज सरकार की ओर से हटकर धीरे–धीरे काँग्रेस की ओर हो गया. 'अपराधी कौन' उपन्यास का 'नवाब खाँ' इसी समय काँग्रेस का स्वयंसेवक बना था. इस समय काँग्रेस में सम्मिलित होने वाले मुस्लिम वर्ग को विद्यावाचस्पति जी ने दो वर्गो में विभाजित किया है – सांप्रदायिक और राष्ट्रीय. नवाब खाँ राष्ट्रीय प्रवृत्ति का था. (पृ. ७२), सन् १६२७–२८ के जेल जीवन में ही 'लेखक' ने 'अपराधी कौन' उपन्यास लिखने की स्थूल रूपरेखा तैयार कर ली थी. लगभग इसी समय सन् १६२८ में मेरठ में भारतीय कम्युनिस्टों का अधिवेशन हुआ था. सरकार का यह आरोप था कि ब्रिटिश सत्ता को नष्ट करने के लिए कम्युनिस्टों ने इस अधिवेशन में एक षडयंत्र की रूपरेखा तैयार की थी. सरकार ने अमृत प्रसाद डांगे इत्यादि तैंतीस व्यक्तियों पर एक मुकदमा चलाया था. इस समय अनेक लेखकों की सहानुभूति मेरठ षडयंत्र के कम्युनिस्ट युवकों को प्राप्त हुई. विद्यावाचस्पति जी ने इस उपन्यास में प्रत्यक्ष रूप से इस षडयंत्र की चर्चा नहीं की है. पर जैसे मेरठ षडयंत्र में अनेक मुंबई राज्य के कार्यकर्ता गिरफ्तार किये गये थे वैसे ही इस उपन्यास में जो मजदूर सभा को संबोधित करने वाले स्वामी भूतानंद और श्री पाटनकर नामक अतिथि वक्ता आये हैं, वे भी मुंबई से ही आये हैं (पृ. ११३). 'आत्म बलिदान' उपन्यास तो तत्कालीन 'बिहार–भूकम्प' और 'भारत छोड़ो आन्दोलन' की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है, अतः चारों ओर खद्दर का साम्राज्य दिखाई देता है – एक बुजुर्ग खद्दर पहने हुए हैं (पृ. ७), एक खद्दर पहनी महिला के हाथ में खद्दर का झोला लटका हुआ है (पृ. ८). राजेन्द्रबाबू के सिर पर खद्दर की टोपी है और चारों ओर भी खद्दरपोशों की भीड़ है (पृ. १८). लेखक ने काँग्रेस से नेत्र उलझने केकारण कुटुम्बों को टूटते हुये बतलाया है (पृ. १४६). उपन्यास में स्वाधीनता आंदोलन का जीता जागता चित्र उपस्थित किया है. लोग जब आपस में मिलते हैं तो उनकी मुलाकात राष्ट्रीय अभिवादन के साथ होती है, जैसे बहिनजी वंदे ! (पृ. १८१), तिवारीजी वन्दे मातरम् ! (पृ. १८७), चंपादेवीजी वंदे ! (पृ. ७४).

विद्यावाचस्पति जी के उपन्यासों में राजनीतिक स्थिति की तरह तत्युगीन सामाजिक स्थिति की भी झाँकी यत्र–तत्र दृष्टिगोचर होती है. महाराष्ट्र के दलित समाज ने बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में माननीय डॉ. अंबेडकर की प्रेरणा से प्रेरित होकर जिस प्रकार ब्राह्मणवाद पर अपना क्रोध व आक्रोश व्यक्त किया है, न्यूनाधिक रूप में उसी प्रकार का तीव्र क्रोध व आक्रोश दयानन्द व उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज से प्रेरणा प्राप्त कर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में विद्यावाचस्पति जी ने अपने उपन्यासों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में किया है, जिसे देखकर आश्चर्य होता है. विद्यावाचस्पति जी ने अपने ब्रह्म के मुँह से उत्पन्न होने वाला बतलाने वाले तथाकथित ब्राह्मणों के धार्मिक पाखण्ड का पर्दाफाश करते हुए उन्हें व्यंग्य में 'गुरूघण्टाल' और 'वशिष्ठ मुनि का कलियुगी अवतार' कहा है (अपराधी कौन पृ. ६१, १६०). 'अपराधी कौन' उपन्यास में विद्यावाचस्पति जी ने खान–पान विषयक अस्पृश्यता की ओर भी संकेत किया है, चाहे फिर वह हिंदुओं के बीच हो या हिंदू–मुसलमानों के बीच (पृ. ७२). इसी उपन्यास में चंदनसिंह द्वारा कालेखाँ के बारे में कहे इस कथन से 'अरे कुरान की कसम में क्या रखा है, वह तो वह दिन भर खाया करता है. मैंने तो उससे उनकी जवान बीबी की कसम ले ली है' (पृ. २४२). संप्रदायों में दिन ब दिन हो रहे धार्मिक ह्रास का संकेत मिलता है. मुस्लिम समाज की बहुविवाह प्रथा व हिंदू समाज की विधवा दुर्दशा का भी चित्रण विद्यावाचस्पति के उपन्यासों में चित्रित है (तत्रैव ६६, २२६–३०). जन्मकुंडली, भाग्यवाद, गंगा–स्नान, अशिक्षा, अनमेल विवाह, कन्या बिक्री आदि रूढ़ियों व पतिगृह और पितृगृह दोनों ही ओर से पीड़ित नारी का 'सरला की भाभी' में यथार्थ चित्रण किया गया है (पृ. ६, ५५, १०६, १०८, १८६, १७१). 'कुंभ मेले' से लौटकर 'गंगा स्नान का मंगल–फल चखने वाले' यात्रियों का वर्णन करते हुए विद्यावाचस्पति जी कहते हैं – "कुंभ के मेले पर पहुँचना इतना कठिन नहीं, जितना वहाँ से निकलना. स्नान समाप्त होते ही ऐसी भगदड़ पड़ती है कि मानो स्नान के दो–एक दिन बाद मेले पर प्रलय टूटने वाली हो. यात्री सिर पर पांव रखकर भागते हैं. सब लोग पहली गाड़ी लेने की कोशिश करते हैं. जिसका परिणाम यह होता है कि मेला गंगा तट की जगह स्टेशनों पर भर जाता है और पहली गाड़ी उतने ही यात्रियों को ले जाती है, जितनों की उस गाड़ी में जगह हो. शेष यात्री कटघरों में भेड़–बकरियों की तरह भरे जाकर गंगा स्नान का मंगल फल चखते दिखाई देते हैं' (स.की.भा.–पृ. १४४). 'जमींदार' उपन्यास में तत्कालीन आर्यसमाज के आंदोलन के कारण 'गतानुगतिकता' को छोड़कर प्रगति पथ पर अग्रसर होने वाले समाज का भी प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप में चित्रण किया गया है, इसलिए उसमें बाल–विवाह का विरोध, स्त्री–शिक्षा व स्वयंवर–प्रथा का समर्थन है (पृ. १३७). 'शाह आलम की आँखें' (१६३२), 'अपराधी कौन' (१६३२) के पात्र प्रायः परस्पर राम–राम कहते थे, पर 'जमींदार' (१६३६) के पात्र 'राम–राम' के स्थान पर 'नमस्ते' कहने लगे हैं (५६, ८६, १२६). 'सरला' उपन्यास में बदलते हुए संक्रमणशील समाज का चित्रण है. जिसका एक पैर रूढ़िवाद में और दूसरा प्रगतिशीलता की ओर है, अतः अब वह केवल 'शिव–शिव' नहीं कहता, अपितु 'शिव–ओ३म्' कहने लगा है (१८३–१८८). ईश्वर के मुख्य नाम 'ओ३म' का पुनरूद्धार आर्यसमाज के पुनर्जागरण आन्दोलन का परिणाम है. 'सरला' उपन्यास का महात्मा आर्यसमाजी है, क्योंकि वह अर्थ सहित गायत्री मन्त्र का उपदेश चम्पा (स्त्री) को बतलाने का निर्देश ब्राह्मण को देता है (पृ. १६२). 'आत्म बलिदान' उपन्यास में लेखक ने सुधारकों का मजाक करने वाले सनातन धर्मी को सुधारक दल की ओर झुकते हुए बतलाया है (४३).

विद्यावाचस्पति जी के उपन्यासों में विस्तार से तो नहीं, पर सांकेतिक ढंग से आर्थिक परिस्थिति का भी वर्णन किया है. सन् १७८७ में एक रुपए के अवमूल्यन पर चिंता व्यक्त करते हुए 'शाह आलम की आँखें' का मराठा सिपाही कहता है – "अनाज का यह हाल है कि आज रुपए का चार सेर अनाज बिक रहा है. भला यह अनर्थ भी कहीं देखा जाता है, प्राण बचें तो कैसे'? (पृ. १०२). 'जमींदार' उपन्यास में लेखक ने किसान और मजदूरों के गांव को भस्मसात् कर देने वाली जमींदारी प्रथा की नृशंसता का चित्र अंकित किया है. उनके उपन्यासों में आर्थिक दृष्टि से विषमता की स्थिति में पहुँचा शासक–शासित या शोषक–शोषित वर्गीय विषम समाज का भी चित्रण हुआ है. 'अपराधी कौन' नामक उम्मेदसिंह के पास तन ढ़कने के लिए कपडा नहीं है और 'सरला की भाभी' का नायक अपनी दूसरी स्त्री को संतुष्ट करने के लिए प्रति मास दो हजार रूपये उड़ा देता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है (१३). लेखक के शब्दों में लूसी (प्रथम पत्नी चम्पा की तरह) हिन्दुस्तानी औरत तो थी ही नहीं, जो थोड़े में सन्तुष्ट हो जाती.

विद्यावाचस्पति जी ने अपने उपन्यासों में तत्कालीन परिस्थितियों के अतिरिक्त भौगोलिक दृष्टि से स्थान वर्णन में भी अभिरुचि ली है. 'अपराधी कौन' में दिल्ली के विविध बाजारों का वर्णन किया है (पृ. २, ५). राजधानी बन जाने और विश्वविद्यालय खुल जाने से दिल्ली का जो स्वरूप बदला है, उसका भी उपन्यास में वर्णन है. घर का खाकर बेकार वकील अदालतों की रौनक बढा रहें हैं और सरकारी मकानों में क्लर्क लोग रईसों की शान से स्वजीवन यापन कर रहे हैं (पृ. २८, ३२).

'सरला' उपन्यास में हरिद्वार और उसके समीपवर्ती परिवेश का सुंदर वर्णन किया गया है. शिवालिक की हरी–भरी चोटियाँ दूध भरे स्तनों की तरह अपनी संतान को संतोष का संदेश दे रहीं हैं (पृ. १७१). 'हिमालय की हरेक गुफा में महात्मा और हरेक झाड़ी में योगी है, पर हजारों नामधारी साधुओं में कोई एक दो ही सच्चे साधु हैं (१८३, १८६). 'सरला' में बम्बई उपनगरी की भी सजीव झांकी प्रस्तुत की गई है. नगरी में मराठों, गुजरातियों के अतिरिक्त पूर्वी व उत्तरी भारत से आया बहुत बड़ा समाज रहता है. मराठा–मजदूर के असली नमूने बंबई की घाटी नामक मजदूर श्रेणी में पाये जाते हैं (पृ. १०१). गुजराती समाज में छोटी आयु में ही 'वाग्दान' और 'लग्न' हो जाते हैं (६६). भारतीबाई रामलाल चौबे से कहती है, 'सरलाबाई यहाँ की बंबई की नहीं, पूरब की है, उसे पूरब की चाल से चलना चाहिये... क्या पूरब में वह एक पराये मर्द के साथ एक–दूसरे का हाथ पकड़कर घूमने जा सकती है (पृ. ६८). कलकत्ता की सख्त पर्दा प्रथा में रहने वाली अशिक्षित नारियों तथा फैशनपरस्त सुशिक्षित महिलाओं की तुलना में बंबई का वातावरण सरला को सौम्य, स्वाधीन व सादा प्रतीत होता है (पृ. ३२). बंबई की भीड़ भरी जिंदगी का वर्णन करते हुए उपन्यासकार कहता है – 'आस–पास की बस्तियों से बंबई की ओर जाने वाले लोगों का जनप्रवाह नदी की धारा की तरह बह रहा है (पृ. २०५). मुंबई के जीवन में लोकल ट्रेनों का विशेष महत्व है, उसका वर्णन करते हुए लेखक ने कहा है – 'रेलवे लाइन पर हर दूसरे मिनिट मनुष्यों के बोझ से लदी हुई लोकल गाडियाँ धड़ाधड़ भाग रही हैं. मुंबई का समुद्र तो निराशाग्रस्त व्यक्तियों का एक मात्र ठिकाना है (२१०).

'अपराधी कौन' में पंजाब के 'मांझा' और 'मालवा' प्रदेश की हरित शस्य श्यामल भूमि के वर्णन के साथ लड़ाकू सिक्ख व बहादुर अराई जाति की विशेषताओं का वर्णन किया गया है. (२०२–२०३). 'सरला' में पंजाबी यात्रियों की तीन विशेषतायें बतलायी है. – खाना, घूमना और कूड़ा बखेरना. जाट पुत्र की भी तीन विशेषताओं की चर्चा की है – वह धरती माता का अनथक सेवक, खुरदरी वाणी वाला व मालिक का अनन्य भक्त होता है. (पृ. १५४–१५५). ब्रिटिश कालीन अंधेरे गांवों तथा उनकी अटूट एकता का चित्रण करते हुए लेखक कहता है – 'गांव वालों की 'लोटा–नमक' शपथ बड़ी पक्की चीज है, वह यूरोप के देशों का अन्तर्राष्ट्रीय समझोता नहीं कि तोड़ने के लिये किया जाय' (जमींदार – पृ. ६६).

५.११ भाषा शैली:-

उपन्यास कला का पांचवाँ तत्व भाषा शैली है. हिन्दी उपन्यास के आरंभिक युग में जब भाषा शैली का स्वरूप पूर्णतया निर्धारित या स्थापित नहीं हो पाया था, तब विद्यावाचस्पति जी ने (सन् १६१८ में) उपन्यास लेखन के क्षेत्र में प्रवेश किया था. उपन्यासों की भाषा प्रायः मिश्रित भाषा थी. भाषा के परिवार एवं परिमार्जन के साथ ही भाषा के रूपों में स्थिरता के पश्चात् परवर्ती युग में भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्व का महत्व अधिक बढ़ गया है. पूर्वयुगीन अधिकांश उपन्यासों में तृतीय पुरुष के रूप में वर्णनात्मक शैली का ही प्रायः प्रयोग किया जाता था. विद्यावाचस्पति ने भी मुख्य रूप से इसी शैली का प्रयोग किया है, यद्यपि उसके अन्तर्गत उन्होंने कहीं स्मृतिपरक शैली, दृश्य विधान आदि का भी प्रयोग किया है. उनकी वर्णनात्मक शैली प्रकृति वर्णन ('शाह आलम की आँखें' में जैसे ब्राह्मण ग्रंथों से प्रभावित प्रकृति चित्रण–६३, वसन्तोत्सव का वर्णन-- पृ. १४–२०, पात्रों की गतिविधियों के साथ चित्रित प्रकृति वर्णन– 'सरला'–१२७–२८, ५२, १५४–१५५, – 'आत्म बलिदान'–१८०, २२४, २३०), भाव वर्णन, वस्तु वर्णन आदि में दर्शनीय है. उनकी यह शैली सरलता, रोचकता और प्रवाहात्मकता की दृष्टि से प्रभावोत्पादक है. सजीव संवाद, देश एवं पात्रानुकूल भाषा, मार्मिक प्रसंगों एवं रोचक वर्णनों के कारण उनके उपन्यासों की शैली चित्ताकर्षक है. वर्णनात्मक शैली के बीच अलंकारिक एवं हास्य व्यंग्यात्मक शैली के भी उदाहरण उनके उपन्यासों में प्राप्त होते हैं. घटना, पात्र, वातावरण आदि में इतिवृत्तात्मक की प्रधानता है.

विद्यावाचस्पति जी की भाषा में एकरसता नहीं है. कहीं–कहीं वह संस्कृतनिष्ठ रूप धारण कर लेती है तो कहीं अपने सहज व सरल रूप में प्रस्तुत है. उपन्यासों में स्थानीय रंग की सृष्टि के लिए जन–जीवन की भाषा के देशज शब्द ग्रहण किये हैं, जिससे स्थानीय वातावरण मुखर हो उठा है. संक्षेप में विद्यावाचस्पति जी की शैली वर्णनात्मक है, पर यथास्थान उन्होंने विश्लेषणात्मक, पत्रात्मक ('शाह आलम की आँखें' में ४ पत्र, 'सरला की भाभी' में ५ पत्रांश और तीन पत्र, 'सरला' में पांच पत्र और 'आत्म बलिदान' में ६ पत्र हैं); भावात्मक, मनोविश्लेणात्मक, स्मृतिपरक–फ्लैश बैक ('शाह आलम की आँखें' – पृ. २२७, 'अपराधी कौन' – २२७, 'जमींदार' –६२, 'सरला'–१४६, 'आत्म बलिदान'– २३८–२३६), संवाद व डायरी ('सरला'–२१४) शैली का भी प्रयोग किया है. उनकी भाषा प्रधान रूप से सहज–सरल, मुहावरेदार है. प्राचीन–ऐतिहासिक वातावरण को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने संस्कृत और उर्दू के यथोचित शब्दों का प्रयोग किया है, जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता हासिल हुई है. यथार्थ में विद्यावाचस्पति जी की भाषा 'शाह आलम की आँखें' (१६१८) उपन्यास को अपवाद रूप में छोड़कर शेष सभी उपन्यासों में पात्र–प्रसंगानुकूल सहज एवं स्वाभाविक है.

५.१२ उद्देश्यः-

उपन्यास कला का सातवां और अन्तिम तत्व उद्देश्य है. प्रायः सभी उपन्यासकार मानव–जीवन की अभिव्यक्ति को उपन्यास का उद्देश्य मानते हैं. मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार जी ने भी 'उपन्यास को मानव जीवन को गति देने वाला साहित्य माना है'.[६०] यथार्थ में उपन्यास साहित्य बदलते हुए मानव–समाज का इतिहास है और यह उसका महत्व है.

विद्यावाचस्पति जी कला के उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुयायी हैं. साहित्य में वे 'सत्य' और 'शिव' तत्व को 'सुन्दरम्' की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं. इस कारण उनके औपन्यासिक कथा रूपों में कलात्मकता को क्षति पहुँची है, परन्तु जिस स्पष्ट और स्वस्थ रूप से उन्होंने अपनी विचारधारा को अभिव्यक्ति दी है, वह प्रशंसनीय है. सामयिक जन–जीवन के प्रति केवल जागरूकता ही नहीं; प्रत्युत एक मीमांसक का दृष्टिकोण उनमें दिखलायी देता है. उनकी ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राजनैतिक कृतियों में समाज–सुधार व राष्ट्र–प्रेम का मूल कारण उनका आर्य वैदिक दर्शन है.

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में 'शाह आलम की आँखें' लिखने का उद्देश्य ही यह था कि भारतवासियों के मन में चेतना का स्फुरण हो, तेजसिंह कमला के अपहरण से क्षुब्ध होकर शाह आलम के विरूद्ध कह उठता है – 'वह विदेशी है, जब तक वह मेरे देश की स्वाधीनता पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन्धन डालेगा, वह मेरा शत्रु है.' उपन्यास में उन्होंने ऐतिहासिक संघर्षो और सामन्तों की कुत्सित मनोवृत्ति, वासनामय जीवन और शासकों की मनमानी का विस्तार से वर्णन करते हुए देश की रूढ़ियों का भी वर्णन किया है, और रूढ़ियों से मुक्ति पाने के लिए उद्‌बोधन के संदर्भ जोड़े हैं. 'अपराधी कौन' (१६३२) उपन्यास में जेलों की दुर्व्यवस्था का चित्रण करते हुए अपराध के लिए अपराधी की अपेक्षा न्याय व्यवस्था तथा सामाजिक व राजनैतिक संगठनों को अधिक जिम्मेदार माना है. 'जमींदार' (१६३६) में जमींदारों के विलासितापूर्ण जीवन व ग्रामीण किसान–मजदूरों के शोषणयुक्त विषमतापूर्ण जीवन का चित्रण किया है. 'अपराधी कौन' में निर्धनता, शिक्षा का अभाव, विधवा जीवन, चारित्रिक दुर्बलता तथा तथाकथित ब्राह्मणों के आड़म्बरपूर्ण जीवन का सजीव वर्णन किया है, तो 'जमींदार' में रूढ़ियों तथा थोथी मान्यताओं से ग्रस्त हिन्दू समाज के आन्तरिक घात–प्रतिघात का सफलता से चित्रण किया है. विद्यावाचस्पति जी के उपन्यासों की लेखनगत दृष्टि समाज–सुधार की है. 'सरला की भाभी' (१६४४) में भारतीय समाज की पारिवारिक रूढ़ियों का दिग्दर्शन कराया गया है. 'सरला' (१६४५) में धार्मिक दंभ का भंड़ाफोड़ हुआ है और 'आत्म बलिदान' (१६४८) में १६३४ के बिहार भूकम्प के साथ–साथ १६४२ की क्रान्ति का यथार्थवादी शैली में चित्रण है.

विद्यावाचस्पति जी के प्रारंभिक उपन्यासों में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति अधिक है जो कि परवर्ती उपन्यासों में उत्तरोत्तर क्षीण होती चली गयी है, विद्यावाचस्पति जी के उपन्यासों के प्रेरक तत्व तत्कालीन विविध सामाजिक व राष्ट्रीय आन्दोलन हैं. वे अपने प्रारंभिक उपन्यासों में आदर्शवादी हैं तो परवर्ती उपन्यासों में वे भी प्रेमचन्द की तरह आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासकार नजर आते हैं. 'शाह आलम की आँखें' (१६१८) उपन्यास मैं राजपूत तेजसिंह की प्रतिज्ञा के साथ ईश्वर का न्याय भी पूरा हो जाता है. उक्त उपन्यास का समापन लेखक के इन शब्दों के साथ हुआ है – 'परमात्मा ने भले को भला फल दिया और बुरे को बुरा फल दिया. क्या फिर भी लोग कहेंगे कि परमात्मा न्यायी नहीं है विद्यावाचस्पति जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में जैसे परमात्मा न्यायी सिद्ध हुआ है, वैसा परवर्ती उपन्यासों में नहीं. परवर्ती उपन्यासों के नारी पात्र निर्दोष होते हुए भी अन्याय व अत्याचार के शिकंजे में कसते–पिसते हुए दिखलायी देते हैं. 'आत्म–बलिदान' (१६४८) की 'सरला' ने देश की बलिवेदी पर हुतात्मा होने का रास्ता सहर्ष नहीं चुना है, अपितु वह घर छोड़कर बदनामी से बचने व आत्महत्या के पाप से मुक्त होने का अन्य कोई उपाय न पाकर स्वाधीनता के यज्ञ में अपनी आत्माहुति लाचारीवश दे देती है.

विद्यावाचस्पति जी के चरित्रों में नर (रूपचन्द, रामनाथ) की अपेक्षा नारी (दयावती–सरला) चरित्र अधिक तेजस्वी व आदर्श हैं. उनके प्रारंभिक उपन्यासों की भाषा संस्कृतगर्भ तो परवर्ती उपन्यासों की भाषा सहज सामान्य है. उनकी उपन्यास शैली पर न्यूनाधिक रूप में क्यों न हो प्रेमचन्द और प्रसाद दोनों का भी प्रभाव रहा है. उद्‌देश्य की दृष्टि से उनके उपन्यास–लेखन की दृष्टि समाज–सुधार व राष्ट्रोत्थान की रही है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ

१. साहित्यशास्त्रः १३२
२. उपन्यास और लोक जीवनः ५२
३. काव्य के रूप : १५६
४. साहित्यशास्त्र : १३४
५. साहित्य का उद्देश्य : ५४
६. एन इण्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ लिटरेचरः १६३
७. साहित्यालोचन : १७५
८. साहित्यशास्त्र : १४४
९. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञानः प्राक्कथन – ६
१०. प्रह्लाद : अप्रैल १९६०–६
११. हिन्दी के मनौवैज्ञानिक उपन्यासः २१४
१२. इन्द्र विद्यावाचस्पति : ५२
१३. शाह आलम की आँखें प्रकाशक श्री द्वारका प्रसाद जी सेवक–संस्करण नवम्बर १९४७
१४. तत्रैव
१५. शाह आलम की आँखें – ७३
१६. अपराधी कौन – २८९
१७. तत्रैव – २२७–२२८
१८. तत्रैव – आवरण पृष्ठ–१
१९. जमींदार – १३५
२०. सरला की भाभी : प्रस्तावना–१
२१. तत्रैव
२२. आर्य सन्देशः २३ सितम्बर १९६० : मेरे पूज्य पिताजी–६४
२३. सरला की भाभीः २३
२४. तत्रैव–३०
२५. तत्रैव – प्रस्तावना–१
२६. सरला की भाभीः प्रस्तावना–१
२७. हिन्दी गद्य साहित्य : १६२
२८. हिन्दी साहित्य कोश – भाग–२
२९. नया जीवन – सहारनपुर
३०. हिन्दी साहित्य कोश भाग–२
३१. काव्य के रूप – १७८
३२. प्रह्लाद : अप्रैल १९६०–६
३३. दि हिस्टॉरिकल नॉवल्ज–पृ.–३०१
३४. आलोचना : दिसम्बर १९६६–१२६
३५. आत्म–बलिदान : १८
३६. हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति : २४
३७. आत्म–बलिदान–१७ / हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति–२४
३८. आत्म–बलिदान– १७–१८/ हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति–२६
३९. सरला की भाभी–६
४०. आर्यसमाज का इतिहास– द्वितीय भाग : १४७
४१. आर्य मर्यादा – दिं. २३.११.१९७५
४२. आर्यसमाज का इतिहास– प्रथम भागः ३२१
४३. जमींदार – १४४
४४. मेरे नौकरशही जेल के अनुभव – २३–२४
४५. शाह आलम की आँखे – २
४६. अपराधी कौन– ७५
४७. सरला – ३६
४८. तत्रैव – ४२
४९. सरला की भाभी – ५२
५०. शाह आलम की आँखें – १२
५१. अपराधी कौन – ३०
५२. तत्रैव–३२
५३. कुछ विचार – भाग–१–४८
५४. आत्म–बलिदान– ७३–७४
५५. सरला–१६
५६. शाह आलम की आँखें – १४८
५७. अपराधी कौन–२८८–८६
५८. भारतीय साहित्य के निर्माता इन्द्र विद्यावाचस्पति – ४६
५९. कुछ विचार – भाग–१–५५
६०. साहित्य का श्रेय और प्रेय : १६३
६१. शाह आलम की आँखें–१७०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६

विद्यावाचस्पति जी की पत्रकारिता

६.१ पत्रकारिता-स्वरूप विवेचनः-

जिस तरह साहित्य की विविध विधाओं के लिए कथाकार, निबंधकार, नाटककार आदि शब्दों का प्रयोग होता है ठीक उसी तरह 'पत्र' लेखक के लिए पत्रकार का प्रयोग किया जाता है, साहित्य की अन्य विधाओं की तरह 'पत्रकारिता' भी आज साहित्य का एक अंग बन गयी है, पत्रकार पत्र का संयोजक होता है, फिर चाहे वह पत्र नियतकालिक हो या अनियतकालिक, सामान्य अर्थ में किसी भी ऐसे व्यक्ति को पत्रकार कहते हैं, जो पत्र बनाने में सहयोगी हो, पर वस्तुतः पत्रकार के रूप में उन्हीं व्यक्तियों को संबोधित किया जाता है, जिनका समाचार–पत्र के लेखों, समाचारों आदि से सम्बन्ध रहता है, इस कार्य में लेखक, समाचारों के सम्पादक, समाचार संकलन करने वाले संवाददाता आदि अनेक प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं.

पत्रकार के व्यवहारिक रूप को स्पष्ट करते हुए हिन्दी कवियत्री महादेवी वर्मा ने कहा है, 'पत्रकारिता समाज में परिवर्तन लाने वाली रचनाशील विधा है, पत्रकारों को अपना दायित्व और कर्तव्यों का निर्वाह निष्ठापूर्वक करना चाहिये, क्योंकि उन्हीं के पैरों के छालों से इतिहास लिखा जायेगा,[१] साहित्यकार और पत्रकार का अन्तर स्पष्ट करते हुए श्री प्रकाश चन्द्र भुवालपुरी ने प्रतिपादित किया है, वह साहित्य की तरह मधुव्रती बनकर जीवन के बिखरे हुए सत्य का मात्र संचयन नहीं करता, वरन् उसे देवर्षि नारद–सा भ्रमणशील, संजय–सा निर्भीक, परशुराम सा साहसी, सुदामा सा सन्तोषी, दधीचि सा त्यागी, धर्मराज सा सत्यव्रती, भीष्म सा अड़िग, गणेश सा प्रतिभा सम्पन्न, कृष्ण सा ज्ञानी एवं कर्म–योगी, राम सा मर्यादावादी, कृष्ण–द्वैपायन सा प्रगतिशील और भगवान शिव सा लोकमंगल के लिए विषपायी होना पड़ता है'[२] पत्रकारिता व आदर्श पत्रकार का महत्व स्पष्ट करते हुए डॉ० वेदप्रताप वैदिक ने टिप्पणी की है, 'विधायिका, कार्यपालिका, तथा न्यायपालिका की भांति खबरपालिका भी लोकतन्त्र का महत्वपूर्ण स्तंभ है, पत्रकार को किसी विशेषाधिकार की आकांक्षा न रखते हुए न्यायाधीश की सी निष्पक्षता और योद्धा की सी निर्भीकता के साथ सच्चाई उजागर करनी चाहिये।'[३] उपरोक्त पत्रकार विषयक सभी मतों का आशय 'लन्दन टाइम्स' के भूतपूर्व संपादक विखेम स्टीड के इस कथन में अनायास देखा जा सकता है. 'पत्रकारिता कला भी है, वृत्ति भी, और जनसेवा भी'.[४]

६.२ पत्रकार व संपादकः-

संप्रति पत्रकार और संपादक शब्द सामान्य रूप में परस्पर पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं, वस्तुतः देखा जाय तो संपादक शब्द पत्रकार की तुलना में अधिक गहन अर्थ रखता है, परन्तु वर्तमान में संपादक की तुलना में पत्रकार की अधिक प्रतिष्ठा है, पत्रकार पत्रकारिता के क्षेत्र में लेखन कार्य करता है, और संपादक केवल पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्य करे यह जरूरी नहीं, उसे तो अपनी योग्यता के अनुसार साहित्य की अनेक विधाओं में संपादन करने का हक है, इसके अतिरिक्त वह प्राच्य ग्रंथों का भी संपादन कर सकता है, व पाठयपुस्तकों का भी, जिस संपादक में 'स्व' की अपेक्षा 'पर' को आत्ससात करने की जितनी अधिक क्षमता होती है, वह उतना ही सफल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और लोकप्रिय होता है. आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ के अनुसार 'संपादक शब्द ही समुदाय के सेवक का द्योतक है.'[५] पत्रकारिता के क्षेत्र में भी संप्रति संपादन कार्य की विविधता व पृथक्ता के कारण अनेक प्रकार के संपादक पाये जाते हैं. यथा–प्रबंध–संपादक, समाचार–संपादक, विज्ञापन–संपादक, सहायक–संपादक, उपसंपादक, प्रधान–संपादक आदि, पत्रकार की तुलना में संपादक शब्द अधिक व्यापक है. अतः संपादक पत्रकार तो हो सकता है पर यह जरूरी नहीं कि पत्रकार संपादक हो ही, किसी भी पत्र विशेष में पत्रकारों की तुलना में संपादकों की संख्या बहुत कम होती है. पत्रकार जगत् में केन्द्रीय शक्ति की दृष्टि से संपादक शासक और पत्रकार शासित होते हैं. विद्यावास्चपति जी के शब्दों में 'समाचारों का चुनाव करते समय 'सम्पादक का मत ही कैंची का पथ–प्रदर्शक बन जाता है.'

६.३ पत्रकार और पत्रकारिताः-

पत्रकार और पत्रकारिता का तात्कर्म्य संबंध स्पष्ट करते हुए डॉ. भवर सुराणा ने लिखा है– 'पत्रकारिता वह धर्म है, जिसका संबंध पत्रकार के उस कर्म से है, जिससे वह तात्कालिक घटनाओं और समस्याओं का सबसे अधिक सही और निष्पक्ष विवरण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करे, और जनमत जागृत करने का श्रम भी करे,''[६] यहां पत्रकार और पत्रकारिता के संबंध को गहराई से जानने के लिए पत्रकारिता का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी जान लेना जरूरी है–पत्रकारिता अंग्रेजी के 'जर्नलिज्म' शब्द का पर्यायवाची है, जर्नलिज्म शब्द 'जर्नल' से बना है–जिसका शाब्दिक अर्थ है–दैनिक, प्रतिदिन के कार्यो तथा शासकीय बैठकों का विवरण जर्नल में होता है, जर्नल से बना 'जर्नलिज्म' अपेक्षाकृत व्यापक शब्द है, 'अमेरिकन इनसाइक्लोपीडिया' में पत्रकारिता का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है–'मूलतः जर्नलिज्म' फ्रैंच शब्द जर्नी से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है, एक–एक दिवस का कार्य या उसकी विवरणिका प्रस्तुत करना, पत्रकारिता जीवन की घटनाओं और उनके आधार पर प्रकाशित पत्रों की संवाहिका होती है. इसमें घटनाओं तथ्यों, व्यवस्थापरकता के साथ राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और कलात्मक संदर्भो की प्रस्तुति होती है,[८] ''मैथ्यू आर्नल्ड की संक्षिप्त परिभाषा के अनुसार–'पत्रकारिता शीघ्रता में लिखे जाने वाला साहित्य है.'[९] डॉ० सुशीला जोशी ने पत्रकारिता को सूचना देने वाला 'मौसमी पक्षी' बताते हुए कहा है–'समाचार–पत्र युग की ऊष्मा नापने का 'थर्मामीटर' है जो वातावरण की सघनता–विरलता को अंकित करने का 'बैरोमीटर' भी है.

६.४ हिन्दी पत्रकारिता : काल विभाजनः-

हिन्दी का सबसे पहला साप्ताहिक पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' श्री युगलकिशोर के संपाकदत्व में मई १८२६ में प्रकाशित हुआ तक से अब तक हिन्दी पत्रकारिता को १६८ वर्ष हो गये हैं. हिन्दी पत्रकारिता के इस प्रदीर्घ काल को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है– १. उदय काल–ब्रिटिश प्रभावकाल १८२६–१८६७, २. नवजागरणकाल दयानन्द भारतेन्दुकाल–१८६७–१६००, ३. अभ्युत्थान काल तिलक–द्विवेदीकाल–१६००–१६२०, ४. विकास काल–गांधी–काल–१६२०–१६४७ ५. आधुनिक काल–स्वातंत्र्योत्तर काल १०४७ से अब तक.

६.५ विद्यावाचस्पति जी की पत्रकारिताः-

विद्यावाचस्पति जी की पत्रकारिता क्रमशः अभ्युत्थान काल, विकास काल और आधुनिक काल में पल्लवित, पुष्पित और विकसित हुई है. उनकी पत्रकारिता पर धार्मिक दृष्टि से दयानंदीय दृष्टिकोण का, राष्ट्रीय दृष्टि से लोकमान्य तिलक की भूमिका का, समन्वयात्मक दृष्टि से महात्मा गांधी की क्रिया–प्रतिक्रियाओं का प्रभाव रहा है, पत्रकारिता की दृष्टि से विद्यावाचस्पति जी की 'सद्धर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रचारक' कालीन (सन् १९०७–१९१३) पत्रकारिता प्रमुखतया धार्मिक रही है. 'विजय' 'अर्जुन' कालीन (१९१९–१९४७) पत्रकारिता राष्ट्रीय रही है और तत्पश्चात् की प्रकीर्ण व 'जनसत्ता' कालीन (१९४७–१९५३) पत्रकारिता समन्वयात्मक रही है.

६.६ प्रेरक पत्रः-

महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) :– के 'सद्धर्म–प्रचारक' ने विद्यावाचस्पति जी के अंतःकरण में पत्रकारिता का बीजवपन किया, महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की 'सरस्वती' ने उसे अंकुरित किया, तथा लोकमान्य तिलक के 'हिन्दी केसरी' ने उसे पल्लवित–पुष्पित किया और महात्मा गांधी के काल में लड़े गये स्वाधीनता संग्राम ने उसे विकसित किया है, अतः क्रमशः यहां पर 'सद्धर्म प्रचारक', 'सरस्वती' और 'केसरी' का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है.

'सद्धर्म प्रचारक' (साप्ताहिक):- अपनी प्रांरम्भिक पत्रकारिता पर प्रकाश डालते हुए स्वयं विद्यावास्चपति जी ने कहा है–'पत्रकारिता मेरे संस्कारों में थी, यदि यह कहूं कि मैं पत्रकारिता के संस्कारों के साथ ही पैदा हुआ था, तो अत्युक्ति नहीं होगी.[१०] जिस वर्ष पिताजी ने जालन्धर में 'सद्धर्म प्रचारक' निकाला, उसी वर्ष (सन् १८८६) मेरा जन्म हुआ.[११] प्रारंभ से 'सद्धर्म प्रचारक' आर्यसमाज का प्रमुख पत्र समझा जाने लगा था. कई वर्षो तक वह उर्दू में निकलता रहा. गुरुकुल में जाने के पश्चात् पिताजी ने उसे हिन्दी में (१ मार्च १९०७) कर दिया.[१२] इसमें हिंदी भाषा व नागरी लिपि से सम्बद्ध 'मातृभाषा और देवनागरी लिपि' (१८ अक्टूबर १९०७) 'चिराग तले अन्धेरा' (२८ फरवरी १९०८) 'प्रतिनिधि सभा व देवनागरी' (२८ फरवरी १९०८) 'एक भाषा एक लिपि' (१५ दिसम्बर १९०६), 'मातृभाषा की आह' (२७ मार्च १९१५), 'मातृभाषा को धर्म समझो' (१५ श्रावण संवत् १९७३), 'हिन्दू यूनिवर्सिटी में आर्यभाषा' (२५ नवम्बर १९१६) आदि लेख प्रकाशित हुए. इसी में श्री इन्द्रचन्द्र (इन्द्र विद्यावाचस्पति) के अग्रज हरिश्चन्द्र विद्यालंकार ने ऋषि दयानन्द और आर्यभाषा (१५ दिसंबर १९०६) लेख लिखा था. स्वयं विद्यावाचस्पति जी ने 'क्ष' कल्पित नाम से "आर्यसमाज और उसका साहित्य" (३ जून १९०८) नामक लेख लिखा था.[१३] उस समय वे एकाक्षरी "क्ष" कल्पित नाम से ही लेख लिखा करते थे.[१४] उन्होंने तेरहवीं कक्षा में पढ़ते समय 'क्ष' छद्म नाम से, अपने ही गुरुकुल के अध्यापक पं. शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ द्वारा लिखित, 'ब्राह्मण ग्रंथ' भाष्य की आलोचना में, उत्तर–प्रत्युत्तरात्मक तीव्र और व्यंगपूर्ण भाषा में तीन लेख लिखे थे.[१५] ये लेख विषय की गंभीरता को ध्यान में रख कर नहीं, अपितु 'बचपन के उत्साह' और केवल 'वाग्विलास' के लिए हिन्दी की नवीन समालोचना शैली को ध्यान में रखकर लिखे गये थे, विद्यावाचस्पति जी का उद्देश्य गुरु जी को दुःख देना नहीं था, फिर भी शिष्य द्वारा छोड़े गए इन बाणों का परिणाम कुछ ऐसा हुआ कि गुरु जी केवल तिलमिलाये ही नहीं, अपितु 'सुस्त और रोगी' भी हो गये. विद्यावाचस्पति जी ने टिप्पणी की है. 'ये तीन लेख पत्रकारिता के क्षेत्र में मेरे पहले पत्र थे. उस विवाद से मेरा पत्रकार का दृष्टिकोण बना.[१६] डॉ० लक्ष्मीनारायण गुप्त ने प्रतिपादित किया है. 'महात्मा मुंशीराम, लाल देवराज, वजीरचंद विद्यार्थी 'सद्धर्म प्रचारक' के प्रारंभिक संपादक थे. तत्पश्चात् महात्माजी के दोनो पुत्रों–हरिश्चन्द्र व इन्द्रचंद्र ने कई वर्षो तक इस पत्र का संपादन कार्य किया.[१७] विद्यावाचस्पति जी ने स्वयं कहा, '१९११ में दरबार होने के समय १५ दिन वह पत्र दैनिक भी निकाला, वह मेरा दैनिक पत्र संपादन का प्रथम अनुभव था.[१८]

सरस्वती (मासिक):- विद्यावाचस्पति जी ने पत्रकारिता विषयक संस्मरणों में लिखा है–'हम दोनो भाइयों के सहयोग से तैयार होने वाले 'सत्य प्रकाश' या 'सत्य विचारक' नामक हस्तलिखित असामयिक पत्र पर 'सद्धर्म प्रचारक' और 'सरस्वती' दोनो की छाप रहती थी. उस समय मेरी आयु ७ वर्ष की होगी और हरिश्चन्द्र की ६ वर्ष की. यह मेरी पत्रकारिता का पहला अनुभव था.[१९] यहां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर विद्यावाचस्पति जी का आयु विषयक अनुमान गलत हो गया है. क्योंकि वे जब ७ वर्ष के थे तब पत्रिका का अविर्भाव ही नहीं हुआ था. जब वे १० वर्ष के हुए तभी सन् १६०० में 'सरस्वती' का उदय हुआ था और तभी वे उसके संपर्क में आये थे. इस पत्रिका का उनके अंतर्मन पर जो प्रभाव पड़ा उसकी चर्चा करते हुए स्वयं उन्होंने कहा है 'घर में बड़ी बहनों के लिए सरस्वती आया करती थी. उन दिनों की 'सरस्वती' नवागता वधू की तरह सबकी लाड़ली और आकर्षक होती थी. हम दोनो भाई इकट्ठे बैठकर उसके सुंदर चित्र देखा करते थे.[२०] 'सरस्वती' विद्यावाचस्पति जी के लिये ही नहीं, अपितु समस्त पाठकों के लिए उस समय 'नवागता वधूवत' ही थी. इसकी छपाई–सफाई और गेट–अप ने एक नया प्रतिमान स्थापित किया था.[२१] 'सरस्वती' की सोद्देश्यता पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए यह कहा गया था कि 'हिन्दी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही भाषा के सरस्वती भण्डार की पुष्टि, वृद्धि और यथार्थपूर्ति हो, तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी से उत्साहित और उद्वेलित होकर विविध भावतरित ग्रंथराजि को प्रसव करे.... इसमें गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू, इतिहास, जीवन चरित, पत्र, हास्य, परिहास, कौतुक, पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प कला–कौशल और साहित्य के यावतीय विषयों का यथावकाश स्थान रहेगा और आगत ग्रन्थदिकों की यथोचित समालोचना की जायेगी.....भाषा में यह पत्रिका अपने ढंग की होगी.[२२] इतिहास इस बात का साक्षी है कि 'सरस्वती' अपने उद्देश्य में सफल हुई, उसने सुलेखकों की लेखनी को इस योग्य बनाया कि वे ग्रंथराजि का निर्माण करने में समर्थ हुए, ऐसे लेखकों में विद्यावाचस्पति जी भी एक थे, विज्ञान, शिल्प, कला–कौशल, को छोड़ दिया जाय तो 'सरस्वती' के उद्देश्य में बतलायी गयी गयी कोई साहित्य विधा शेष न रही, जिस पर विद्यावाचस्पति जी ने चिरस्थायी लेखन न किया हो. श्री विद्यावाचस्पति की भाषा निर्माण में भी 'सरस्वती' के संपादक और लेखकों का अविस्मरणीय योगदान रहा है.स्वयं उन्होंने अपने साक्षात्कार में बतलाया है कि 'आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हमारी संस्कृत काव्य रचना की परीक्षा ली थी, और श्रीधर पाठक मेरी हिन्दी कविताओं का संशोधन किया करते थे.[२३] सरस्वती के लेखकों में विद्यावाचस्पति जी के गुरुकुल गुजरांवाला व कांगडी के गुरु पं० पद्मसिंह जी शर्मा का समावेश था. उनकी बिहारी से संबंधित तुलनात्मक आलोचनायें उसी समय 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी.[२४] सरस्वती के माध्यम से जिस भाषा स्वरुप को मान्यता दी गई वह मध्यमार्गीय थी. 'उसमें न तो संस्कृत का पण्ड़िताऊपन ही था और न ही अंग्रेजी की जटिल शब्दावली और न ही अरबी–फारसी–उर्दू के शब्दों की लताफत ही थी.[२५] विद्यावाचस्पति जी ने अपनी रचनाओं में इसी मध्यमार्ग का अनुसरण किया, 'सरस्वती' में देश–विदेश के विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन चरित छपते थे, विद्यावाचस्पति जी ने भी विदेशी–स्वदेशी स्वाधीनता के पुजारियों की जीवनियाँ लिखीं सरस्वती में श्री काशीनाथ प्रसाद जायसवाल आदि के ऐतिहासिक विषयों पर लेख छपते थे. विद्यावाचस्पति जी ने भी इतिहास विषयक सरस व चिरस्थायी साहित्य लिखा, विद्यावाचस्पति जी की भाषा में 'सावधानी' के लिए ''सावधानता'' और 'असावधानी' के लिए ''अनवधानता'' जैसे शब्द प्रयोग मिलते हैं जो द्विवेदी युगीन अनगढ़ भाषा के ही अवशेष हैं, इस प्रकार स्पष्ट है कि विद्यावाचस्पति जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में 'सरस्वती' की निश्चित रूप से उल्लेखनीय भूमिका रही है.

हिन्दी केसरी (दैनिक) :- हिन्दी 'सद्धर्म प्रचारक' के उदय के डेढ़ महीने बाद १३ अप्रैल १६०७ को श्री माधवराव सप्रे के संपादकत्व में 'हिन्दी केसरी' का प्रथमांक निकला.[२६] उस समय विद्यावाचस्पति जी गुरुकुल कांगडी में दसवीं कक्षा के छात्र थे. जनता की चहल–पहल से दूर हिमालय की उपत्यका में स्थित गुरुकुल कांगडी का बाह्य जगत् से जो परोक्ष संबंध हो पाता था वह पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से ही. गुरुकुल के उपाध्याय केवल इन पत्रों के माध्यम से ही राष्ट्रीय धड़कनों से सुपरिचित होते थे. अतः गुरुकुल के आचार्य पं. गंगादत्त जी व पं. भीमसेन जी शर्मा पत्र–पत्रिकाओं के केवल ग्राहक ही नहीं थे, किन्तु समय बदलने पर इन पत्रों को यथाशक्ति आर्थिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहायता से भी प्रोत्साहित करते थे.[२७] विद्यावाचस्पति जी को हिन्दी केसरी' व 'तिलक' से सुपरिचित होने का सौभाग्य अपने दो गुरुओं से प्राप्त हुआ. एक थे चित्रकला के गुरु श्रीपाद दामोदर सातवेलकर और दूसरे व्याकरण के गुरु गंगादत्त जी शास्त्री. स्वयं विद्यावाचस्पति जी ने लिखा है– 'श्री सातवेलकर तिलक भक्त थे. उनके प्रभाव से मेरी भी श्रद्धा तिलक महाराज और उनके पत्र केसरी के प्रति हुई.[२८] हमारे आचार्य पं. गंगादत्त जी शास्त्री की कृपा से हमें हर सप्ताह 'हिन्दी केसरी' के लेख पढ़ने को मिल जाते थे.[२९] राष्ट्रीयता से ओत–प्रोत मराठी 'केसरी' के मुखपृष्ठ पर महाकवि जगन्नाथ कृत संस्कृत श्लोक छपता था। उसी का महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी काव्यानुवाद 'हिन्दी केसरी' के मुखपृष्ठ पर तथा एक और उसी का श्रीधर पाठक कृत काव्यानुवाद 'हिन्दी केसरी' के अग्रलेख (संपादकीय) के ऊपर प्रकाशित होता था.[३०] पं. जगन्नाथ कवि कृत 'केसरी' का उद्देश्यबोधक' श्लोक व उसका हिन्दी गद्यानुवाद निम्न प्रकार है.

'स्थितिं नो रे दध्याः क्षणमपि मदान्धेक्षण सखे, गज श्रेणिनाथ त्वमिह जटिलायां वनभुवि।

असौ कुंभिभ्रान्त्या खरनिखर विद्रावित महागुरुग्रावग्रामः स्वपिति गिरिगर्भे हरिपतिः।।

अर्थात्–मदोन्मत्त गजराज इस सघन वन मे क्षणभर भी ठहरने का दुस्साहस न कर, याद रख.हाथी के भ्रम में अपने पैने नखों से कठिन शिलाखण्डों को तहस–नहस कर देने वाला वनराज केसरी वहां गिरि गुफाओं में विश्राम कर रहा है, सावधान।

'हिन्दी केसरी' के प्रथमांक में अपने संपादकीय में माधवरावजी सप्रे ने लिखा था– हमने. .....एक राजनीतिक वीर और तत्ववेता के सार्वजनिक विचार जो अब तक केवल मराठी भाषा में प्रकट होते थे अब उन्हें हिन्दी में प्रकाशित करने का निश्चय किया है.... किन उपायों से प्रजा अपने राजनैतिक हक सरकार से पा सकेगी, किन उपायों से आर्यमाता राजनैतिक दासत्व से मुक्त होकर स्वराज्य का सुखकारी मुकुट अपने मस्तक पर धारण करेगी. बस इन्हीं बातों की शिक्षा इस समय आवश्यक है, यदि 'हिन्दी केसरी यह काम पूरा कर सकेगा तो समझना चाहिये कि उसके जीवन की सफलता हुई.[३१]

'हिन्दी केसरी' में प्रकाशित संपादकीय व अनूदित लेख सम–सामयिक विषयों पर होते थे. जिनमें उग्रता अपनी चरम सीमा पर रहती थी, जैसे 'सूरत कांग्रेस' (४ जून, १८०८) 'आयर्लैण्ड और हिन्दुस्तान' (२७ अप्रैल १६०७) 'वन्दे मातरम की व्याख्या' (२७ अप्रैल १६०७) 'क्या हम स्वराज पाने के योग्य नहीं' (२७ अप्रैल १६०७) 'रोटी के टुकड़ों के लिए गुलामी' (३ अगस्त १६०७) 'शाबास! बंगाली भाईयो! शाबास! (२१ सितंबर १६०७) 'लार्ड कर्जन और अंग्रेजी साम्राज्य (२१ दिसंबर १६०७) 'देश का दुर्दैव' (२२ अगस्त १६०८) 'बम का रहस्य' (२२ अगस्त १६०८) अन्तिम लेख १६ वर्षीय खुदीराम बोस के बमकाण्ड से संबंधित था.

इन शीर्षकों से स्पष्ट है कि 'केसरी' एक राष्ट्रीय तेजस्वी पत्र था. जिसमें ४३ वर्षीय महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे प्रौढ़ व्यक्ति प्रभावित हो रहे थे, उससे भला अनुकूल भूमि वाले १८ वर्षीय श्री इन्द्र जी जैसे युवा कैसे अप्रभावित रहते, इन लेखों की युवा इन्द्र व उनके सहाध्यायी छात्रों पर जो प्रतिक्रिया हुई उसका वर्णन करते हुए स्वयं इन्द्र जी ने लिखा है 'सूरत की घटना पर लोकमान्य ने जो अद्भुत प्रभावशाली लेख लिखे थे उन्होंने हम छात्रों के हृदयों को मोह लिया था. हम उन्हें पढ़–सुनकर लोकमान्य के ऐसे कट्टर चेले होने का दावा करने लगे थे कि शायद पूना में उनके सीधे प्रभाव में रहने वाले हमारे दावे के सामने मात खा जाते. हम संसार के होहल्ले और संघर्ष से बहुत दूर जंगल में पड़े हुए भी मन ही मन में गरमदलिए बन गये थे, और लोकमान्य को अपना नैतिक गुरु मानने लगे थे. सूरत की घटना में हम नरमदल को सर्वथा दोषी और गरमदल को सर्वथा निर्दोष मानते थे. विद्यार्थी जीवन में हमारी यह दशा थी, तो अनुमान लगाया जा सकता है कि जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्नातक बन कर मैं पूना गया और पहली बार लोकमान्य के दर्शनों की इच्छा से केसरी कार्यालय पहुंचा तो मेरे मन में उत्सुकता की लहरे कैसे वेग से उठ रहीं होंगी.[३२]

गुरुकुल कांगडी एक राष्ट्रीय शिक्षणालय था। जब 'हिन्दी केसरी' ने राष्ट्रीय शिक्षा, लाला लाजपतराय और शिवाजी जयन्ती के माध्यम से देशाभिमान को प्रज्वलित और प्रदीप्त किया, तो यह स्वाभाविक ही था कि गुरुकुल के छात्रों का मन 'केसरी' की ओर आकृष्ट होता, विद्यावाचस्पति जी ने 'भारत' में पत्रकारिता क्या मिशन से व्यवसाय बनेगा. नामक लेख में 'केसरी' के केसरीपन की असाधारणता की मीमांसा इस प्रकार की है "अर्वाचीन काल में लक्ष्य सिद्धि के लिए निकाले गये समाचार–पत्रों का प्रारंभ लोकमान्य तिलक के 'केसरी' से होता है। बम्बई, कलकत्ते और मद्रास से कई प्रभावशाली समाचार पत्र इससे भी पूर्व निकल आये थे, पर वह जान हथेली पर लेकर पर लेकर नहीं निकले थे. उन्हें प्रचारक तो कहा जा सकता है, किन्तु सिपाही नहीं कहा जा सकता. पूना के 'केसरी' ने समाचार पत्रों की उस श्रृखंला का प्रारंभ किया, जिन्हें स्वाधीनता के सिपाही कहा जा सकता है. उनका एक विशेष लक्ष्य था. जिसकी पूर्ति के लिए वे अपना सब कुछ बाजी पर रख देते थे.[३३] इस 'केसरी' के केसरीत्व ने ही विद्यावाचस्पति जी की चाह को और अधिक प्रबल किया. स्वयं विद्यावाचस्पति जी ने स्वीकार किया है, 'गुरुकुल से मुझे बाहर निकाल कर पत्र निकालने की प्रेरणा लोकमान्य तिलक और उनके 'केसरी' से मिली.[३४]

विद्यावाचस्पति जी की पत्रकारिता द्विवेदी और तिलक के बाद गांधी जी के नेतृत्व मे लड़े गये स्वाधीनता संग्राम से प्रभावित हुई, तथा तत्कालीन उनकी तथाकथित अहिंसावादी नीति और हिन्दू–मुस्लिम एकता विषयक कथित बयानों व लिखित लेखों से क्रमशः व्यथित–संतप्त व उत्तेजित भी हुई.[३५] गांधीजी जैसे अहिंसावादी व्यक्ति से उन्होंने अपने 'अर्जुन' पत्र के लिए छत्रपति शिवाजी पर लेख लिखने के लिए कहा था। पर महात्मा जी ने इस विषय पर अपना अज्ञान स्वीकार करते हुए माफी मांग ली थी.[३६] अपने पत्र 'यंग इडिंया' (२८ मई १९२४) में आर्यसमाज, स्वामी श्रद्धानंद व सत्यार्थप्रकाश आदि की जो आलोचना महात्मा जी ने की थी, उससे विद्यावाचस्पति जी असहमत थे, और उन्होंने अपनी असहमति प्रत्यक्ष मुलाकातों और समाचार पत्रों में लेख लिखकर भी अभिव्यक्त की थी.[३७] गांधीजी की अहिंसावादी दृष्टि थी, जो राजनैतिक जीवन में पूरी तरह न कभी चरितार्थ हुई और न हो सकती थी. अतः ऐसी जटिल अहिंसा की मोहमाया को भंग करने के लिए उन्होंने 'जीवन संग्राम' (१९४५) नामक पुस्तिका लिखी. इसमें क्षण विशेष पर युद्ध की अनुलंघनीयता व अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने युद्ध की तुलना तराजू से की है, जो दो राष्ट्रों के बीच निर्णायक–न्यायाधीश–सा बन कर उनके जय–पराजय का अंतिम निर्णय देता है.[३८] एक व्यक्ति के रूप में विद्यावाचस्पति जी गांधीजी को बहुत बड़ा महात्मा मानते हैं, पर नेता के रूप में उन्हें वे असफल नेता ही मानते हैं.[३९] आजादी से पूर्व अव्यावहरिक मृग मरीचिकाओं में खोये रहने वाले व आजादी के बाद सांप्रदायिक दंगों से घबराये हुए महात्मा गांधी तथा उनके अनुयायी नेताओं के लिए उन्होंने विशेष रूप से स्पष्ट किया है– "संसार मे जितनी राज्य क्रांतियां हुई हैं, उनमें जातियों को रक्त–स्नान करना पड़ा है, यदि हमने समझ लिया था कि केवल हम ही ऐसे भाग्यशाली हैं कि एक दिन सुबह उठेंगे और अपने आपको स्वतन्त्र पायेंगे, तो यह हमारी भूल थी.[४०]

६.७ पत्रों का बहिरंग:-

आजीवन विद्यावाचस्पति जिन पत्र–पत्रिकाओं से संबद्ध रहे, उनका बाह्य रूप व स्थूल परिचय निम्न प्रकार है–

सत्यप्रकाशक या सत्यविचारक (हस्तलिखित):- विद्यावाचस्पति जी ने सन् १८९६ में द्वाबा हाईस्कूल में पढ़ते समय १७ वर्ष की अवस्था में अपने अंग्रेज हरिश्चन्द्र के साथ मिलकर यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हस्तलिखित, असामयिक पत्र कुछ दिनों तक निकाला, दोनों ही उसके लेखक सम्पादक, प्रकाशक और पाठक थे. तीसरा कोई व्यक्ति इस रहस्य को नहीं जानता था.[४१]

एक अज्ञात पत्र (हस्तलिखित):- विद्यवाचस्पति जी ने सन् १९०७ में १८ वर्ष की अवस्था में गुरुकुल कांगडी की नौवीं कक्षा में पढ़ते समय यह हस्तलिखित मासिक पत्र निकाला था.[४२] जिसका नाम अब तक ज्ञात न होने से अज्ञात लिखा गया है.

सद्धर्म (साप्ताहिक):- यह पत्र प्रारंभ से उर्दू में निकलता था. १ मार्च १९०७ से इसे हिन्दी में निकाला जाने लगा.[४३] मुद्रणालय का नाम भी 'सद्धर्म प्रचारक' ही था, पत्र के संपादक पं. ब्रह्मानंद और व्यवस्थापक पं. अनन्तराम शर्मा थे, डॉ० प्रतापनारायण टण्डन के अनुसार श्री सुखसंपत्तिराय भण्डारी भी 'सद्धर्म–प्रचारक' के संपादक रहे.[४४] इस साप्ताहिक पत्र के तीन पृष्ठ १८ वर्षीय ब्र ह्मचारी इन्द्र की लेखनी से लिखे होते थे.[४५] पत्र का वार्षिक मूल्य ३ रु० था.[४६]

सद्धर्म प्रचारक (दैनिक):- १२ दिसंबर १९११ को पंचम जार्ज के दिल्ली में 'सम्राट' पद ग्रहण करने के अवसर पर यह पत्र निकाला, और केवल १५ दिन अर्थात् दिसंबर १९११ तक चला, २२ वर्षीय विद्यावाचस्पति जी स्वयं इस पत्र के संपादक थे। दैनिक 'सद्धर्म प्रचारक' हरिद्वार में मुद्रित होकर दिल्ली से प्रकाशित होता था. दरबार विषयक कतिपय समाचार, पत्र व तार द्वारा महात्मा गांधी जी भेजते थे. पत्र में संवाददाता के स्थान पर 'वार्त्ताहर' शब्द का प्रयोग किया जाता था. संपादक इन्द्र के पिता व दिल्ली दरबार के अतिथि श्री मुंशीराम इस पत्र के वार्त्ताहर थे.[४७]

सद्धर्म-प्रचारक (साप्ताहिक):- सन् १९१३ के प्रारंभ से अंत तक यह पत्र २४ वर्षीय विद्यावाचस्पति जी के संपादन में दिल्ली से निकाला, विद्यावाचस्पति द्वारा लिखे गए इसके अग्रलेख राजनीतिक एवं टिप्पणियां सामाजिक होती थीं, प्रारंभ में इसकी ग्राहक संख्या १२०० थी और वर्ष के अंत तक चार हजार हो गयी.[४८] डॉ० लक्ष्मीनारायण गुप्त ने स्पष्ट किया है– सन् १९१२ में यह पत्र गुरुकुल कांगडी से दिल्ली आया और ३० जनवरी सन् १९१५ से पुनः गुरुकुल से प्रकाशित होने लगा.[४९] इस पत्र का वार्षिक मूल्य ३ रुपये था.[५०]

विजय (दैनिक) :- इस पत्र का प्रकाशन जनवरी १९१६ में हुआ, प्रातः कालीन 'पायोनियर' नामक अंग्रेजी अखबार से समाचार लेकर सान्ध्य दैनिक 'विजय' का प्रकाशन होता था, प्रमुख संपादक ३० वर्षीय इन्द्र विद्यावाचस्पति जी थे, सहयोगी संपादक श्री देवराज जी व बदभद्र विद्यालंकार थे. कालान्तर में पं. भीमसेन व पं. मंगलदेवजी भी संपादकीय विभाग में शामिल हो गये, प्रथमांक की ५०० प्रतियां छापी गई, पर ७० ही बिकी, राजनैतिक सरगर्मियां बढ़ने पर उत्तर प्रदेश (आगरा–बरेली) और राजस्थान (अजमेर, जयपुर, जोधपुर) तक इसके ग्राहकों का तीव्रता से विस्तार हो गया, हैण्डप्रेस पर सुबह से पत्र छपना शुरू होता था और शाम तक छपता रहता था, तो भी दिल्ली शहर की मांग पूरी न हो पाती थी, यह दैनिक 'विजय' कम्पनी लिमिटेड' से मुद्रित होता था, कंपनी के संचालक मिस्टर ए.के. देसाई, श्री टी.पी. सिन्हा और इन्द्र विद्यावाचस्पति थे, 'विजय' के 'उद्देश्य बोधक' वाक्य के रूप में 'सत्यमेव जयते नानृतम को स्थान दिया गया.[५१] 'विजय' का वार्षिक मूल्य १२.०० रुपये और प्रत्येक अंक का २ आने था.[५२] पत्र का आकार २२x२३ था और प्रायः इसके आठ पृष्ठ होते थे.[५३] १ अगस्त १९२० (लोकमान्य तिलक देहावसान) तक विद्यावाचस्पति जी ने 'विजय' का संपादन किया और इसी दिन इसके संपादकत्व का उत्तरदायित्व उन्होंने पं. सत्यदेव जी विद्यालंकार को सौंप दिया. स्वयं सत्यदेव जी ने लिखा है – विद्यावाचस्पति जी 'गुरुकुल चले गये और मैंने उनके पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए हिन्दी पत्रकारिता के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया.'[५४]

वैभव बनाम भविष्य (दैनिक):- विद्यावाचस्पति ने अपने संस्मरणों में लिखा है – 'मैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहमदाबाद अधिवेशन (दिसंबर १६२१) से राष्ट्रीय आन्दोलन की उमंग से सराबोर होकर दिल्ली लौटा तो गुरुकुल न जाकर यहीं जम गया, और उसी पुरानी पत्रकारिता की धुन में बेचैन होकर अवसर की खोज करने लगा. मैं इसी मानसिक अटाव्या की दशा में था कि एक दिन भरतपुर के पं. जगन्नाथ अधिकारी ने मिलकर मेरे सम्मुख दैनिक 'भविष्य' पत्र का प्रस्ताव रखा.... मैंने 'भविष्य' का प्रधान संपादक बनना स्वीकार कर लिया.[५५] इस समय विद्यावाचस्पति जी की आयु ३३ वर्ष की थी. उक्त विवरण को पढ़कर इसी काल की अन्यत्र लिखी घटनाओं को जब मैंने पढ़ा, तो इस निश्चय पर पहुँचा कि – विद्यावाचस्पतिजी अपने संस्मरणों में गलती से 'वैभव' के स्थान पर 'भविष्य' का उल्लेख कर गये हैं, क्योंकि समाचार पत्रों के इतिहास लेखक श्री अंबिकाप्रसाद बाजपेयी के अनुसार – 'सन् १६२२ में दिल्ली के 'वैभव' के संपादक इन्द्र विद्यावाचस्पति थे और प्रकाशक जगन्नाथ अधिकारी.'[५६] श्री अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार के अनुसार – 'श्री निरंजन शर्मा' अजित भरतपुर से दिल्ली आये. बम्बई जाने से पहले उन्होंने प्रो. इंद्र के साथ मिलकर 'वैभव' दैनिक निकाला, पर पूंजी अपनी नहीं थी, सेठ का दिवाला निकलने से 'वैभव' चला नहीं.'[५७] निरंजन शर्मा के जीवन परिचय से पता चलता है कि उनकी जन्मभूमि भरतपुर थी और दिल्ली से निकलने वाले 'वैभव' के वे संपादक थे तथा १६३६ में मुबई से निकले 'नवराष्ट्र' दैनिक के भी वे पं. इन्द्रजी के साथ संपादकीय विभाग में संपादक रहे.[५८] इन घटनाओं के काल साम्य, भरतपुर संबंध, नरेश सेठ की आर्थिक स्थिति का कमजोर होना इत्यादि से स्पष्ट है कि यह पत्र 'भविष्य' नहीं, अपितु 'वैभव' ही था. इस पत्र का वार्षिक मूल्य १३–०० रुपए था. श्री अशोकजी व प्रेमनाथ चतुर्वेदी के अनुसार भी – 'इन्द्र जी ने सन् १६१२ में निरंजन शर्मा 'अजित' के साथ 'वैभव' का ही संपादन किया है. इस पत्र का 'वीणा की झंकार' स्तंभ बहुत लोकप्रिय रहा.'[५९] इस स्तंभ के लेखक श्री विद्यावाचस्पति थे.

सत्यवादी (साप्ताहिक):- विद्यावाचस्पति जी ने ३४ वर्ष की अवस्था में जनवरी १६२३ से इस पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया. चार मास की अवधि के बाद यह इसी वर्ष विद्यावाचस्पति द्वारा निकाले 'अर्जुन' दैनिक के साप्ताहिक के रूप में निकलता रहा, और तत्पश्चात् उसी में विलीन हो गया. इस पत्र का वार्षिक मूल्य ३।।) रुपये था.[६०] पत्र के प्रत्येक अंक का मूल्य २ आने रखा गया.था और आकार २२ x २३ था.[६१]

अर्जुन (दैनिक):- विद्यावाचस्पति जी ने २४–४–१६२३ से इस पत्र का प्रकाशन शुरु किया. 'अर्जुन के १।।–१।।। कॉलम में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर वे अपने अग्रलेख लिखते थे.'[६२] पत्र का आदर्श वाक्य था – 'न दैन्यं न पलायनम्.' इसमें 'वीणा की झंकार' नामक स्तंभ शुरु किया गया था, जिसमें 'नारद' नाम से पहले विद्यावाचस्पति जी और तत्पश्चात् पत्र के संपादक श्री सत्यकाम जी विद्यालंकार अपनी व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ लिखते थे. शहरी संवाददाता राष्ट्रीय समाचार भेजते थे. विदेशी पत्रों से भी समाचार लिये जाते थे. 'एसोशिएटेड प्रेस' नामक न्यूज एजेन्सी से भी समाचार प्राप्त किये जाते थे. उस समय न्यूज सर्विस आज की तरह हर मिनिट नहीं, केवल सुबह–शाम ही प्राप्त होती थी. प्रारंभ में 'अर्जुन' दो पृष्ठों का निकला था. इसका आकार २० x ३० था और प्रत्येक अंक का मूल्य २ या ३ आने था.[६३] वार्षिक मूल्य १२–०० रुपए था.[६४] प्रारंभ में पत्र लाहौरी दरवाजे से ढाई मील की दूरी पर चावड़ी बाजार में स्थित 'सद्धर्म प्रचारक' प्रेस में मुद्रित होता था. बाद में निजी प्रेस खरीद लेने पर 'अर्जुन' अर्जुन प्रेस में ही छपने लगा. यह पत्र लाहौरी गेट के पास स्थित बर्न बैश्चन रोड़ से प्रकाशित होता था. पत्र को अपनी निर्भीकता और तेजस्विता के कारण अनेक बार सरकारी खजाने में जमानत देनी पड़ी. उसकी सबसे पहली दी गई दो हजार की जमानत जब्त कर ली गयी, तथा तत्पश्चात् पांच हजार की जमानत और वसूल की गयी, फिर दस हजार की और जमानत मांगी गयी थी. जब्ती, जमानत के सिलसिले और सरकारी प्रतिबंधों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण १९३४ में 'अर्जुन' को बंद कर दिया गया.

वीर अर्जुन (दैनिक):- विद्यावाचस्पति जब ४५ वर्ष के हुये थे तब सन् १९३४ में ब्रिटिश सरकार के पत्र पर उठे पंजे को ढीले करने और उसकी आँखों में धूल झोंकने के लिए 'अर्जुन' ने 'वीर अर्जुन' का अभिनव रूप धारण किया. 'अर्जुन' वस्तुतः बंद नहीं हुआ था. 'वीर अर्जुन' १९३४ से १९४१ तक अबाध गति से अपने गाण्डीव के तीर छोड़ता रहा, पर १९४२ में तीव्र सरकारी प्रतिबंध प्रेस पर लग जाने के कारण १९४२ से १९४४ तक इसे अपने तीर तूणीर में ही रखने के लिए बाध्य होना पड़ा. तत्पश्चात् १९४५ से इसका प्रकाशन प्रारंभ हुआ. पत्र के सर्वप्रथम एक मात्र संचालक व स्वामी विद्यावाचस्पति जी थे, पर उन्होंने कभी भी अपने आपको पत्र का स्वामी नहीं समझा. 'पत्र उनके लिए सार्वजनिक सेवा का साधन और सार्वजनिक वस्तु थी. पत्र जब स्वावलम्बी हो गया तो उन्होंने 'श्री श्रद्धानन्द पब्लिकेशन्स लिमिटेड' कंपनी की स्थापना कर पत्र, प्रेस तथा अपनी पुस्तकों का स्टॉक सब कुछ उसे सौंप दिया.[६५] उक्त कम्पनी की स्थापना ७ मई १९४० को करी गई. कंपनी के आठ संचालकों में स्वयं विद्यावाचस्पति जी भी थे. १९५० तक एक संचालक के रूप में उनका अपने इस पत्र से नाता रहा. इस काल में संपादक के रूप में पं. रामगोपाल विद्यालंकार अनेक वर्षों तक उनके अविस्मरणीय सहयोगी बने रहे. विद्यावाचस्पति भी समय–समय पर इसमें मार्मिक टिप्पणियाँ लिखते थे. संपादकीय लेखों, 'गाण्डीव के तीर', 'भानुमती की पिटारी' इत्यादि स्तंभों और राष्ट्रवादी नीति के कारण अर्जुन की धाक बहुत अधिक जमी थी.[६६] 'अर्जुन' दैनिक का जो आकार व मूल्य था, वही 'वीर अर्जुन' दैनिक का भी रखा गया. अंग्रेज शासन को चकमा देने के लिए केवल नाम में वृद्धि की गई, आकार व मूल्य में नहीं.

अर्जुन-वीर अर्जुन (साप्ताहिक):- 'अर्जुन' दैनिक के साथ 'अर्जुन साप्ताहिक' (सन् १९२३) भी प्रकाशित होता था. 'इस रविवारीय विशेष संस्करण का टाइटल पेज पीले रंग का और चिकना होता था. सरकारी प्रतिबंध के कारण १९४२ में साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' और उसकी प्रेस से तीन हजार की जमानत मांगी गई. फलस्वरूप १९४२ से १९४४ तक यह पत्र बंद रहा. तत्पश्चात् १९४५ से इसका प्रकाशन शुरु हो गया. पहले पत्र के एकमात्र संचालक विद्यावाचस्पतिजी थे. फिर 'श्रद्धानंद कंपनी' इसकी संचालिका बनी. सचित्र 'अर्जुन' साप्ताहिक के 'स्वराज्य अंक', 'भारत–विभाजन योजना' 'रजत जयंती' आदि अनेक विलोभनीय विशेषांक निकले. जिनमें एक 'महिला अंक' भी था. मुख्यपृष्ठ पर अश्वारूढ़ रानी लक्ष्मीबाई का चित्र था. जिसके दायें हाथ में घोड़े की लगाम, बाये हाथ में सिर पर उठाया हुआ भाला, कटि प्रदेश की म्यान में रानी की शोभा बढ़ा रही एक बड़ी–सी तलवार और पीठ पर दत्तक पुत्र दामोदर. चित्र के नीचे लिखा था– 'बुंदेले हरबोलों के मुंह हमने सुनी कहानी थी. खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी.' आर्यसमाज की ओर झुकाव होते हुए भी यह स्वतन्त्र विचारधारा वाला पत्र था. उत्कृष्ट साप्ताहिकों में इसकी गणना थी. 'आधी दुनिया', 'नारी समस्या', और 'गाण्डीव के तीर' ये व्यंग्य विषयक लेखों के स्तंभ थे. धारावाहिक उपन्यास भी इसमें प्रकाशित हुये. पहेलियां भी प्रकाशित होती थीं. इसके प्रमुख संपादक कृष्ण चन्द्र विद्यालंकार और सहयोगी संपादक क्षितीश वेदालंकार थे. विद्यालंकारजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि –'निर्भीक एवं सत्यनिष्ठ पत्रकारिता की प्रेरणा मुझे इन्द्र विद्यावाचस्पतिजी से मिली.[६७] इस साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन 'श्रद्धानन्द बाजार– दिल्ली' से होता था. पत्र का वार्षिक मूल्य ८.०० रुपए तथा प्रत्येक अंक का दो आने था.[६८] जैसे पुणे का मराठी 'ज्ञानप्रकाश' युद्धकाल में ब्लैक मार्केट से कागज न खरीदने के कारण बंद हो गया, वैसे ही २५ रुपये रिश्वत देकर बिजली लेना प्रो. इन्द्र को स्वीकार न हुआ अतः 'वीर अर्जुन' साप्ताहिक बंद हो गया. पत्र का प्रारंभिक वार्षिक मूल्य २।। रूपये व प्रत्येक अंक का एक आना था.[६९]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवराष्ट्र (दैनिक):- यह पत्र ५० वर्षीय अनुभवी पत्रकार विद्यावाचस्पति जी का आत्मबल व आधार पाकर उन्हीं की देखरेख में १५ जनवरी १९३९ को मुंबई से प्रकाशित हुआ. एक ही वर्ष में इसके पांच हजार ग्राहक बन गये. पत्र को चिरस्थायी बनाने के लिए जो कुछ करना संभव था वह करके विद्यावाचस्पति जी वापिस दिल्ली आ गये. इस कार्य के लिए एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक वे मुंबई में रहे. सत्यकाम विद्यालंकार के अनुसार विद्यावाचस्पति जी इन दिनों 'हिन्दू कॉलोनी–दादर' में रहे. गिरगांव नाके पर स्थित चर्च के राइट साइड़ में वह प्रेस था जहां 'नवराष्ट्र छपता था. पेपर दिल्ली के 'अर्जुन' के स्तर का तो नहीं बन पाया, पर इन्द्रजी के लेखों के कारण वह चल जरूर पड़ा. 'नवराष्ट्र' दैनिक प्रारंभ में दो पृष्ठ का था और उसका मूल्य चार आने था.[७०]

मनोरंजन (मासिक):- इस मासिक का प्रकाशन 'श्रद्धानन्द पब्लिकेशन्स' की ओर से अक्तूबर १९४७ में किया गया. इसके प्रबंध संपादक ५८ वर्षीय विद्यावाचस्पति जी व सहयोगी संपादक श्री चिरंजीत थे. यह पत्र अपने नाम के अनुरूप मनोरंजक था. इसमें ज्ञानवर्धक, सुरूचिपूर्ण व कलात्मक कवितायें, नाटक, लेख आदि प्रकाशित किये जाते थे. दोरंगी छपाई की जाती थी. लगता है विद्यावाचस्पति जी 'नवराष्ट्र' (मुंबई) पत्र संचालन के काल में मराठी की ज्ञानवर्धक–सुंदर–सचित्र–कलात्म 'मनोरंजन' पत्रिका से सुपरिचित हुये और तदनुरूप हिन्दी में भी एक ऐसा आकर्षक मासिक निकालने का निश्चय उनके अंतर्मन में हुआ, जिसने 'मनोरंजन' मासिक के रूप में आकार ग्रहण किया. मराठी 'मनोरंजन' मासिक की तरह इस हिन्दी 'मनोरंजन' मासिक के अन्तर्बाह्य स्वरूप को चित्रों से सुसज्जित करने का प्रयास किया जाता था. इसका वार्षिक मूल्य ५।।) रूपये था. प्रत्येक मासिक में प्रायः ६४ पृष्ठ होते थे. प्रत्येक अंक का मूल्य ।।, आठ आने था. यह पत्र जनवरी सन् १९४९ तक ही प्रकाशित हो पाया.[७१]

जनसत्ता (दैनिक):- 'इंडियन एक्सप्रेस' ने मोरी मेट दिल्ली से १९५१ में यह पत्र निकाला. पत्र स्वामी के विशेष आग्रह पर ६२ वर्षीय विद्यावाचस्पति जी इसके सर्वप्रथम संपादक बने. लगभग १३ महीने की कालावधि तक वे इसके सक्रिय संपादक रहे. वर्षान्त तक पत्र की ग्राहक संख्या पन्द्रह हजार हो गयी. पत्र स्वामी ने जब संपादकीय नीति में हस्तक्षेप न करने के अपने अभिवचन की उपेक्षा की, तो तत्काल १ जुलाई १९५३ को विद्यावाचस्पति जी ने अपने संपादकीय पद से त्यागपत्र दे दिया. यह कहना ठीक नहीं कि 'सरकारी निर्णय के विरोध में लिखने के कारण प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति को छुट्टी दे दी गयी.[७२] उसकी अपेक्षा यह कहना ज्यादा यथायोग्य होगा कि –'सरकारी निर्णय के विरोध में लिखने पर जब पत्र स्वामी ने हस्तक्षेप किया तो संपादकीय स्वतन्त्रता के पक्षधर प्रो. इन्द्र ने स्वाभिमान के साथ तत्काल संपादक के पद से त्याग पत्र दे दिया'. सत्यकाम विद्यालंकार के अनुसार –'जनसत्ता दैनिक के प्रत्येक अंक का मूल्य २ आने था और पत्र के श्रेष्ठी श्री गोएनका थे.[७३]

६.८ पत्रों का अंतरंग:-

विद्यावाचस्पति जी जन्मजात पत्रकार थे. पत्रकारिता के परिवेश में ही वे पले, बढ़े और स्नातक बने. उन्हीं के आग्रह पर पिताजी ने अपने साप्ताहिक पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' को एक दैनिक का रूप दिया था. स्पष्ट और प्रत्यक्ष संपादन का अनुभव उन्होंने इसी अवसर पर प्राप्त किया. इस पत्र के संपादक के नाते श्री इन्द्र ने एक पत्र लिखकर सम्राट् से प्रार्थना की थी कि –'सम्राट् यहीं रहो!' इन्द्र जी को दिल्ली नगरी बहुत प्रिय थी और सम्राट् उसे राजधानी बनाने जा रहे थे; संभवतः इसलिये भी वे सम्राट पर खुश थे. मॉडरेट राजनीति से घृणा करते हुए भी यत्किंचित् रूप में वे इससे प्रभावित थे.[७४] इन्द्र जी की इस मनोवृत्ति में उस युग के साहित्यकारों की राजभक्ति के कण भी दिखलायी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दे सकते हैं, किन्तु यह भावना उस समय की एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता भी थी. एक नीति के रूप में तत्युगीन कतिपय विचारक और साहित्यकार राजभक्त दिखलायी देते हैं, पर अंतःकरण से तो वे सब राष्ट्रभक्त ही थे. सुप्रसिद्ध समीक्षक रामविलास शर्मा ने ठीक ही कहा है– 'जहां–तहां अंगेजों की प्रशंसा से यह न समझना चाहिये कि यह चेतना अंग्रेजी राज के कायम करने के पक्ष में है.'[७५] पं. इन्द्रजी का राष्ट्रीय पत्रकार गणेश शंकर विद्यार्थी से आत्मीय सम्बन्ध था. विद्यार्थी जी पं. इन्द्र जी की 'सद्धर्म–प्रचारक' में लिखी टिप्पणियों से प्रभावित होकर उनसे मिलने गुरुकुल पधारे थे. इन दोनों समवयस्क पत्रकारों का यह आत्मीय संबंध आगे चलकर और भी अधिक प्रगाढ़ व विश्वसनीय बन गया था. स्नातक बनने के बाद विद्यावाचस्पति जी 'सद्धर्म–प्रचारक' का संपादक बनकर दिल्ली आ गये. एक ही वर्ष में पत्र इतना लोकप्रिय हुआ कि उसकी ग्राहक संख्या तिगुनी हो गयी.

'सद्धर्म–प्रचारक' के संपादक इन्द्रजी की प्रतिभा 'गहरे पानी पैठने' में अतिशय प्रवीण थीं, प्रमाणस्वरूप इस संदर्भ में कवीन्द्र रवीन्द्र व विद्यावाचस्पति का एक प्रसंग श्री शंकरदेव विद्यालंकार के शब्दों में प्रस्तुत है, "विद्यावाचस्पति जी ने दैनिक पत्र 'अर्जुन' की दशवार्षिक जयन्ती के अवसर पर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अपने घर पर निमन्त्रित किया था. वार्तालाप के सिलसिले में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथजी ने कहा, 'भारत ने मुझे तब पहचाना, जब यूरोप ने मेरा जयजयकार किया' इस पर विद्यावाचस्पतिजी ने 'सद्धर्म–प्रचारक' साप्ताहिक पत्र की पुरानी फाइल निकालकर कवीन्द्र को दिखाई. "आपको नोबल पारितोषिक मिलने से पूर्व आपकी प्रतिभा और योग्यता का सम्मान हम लोगों ने किया था." उसको पढ़ते हुए कविवर ने मुस्कराते हुए कहा – "आप ही लोग पहले ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने मुझे पुरस्कार मिलने से पूर्व एक महापुरुष माना और मेरा सम्मान किया." ऐसी थी विद्यावाचस्पतिजी की तत्वदर्शिनी प्रज्ञा."[७६]

दिल्ली में विद्यावाचस्पतिजी की प्रतिभा को व्यापक क्षेत्र मिला. संप्रति वे दिल्ली में 'सद्धर्म प्रचारक' के संपादन में तन्मय थे और उनके अग्रज हरिश्चन्द्र गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापन का कार्य कर रहे थे. अचानक स्थिति पलट गई. गुरुकुल के उपाध्याय हरिश्चन्द्रजी ने आर्यसमाज के ५२ मन्तव्यों के पत्र पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया. इसलिए श्री हरिश्चन्द्र दिल्ली आकर इन्द्रजी के स्थान पर पत्रकार बन गये और इन्द्रजी गुरुकुल जाकर उपाध्याय का कार्य करने लग गये. अध्यापन कार्य के साथ गुरुकुल से निकलने वाली संस्कृत पत्रिका 'उषा' के संपादन में भी उन्होंने सहयोग दिया. इसी काल में 'वैदिक देवता' और संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन' विषय पर अनुसन्धानात्मक निबन्ध लिखकर गुरुकुल की सर्वोच्च उपाधि 'विद्यावाचस्पति' प्राप्त की. इस प्रकार १६१४ से १६१८ तक वे संस्कृत साहित्य, आर्य सिद्धान्त व इतिहास के विशेष अध्ययन व अध्यापन में तल्लीन रहे और १६१८ के अन्तिम भाग में गुरुकुल से एक वर्ष का अवकाश प्राप्त कर दिल्ली आ गये. इस स्थान परिवर्तन का कारण स्पष्ट करते हुए विद्यावाचस्पति जी स्वयं लिखते हैं, "इंग्लैण्ड के तत्कालीन विदेशमन्त्री सर एडवर्ड ग्रे के बारे में कहा जाता है कि वह जब अपने रसक्रिया भवन में जाते थे, तब मिनिस्टिर की कुर्सी याद करते थे, और जब मिनिस्टर की कुर्सी पर बैठते तब रसक्रिया भवन को याद करते थे. यही हालत उन दिनों मेरी थी. शैक्षिक कार्य करते हुए अपने कार्यक्रम में यह निरन्तर न्यूनता अनुभव होती थी कि मैं पढ़ा तो रहा हूँ, परन्तु लिख नहीं रहा और जब लिखने का अवसर आया तो तब यह सोचने लगा कि आखिर कहाँ तक लिखे जाऊँगा, शिक्षा देने का कुछ कार्य भी तो करना चाहिये. मन की यह द्विविध गति थी, जो मुझे १६१८ के अंत में गुरुकुल से खींचकर फिर दिल्ली ले आयी और जिसने मुझे शिक्षक के स्थान पर पत्रकार बना दिया.[७७] इसी समय जहाँ उन्होंने गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के आचार्य पद का उत्तरदायित्व संभाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहाँ यथोचित समय आने पर राजनीति के रणक्षेत्र में भी कदम रख दिया. दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में वे 'सद्धर्म प्रचारक' के प्रतिनिधि के तौर पर दिल्ली में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में सम्मिलित हुये. अधिवेशन में रॉलेट बिल विरोधी भाषणों को सुनकर विद्यावाचस्पतिजी की अर्धसुप्त राजनीतिक प्रवृत्ति और भी अधिक उत्तेजित हो गई, और तभी उन्होंने अध्यापन कार्य छोड़कर दिल्ली से दैनिक पत्र निकालने का निश्चय कर लिया. पत्र का नाम 'विजय' रखा गया. इस विजय में विद्यावाचस्पतिजी के व्यक्तित्व को पूरी तरह से खिलने और खुलने का अवसर मिला. इससे पूर्व उन्होंने जिस 'सद्धर्म–प्रचारक' का संपादन किया था वह मुख्य रूप से धार्मिक पत्र था, और उनकी प्रवृत्ति छात्रावस्था से ही राजनीति की और थी. कभी–कभी 'सद्धर्म–प्रचारक' में उनके पिता मुंशीरामजी सामयिक राजनीति के विषयों पर सम्मति दिया करते थे, परन्तु उसका उपसंहार प्रायः धार्मिक संदेश के रूप में होता था. उदाहरण के रूप में सूरत में सम्पन्न कांग्रेस अधिवेशन की घटनाओं के संबंध में महात्मा मुंशीराम लिखित व 'सद्धर्म–प्रचारक' में प्रकाशित एक प्रतिक्रिया द्रष्टव्य है–

"आज तुम्हारी अपनी इन्द्रियाँ तुम्हारे अपने वश में नहीं, जब अपने मन पर तुम्हारा कुछ अधिकार नहीं, तब तुम दूसरों से क्या अधिकार प्राप्त कर सकते हो? अधिकार! अधिकार!! अधिकार!!! हा. तुमने किस गिरे हुए शिक्षणालय में शिक्षा प्राप्त की थी? क्या तुमने कर्तव्य कभी नहीं सुना? क्या तुम धर्मशब्द से अनभिज्ञ हो? मातृभूमि में अधिकार का क्या काम? यहाँ धर्म ही आश्रय दे सकता है. अधिकार शब्द से सकामता की गन्ध आती है. विषय–वासना का दृश्य दृष्टिगोचर होता है. इस अधिकार की वासना को अपने हृदय से नोंचकर फेंक दो. निष्काम भाव से धर्म का सेवन करो. माता पर जब चारों ओर से प्रहार हो रहे हों, जब उसके केश पकड़कर दुष्ट दुःशासन उसको भूमि पर घसीट रहा हो, क्या वह समय अधिकार की पुकार मचाने का है....? शब्दों पर क्यों झगड़ा करते हो? क्यों न स्वराज्य प्राप्ति के साधनों को सिद्ध करने में लगो? स्वराज्य के प्रकार का झगड़ा आने वाली सन्तानों के लिए छोड़ो. उनकी स्वतंत्रता पर इस समय इन झगड़ों से 'जंजीरें' डालना अधर्म है. इस समय दोनो छल–कपट से काम ले रहे हैं. जिस कांग्रेस का आधार अधर्म पर है, उसका प्राप्त कराया हुआ स्वराज्य कभी भी फलदायक न होगा, कभी भी सुख तथा शान्ति का राज्य फैलाने वाला न होगा.... एक ऐसे धार्मिक दल की आवश्यकता है, जो विरोधी को धोखा देना भी वैसा ही पाप समझता हो, जैसा कि अपने भाई को, जो सरकारी अत्याचारों को प्रगट करते हुए अपने भाइयों की दुष्टता तथा उनके अत्याचारों को भी न छिपाने वाला हो, जो मौत के भय से भी न्याय के पक्ष को छोड़ने का विचार तक मन में न लाने वाला हो. पोलिटिकल जगत् में ऐसे ही अग्रणी की आवश्यकता है. क्या कोई महात्मा आगे आने का साहस करेगा और क्या उसके पीछे चलने वाले ५ पुरुष भी निकलेंगे? यदि इतना भी नहीं हो सकता, तो स्वराज्य प्राप्ति के प्रोग्राम को पचास वर्षों के लिए तह करके रख दो."[७८] इस प्रतीकात्मक उद्धरण से स्पष्ट है कि 'सद्धर्म–प्रचारक' मुख्य रूप से धार्मिक पत्र था, जिसमें कभी–कभी सम–सामायिक राजनीतिक विषयों पर भी टिप्पणियाँ प्रकाशित होती थीं. विद्यावाचस्पतिजी को २४–२५ वर्ष के पुराने धर्म विषयक पत्र पर राजनीति का पैबन्द लगाना उचित प्रतीत नहीं हुआ, क्योंकि 'पैबन्द लगाने से वृक्ष–वनस्पतियों की तो उन्नति हो सकती है, परन्तु समाचार पत्र जैसी संस्थाएं पूरी तरह विकसित नहीं हो सकती.' फलतः वे इस निश्चय पर पहुँचे कि –सद्धर्म–प्रचारक' को उसके पुराने धार्मिक रूप में सुरक्षित करके एक नया राजनीतिक पत्र निकाला जाय. जिसमें अपने हृदय की भावना और लेखनी की 'कंडूति' को सफल करने का पूरा अवसर मिल सके.'[७९] इसलिये विद्यावाचस्पति जब गुरुकुल से दिल्ली आये तो उन्होंने धार्मिक पत्र 'सद्धर्म–प्रचारक' की अपेक्षा लोकमान्य तिलक के 'केसरी' से प्रेरणा प्राप्त कर 'विजय' नामक एक दैनिक राष्ट्रीय पत्र निकाला.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यावाचस्पति जी के आशावाद व तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के सहयोग से 'विजय' की वैजयन्ती लहरा उठी. 'सद्धर्म–प्रचारक' के १५ दिवसीय लघु जीवन के बाद 'विजय' ने दिल्ली और पंजाब का पहला 'दैनिक पत्र' होने का श्रेय प्राप्त किया. मार्च १९१९ के अन्त में महात्मा गांधी द्वारा रॉलेट बिल के विरोध में जो सत्याग्रह शुरु हुआ वह 'विजय' के लिए संजीवनी बूटी सिद्ध हुआ. पत्रकार विद्यावाचस्पति सत्याग्रह समिति के मंत्री थे और सत्याग्रह आन्दोलन संबंधी घोषणायें भी उन्होंने तैयार की थी. 'विजय' सत्याग्रह आन्दोलन का मुख्य प्रचारक बन गया. 'लंगड़ा खूनी मैदान में' जैसे शीर्षकों के कारण 'पत्र ऐसे फैल गया जैसे पानी में तेल फैल जाता है.' सरकार बौखला उठी और 'विजय' पर कड़ा सेंसरशिप लग गया. अंततोगत्वा प्रतिकूल परिस्थिति व पर्याप्त साधनों के अभाव में विजय को बंद कर देना पड़ा. तिलक से प्रेरणा प्राप्त कर निकला यह दैनिक राष्ट्रीय पत्र तिलक के देहावसान (१ अगस्त १९२०) के साथ बंद हो गया. भारत के होम मेम्बर ने स्वामी श्रद्धानन्द के राजनैतिक कार्य के विरूद्ध जो सरकारी शिकायत की थी उसमें यह स्पष्ट आरोप सम्मिलित था कि–'उनका लड़का दिल्ली से एक क्रान्तिकारी अखबार निकाल रहा है.'[८०] पत्रकारिता के इस महद् अनुभव को संचित कर इन्द्र का मन फिर अध्यापन की ओर आकृष्ट हो गया.

१९१९ से १९२१ तक गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापन का कार्य करते हुए विद्यावाचस्पतिजी के मन में सार्वजनिक जीवन की भूख पुनः जागृत हुई. उन्हें यह प्रतीत हुआ कि केवल पढ़ाने में जीवन व्यतीत करने से सफलता के बैंक का बैलेंस शून्य ही रहेगा.[८१] यह भाव उन्हें राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन की ओर बहा ले गया. वहां अधिवेशन का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि अहमदाबाद से ही वे अपनी प्रोफेसरी का त्यागपत्र देकर दिल्ली लौट आये और पत्रकारिता के उचित अवसरकी खोज करने लगे.

अकस्मात् एक दिन भरतपुर के पं. जगन्नाथ अपने पत्र का 'प्रधान संपादक' का उत्तरदायित्व सौंपने के लिए विद्यावाचस्पतिजी के पास आये. अंग्रेज सरकार का पं. जगन्नाथ अधिकारी पर यह आरोप था कि वे भरतपुर के महाराज को सरकार विरोधी रास्ते पर ले जाते हैं. उन्होंने संपादन किस चिड़िया का नाम है, इसका ज्ञान न होते हुए भी महाराज के पक्ष में प्रकाशन कार्य करने के लिए 'वैभव' नामक दैनिक पत्र निकाला था, परिणाम यह हुआ कि पत्र सप्ताह में मुश्किल से दो ही दिन निकल पाता था. ऐसी स्थिति में परेशान होकर वे विद्यावाचस्पतिजी के पास आये और उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि –'वैभव' पत्र आप अपने हाथ में लेकर संपादित कीजिये, पत्र नीति पर आपका ही सर्वाधिकार होगा.' अधिकारी जी की सज्जनता के कारण विद्यावाचस्पति जी ने वैभव का प्रधान संपादक बनना स्वीकार कर लिया, पर जब वे कार्यालय पहुंचे तो 'ढोल में पोल' नजर आयी. वहां ऐसी भी स्थिति न थी कि संपादक कहलाने की हवस भी पूरी होती, फिर भी उन्होंने कुछ समय तक 'रेत में से तेल निकालने का प्रयत्न किया', पर अंत में भरतपुर नरेश की आर्थिक सहयोग देने की असमर्थता को देखकर विद्यावाचस्पति जी ने अपनी चटाई लपेट ली और इस निश्चय पर पहुंचे कि–'साहसिक कार्य बड़ा हो या छोटा, उसे किसी दूसरे के भरोसे पर आरंभ नहीं करना चाहिये.'[८२]

विद्यावाचस्पति जी ने पत्रकारिता की दृष्टि से फिर एक बार खालीपन महसूस किया ही था कि दैवयोग से प्रसिद्ध दानवीर सेठ रग्घूमल लोहिया ने साप्ताहिक पत्र 'सत्यवादी' निकालने के लिए दिल खोलकर सहयोग दिया. दिल्ली से 'सत्यवादी' का प्रथमांक जनवरी १९२३ के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित हुआ. 'सत्यवादी' शहीद सरदार भगतसिंह के संपादकीय विभाग में पदार्पण के कारण रोमांच व सनसनीपूर्ण हो गया. संपादकीय विभाग में कार्य करने के बाद जब वे एक बार लंबी छुट्टी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर चले गए तो ठीक उसके दो दिन बाद ही एक सब इंस्पैक्टर आठ–दस सिपाहियों को साथ लेकर 'सत्यवादी–कार्यालय' पर पहुंचा, पर यह जानकर कि चिड़िया उड़ चुकी है, अपना छोटा–सा मुंह लेकर वापिस चला गया. कुछ महीनों के बाद 'सत्यवादी' विद्यावाचस्पतिजी द्वारा निकाले गये 'अर्जुन' पत्र में विलीन हो गया.

कानपुर के 'प्रताप' से भगतसिंह का 'अर्जुन' पत्र में शरण लेना इस तथ्य का प्रतीक था कि श्री गणेश शंकर विद्यार्थी और इन्द्र विद्यावाचस्पति ये दोनों राष्ट्रीय पत्रकार बड़ी ही घनिष्ठता के साथ विश्वसनीय रूप में एक–दूसरे से जुड़े हुए थे. शहीद भगतसिंह का लालन–पालन और शिक्षा–दीक्षा तो आर्यसमाजी परिवेश में हुई थी. आर्य समाज का देशभक्तिमय वातावरण उनके लिए अपरिचित नहीं था. एक बार आर्य समाज कलकत्ता में भी उन्होंने अपना अज्ञातवास का कुछ समय बिताया था. फ्रांस और इटली की राज्यक्रांति से सराबोर विद्यावाचस्पतिजी की राष्ट्रीयता तो उनके लिए पूर्ण रूप से विश्वसनीय और सन्देहातीत थी. इसलिए जब उनके सामने दिल्ली में गुप्त रूप से रहने का प्रश्न उपस्थित हुआ तो वह समय उन्होंने इन्द्रजी द्वारा संचालित अर्जुन के संपादकीय विभाग में बिताना उचित समझा. 'सत्यवादी' तथा 'अर्जुन' के संपादकीय विभाग में कार्यरत भगतसिंह की हिन्दी और विचारधारा के विषय में विद्यावाचस्पतिजी ने इस प्रकार विवेचन किया है, 'उसकी हिन्दी तो बहुत अच्छी थी ही, उसके विचार और भी अधिक अच्छे और परिमार्जित थे. जब कभी हिन्दू–मुस्लिम समस्या पर बात छिड़ती तो वह सदा सांप्रदायिकता के विरूद्ध पक्ष लेता. अन्य सब विषयों पर उसके विचार उदार और निर्भीक होते थे.'[८३]

'सत्यवादी' साप्ताहिक के बाद 'अर्जुन' दैनिक के जन्म लेने का कारण इस प्रकार है– 'असहयोग आन्दोलन' के धीमा पड़ जाने पर 'खिलाफत आन्दोलन' ने तंजीम की शक्ल पकड़ी. इसकी प्रतिक्रिया 'शुद्धि' के रूप में प्रकट हुई. १३ फरवरी १९२३ को भारतीय हिंदू शुद्धि सभा की स्थापना हुई. इसके प्रधान स्वामी श्रद्धानन्दजी थे. आन्दोलन वड़वानल के समान फैला. शुद्धि आन्दोलन को एक दैनिक की आवश्यकता थी. इस नये आंदोलन ने दैनिक 'अर्जुन' कोजन्म दिया. जब 'अर्जुन' का पहला अंक २४–४–१९२३ को प्रकाशित हुआ तो तब विद्यावाचस्पतिजी के पास न कोई मूलधन था, न संकट में साथ देने वाला कोई साथी. एक महीने बाद सेठ जुगलकिशोर बिड़ला की इस पत्र पर महती कृपा हुई. उनके सहयोग से 'अर्जुन' का 'अर्जुन' प्रेस हो गया. 'अर्जुन' की दशवार्षिक जयन्ती पर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 'सैनिक' दैनिक (आगरा) के संपादक कृष्णदत्त पालीवाल आदि अनेक महानुभाव सोत्साह सम्मिलित हुए थे. 'अर्जुन' के पाठकों में जनसामान्य के अतिरिक्त उच्चकोटि के साहित्यकार भी थे. उपन्यास सम्राट् एवं पत्रकार प्रेमचन्द ने 'अर्जुन' में छपा 'अनुवादक मंडल की आवश्यकता' नामक लेख १८ मई १९३३ को श्री रामचन्द्र वर्मा के पास भेजा था.[८४]

'अर्जुन' प्रारंभ से लेकर अंत तक भारत की नौकरशाही सरकार से निरनतर संघर्ष करता रहा. 'अर्जुन' का नाम सरकार की काली सूची में शामिल हो गया, जमानत और जब्ती के सिलसिले शुरु हो गये, उनसे बचने के लिए 'अर्जुन' के साथ – वीर' विशेषण जोड़ दिया गया. दिल्ली के उच्च पुलिस अफसरों की नजर में प्रो. इन्द्र और उनका अखबार दोनों ही खतरनाक बने रहे. कालान्तर में सी.आई.डी. के दफ्तर में 'अर्जुन' के विरूद्ध मामला गढ़ने का कारखाना–सा खुल गया. १३ दिसंबर १९२७ को उन्हें केवल राष्ट्रीय पत्रकारिता के फलस्वरूप सरकारी जेल का मेहमान होना पड़ा.[८५] १९२७ के बाद भी विद्यावाचस्पतिजी को १९३० व १९३५ में भी अंग्रेज सरकार ने विविध प्रकार की यातनायें दी. प्रमाणस्वरूप विद्यावाचस्पतिजी की हस्तलिखित डायरी के कतिपय अंश प्रस्तुत हैं–

सन् १९३० की 'आर्यकुमार डायरी' में विद्यावाचस्पतिजी ने लिखा है – २२ अप्रैल – '१२४–ए. में गिरवी प्लॉट हुआ.' १९३० के आरंभ में विद्यावाचस्पतिजी पर १२४–ए. का अभियोग चलाया गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था, उसमें अर्जुन के कुछ लेख भी अभियोग के आधार बनाये गये थे. ५ मई – 'मि.एफ.बी. पूल ने फैसला दिया – ६ महीने की सख्त सजा. (मुकदमा दिल्ली में चला था.) ६ जून – 'इस समय यूरोपियन वार्ड में निम्नलिखित कैदी हैं– मि. साहनी–ए, इन्द्र–ए (इन्द्र विद्यावाचस्पति), लाला हनुमंतसहाय–बी, सुखदेव–बी, सत्यवती–ए, (डॉ. सुखदेव, इन्द्र विद्यावाचस्पति जी के बहनोई थे तो सत्यवती भानजी थी.) ११ जुलाई – 'कुमार प्रिटिंग प्रेस का २००० की जमानत देकर डिक्लरेशन दिया गया. मंजूर हुआ.' २३ अगस्त – 'आज पं. रामगोपालजी को डी.सी. ने बुलाया' (पं. रामगोपाल विद्यालंकार 'अर्जुन' के संपादक थे. दंगे से संबंधित समाचार प्रकाशित करने के आरोप के सिलसिले में ढाई सौ रूपये का जुर्माना देना पड़ा.) इसी प्रकार सन् १९३५ की 'स्काऊट डायरी' में अंकित है – ६ जुलाई – अर्जुन की पांच हजार की जमानत मांगी गई. १५ जुलाई – पांच हजार की जमानत जमा कराई.

इस प्रकार स्पष्ट है कि विद्यावाचस्पतिजी ने अपनी अपनी पत्रकारिता को सदैव राष्ट्रहित में समर्पित किया. अनेक कष्ट सहे, पर नौकरशाही के सामने सिर न झुकाया. साथ ही पूंजीपतियों से संघर्ष करते हुए उन्होंने 'अर्जुन' के अर्जुनत्व की रक्षा की. हिन्दी के विशिष्ट शैलीकार और पत्रकार श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने प्रतिपादित किया है, 'अर्जुन' के अग्रलेख इतने स्पष्ट और समझाऊ होते थे कि पढ़कर अज्ञ भी विशेषज्ञ का अभिमान कर सके.''[८६] श्री शिवपूजन सहाय ने सितंबर १९३१ के 'हंस' मासिक में प्रकाशित 'हिन्दी के दैनिक पत्र' नामक लेख में लिखा है– 'राजनीतिक आंदोलन के युग में देश–सेवा में तत्पर दैनिकों में 'अर्जुन' एक विशेष उल्लेखनीय पत्र रहा है.... 'अर्जुन' के गांड़ीव के तीर बड़े मजेदार और चोखे होते थे. कभी–कभी तो वे जादूभरी चितवन की–सी चोट करते थे. या तीखी कनखियों की तरह काम करके निकल जाते थे.' तत्पश्चात् वे लिखते हैं – 'इन्द्रजी के संपादकत्व में निकले 'अर्जुन' में कुछ और ही चीज होती थी. अग्रलेखों से तो उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप नजर आती थी. उसके स्वर में वीरत्व की ललकार बराबर बनी रही.'

'अर्जुन' के कार्य से बंबई जाने पर विद्यावाचस्पतिजी की एक व्यापारी सेठ श्रीरणछोड़दास से भेंट हुई. वे एक गुजराती पत्र के स्वामी थे. बातचीत में हिन्दी पत्र निकालने की चर्चा हुई. इससे विद्यावाचस्पतिजी के मन में एक और नया साहसिक कार्य करने का उत्साह जागृत हुआ. सेठ शूरजी वल्लभदास व राजा गोविंदलाल पित्ती के प्रोत्साहन व सेठ गोविंदराम के आर्थिक सहयोग व बंबई प्रान्त के गृहमंत्री क.मा. मुंशी के वरद्हस्त से १० जनवरी १९३९ के दिन 'नवराष्ट्र' दैनिक का उद्घाटन समारोह हुआ. उद्घाटक श्री कन्हैयालाल मुंशी थे. उपस्थित सज्जनों में श्री भूलाभाई देसाई आदि महानुभाव प्रमुख थे. हिन्दी दैनिक का दक्षिण से शुभारंभ करने के लिए १९३५ व १९३८ में उन्होंने बंबई की यात्रा की थी और अन्ततोगत्वा इस पत्र को शुरू करने की जिद्द से १२ अगस्त १९३८ को मुंबई में सपरिवार डेरा डाल दिया था. विद्यावाचस्पतिजी यूरोप का दूसरा महायुद्ध आरंभ (१ सितंबर १९३९) होने से पूर्व दिल्ली लौट आये. एक अच्छा हिन्दी दैनिक निकालने और उसे संचालन की दृष्टि से स्थायित्व प्रदान करने के लिए उन्होंने अपना एक वर्ष बम्बई में बिताया. 'नवराष्ट्र' के पहले स्थायी ग्राहक एक महाराष्ट्रीय सज्जन थे. पत्र कैसा चला इसका विवरण देते हुए विद्यावाचस्पति जी ने स्वीकार किया है, ''पत्र खूब चला. एक ही वर्ष में ५ हजार से ऊपर ग्राहक हो गये थे, और निरन्तर बढ़ रहे थे. विज्ञापन भी आने लगे थे. जिससे आशा बंध गई कि अब 'नवराष्ट्र' पत्र चल निकलेगा.''[८७] नवराष्ट्र पत्र की दृढ़ और चिरस्थायी आधारशिला रखकर वे दिल्ली वापस आ गये. बंबई से एक अच्छा हिन्दी दैनिक पत्र निकले–यही उनका उद्देश्य था.

१९४७ में अर्जुन–वीर अर्जुन के पच्चीस वर्ष पूर्ण हुए. २७ जून १९४७ को इस उपलक्ष्य में रजत जयन्ती समारोह आयोजित किया गया. इस अवसर पर राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने बधाई देते हुये लिखा था– "पिछले पच्चीस वर्षों में दिल्ली के प्रभावशाली क्षेत्र में उसने, मेरे प्यारे भाई इंद्रजी की शक्ति पाकर निर्भीकता से देश की उपासना की है और हिन्दी का मान रखा है.'[८८] इस कथन में किंचिन्मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है. यह कथन विद्यावाचस्पतिजी की त्यागमयी पत्रकारिता का सच्चा सबूत है.

विद्यावाचस्पतिजी की पत्रकारिता ओजस्वी होने के कारण क्रान्तिकारी नौजवानों को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ रही. शहीद भगतसिंह के बाद सन् १९४२ की क्रांति के शहीद श्री रमेशचन्द्र आर्य ने कई वर्ष तक विद्यावाचस्पतिजी की देखरेख में 'वीर अर्जुन' में कार्य किया था.[८९] 'अर्जुन' के पांच सम्पादकों ने समय–समय पर जेल की सजायें भोगीं[९०] विद्यावाचस्पति की राष्ट्रीय पत्रकारिता न जाने कितने युवकों व पाठकों के लिए प्रेरणास्रोत सिद्ध हुई. श्री विष्णु प्रभाकर का यह मत सत्य है कि 'उनके संपादकीय लेखों से स्वतंत्रता संग्राम के सैनिक अनुप्राणित होते थे.'[९१] विद्यावाचस्पतिजी ने अन्य सार्वजनिक कार्यों में अपना अधिक समय लगाने की दृष्टि से ८ मई १९५० को 'अर्जुन' पत्र के संचालक पद से त्यागपत्र दे दिया. तत्पश्चात् शीघ्र ही पत्र 'संघ' के हाथों में जाकर अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा और उनकी नीति में परिवर्तन हो जाने के कारण विद्यावाचस्पतिजी ने उसमें नियमित रूप से लिखना छोड़ दिया. उन्हें सपने टूटते नजर आये और उन्होंने अपने पुत्र सम प्रिय 'अर्जुन' से नाता तोड़ लिया.

"जो मनुष्य बहुत दिनों तक पत्रकार रह चुका हो उसे साहस करने की आदत पड़ जाती है."[९२] तीस वर्षीय पत्रकार जीवन में पूंजीपतियों से टक्कर लेने के बाद, ६२ वर्ष की अवस्था में, एक पूंजीपति द्वारा ही संचालित एक नये दैनिक पत्र का संपादकत्व स्वीकार कर विद्यावाचस्पतिजी ने एक और साहसिक कदम उठाया, घटना इस प्रकार घटित हुई. विद्यावाचस्पतिजी के निकट संबंधी उनके मकान पर एक पूंजीपति पत्र–स्वामी को लेकर पधारे. पत्र स्वामी ने विद्यावाचस्पति से कहा, 'दिल्ली से अपने अंग्रेजी अखबार के साथ हिन्दी का एक दैनिक पत्र निकालना चाहता हूँ... मैं आपकी योग्यता और नीति से परिचित हूँ... आप इस कार्य में मेरी सहायता कीजिये. मेरा यह प्रयत्न हिन्दी जगत् के लिए लाभदायक होगा.[९३] संपादकीय स्वातन्त्र्य की शर्त पर विद्यावाचस्पति जी ने संपादक बनना स्वीकार कर लिया. कुछ ही समय में 'जनसत्ता' जनप्रिय हो गया और पत्र स्वामी की आशायें भी पूर्ण हो गई. एक वर्ष से पूर्व हीपत्र पन्द्रह हजार से अधिक संख्या में प्रकाशित होने लगा. और उसकी लोकप्रियता उसी कार्यालय से निकलने वाले अंग्रेजी दैनिक से भी अधिक हो गई. इस प्रकार पत्र जब प्रगति पथ पर आगे बढ़ रहा था तब एक बार विद्यावाचस्पतिजी ने बम्बई सरकार की 'टाइम्स' को विज्ञापन न देने की,[९४] एक आज्ञा की, अपने संपादकीय लेख में कड़ी आलोचना की. वह आज्ञा स्वामी महोदय के विशेष रूप से हित में थी. बंबई से पत्र स्वामी का संदेश आया– 'संपादकीय लेख वापिस ले लिया जाये.' विद्यावाचस्पतिजी ने अपने स्पष्ट प्रत्युत्तर में कहा– 'मैंने जो लेख लिखा है, वह ठीक समझकर लिखा है, उसे वापिस लेने का प्रश्न ही नहीं उठता. मैं पत्र की संपादकीयता नीति में स्वतंत्र हूँ, उसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहता.'[९५] अपने वचन के विरूद्ध पत्र–स्वामी द्वारा संपादकीय नीति में दखल देने के कारण विद्यावाचस्पतिजी ने तत्काल त्याग पत्र दे दिया. वे एक स्वाभिमानी पत्रकार थे. अपने एक वर्षीय संपादन काल में वे कभी भी पत्र–स्वामी से मिलने उनकी कोठी पर नहीं गये, बाद में उजागर हुई घटनाओं से यह भी स्पष्ट हुआ कि–विद्यावाचस्पतिजी को हटाने के लिए उच्चस्तर पर कोशिश की गयी थी.'[९६] 'जनसत्ता' के लेखों के आधार पर तत्कालीन सूचना–प्रसारण मंत्री ने प्रधानमन्त्री से उनकी शिकायत की थी. विद्यावाचस्पतिजी उस समय जहाँ 'जनसत्ता' के संपादक थे, वहाँ कांग्रेस व राज्यसभा के भी सदस्य थे. 'जनसत्ता' की उक्त घटना ने विद्यावाचस्पतिजी के हृदय पर यह अंकित कर दिया कि–'जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रकार विचारों की स्वाधीनता से प्रेम रखता है, उसे पूंजीपति के संग से बचना चाहिये. पूंजीपतियों का पत्र संचालन कोरा व्यवसाय है, उसमें आदर्शवाद की गुंजाइश नहीं. मुक्तिबोध ने भी कहा है– 'पूंजीपति का हृदय कभी नहीं बदल सकता.'

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'सद्धर्म–प्रचारक' से लेकर 'जनसत्ता' तक के पत्रकार जीवन में पत्रकारिता विद्यावाचस्पतिजी के लिये एक मिशन थी, पेशा नहीं. उन्होंने अपनी पत्रकारिता का जीवन १९४७ में संपन्न मानते हुए लिखा है– 'मेरा यह राष्ट्रीय युग का पत्रकारिता का जीवन स्वर्ण जयन्ती के उत्सव के साथ समाप्त समझना चाहिये.'[६७]

६.६ संपादक सम्मेलन व पत्रकार संघ सम्मेलन के अध्यक्षः-

विद्यावाचस्पतिजी ने पत्रकारिता के माध्यम से राष्ट्र व राष्ट्रभाषा की जो सेवा की, वह किसी के लिए अपरिचित नहीं रही. उनकी गुण–कर्मात्मक सुरभि यत्र–तत्र सर्वत्र फैल गयी. पत्रकारों व संपादकों के विविध संगठन उन्हें अपने सम्मेलनों का अध्यक्ष पद प्रदान कर उनके द्वारा की गई पत्र–साधना को सम्मानित करने लगे. 'आज' के संपादक श्री बाबूराव विष्णु पराडकर द्वारा संपादक सम्मेलन की अध्यक्षता करने (वृन्दावनः १९२६) के बाद इन्द्र जी की अध्यक्षता में एक सम्मेलन इन्दौर में हुआ.[६८] संभवतः यह अधिवेशन २४ फरवरी १९३३ को इन्दौर में हुआ होगा, क्योंकि विद्यावाचस्पति जी की हस्तलिखित 'सुख संचालक डायरी १९३३' में यह अंकित किया गया है–'२४ फरवरी इन्दौर के लिए जाना.' तत्पश्चात् जब युद्ध और महात्मा गांधीजी के सत्याग्रह संबंधी समाचारों के प्रकाशन पर प्रतिबंध लग गया, तब इस संकट के निवारणार्थ 'अखिल भारतीय समाचार पत्र संपादक सम्मेलन' की स्थापना दिल्ली में की गयी थी. इस सम्मेलन के आयोजकों में तीन व्यक्ति मुख्य थे– प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति (हिंदी) श्री देशबंधु गुप्त (उर्दू) और श्री देवदास गांधी (अंग्रेजी). पर जब विद्यावाचस्पतिजी को यह महसूस हुआ कि 'संपादक सम्मेलन' पर अंग्रेजी का वर्चस्व बढ़ रहा है, तब उन्होंने 'अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार–संघ सम्मेलन' की स्थापना की. इसका पहला अधिवेशन सन् १९४१ में 'विश्वमित्र' के संपादक मूलचन्द्र अग्रवाल की अध्यक्षता में दिल्ली में संपन्न हुआ. इस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष पं. इन्द्र विद्यावाचस्पतिजी थे. पत्रकार संगठनों की स्थापना और उनके अधिवेशनों को सुचारू रूप से संपन्न करने के लिए विद्यावाचस्पति जी ने बड़ी दौड़–धूप की. पत्रकार संघ सम्मेलन का तीसरा व चौथा अधिवेशन क्रमशः सन् १९४३ व १९४४ में कलकत्ता व कानपुर में संपन्न हुए. इन दोनों अधिवेशनों की अध्यक्षता प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति ने ही की थी. इस प्रकार स्पष्ट है कि विद्यावाचस्पतिजी तत्कालीन सुप्रसिद्ध पत्रकारों में तथा संपादक–पत्रकारों की सुसंगठित संस्थाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखते थे. उनकी स्वतन्त्र, निर्भीक व राष्ट्रीय नीति की पत्रकारिता ने ही उन्हें उच्चकोटि का लोकप्रिय पत्रकार बनाया था. वे संगठन कला में भी प्रवीण थे. इसी कारण वे 'संपादक संमेलन' व 'पत्रकार संघ' जैसे अनेक अखिल भारतीय संगठनों के विश्वकर्मा सिद्ध हुये.

'अर्जुन' 'मनोरंजन' तथा 'जनसत्ता' नामक तीन पत्रों में विद्यावाचस्पति जी की छत्रछाया में संपादन कार्य का सौभाग्य प्राप्त करने वाले पद्मश्री चिरंजीत ने बड़े ही खेद के साथ कहा है कि– "हिन्दी पत्रकारिता के इतिहासकारों ने पं. इन्द्र को वह शीर्ष स्थान नहीं दिया, जिसके वे अधिकारी थे. हिन्दी पत्रकारिता को हिन्दी साहित्य का एक अंग मानकर कुछ इतिहासकार काशी के बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को आधुनिक हिन्दी कविता एवं नाटक के साथ–साथ हिन्दी पत्रकारिता का भी जनक बताते हैं और उसके पालन–पोषण उन्नयन–संस्कार का सारा श्रेय पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी को देते हैं. इतिहासकारों का एक दूसरा दल सर्वश्री बाबूराव विष्णु पराड़कर, लक्ष्मण नारायण (गर्दे) और बालमुकुन्द गुप्त की बृहत्त्रयी को हिन्दी पत्रकारिता का जनक घोषित करके श्री गणेश शंकर विद्यार्थी को हिन्दी का पहला राष्ट्रीय पत्रकार बताता है. ये दोनों दल काशी और इलाहाबाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की उस इतिहास दृष्टि से जुड़े हुये हैं'. जो क्षेत्रीयता तथा जातीयता के मायोपिया के कारण कानपुर से आगे देख ही नहीं पाती. एक अप्रिय तथ्य यह है कि पं. इन्द्र को केवल आर्यसमाज के आर्यिक समुदाय की सीमित परिधि में रखकर उनके विशाल राष्ट्रीय व्यक्तित्व एवं कृतित्व को जाने–अनजाने बौना बनाया गया है. यदि उन्हें उस परिधि से निकालकर निष्पक्ष एवं उदार दृष्टि से देखा जाय तो वे दिल्ली की हिन्दी पत्रकारिता के जनक ही नहीं, समस्त उत्तर भारत की राष्ट्रीय दैनिक एवं साप्ताहिक हिन्दी पत्रकारिता के मुख्य पुरोधा प्रमाणित होंगे. उल्लेखनीय है कि पं. इन्द्र दिल्ली से प्रकाशित हुए विभिन्न पत्रों के केवल संपादक ही नहीं, जन्मदाता एवं संचालक भी थे.''[९९] श्री चिरंजीत के उपरोक्त कथन से चाहे कोई पूर्णांश में सहमत न हो, पर हरेक तटस्थ समीक्षक को इतना तो मानना ही होगा कि– पत्रकार के रूप में विद्यावाचस्पति जी का जो गौरव होना चाहिये था, वह नहीं हो पाया. वस्तुतः वे दिल्ली और उसके आस–पास के जुड़े (पंजाब, उत्तर प्रदेश और राजस्थान) परिवेश की पत्रकारिता के जनक थे. हिन्दी पत्रों के जनक, संपादक और यशस्वी संचालक होने के कारण उनकी पत्रकारिता विशेष रूप से गौरवास्पद है. दिल्ली से सुदूर दक्षिणांचल में स्थित बंबई से भी उन्होंने हिन्दी दैनिक पत्रकारिता का श्रीगणेश व संचालन किया था. डॉ. भवानीलाल जी भारतीय ने ठीक ही कहा है.– 'पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति जैसे सुगृहीत नामधेय पत्रकारों ने हिन्दी पत्रकारिता को अपने तप और साधना से प्रोज्वल किया है.'[१००]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ

१. हिन्दी पत्रकारिता का आलोचनात्मक इतिहास–१२

२. हिन्दी पत्रकारिता–२६१

३. राजस्थान विश्वविद्यालय के पत्रकारिता विभाग द्वारा आयोजित सम्पर्क शिविर के समापन समारोह में ३ सितंबर १९८६ को दिया गया वक्तव्य.

४. हिन्दी पत्रकारिता का आलोचनात्मक इतिहास–६

५. वैदिक साहित्य कुछ उपलब्धिया–३–४

६. पत्रकारिता के अनुभव–६१

७. आधुनिक पत्रकार कला–२

८. दि इनसाक्लोपीडिया अमेरिकना–२१८

९. हिन्दी पत्रकारिता का आलोचनात्मक इतिहास–३

१०. अजन्ता–सितंबर १९५२–४२

११. पत्रकारिता के अनुभव–१

१२. तत्रैव–८

१३. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन–१८८

१४. अजंता–सितंबर १९५२–४२

१५. तत्रैव–४२

१६. पत्रकारिता के अनुभव–७

१७. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन–१५१

१८. अजन्ता–सितंबर १९५२–४२

१९. पत्रकारिता के अनुभव–२

२०. तत्रैव–१

२१. आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में सरस्वती का योगदान–२८

२२. सरस्वती–१९००

२३. इन्द्र विद्यावाचस्पति–१२०

२४. आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में सरस्वती का योगदान–३२

२५. तत्रैव–४५

२६. माधवराव सप्रे–६३

२७. पं. बालकृष्ण भट्टः व्यक्तित्व और कृतित्व–१४२

२८. अजन्ताः सितम्बर १९५२–४२

२९. मैं इनका ऋणी हूं–९

३०. माधवराव सप्रे–६३

३१. हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आन्दोलन–४२

३२. मैं इनका ऋणी हूं–९

३३. पत्रकारिता के अनुभव–१०३

३४. अजन्ता–सितम्बर १९५२–४२

३५. मेरे पिता–२६४

३६. महात्मा गांधी यांचे संकलित वाङ्मय खंड– २४– ५२९

३७. सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का २७ वर्षीय इतिहास–२६९–७०

३८. युद्धेन योग्यो जयति, क्लीबो युद्धेन नश्यति। तस्मात् युद्धं तुलादण्डो, राष्ट्राणामुच्यते आवरण–२ बुधैः!! जीवन–संग्राम

३९. वीर अर्जुन–दैनिकः ५ दिसंबर १९४७

४०. तत्रैव–१९ मई १९४७

४१. पत्रकारिता के अनुभव–१–२

४२. तत्रैव–३

४३. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन–१५१

४४. बृहद् हिन्दी पत्रकारिता कोश–४७०

४५. इन्द्र विद्यावाचस्पति–१५

४६. समाचार पत्रों का इतिहास–३९०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४७. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली–खण्ड नौ–१६४–१६५

४८. पत्रकारिता के अनुभव–१०

४९. हिन्दी भाषा व साहित्य को आर्यसमाज की देन–१५१

५०. समाचार पत्रों का इतिहास–३६०

५१. हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम–चित्र एलबम–बीसवीं शती के आरंभिक दैनिक पत्र–२८४

५२. समाचार पत्रों का इतिहास–२८८

५३. शोधकर्ता द्वारा १५–४–६० को श्री सत्यकाम विद्यालंकार से ठाणें में उनके निजी घर पर हुई भेंटवार्ता–साक्षात्कार के आधार पर

५४. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (२६ फरवरी १९६१) लेख–प्राचीनता और नव्यता के अपूर्व संगम–४६

५५. पत्रकारिता के अनुभव–३२

५६. समाचार पत्रों का इतिहास–३५३

५७. हिन्दी पत्रकारिता विविध आयामः लेख–दिल्ली की हिन्दी पत्रकारिताः अतीत और वर्तमान–१८६

५८. हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम–७८६

५९. हिन्दी वाङ्मय २० वीं शती–लेख–पत्रकारिता–३८८

६०. समाचार पत्रों का इतिहास–३५३

६१. शोधकर्ता की श्री सत्यकाम विद्यालंकार से हुई भेंटवार्ता के आधार पर

६२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (२६ फरवरी १९६१) लेख–वह अपनी पीढ़ी के उत्तम प्रतिनिधि थे–६

६३. शोधकर्ता की सत्यकाम विद्यालंकार से हुई भेंटवार्ता के आधार पर

६४. समाचार पत्रों का इतिहास–३५३

६५. पत्रकारिता के अनुभव–६४

६६. हिन्दी वाङ्मय २० वीं शती–३८८

६७. हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम–६१६

६८. हिन्दी की पत्रिकायें–१०३

६९. हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम–चित्र–एलबम–स्वाधीनता संग्राम के कुछ महत्वपूर्ण पत्र–२८४–२८६

७०. शोधकर्ता की सत्यकाम विद्यालंकार से हुई भेंटवार्ता के आधार पर

७१. प्रह्लाद (अप्रैल १९६०) लेख–सफल पत्रकार प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति–३४

७२. हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम–लेख–दिल्ली की हिन्दी पत्रकारिताः अतीत और वर्तमान–१६८

७३. शोधकर्ता की सत्यकाम विद्यालंकार से हुई भेंटवार्ता के आधार पर

७४. इन्द्र विद्यावाचस्पति–२५

७५. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण–३५७

७६. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (२६ फरवरी १९६१) लेख–शील और प्रज्ञा के धनी इन्द्रजी–१०

७७. पत्रकारिता के अनुभव–१५

७८. आर्यसमाज का इतिहास–द्वितीय भाग–१०६

७९. पत्रकारिता के अनुभव–१३

८०. बन्दीघर के विचित्र अनुभव–१४

८१. पत्रकारिता के अनुभव–२६

८२. तत्रैव–३२

८३. तत्रैव–३४

८४. प्रेमचन्द विश्वकोशः खण्ड–१–१५७

८५. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–२/५२

८६. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (२६ फरवरी १९६१)–६

८७. पत्रकारिता के अनुभव–६६

८८. तत्रैव–६३

८९. हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन–३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६०. अजन्ता (सितम्बर १९५२)–४३
६१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (२८ फरवरी १९६६)–लेख–सचमुच एक मानव श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति–२३
६२. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–१५
६३. पत्रकारिता के अनुभव–७१–७२
६४. हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम–१६८
६५. पत्रकारिता के अनुभव–७४
६६. इन्द्र विद्यावाचस्पति–१३१
६७. पत्रकारिता के अनुभव–६३
६८. हिन्दी पत्रकारिता का आलोचनात्मक इतिहास–२०६
६९. आर्य सन्देश (२३ दिसंबर १९६०) लेख–दिल्ली की हिन्दी पत्रकारिता के जनक–४६
१००. आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार–१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७

संस्कृत वाङ्मय के अनुवादक और भाष्यकार

७.१ अनुवादः स्वरूप विवेचनः-

अनुवाद शब्द अनु उपसर्ग और वाद संज्ञा के संयोग से बना है. अनु उपसर्ग में किसी के पीछे जाने या आने का भाव विद्यमान है. जैसे–अनुगमन, अनुसरण, अनुकरण आदि. अनुवादक को भी मूल रचनाकार के पीछे जाना होता है. लेखक के आशय और लक्ष्य के प्रति गतिशील रहना उसके लिए बहुत जरूरी है. डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'एक भाषा में व्यक्त विचारों को यथासंभव समान और सहज अभिव्यक्ति द्वारा दूसरी भाषा में व्यक्त करने का नाम अनुवाद है.' संक्षेप में अनुवाद में दो भाषाओं के शब्दानुशासनों को एक अर्थानुशासन से जोड़ दिया जाता है.[१] उक्त अनुवाद कार्य में अनुवाद को दोहरी मानसिकता से गुजरना पड़ता है. प्रथम तो यह स्रोत भाषा की वाक्य को पढ़कर उसमें प्रयुक्त शब्द क्रम का अनुसरण करते हुए उस वाक्य के अर्थ को ग्रहण करता है और फिर उसे लक्ष्य भाषा की वाक्य योजना के अनुरूप शब्द क्रम के माध्यम से व्यक्त करता है. जिस भाषा की रचना का अनुवाद किया जाता है वह स्रोत भाषा कहलाती है और जिस भाषा में अनुवाद किया जाता है, उसे लक्ष्य भाषा कहते हैं. मूल विषय के गहन ज्ञान के अतिरिक्त अनुवाद को स्रोत व लक्ष्यों दोनों भाषाओं का ज्ञान होना भी अत्यावश्यक है. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के अनुसार– 'यदि लेखक का दोनों भाषाओं पर अधिकार है, तो उसके द्वारा प्रस्तुत अनुवाद ज्ञान–वृद्धि में सहायक हो सकता है.'[२] गद्य का गद्यानुवाद करना तो सहज है पर पद्य का पद्यानुवाद करना वस्तुतः टेढ़ी खीर है.

प्रायः कहा जाता है कि अनुवाद महाप्रवंचक होता है. 'उसका यदि अनुवाद सुन्दर होता है तो विश्वसनीय नहीं होता, और यदि विश्वसनीय होता है तो सुन्दर नहीं होता.' जैसे एक बोतल से इत्र दूसरी शीशी में उड़ेलते हैं तो कुछ न कुछ अंश में उसकी गंध इत्र उड़ेलते हुए ही उड़ जाती है, उसी प्रकार स्रोत भाषा को लक्ष्य भाषा में रूपान्तरित करते समय उस स्रोत भाषा की कुछ ना कुछ भाव–सुरभि नागशेष हो जाती है. अपवाद रूप में कुछ प्रतिभाशाली अनुवादकों के अनुवाद कार्य से अनुवाद में नये भाव–सौन्दर्य का भी प्रवेश हो सकता है. यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि अनुवाद एक दुस्तर कार्य है, इसलिए उक्त कार्य को पुनःसृजन के नाम से भी संबोधित किया जाता है. अनुवादक जब अनुवाद करता है तो मूल के भाव–सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए कुछ छोड़ने और कुछ जोड़ने के लिए विवश हो जाता है. इस संदर्भ में डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे का कहना है कि– 'अनुवाद को मूल रचना की जुड़वा या सगी बहन के रूप में प्रस्तुत करने के लिए कम से कम छोड़ने और कम से कम जोड़ने की नीति अपनाना बहुत जरूरी है.'[३]

७.२ अनुवाद का महत्वः-

अनुवाद भावों के सशक्त आदान–प्रदान का माध्यम है, फलतः प्राच्य संस्कृत वाङ्मय की परा–अपरा विद्या अनुवाद के गवाक्ष से ही हमारी मानस–भूमि का संस्पर्श कर पायी है, और पाश्चात्य विज्ञान का प्रकाश भी ट्रान्सलेशन की विण्डो से ही हम तक पहुँच पाया है. आधुनिक काल के प्रारंभ में यदि गौर से देखा जाय तो यह तथ्य सामने आता है कि हरेक सफल लेखक अनुवादक भी है. हिन्दी की शैशवावस्था में महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने संस्कृत, अंग्रेजी, बंगाली और मराठी जैसी संपन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषाओं से हिन्दी को समृद्ध करने का आह्वान करते हुए कहा था– 'इंग्लिश का ग्रन्थ समूह बहुत भारी है, अति विस्तृत जलधि समान देहधारी है/ संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है, उसका भी ज्ञानागार हृदयहारी है/ इन दोनों में से अर्थरत्न लीजै, हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेम युत कीजै''।[४]

द्विवेदीजी से पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी यह स्पष्ट रूप से कह दिया था कि – 'अपने साहित्य का भण्डार अन्य भाषाओं के श्रेष्ठ ग्रन्थों के अनुवाद द्वारा भरा जा सकता है.'[५] द्विवेदीजी हिन्दी की तुलना में संस्कृत, अंग्रेजी, बंगाली के अतिरिक्त मराठी भाषा को भी एक सम्पन्न भाषा मानते थे. इसलिए उन्होंने मराठी कविताओं से भावार्थ ग्रहण कर समय–समय पर 'सरस्वती' में कुछ कवितायें प्रस्तुत की थीं.[६] छायावादी कवि निराला ने भी कहा है – 'संसार के विविधमुखी ज्ञान का परिचय प्राप्त करने के लिए अनुवाद अत्यावश्यक है.'[७] श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति भी अनुवाद की भाव–संप्रेषण शक्ति से सुपरिचित थे. वे मराठी पत्र 'केसरी' के अनूदित 'हिन्द केसरी' के लेखों को पढ़कर लोकमान्य तिलक के अनुयायी बने थे.[८] उन्हें तिलक–भक्त बनाने का श्रेय एक प्रकार से अनुवाद–कला को भी है.

तिलक जिस समय 'केसरी' निकाल रहे थे उसी समय विद्यावाचस्पति जी के पिता मुंशीराम भी 'सद्धर्म–प्रचारक' निकाल रहे थे. दोनों ही पत्रों में सूरत कांग्रेस के अधिवेशन में हुए उपद्रवों पर टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई थीं. तत्कालीन परिस्थिति को स्पष्ट करने के लिए भारवि विरचित काव्य का एक प्रसंग प्रस्तुत किया जा रहा है. काव्य में देवराज इन्द्र मुनि के वेश में उपस्थित हो अर्जुन को उपदेश देते हैं. – 'यदि तुम्हारे मन में शत्रुओं को जीतने की इच्छा है (तो पहले अपनी) इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो.... शास्त्रास्त्रों को त्यागो, (और) मुनि वृत्ति धारण करो.'[९] इसी प्रकार का उपदेश सूरत की घटनाओं पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए महात्मा मुंशीराम जी ने 'सद्धर्म–प्रचारक' में देते हुए कहा था – ''आज तुम्हारी अपनी इन्द्रियाँ तुम्हारे अपने वश में नहीं. जब अपने मन पर तुम्हारा कुछ अधिकार नहीं, तब तुम दूसरों से क्या अधिकार प्राप्त कर सकते हो?.... यदि इतना भी नहीं हो सकता तो स्वराज्य प्राप्ति के प्रोग्राम को पचास वर्षों के लिए तह करके रख दो.''[१०] लगभग इसी समय 'केसरी' में 'क्या हम स्वराज्य पाने के योग्य नहीं'[११] नामक लेख छपा था. महात्मा मुंशीराम की लेखनी में ब्राह्मणत्व प्रबल था और लोकमान्य तिलक के लेखन में क्षत्रियत्व. 'किरातार्जुनीय' के अर्जुन की तरह श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति का झुकाव क्षत्रियत्व की ओर हुआ, पर यह झुकाव सीधे मराठी 'केसरी' से नहीं, अपितु उसके श्री माधवराव सप्रे द्वारा अनूदित संस्करण 'हिन्द केसरी' से हुआ था. इसीलिए हमने उपरोक्त परिच्छेद में यह तथ्य अंकित किया है कि– विद्यावाचस्पति जी को तिलक–भक्त बनाने का श्रेय अनुवाद–कला को है.

विद्यवावाचस्पति जी द्वारा संचालित 'अर्जुन' पत्र में 'अनुवादक मण्डल की आवश्यकता' नामक लेख प्रकाशित हुआ था, जो प्रेमचन्द जी को इतना अधिक भाया कि उन्होंने उसे १८ मई १६३३ को श्री रामचन्द्र वर्मा जी के पास भेंजा था.[१२] इस घटना से भी अनुवाद की आवश्यकता पर विशेष प्रकाश पड़ता है. अनुवाद के माध्यम से सभी भारतीय भाषाओं को एक मंच पर लाने के लिए प्रेमचन्द जी ने श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार से सहयोग चाहा था. अनुवाद की महत्ता को विद्यावाचस्पति जी भी बखूबी जानते थे. इसलिए उन्होंने पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश को दिये साक्षात्कार में कहा था– 'संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद मेरी दृष्टि से हिन्दी के लिए अत्यन्त आवश्यक है.' गत वर्ष (सन् १६५०) मैंने 'रघुवंश' के आधार पर हिन्दी में 'सम्राट् रघु' का जीवन चरित्र प्रकाशित किया था.. अब मैं 'किरातार्जुनीय' के आधार पर 'अर्जुन की घोर तपस्या' लिख रहा हूं'[१३]

७.३ अनुवाद की परम्परा:-

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने ठीक ही कहा है –'अनुवाद या स्वतन्त्रानुवाद से हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गद्य साहित्य की सृष्टि हुई है.'[१४] हिन्दी गद्य के प्रयोग काल के चारों लेखक सैयद इंशा अल्ला खां, मुंशी सदासुखलाल, सदल मिश्र और लल्लूलाल की रचनाओं को (केवल रानी केतकी की कहानी को अपवाद रूप में छोड़कर) श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों की कथाओं का भावानुवाद ही माना जाता है. इसी काल में स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद और यजुर्वेद का हिन्दी में भाष्य और अनुवाद किया था. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अन्य भाषाओं के साहित्य की तरह मराठी भाषा से भी एक उपन्यास का हिन्दी में अनुवाद किया था. भारतेन्दु–द्विवेदी काल तो वास्तव में अनुवाद काल ही कहलाता है. द्विवेदी जी ने १८८६ से १६१७ तक १४ पुस्तकों के हिन्दी पद्य व गद्य में अनुवाद किये थे. इनमें १३ संस्कृत की पुस्तकों का और एक अंग्रेजी पुस्तक का समावेश है. यह अंग्रेजी की पुस्तक भी 'महाभारत' है, जिसे सुरेन्द्रनाथ ठाकुर ने महाभारत के मूल आख्यान के आधार पर लिखा है. द्विवेदी जी द्वारा अनूदित पुस्तकों में महाकवि कालिदास कृत 'रघुवंश' व भारवि विरचित 'किरातार्जुनीय' का भी समावेश है.[१५] इन्हीं दो पुस्तकों का विद्यावाचस्पति जी ने भी अनुवाद किया है. छायावाद काल में भी यह अनुवाद की परम्परा चलती रही है. महाकवि निराला ने 'आनन्दमठ' के रचयिता श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी के ११ बंगाली रचनाओं, रामकृष्ण परमहंस के ३ बंगाली उपदेश ग्रन्थों व स्वामी विवेकानन्द लिखित ३ अंग्रेजी ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया. उन्होंने तुलसीकृत रामचरित–मानस का खड़ी बोली में पद्यानुवाद भी किया था. छायावाद के पश्चात् उत्तरोत्तर वर्तमानकालीन युग में तो बहुमुखी ज्ञान से समृद्ध अनुवाद की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ती ही जा रही है.

७.४ विद्यावाचस्पति जी का अनूदित साहित्यः-

श्री रामप्रीत ने द्विवेदीजी के काव्य–विकास के प्रारंभिक काल (१८८५–१८८६) को 'अनुवाद–काल' संज्ञा दी है.[१६] इसी काल के अन्तिम वर्ष में विद्यावाचस्पति जी का जन्म हुआ था. इससे स्पष्ट है कि जन्म से ही 'अनूदित साहित्य' उनके परिवेश में विद्यमान था. फलतः विद्यावाचस्पतिजी ने भी मौलिक साहित्य की रचना के अतिरिक्त संस्कृत की कुछ गद्य कृतियों के हिन्दी अनुवाद व भाष्य किये. उनके गद्य साहित्य के अन्तर्गत उनकी अनूदित रचनाओं का भी उल्लेखनीय स्थान है. इन रचनाओं से जहां विद्यावाचस्पतिजी के अगाध पाण्डित्य का परिचय मिलता है, वहां उनसे युगीन प्रवृत्ति का भी बोध होता है. वस्तुतः अनुवाद कार्य में विद्यावाचस्पतिजी की रूचि युग–चेतना का सहज परिणाम थी.

भारतेन्दु से ही हिन्दी साहित्य में विविध समृद्ध भाषाओं के ग्रन्थों को हिन्दी में अनूदित करने की परम्परा जन्म ले चुकी थी. द्विवेदी युग में इस दिशा में विशेष प्रगति हुई. यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि द्विवेदी युग तक अधिकतर पद्यानुवाद ही किये गये. छायावाद युग में विशेष रूप से श्री निराला ने गद्यानुवाद की दिशा में विशेष ध्यान दिया. इस सम–सामायिक अनुवाद की प्रवृत्ति का विद्यावाचस्पति जी पर भी प्रभाव पड़ा, पर उनकी गति–प्रवृत्ति विशिष्ट रूप से गद्य लेखन की ओर थी, अतः उन्होंने छन्दशास्त्र का ज्ञान और काव्य में गति होने पर भी पद्यानुवाद के क्षेत्र में कदम नहीं रखा.

विद्यावाचस्पति जी का संस्कृत भाषा पर उतना ही अधिकार था जितना कि हिन्दी पर. गुरुकुल कांगड़ी की सर्वोच्च उपाधि 'विद्यावाचस्पति' से विभूषित होने के कारण संस्कृत उनकी मातृभाषा के तुल्य थी. छात्रावस्था में उन्होंने हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत में भी कवितायें लिखीं थी. विशेष रूप से यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि संस्कृत की तुलना में हिन्दी के साहित्यिक व व्याकरणिक रूप से तो वे स्नातक होने बाद ही सुपरिचित हुये थे.[१७] विद्यावाचस्पति जी ने संस्कृत के जिन तीन काव्य ग्रन्थों का अनुवाद व भाष्य किया उनमें महाकवि कालिदास का 'रघुवंश', भारवि का 'किरातार्जुनीय' तथा औपनिषदिक ग्रन्थों में सर्वप्रथम उपनिषद् 'ईशोपनिषद्' का समावेश है. कालिदास और भारवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत के विश्वविश्रुत सर्वश्रेष्ठ कालजयी कवि हैं. सुप्रसिद्ध उक्ति है– 'उपमा कालिदासस्य भारवेर्स्थगौरवम्' इसका आशय यह है कि – "कालिदास के काव्य का विशिष्ट गुण उपमा है और भारवि का अर्थ गौरव. विद्यावाचस्पति जी ने तो यहाँ तक कहा है कि उपमा में कालिदास का अर्थ गौरव में भारवि की तुलना केवल संस्कृत में ही क्या संसार की अन्य किसी भाषा में भी मिलना कठिन है. ये दोनों कवि अपने–अपने अधिकार क्षेत्र में अजेय हैं."[१८]

७.५ अनुवाद की पृष्ठभूमि व प्रेरणाः-

'अनूदित हिन्दी साहित्यः विशिष्ट ग्रंथ सूची' के अनुसार विद्यावाचस्पति जी से पूर्व 'रघुवंश' के ७ हिन्दी अनुवाद और 'किरातार्जुनीय' के ४ हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुके थे.[१९] उक्त सूची अपूर्ण प्रतीत होती है. इन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवादों की संख्या इससे दोगुनी–चौगुनी भी हो सकती है. इन अनुवादों के होते हुए भी एक ओर अनुवाद द्वारा विद्यावाचस्पतिजी ने इन संस्कृत ग्रन्थों का साहित्यिक, सांस्कृतिक और प्रासंगिक महत्व प्रतिपादित करना अत्यावश्यक समझा. प्रायः अनुवादक अनेक प्रेरणाओं से प्रेरित होकर अनुवाद की दुनिया में प्रविष्ट होते हैं –'कभी पुरानी जमीन को तोड़कर नयी जमीन तैयार करने के लिए, कभी छपास के मोह के लिए, कभी राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय पहचान बनाने के लिए और कभी सहज मानवीय संबंधों के विस्तार के लिए, तो कभी ज्ञानक्षेत्र की गहराई में डुबकी लगाने के लिए.'[२०] विद्यावाचस्पतिजी के अनूदित साहित्य लिखने का प्रमुख प्रयोजन 'शिवेतरक्षतये' है, यश या अर्थप्राप्ति नहीं. चाहे फिर वह 'रघुवंश' हो, 'किरातार्जुनीय' हो या 'ईशोपनिषद् भाष्य'. उन्होंने जो अनुवाद किये उनका उद्देश्य राष्ट्रीय नवजागरण की दृष्टि से पुरानी जमीन को तोड़कर नयी जमीन तैयार करना है, तथा आध्यात्मिक क्षेत्र की गहराई में डुबकी लगाना व लगवाना है.

विद्यावाचस्पति जी 'कालिदास' के अनन्य प्रेमी थे.[२१] सन् १६५६ में उनकी प्रेरणा से कालिदास वाङ्मय में वर्णित पक्षियों और वनस्पतियों के चित्रों की प्रदर्शनी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पुरातत्व संग्रहालय में आयोजित की गई थी. इस प्रदर्शनी में पक्षियों में राजहंस, चक्रवाक, चातक, शुक, सारिका, सारस, श्येन, हारीत, (हरियल), कंक (लाल बगुला) कादम्ब (कलहंस), कारण्डव (टिकारी), कुररी (मछमंग–मछरंग), कोकिल, क्रौंच आदि के यथार्थ ज्ञान कराने वाले रंगीन चार्ट रखे गये थे. वनस्पतियों में अशोक, कुरवक, जपा, चम्पा, यूथिका, प्रियाल, आम्र, मावी, कुटज, जाति, कम्पिल, कुन्द के पुष्प कालिदास के ग्रन्थों में पाये जाने वाले संस्कृत श्लोकों के साथ दिखाये गये थे. जिसे देखकर डॉ. चिन्तामणि द्वारकानाथ देशमुख मन्त्रमुग्ध हो गये थे. विद्यावाचस्पतिजी के इस प्रकार के कार्यो से प्रभावित होकर इतिहासकार श्री हरिदत्त वेदालंकार ने उन्हें अपनी सचित्र शोधपूर्ण सुन्दर कलात्मक कृति 'कालिदास के पक्षी' सादर समर्पित की थी.

सन् १६५६ में विद्यावाचस्पतिजी ने अपने कई मित्रों के साथ सपरिवार कण्वाश्रम–स्मारक की यात्रा बड़ी श्रद्धा से की थी. महाकवि कालिदास द्वारा 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में वर्णित कण्वाश्रम के आधार पर यह स्मारक उत्तर प्रदेश सरकार की अनुमति से गढ़वाल परिसर के उत्साही निवासियों की ओर से बनाया गया था. उस स्मारक पर जाने के बाद उन्हें अतिशय दुःख हुआ. इस दुःख का कारण एक तो यह था कि स्मारक के लिए जो स्थान चुना गया, वह ऐतिहासिक दृष्टि से निराधार था और दूसरा कारण यह था कि वह स्मारक कुलपति कण्व और उनके आश्रम की भव्यता के अनुरूप नहीं था. विद्यावाचस्पतिजी के शब्दों में –'यदि कण्वाश्रम का स्मारक बनाना था तो आश्रम के योग्य कोई विशाल भू–भाग चुना जाता और वहां कोई आश्रम प्रधान शिक्षणालय खोला जाता, न कि एक छोटा–सा नाटकघर बनाकर पैसे इकट्ठे करने का उपाय.'[२२] 'नाटकघर' से तात्पर्य यहां उस छोटे–से मन्दिर से है, जिसमें राजा दुष्यन्त, शकुन्तला और कण्व आदि की छोटी–छोटी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूर्तियां रख दी गई हैं. जहां एक पुजारी भक्तों द्वारा चढ़ाये हुए पैसे बटोरता रहता था. विद्यावाचस्पतिजी को यह स्मारक 'कण्वाश्रम का स्मारक नहीं, अपितु उसका उपहास'[२३] प्रतीत हुआ.

विद्यावाचस्पतिजी को कालिदास काव्य उपवन का भ्रमर कहा जाय तो बिल्कुल भी अतिशयोक्ति नहीं होगी. एतद्विषयक अपने रूप को स्पष्ट करते हुए स्वयं विद्यावाचस्पतिजी ने कहा है– "छात्रावस्था में ही मुझे कालिदास के काव्यों के पारायण का व्यसन रहा है. अब तक (१५ दिसंबर १९५० तक) भी रिक्त समय को काटनेया मनोरंजन के लिए उपन्यास के स्थान पर मैं प्रायः कालिदास का कोई काव्य पढ़ा करता हूं. जितना ही मैंने कवि सम्राट् के काव्यों का अनुशीलन किया, उतना ही अधिक उनका सौन्दर्य और गौरव मेरे मन पर अंकित होता गया."[२४]

कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' जैसे सर्वोत्कृष्ट नाटक के होते हुए भी विद्यावाचस्पति जी ने 'रघुवंश' के अनुवाद को आखिर क्यों प्राथमिकता दी. इसका कारण बतलाते हुए कहा है– "शाकुन्तल' में ललित शब्दों और कोमल भावनाओं का ऐसा अच्छा मिश्रण है कि उसकी उपमा मिलनी कठिन है, इस दृष्टि से उसका स्थान केवल कालिदास के ग्रन्थों में या संस्कृत के वाङ्मय में अपितु विश्व के साहित्य में ऊँचा माना जाय तो उचित ही है. परन्तु दो कारणों से 'रघुवंश' को पहला स्थान दिया है. प्रथम कारण तो यह है कि महाकाव्य है, उसमें वर्णनीय विषयों और रसों की इतनी विविधता है कि कवि को अपनी प्रतिभा के प्रकाशन का पूरा अवसर मिला है, दूसरा कारण यह है कि रघुवंश में हम महाकवि कालिदास के काल की अवस्था तथा भावना का विशद तथा उज्जवल चित्र देखते हैं."[२५]

कालिदास के व्यापक और गहन देश–प्रेम और देश–परिचय से विद्यावाचस्पति जी मन्त्रमुग्ध थे. उन्हीं के शब्दों में– "कुमारसंभव' के प्रारंभ में कालिदास ने हिमालय का मानो नख–शिख–वर्णन कर दिया है. उधर रघुवंश में रघु की दिग्विजय यात्रा का वर्णन पढ़िए तो आप अनुभव करेंगे कि कवि को भारत के कोने–कोने की भौगोलिक और मानवीय विशेषताओं का पुष्कल परिचय है. 'मेघदूत' का अनुशीलन कीजिए तो आप भारत के उत्तर और दक्षिण के मुख्य दो पर्वतों को आपस में में मिलाने वाले मेरूदण्ड का मार्मिक वर्णन पायेगे." "यदि हम कालिदास के समय के भारतवर्ष को जानना चाहते हैं तो उसका सर्वोत्कृष्ट चित्र कवि के काव्यों में विद्यमान है."[२६] तत्कालीन परिस्थिति की झलक कालिदास के काव्य में ज्ञानचक्षुओं से देखी जा सकती है. 'रघुवंश' में राजनीतिक भावनाओं, 'कुमारसम्भव' में धार्मिक विचारों, और 'मेघदूत' से सामाजिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों का आप एक स्पष्ट चित्र खींच सकते हैं."[२७] विद्यावाचस्पति जी के अनुसार–'प्रत्येक महती रचना का कोई न कोई लक्ष्य बिंदु होता है.'[२८] 'रघुवंश' के पाठ से महान्! से महान शासक और यशस्वी प्रतापी को यह शिक्षा मिलती है कि –'राज्यों और राजवंशों के भवन तपस्या, सेवाभाव और वीरता की नींव पर खड़े होते हैं और प्रमाद लम्पटता और कायरता के आघातों से जर्जरित होकर नष्ट हो जाते हैं.'[२९]

श्री सत्यदेव विद्यालंकार का यह मत सत्य है कि, विद्यावाचस्पति जी 'किरातार्जुनीय' के रचयिता भारवि कवि की काल–नीति और राज्य–संचालन संबंधी कूटनीति के बड़े प्रशंसक व पोषक थे'[३०] भारवि के काव्य की महत्ता का विश्लेषण करते हुए स्वयं विद्यावाचस्पति जी ने कहा है –'यद्यपि भारवि का केवल एक ही काव्य 'किरातार्जुनीय' मिलता है, अन्य कोई काव्य या खण्डकाव्य भी उपलब्ध नहीं होता तो भी उसकायश इतना विस्तृत और स्थायी हो गया है. इसके दो मुख्य कारण हैं एक तो यह कि उसकी कवित्व शक्ति अद्भुत थी...(और)... दूसरी विशेषता यह है कि उसने विषय का चुनाव बहुत आकर्षक और उसका निर्वाह उससे भी सुन्दर किया है. सम्पूर्ण काव्य का एक दृष्टिकोण और एक उपदेश है. यह विशेषता मध्यकाल की बहुत कम रचनाओं में पायी जाती

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है. 'किरातार्जुनीय' अपने ढंग का अनूठा महाकाव्य है. इसमें शब्द सौन्दर्य और भाव सौन्दर्य इन्द्रधनुष के वर्णो की भांति एक–दूसरे में ओत–प्रोत होते हुए भी पृथ्क–पृथक् रूप में प्रकट हो रहें हैं."[३१]

विद्यावाचस्पति जी 'किरातार्जुनीय' का अनुवाद करने की ओर क्यों प्रवृत्त हुए? इसका उत्तर उनकी इन अग्रिम पंक्तियों से प्राप्त होता है– 'यदि मुझमें कविता करने की शक्ति आ जाय और फिर कहा जाय कि समयानुकूल कविता करो, तो मैं किरातार्जुनीय के बहुत से सर्गो का हिन्दी में अनुवाद करने का प्रयत्न करूंगा. यदि कोई जातीय (राष्ट्रीय) विश्वविद्यालय हो, और उसमें पढ़ाने के लिए संस्कृत की पाठविधि बनाने को मुझसे कहा जाय तो भी मैं 'बाल्मीकि रामायण' से दूसरे दर्जे पर 'किरातार्जुनीय' का ही स्थान रखूंगा, जो जातियां चिरकाल से स्वाधीन हैं, धन–धान्य से युक्त हैं, वैभव और ऐश्वर्य की सामग्री से अलंकृत हैं, उनके लिए श्रृंगार–प्रधान–काव्य ठीक हो सकता है, परन्तु जिस दशा में भारत है, उसके लिए किरातार्जुनीय और भगवद्गीता ही सबसे उत्तम है.... श्रृंगार और ललितोद्गार में, मधुरता और उपमा में, प्रसाद और सरसता में, लौकिक कवियों में अनेक भारवि से ऊँचे हैं, पर भारत को इस समय उनमें से किसी के भी गुण की इच्छा नही है. भारत को इस समय उन गुणों की लालसा है, जिसका अन्तर्भाव 'ओज' शब्द के अन्दर हो सकता है. अधमरे शिथिल रोगी को ऐसी दवा देनी चाहिये, जो उसे उठाकर खड़ा कर सके. जब वह खड़ा हो जायेगा तब बालों में इत्र और मुँह में पान भी शोभा देने लगेगा. इसी सिद्धान्त के अनुसार इस समय भारत 'किरातार्जुनीय' जैसे काव्य चाहता है. शृंगार प्रधान काव्य नहीं."[३२]

विद्यावाचस्पति जी ने इस अनुवाद की प्रस्तावना कुछ ऐसी शैली में लिखी है कि उसने प्रतीकात्मकता का रूप धारण कर लिया है. युधिष्ठिर महात्मा गांधी प्रतीत होते हैं. 'दुर्योधन' वह अंग्रेज नजर आता है, जिसने 'इन्द्रप्रस्थ' (भारतवर्ष) का शासन हड़प कर लिया है. दौपदी, अर्जुन, भीम, दुर्गा भाभी, रामप्रसाद बिस्मिल, भगतसिंह आदि उन क्रान्तिकारियों के प्रतीक नजर आते हैं, जो सशस्त्र क्रान्ति और 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति में विश्वास रखते हैं. यह प्रस्तावना सन् १९२५ में लिखी गयी थी, जब विद्यावाचस्पति जी ने 'किरातार्जुनीय' के अनुवाद का संकल्प किया था और तभी उन्होंने इसके मुख्य–मुख्य भाग का अनुवाद भी कर लिया था. उदाहरण के रूप में प्रस्तावना के कतिपय अंश प्रस्तुत हैं–

"वह (द्रोपदी) द्वापर की क्षत्राणी है आज की भारत की नारी नहीं."[३३] 'दुर्योधन' की शक्ति अनुपम है, उसकी नीति बड़ी गहरी है, उसका समय विभाग निश्चित है. भारत में अंग्रेजी सरकार के समय पालन की भांति उसका भी समय विभाग का पालन प्रसिद्ध है,'[३४] द्रौपदी की (आखिरी) अपील ऐसी है कि सदियों की झूठी धार्मिक अहिंसाओं का मारा हुआ जैनी भी हाथ में तलवार लेकर खड़ा हो जायेगा.'[३५] –'यदि आपने वीरता को बिल्कुल तिलांजलि देकर क्षमा का ही भरोसा लिया है, तो क्षत्रिय चिह्न धनुष को फेंक दो, जटायें बढ़ा लो और हवन किया करो.'[३६] बादल को गरजता हुआ सुनकर शेर भी गरजता है, इसलिए नहीं कि उसका कोई कार्य सिद्ध होता है, अपितु इसलिए कि वह प्रतिस्पर्धा नहीं देख सकता.'[३७] 'वह सती (द्रौपदी) आज के भारतवासियों जैसी नहीं कि अपमान को मीठे शरबत की भांति पी जाय, वह सच्ची भारतपुत्री है, वह क्षत्रिय कुल की उपज है. वह भला अपमान को कैसे भूल सकती है या क्षमा कर सकती है.'[३८] जिस ओजस्वी शैली में यह प्रस्तावना लिखी गई है, उसी ओजस्वी शैली में काव्यानुवाद भी किया गया है.

विद्यावाचस्पति जी को 'भारवि अपने ज्ञानचक्षु से बीसवीं सदी तक देखता प्रतीत होता है.'[३९] इतनी स्पष्ट प्रस्तावना होने के बाद 'किरातार्जुनीय' के अनुवादक के अनुवाद के कारण पर प्रकाश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डालने की और कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती. यही वह काल था, जब विद्यावाचस्पति जी ने महात्मा गांधी से महाराष्ट्र केसरी छत्रपति शिवाजी पर एक लेख लिखने का अनुरोध किया था जिसके प्रत्युत्तर में महात्माजी ने कहा था –'क्या तू मुझे मेरे (अहिंसा के) कार्य से विमुख करना चाहता है?'[४०] राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने सन् १६२५ में 'श्रीमद्भगवद्गीता' के द्वितीय अध्याय का 'गीतामृत' शीर्षक से पद्यानुवाद किया था. इस अनुवाद का उद्देश्य था –'जाय सब किन्तु रहे निज धर्म.'[४१] राष्ट्रीयता के प्रखर वैतालिक विद्यावाचस्पति जी ने भी सन् १६२५ में ही 'किरातार्जुनीय' के हिन्दी गद्यानुवाद का संकल्प कर उसके मुख्य–मुख्य भाग का अनुवाद कर लिया था. उद्देश था –जाय सब किन्तु रहे निज राष्ट्र.'

७.६ 'रघुवंश' का कथानकः-

'रघुवंश' में महाकवि कालिदास ने रघुवंश रूपी सूर्य के उदय और अस्त की गाथा कही है. महाराज दिलीप, प्रतापी रघु, परम प्रतापी अज, राजा दशरथ, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, लव–कुश, पुष्कल, तक्ष, अंगद, चन्द्रकेतु, अतिथि, नल, पारियात्र, ध्रुवसन्धि, सुदर्शन और अग्निवर्ण तक के रघुवंशी राजाओं की इसमें कथा है. अन्तिम दो सर्गो में कुश के २४ उत्तराधिकारियों का वर्णन है, उनमें कुश के पुत्र अतिथि को छोड़कर अन्य कोई ऐसा राजा नहीं है, जिसके विषय में कवि ने दो–चार से अधिक श्लोक लिखे हों. अपवाद केवल सुदर्शन का है, जिसने शासन के उत्तरदायित्व को अच्छी प्रकार से संभाल लिया था. रघुवंश में उसके सम्बन्ध में १६२ श्लोक हैं. अन्तिम राजा अग्निवर्ण विषयलम्पटता के कारण राजयक्ष्मा की व्याधि से ग्रस्त हो गया और निस्सन्तान होने के कारण राघवों के राजसिंहासन को उत्तराधिकारी से शून्य छोड़कर परलोक चला गया. इस तरह जो यशस्वी वंश महाराजा दिलीप की तपस्या, प्रतापी रघु के पराक्रम और मर्यादा पुरुषोत्तम राम के असाधारण व्यक्तित्व से मध्याह्न के सूर्य की भांति चमक रहा था, वह ध्रुवसन्धि जैसे व्यसनी और अग्निवर्ण जैसे विषयी उत्तराधिकारियों के प्रभाव से अस्ताचल में विलीन हो गया. 'असाधारण तपस्या व अनथक प्रयासों से राज्य प्रतिष्ठित होते हैं, पर जैसे ही वे व्यसनाधीन हो जाते हैं तो पल भर में नष्ट हो जाते हैं. ' यही 'रघुवंश' के कथानक का सन्देश है. विद्यावाचस्पति जी के अनुसार 'क्षत्रिय (शासक) को जैसा होना चाहिये, उसका सर्वांगपूर्ण नमूना देखना हो, तो कालिदास द्वारा वर्णित सम्राट् रघु का अध्ययन और मनन करना चाहिये.'[४२]

७.७ 'किरातार्जुनीय' का कथानकः-

विद्यावाचस्पति जी की द्वितीय अनूदित रचना 'किरातार्जुनीय' का संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है – प्रारंभ में पाण्डवों का दूत युधिष्ठिर से राजा सुयोधन के समाचार सुनाता हुआ कहता है – वह सुयोधन यह चाहता है कि प्रजा तुम्हें भूल जाय और उसके राज्य को सुखी समझने लगे, जिससे तुम जब वनवास से वापिस लौटो और अपना राज्य मांगो, तब तुम्हें तुम्हारी ही पुरानी प्रजा की सहायता से हटाया जा सके. यह सब सुनकर द्वापर की क्षत्राणी द्रौपदी कहती है –'हे धर्मपुत्र! झूठी शान्ति को छोड़ दो और शत्रुओं के नाश के लिए कमर कसकर तैयार हो जाओं. धूनी रमाकर सन्तोष कर बैठना मुनियों का काम है, राजाओं का नहीं'. दूसरे सर्ग के प्रारंभ में भीमसेन कहता है –बस, अब तो यही अभिलाषा है कि –शत्रु के लिए तुम्हारे और हमारे हृदय में जो आग है, वह भी शत्रु की विधवा नारियों के आंसुओं से ही शान्त हो. जब अग्रज युधिष्ठिर धैर्य की महिमा और प्रतिज्ञा–पालन का गौरव बतलातें हैं तो अकस्मात् महामुनि व्यास का पदार्पण होता है. वे यह उपदेश और सलाह देते हैं कि – बिना तप और परिश्रम के शत्रु को नहीं जीता जा सकता. अतः तपस्या से इन्द्र और शिव को प्रसन्न कर अमोघ शस्त्रास्त्रों को प्राप्त करो. अर्जुन हिमालय जाकर तपस्या करते हैं, और अपने आपको जितेन्द्रिय और असाधारण तपोमूर्ति सिद्ध कर, क्रमशः इन्द्र और शिव को प्रसन्न कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेते हैं. अर्जुन की अद्भुत तपस्या और शक्ति से प्रसन्न होकर किरात का रूप धारण किये शिव अपने असली रूप में प्रकट होते हैं, और अर्जुन पर आर्शीवाद की वृष्टि करते हुए उसे विविध शस्त्रास्त्रों से भी सुसज्जित करते हैं.

कथानक के प्रारंभ में युधिष्ठिर को हम द्रौपदी और भीमसेन के धिक्कार रूपी तीरों से क्षत–विक्षत होते हुए पाते हैं, तो अंत में उसी युधिष्ठिर को अस्त्रों से सुसज्जित अर्जुन की चरण वन्दना लेने का आनन्द प्राप्त करते हुए देखते हैं. आरंभ में निराशा और अंत में आशा है. इस प्रकार विद्यावाचस्पति ने तत्कालीन भारत की तथाकथित अहिंसावादी मोह माया को दूर करने के लिए भारवि विरचित 'किरातार्जुनीय' का यह ओजस्वी अनुवाद प्रस्तुत किया था, जो अतीत के समान वर्तमान में भी उपयोगी है.

७.८ 'ईशोपनिषद्' : एक आध्यात्मिक ग्रन्थ :-

विद्यावाचस्पति जी की तीसरी अनूदित रचना 'ईशोपनिषद् भाष्य' है. यह केवल अनुवाद ही नहीं, अपितु उसमें अनुवाद के साथ उसका विस्तृत भाष्य भी है. व्याख्या भी है. अतः उसका नाम मूल कृति के समान 'ईशोपनिषद् न रखकर 'ईशोपनिषद् भाष्य' रखा गया है. 'यजुर्वेद' के ४० वें अध्याय में यत्किंचित् परिवर्तन करके 'ईशोपनिषद्' की रचना की गई है. जर्मनी के सुप्रसिद्ध तत्वचिंतक शोपनहार ने कहा था कि –'उपनिषद् मेरे जीवन रूपी सरोवर में अमृत सींचनेवाले रहें है, और वे मेरी मृत्यु में भी अमृत का ही काम देंगे.' जर्मनी के ही एक अन्य विद्वान् पाल डायसन ने 'उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्त' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है –उपनिषद् के 'ये वैदिक सिद्धान्त बुद्धदेव से पूर्व के समय में ही इस कोटि तक पहुंच गये थे, और आज तक के किसी भी पीछे के विचारक ने, उनके दार्शनिक महत्व को मात नहीं किया है.'[४३] यहां यह ध्यातव्य है कि जर्मनी ने यूरोप के दार्शनिक विचार जगत् का नेतृत्व किया है.

उपनिषदों में ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहां पर यह कहा गया है कि उपनिषद् वेदाश्रित हैं, 'यजुर्वेद' के अन्तिम अध्याय में ज्ञान और कर्म दोनों के समन्वय पर बल दिया गया है. तदनुसार 'ईशोपनिषद्' में भी सत्यज्ञान और सत्कर्म के संबंध को बतलाकर संक्षेप से मनुष्य जीवन का साद्यन्त कार्यक्रम प्रतिपादित किया गया है. यह ग्रन्थ मानव जाति की आध्यात्मिक चिन्तन सम्पदा का महान् ग्रंथ है.

ईश्वर का स्वरूप क्या है? वह स्थूल है या सूक्ष्म? वह एक है या अनेक? वह दूर है या पास? उसकी शक्ति सीमित है या असीमित और उसे पूर्ण रूप में जाना जा सकता है या नहीं? इन सब प्रश्नों के उत्तर अतिशय स्पष्टता पूर्वक 'ईशोपनिषद्' में दिये गये हैं. 'यजुर्वेद' के ४० वें अध्याय तथा उस पर आश्रित 'ईशोपनिषद्' दोनों में भी १७–१७ श्लोक हैं. संभवतः इसी कारण विद्यावाचस्पति जी ने भी अपने 'ईशोपनिषद् भाष्य' को १७ अध्यायों में विभाजित किया है.

विद्यावाचस्पति जी का समस्त साहित्य इस बात का साक्षी है कि वे एक कट्टर आस्तिक थे. ईश पर उनका अटूट विश्वास था. संभवतः इसी कारण वे 'ईशोपनिषद्' के अनुवाद और भाष्य करने की ओर उन्मुख हुए थे. उन्होंने अपने देहान्त से तीन दिन पूर्व ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करते हुए निम्नांकित श्लोक की रचना की थी.

"स्वकर्मभिः शोषित काययष्टिः महालये मृत्युमुखे प्रविष्टम्।
तव प्रसादात् पुनराप्तशक्तिः त्वमम्ब सत्कर्मणि मां नियुंक्ष्व।।"[४४]

७.९ अनुवाद-प्रक्रियाः-

बहुमुखी मौलिक लेखन कार्य में तल्लीन होने के बावजूद भी विद्यावाचस्पति जी की यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हार्दिक अभिलाषा बनी हुई थी कि हिन्दी जगत् को संस्कृत–काव्य सुरभि से अवश्य ही सुपरिचित किया जाय. उनकी यह मनोकामना 'रघुवंश', 'किरातार्जुनीय' व 'ईशोपनिषद्' के अनुवाद से यत्किंचित् रूप में क्यों न हो, पूर्ण हुई. उन्होंने अपनी अतिशय व्यस्त जिंदगी में से समय निकालकर कालिदास, भारवि जैसे संस्कृत काव्य के शीर्षस्थ उन्नायकों की कविता का हिन्दी में रूपान्तर किया. अपने अनुवाद कार्य में उन्होंने शब्दानुवाद की अपेक्षा भावानुवाद को अधिक महत्व देते हुए कहा है –"मैंने रघुवंश के श्लोकों का शब्दानुवाद नहीं किया. शब्दानुवाद से कवि के आन्तरिक भाव को पाठकों तक नहीं पहुंचा सकता था. मैंने प्रयत्न किया है कि मैं कवि के आन्तरिक भादों को सुबोध लोकभाषा में प्रतिबिम्बित कर दूं. फलतः यह रघुवंश के उन्नीस सर्गों के प्रत्येक शब्द अथवा प्रत्येक श्लोक का भावानुवाद भी नहीं है. यह कहना अधिक संगत होगा कि यथासंभव तथा यथाशक्ति कवि के भाव और कवि की कथन शैली की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया है."[४५] इसी सिद्धान्त और प्रक्रिया का परिपालन उन्होंने अपने अधिकांश अनूदित काव्य में किया है.

प्रायः अनुवाद के क्षेत्र में शब्दानुवाद की अपेक्षा भावानुवाद की प्रक्रिया को समुचित और सर्वोत्तम माना गया है. इस संदर्भ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का मत द्रष्टव्य है. वे लिखते हैं –"भाव ही प्रधान है. शब्द स्थापना गौण. शब्दों का प्रयोग तो केवल भाव प्रकट करने के लिए होता है. अतःएव भावप्रदर्शक अनुवाद ही उत्तम अनुवाद है."[४६] विद्यावाचस्पति जी के अनुवाद कार्य के कतिपय उदाहरण मूल श्लोकों तथा अन्य हिन्दी–मराठी अनुवादकों के अनुवाद के साथ प्रस्तुत हैं. जिससे विद्यावाचस्पति जी की अनुवाद–कला की सफलता का अनुमान अनायास आ जाता है. उदाहरण के लिए उद्धृत 'रघुवंश' का अंश प्रतापी राजा रघु के यशोगान से संबंधित है–

"प्रसाद सुमुखे तस्मिंश्चन्द्रे च विशदप्रभे। तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः।।
हंस श्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु। विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव।।
इक्षुच्छाया निषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्!आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः।।"[४७]

"शीत ऋतु की रात में छिटकती हुई चांदनी और रघु के सदा प्रसन्न चेहरे को देखकर प्रजाजनों के हृदय प्रसन्नता का अनुभव करते थे. हंसों की पंक्तियों में, टिमटिमाते हुए तारों में, कुमुदिनी के फूलों में, और नदियों के स्वच्छ जल में मानो उसके यश की श्वेत आभा छिटक रही थी. ईख की छाया में आराम करने वाली खेतों की निश्चिन्त निर्भय रखवालियां, उस प्रजा रक्षक के, बच्चे–बच्चे तक फैले हुए यश का गान करती थी."[४८] –इन्द्र विद्यावाचस्पति

लोगों के अपार अनुग्रह करने से देखने में सुन्दर मुख वाले उन रघु महाराज, तथा स्वच्छ कान्ति वाले चन्द्रमा, इन दोनों के विषय में उस समय जिनकी आँखें थीं, ऐसे लोगों की प्रीति समान ही थी. हंसों की पंक्तियों में, नक्षत्रों में, कुमुद से युक्त जल में रघु सम्बन्धी यश की सफेदी रूप विभूति मानों फैली हुई थी. ईख की छाया में बैठी हुई साठी आदि धान की रखवाली करने वाली किसानों की स्त्रियों ने, रक्षा करने वाले उन रघु महाराज के शूरता, उदारता आदि गुणों से प्रकट हुये, बालकों तक से तारीफ किये गये यश का गान किया."[४९] साहित्याचार्य श्री हरगोविन्द मिश्र

"रघूच्या प्रसन्नाननाला सुरेखा, शरत्कालिंच्या चंद्रबिंबाहि देखा।
विलोकावया प्रीति दोघांहि साची, तई जाहली तुल्य हो डोळसांची।।"
हंस श्रेणी आणि शुभ्रारविंदे, तोयें तैशी तारकांची हि वृंदे।
यांना मोठी स्वच्छता प्राप्त झाली, वाटे त्याच्या ती यशानेच आली।।"
"उसांच्या छायेला बसूनि, अठवोनि निरलसा, कुमारावस्थे पासूनि कृति, रघूच्या बहुरसा;
तईं शालिक्षेत्रा वननिरत नारी निजमुखे, रघूची सत्कीर्ति, गुण, जनित गाती अतिसुखें।।"[५०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रमशः–'भुजंगप्रयातम्', 'शार्दूल विक्रीडितम्' और 'शिखरिणी' छन्दः पद्यमय भाषान्तरकार–गणेश शास्त्री लेले त्र्यंबककर. 'रघुवंश' के उदाहरण के पश्चात् अब 'किरातार्जुनीय' से युधिष्ठिर से कही गयी द्रोपदी बाण वाक्यावली प्रस्तुत है–

"भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं, भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथाऽपि वक्तुं व्यवसाय यन्ति मां, निरस्त नारी समयादुराधयः।।
भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते, विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरूं शुष्कमिवाग्निरूच्छिखः।।
विधिसमयनियोगाद्दीप्ति संहार जिह्मं शिथिल वसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ, दिनकृतामिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः।।"[५१]

"आप जैसे विद्वान् को एक स्त्री उपदेश दे, यह घृष्टता की पराकाष्ठा होगी, तथापि हम पर जो आपत्तियाँ पड़ी हैं, उन्होंने नारीत्व की सीमाओं को तोड़ दिया है, इस कारण मुझे कहने के लिए विवश होना पड़ा है. आश्चर्य की बात यह है कि मनस्वियों द्वारा निश्चित इसी मार्ग पर चलते हुए तुम्हें सूखे शमी वृक्ष में लगी अग्नि की भांति क्रोध जला क्यों नहीं डालता? महाराज मैं चाहती हूँ कि भाग्य और प्रतिज्ञा के प्रभाव से आपकी जो सूर्य सदृश लक्ष्मी, दीप्ति विहीन होकर अगाध समुद्र में विलीन हो गई है; वह शत्रु रूपी अंधकार के नष्ट हो जाने पर पुनः उसी प्रकार प्राप्त हो जाय, जैसे सूर्य को प्रातः लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है"[५२] –इन्द्र विद्यावाचस्पति

"आप लोगों जैसे महानुभावों के प्रति स्त्री लोगों की कही हुई बातें अपमान के समान है. तो भी (क्या करूँ) मेरे चित्त का दुःख मेरे उचित शील को हटाकर मुझे बोलने के लिए प्रेरणा करता है. इस समय वीरों के घृणित रास्ते में ठहरे हुए आपको एकाएक निकला हुआ क्रोध क्यों नहीं उत्तेजित (उद्दीपित) करता , जैसे सूखे शमी वृक्ष की लकड़ी को प्रज्वलित आग जला डालती है. जैसे विधि और समय के प्रभाव से कान्ति के नाश होने के कारण खिन्न और किरणहीन, शाम को विपत्ति रूप महासागर में डूबकर, सुबह फिर अन्धकार रूपी दुश्मन को चौपटकर उदय होते हुए सूर्य को शोभा अपनाती है, वैसे ही पहले जुआ में दैव और काल की प्रेरणा से अपने विचार और तेज के अभाव से दुर्दशा को प्राप्त आपद्रूप महार्णव में डूबे हुए फिर भी अपने दुश्मनों को मारकर अभ्युदय की इच्छा रखने वाले आपको राजलक्ष्मी अपनावे."[५३]–गंगाधर शर्मा मिश्र

"वस्त्रहरण आदिक अति दुस्सह दुःख तथापि आज इस काल।
बार–बार प्रेरित करते हैं, मुझे बोलने को भूपाल।।

हे महीप मानी नर जिसका महानिध्य बतलाते हैं।
उसी पन्थ के आप पथिक हैं, नहीं परन्तु लजाते हैं।।

कोपानल क्यों नहीं आपको भस्मीभूत बनाता है,
सूखे–रूखे शमी वृक्ष को जैसे ज्वाल जलाता है।।

दैवयोग से दुःखोदधि में तुझ डूबे को यह आसीस,
शत्रु नाश होने पर लक्ष्मी मिले पुनः ऐसे अवनीश।।

जैसे प्रातःकाल सिन्धु में मग्न हुए दिनकर को आय,
तिमिर नाश हटने पर दिन की शोभा मिलती है सुख पाय।।"[५४]

महावीरप्रसाद द्विवेदी

"आपल्यासारख्या विद्वान् पुरुषांना माझ्यासारख्या अज्ञ स्त्रियांनी काही जरी हिंताची गोष्ट सांगितली, तरी ती निंदास्पद वाटणार तेव्हां कांही बोलू नये हे एकपक्षी खरे, पण शत्रूंनी केलेल्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्त्राहरणादि विडंबनेचे मला स्मरण झाले म्हणजे अंतःकरणाला ज्या कांही दुःसह व्यथा होतात. त्याच मला बोलण्याविषयी प्रवृत्त करीत आहेत, म्हणून मी बोलत्ये? हे नरपते, शुरपुरुष ज्याच्या तिरस्कार करितात अशा ह्या मार्गात राहून शत्रूंनी केलेली दुर्दशा अनुभविणारा जो तूं त्या तुला शत्रूंविषयी क्रोध येऊन तो, अरण्यांतील शुष्क शमी वृक्षाला जसा दावाग्नि जाळतो तसा, तुला कसा जाळीत नाही? (आपण बोललेल्या भाषणाने राजाला क्रोध आला असेल तो कांहीसा दूर व्हावा, आणि भाषण पर्यावसान क्रोध शोकादियुक्त शब्दांनी न व्हावे म्हणून द्रौपदी आशीर्वादपूर्वक सविनय बोलते) प्रारब्ध आणि काल यांच्या अनुल्लंघनीयत्वामुळे दुस्तर विपत्तिरूप समुद्रांत बुडालेल्या म्हणून प्रतापहीन झाल्यामुळे निस्तेज आणि निर्धन असा जो तूं त्या तुला आपला शत्रू जो अंधकार त्याचा नाश केल्याने दिवसाच्या आरंभी सूर्याला जशी विशेष शोभा प्राप्त होते. तशी शत्रूंच्या नाशापासून पुनः राज्यलक्ष्मी प्राप्त होवो!''[५५]—मराठी अनुवादक ने पुस्तक में अपना नाम नहीं दिया है.

विद्यावाचस्पति जी की तीसरी अनूदित कृति 'ईशोपनिषद् भाष्य' से भी एक उदाहरण प्रस्तुत है.—

ओ३म् ईशावास्यमिदं सर्वं, यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्''।।

''व्यापक प्रकृति के गर्भ में विद्यमान इस सारे जगत् के बाहर और अन्दर ईश्वर का निवास है. इस कारण (हे मनुष्य! इस जगत् का) उपभोग त्याग पूर्वक कर, किसी अन्य के धन का लोभ मत कर.''[५६]—इन्द्र विद्यावाचस्पति

''इस जगती में जो जगत् है, वह ईश द्वारा बसा हुआ है. इसलिए त्यागपूर्वक भोग करो, किसी दूसरे के धन की आंकाक्षा मत करो.''[५७]—सत्यव्रत सिद्धांतालंकार

''जगत् में जो कुछ स्थावर जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है (अर्थात् उसे भगवत् स्वरूप अनुभव करना चाहिये) उसके त्याग भाव से तू अपना पालन कर. किसी के धन की इच्छा न कर.''[५८]

अनुवादक ने शील व संकोचवश अपना नाम प्रकाशित नहीं किया.—गीता प्रेस.

''जगत् में जो कुछ स्थावर जगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है. उसके त्याग भाव से तू अपना पालन कर किसी के धन की इच्छा न कर.''[५९]—आचार्य रजनीश

विद्यावाचस्पति जी के उपरोक्त तीनों अनूदित ग्रंथों के उद्धृत अनुवादों को पढ़ते समय तथा उनके अन्य अनुवादों के अनुवाद से तुलना करते समय कहीं भी उसके अनूदित होने का आभास नहीं मिलता. यदि पाठक को इनके अनूदित होने का पूर्व ज्ञान न हो, तो सामान्यतः वह इन्हें अनूदित न कहेगा. उन्होंने शब्दों का ऐसा तारतम्यिक प्रयोग किया है, जिससे उनकी भाषा में आन्तरिक लय उत्पन्न हो गई है. यह सुनिश्चित है कि उन्होंने प्रतिपाद्य विषय को भली भांति हृदयंगम करने के बाद ही अनुवाद किया है.

संस्कृत कृतियों के अनुवाद में विद्यावाचस्पति जी की विशेष अभिरुचि थी, जिस गुरुकुलीय जीवन के सांस्कृतिक दाय का उनके जीवन पर गहरा असर था. उससे भी उऋण होने का उनका यह एक ढंग था. उनकी दृष्टि में 'संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हिन्दी के लिए अत्यन्त आवश्यक' थे.

विद्यावाचस्पति जी के अनूदित ग्रन्थों की भाषा अत्यन्त सजीव है. भावों का स्पष्टीकरण भी समुचित प्रकार से सरल और स्पष्ट भाषा में किया गया है. जिससे विषय को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती. मूल भाषा और लक्ष्य भाषा के ज्ञान के साथ ही तत्तत् मूल ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी उन्हें अच्छा ज्ञान है. मूलभाषा से अनुवाद करते समय लक्ष्य भाषा की प्रसंगानुकूलता, स्वाभाविकता और व्यावहारिकता पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है. महाकवि कालिदास और भारवि जैसे काव्यों के ये अनुवाद हैं. अतः अनुवाद की भाषा भी संस्कृत प्रचुर है और इस प्रकार तत्कालीन परिवेश को भी विद्यावाचस्पति जी ने अपने अनुवाद में अक्षुण्ण बनाये रखा है. कतिपय स्थानों पर देशज शब्दों का भी प्रयोग हुआ है.

विद्यावाचस्पति जी के अनुवाद भाव और भाषा की दृष्टि से ही नहीं साहित्यिक दृष्टि से भी बहुत उच्चकोटि के हैं. विषयानुकूल उनकी भाषा प्रांजल, गंभीर व वर्णनात्मक है, पर कहीं–कहीं दुरूहता भी आ गयी है. निष्कर्षतः विद्यावाचस्पति जी के अनुवाद साहित्य का अध्ययन करने पर केवल यही कहा जा सकता है कि जहाँ मौलिक रचनायें उनकी प्रखर प्रतिभा का ज्वलंत प्रमाण हैं, वहाँ उनकी अनूदित कृतियाँ उनके अगाध ज्ञान का परिचायक हैं. प्रथम में गरिमामय रसपरक साहित्य है, तो दूसरे वर्ग में ज्ञान का विस्तार है. उनके यश के प्रसार में उनकी ये अनूदित कृतियाँ चाहे २–३ ही क्यों न हों, सदैव योग देती रहेंगी, और मौलिक कृतियों की भांति इन्हें भी निश्चय ही उनके उल्लेखनीय साहित्य के अन्तर्गत परिगणित किया जायेगा. हिन्दी गद्य शैली के विकास परिष्कार में इन अनूदित कृतियों का भी अपना विशिष्ट योगदान है.

इस प्रकार विद्यावाचस्पति जी ने अपनी अनूदित कृतियों द्वारा हिन्दी साहित्य के भण्डार को समृद्ध किया है. फलतः हिन्दी पाठकों का तादात्म्य संस्कृत के महान् काव्यकारों के साथ स्थापित हो पाया है, इस प्रसंग में उन्होंने अपने सम–सामायिक साहित्य की उस विशिष्ट प्रकृति का भी परिचय दिया है, जिसे विभिन्न विद्वानों ने 'अतीतोन्मुखता' कहकर पुकारा है. भक्तिकाल और रीतिकाल की साहित्यिक उपलब्धियों को लाँघकर विद्यावाचस्पति जी ने संस्कृत काव्य के अमूल्य रत्न को हिन्दी जगत् में बिखेरने का कार्य किया है. उनके इन अनुवादों द्वारा सांस्कृतिक, साहित्यिक व राष्ट्रीय चेतना को अपने ढंग से वाणी मिली है. अतःएव विद्यावाचस्पति जी के अनूदित साहित्य का अपना विशिष्ट महत्व है.

७.१० 'ईशोपनिषद्' के भाष्यः-

भक्त को भगवान् के सन्निकट ले जाने वाली आध्यात्मिक विद्या उपनिषद् विद्या है. जीवात्मा को परमात्मा का अन्तेवासिनी बनाने वाली विद्या को ही उपनिषद् विद्या कहा जाता है. निराकार ईश के सन्निकट बैठना ही ईशोपनिषद् है. इसी विद्या को ब्रह्मविद्या, अध्यात्म विद्या और पराविद्या भी कहा गया है. उपनिषद् में ब्रह्म विद्या को सबसे ऊँची विद्या माना गया है, तथा अन्य सब विद्याओं को 'अपरा' कोटि में रखा गया है. 'उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्म ज्ञान है, पर केवल यज्ञ रूपी नौकाओं की सहायता से मृत्यु के पार नहीं जाया जा सकता, उसके लिए ब्रह्म को जानना भी अनिवार्य है.'[६०] ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरैय, छान्दोग्य, बृहदराण्यक और श्वेताश्वेतर ये ११ उपनिषदें हैं. यह समग्र 'उपनिषद् साहित्य भारतीय अध्यात्म चिंतन के सुन्दर एवं हृद्य ग्रन्थ हैं.'[६१] 'इन सब में 'ईशोपनिषद् ही सर्वप्रमुख है. शेष उपनिषदों में इसी ईशोपनिषद् के सिद्धान्तों की व्याख्या है.

'ईशोपनिषद्भाष्य' में विद्यावाचस्पति जी ने प्राच्य पाण्डित्य परंपरा के अनुसार 'ईशोपनिषद्' का भाष्य किया है और इसी के साथ ही वे अनायास भाष्यकारों की प्राचीन परंपरा में सम्मिलित हो गये हैं. भाषा में लिखित किसी मूल ग्रंथ की व्याख्या कर उसके गूढ़ आशय को स्पष्ट करने वाला विद्वान् भाष्यकार कहलाता है. पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करने वाले 'महाभाष्य' कार पतंजलि का भाष्य इतना अधिक सुप्रसिद्ध हुआ कि उनका एक अपर नाम ही 'भाष्यकार' हो गया.[६२] 'वेदान्तसूत्र'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के शंकराचार्य–रामानुजाचार्य, 'योग सूत्र' के वेदव्यास, 'सांख्य सूत्र' के विज्ञानभिक्षु, 'गौतम सूत्र' के वात्स्यायन, 'कणाद सूत्र' के प्रशस्तपाद और 'मीमांसा सूत्र' के शाबर स्वामी भी भाष्यकार के रूप में विश्रुत हो चुके हैं.[६३] इसी प्रकार प्राच्य संस्कृत परम्परा की भाष्यशैली का अनुसरण करने के कारण विद्यावाचस्पति जी भी अपनी 'ईशोपनिषद्भाष्य' रचना के साथ 'प्राचीन शास्त्रों के पारगामी विद्वान' के रूप में सुप्रतिष्ठित हुए हैं.'[६४] 'ईशोपनिषद्' के भाष्य से यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक सांस्कृतिक विचारधारा से युक्त ग्रन्थों के अध्ययन, अनुवाद व भाष्य आदि में उनकी विशेष अभिरुचि थी.

'ईशोपनिषद्भाष्य' विद्यावाचस्पति जी की उपनिषद् भाष्य परम्परा की पहली कृति नहीं है. समय–समय पर उपनिषद् के भाष्य लिखे जाते रहे हैं. पुराकाल में शंकराचार्य ने भी इसका भाष्य किया था. सर्वप्रमुख उपनिषद् होने से उपनिषदों में सबसे अधिक भाष्य 'ईशोपनिषद्' पर ही लिखे गये हैं. आर्यसमाज के क्षेत्र में पं. भीमसेन शर्मा, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी सत्यानन्द, पं. आर्यमुनि, स्वामी ब्रह्ममुनि, महात्मा नारायण स्वामी व पं. सत्यव्रत सिद्धांतालंकार ने सुन्दर भाष्य लिखे हैं.'[६५] 'ईशोपनिषद्' के अन्य आर्यसमाजी हिन्दी भाष्यकर्ताओं में सर्वश्री भूमित्र शर्मा, जयदेव वेदालंकार, गंगाप्रसाद उपाध्याय, हरिशरण सिद्धान्तालंकार उल्लेखनीय है.[६६]

'ईशोपनिषद्' को मन्त्रोपनिषद् भी कहा गया है, क्योंकि मन्त्रसंहिता में पायी जाने वाली यही एक मात्र उपनिषद् है. अन्य ग्रन्थों की तुलना में मन्त्रसंहिता का प्रामाण्य अधिक होने से यह उपनिषद् सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है. अन्य उपनिषदों की तुलना में इसमें उपदेश भी अधिक है. विद्यावाचस्पति जी ने 'ईशोपनिषद् भाष्य' में काण्वशाखीय संहिता के अनुसार १८ मन्त्र दिये हैं. जब कि 'यजुर्वेद' के अन्तिम अध्याय में जिस पर प्रमुख रूप से यह उपनिषद् आश्रित है १७ ही मन्त्र हैं, और माध्यान्दिन शाखीय वाजसनेयी संहिता के अन्तिम अध्याय में भी केवल १७ ही मंत्र हैं. 'मंगलाचरण' में इन मंत्रों की यथातथ्य व्याख्या करके शेष सत्रह अध्यायों में विद्यावाचस्पति जी ने मंत्रों के विवेचनीय भाग पर बहुत ही सुन्दर हिन्दी भाष्य लिखा है. ग्रन्थ में तीन परिशिष्ट भी जोड़े गये हैं. १. उपनिषदों की ज्ञान परम्परा, २. उपनिषदों की भाषा परम्परा और ३. विदेशी विद्वानों की दृष्टि में उपनिषद्. श्री तारिणीश झा व्याकरण–वेदान्ताचार्य ने उक्त 'ईशोपनिषद्भाष्य' पर यह टिप्पणी की है, ''विद्यावाचस्पति जी ने आधुनिक युग के अनुसार वैज्ञानिक दृष्टिकोण से 'ईशोपनिषद्' का भाष्य किया है, फिर भी उपनिषद् की मान्यताओं एवं परम्पराओं में किसी प्रकार का व्याघात नहीं उपस्थित हो सका है. इस भाष्य का मनन करने से वैयक्तिक सामाजिक तथा जागतिक तीनों प्रकार की शान्तियाँ सुलभ हो सकती हैं. हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि इस भाष्य द्वारा हिन्दी जगत् की अच्छी सेवा हुई है.''[६७]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ

१. अनुवाद क्या है : लेख– भाषा का आधुनिकीकरण,–८६
२. चाबुक–१०२
३. अनुवाद क्या है: लेख–पर्यायवाची शब्द–५८
४. सरस्वती–फरवरी १९०५
५. हरिऔधः जीवन और कृतित्व–४२७
६. सरस्वतीः अप्रैल १९०६–१३४
७. चाबुक–६४
८. मैं इनका ऋणी हूः–६
९. किरातार्जुनीय–६४–६७
१०. आर्यसमाज का इतिहासः द्वितीय भागः –१०६
११. हिन्दी केसरीः २७ अप्रैल १९०७
१२. प्रेमचन्द विश्वकोशः खण्ड–१–१५६–१५७
१३. अजन्ताः सितम्बर १९५२ –४६
१४. साहित्य निबन्धावलीः –१६६
१५. आचार्य महावीर प्रसादः व्यक्तित्व एवं कृतित्व–६३
१६. तत्रैव–२१०
१७. पत्रकारिता के अनुभवः –११
१८. किरातार्जुनीयः कवि का परिचय–६
१९. अनूदित हिन्दी साहित्यः विशिष्ट ग्रंथ सूची (१८७५–१९७५): –५–६
२०. अनुवाद क्या है: लेख–अनुवाद क्यों और किसका? –१०३–१०७
२१. कालिदास के पक्षीः प्रस्तावना–ख
२२. नवनीतः नवंबर १९६० : लेख – कण्वाश्रम का स्मारक–१००
२३. तत्रैव–१००
२४. रघुवंशः भूमिका–३
२५. तत्रैव–३
२६. तत्रैव–६
२७. तत्रैव–७–८
२८. तत्रैव–१०
२९. तत्रैव–१५
३०. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २६ फरवरी १९६१; लेख– प्राचीनता और नव्यता के अपूर्व संगम –१४
३१. किरातार्जुनीय – प्रस्तावना–७
३२. तत्रैव–६
३३. तत्रैव–१३
३४. तत्रैव–१२
३५. तत्रैव–१४
३६. तत्रैव–१५
३७. तत्रैव–१६
३८. तत्रैव–१७
३९. तत्रैव–१२
४०. महात्मा गांधी यांचे संकलित वाङ्मय : खण्ड–२४–५२९
४१. गीतामृत–२
४२. सम्राट् रघु : प्रस्तावना–११
४३. ईशोपनिषद् भाष्यः पृ. १४६–१४७
४४. इन्द्र विद्यावाचस्पति–१७८
४५. रघुवंश : भूमिका–४
४६. कुमारसंभव–१
४७. रघुवंश महाकाव्यम्: चतुर्थः सर्गः श्लोक–१८–२०
४८. रघुवंश–३५
४९. रघुवंश महाकाव्यम्: –६४–६५
५०. रघुवंशः पद्यमय भाषान्तर –४२
५१. किरातार्जुनीयम्: प्रथम सर्ग–श्लोक २८, ३२, ४६
५२. किरातार्जुनीयः ३१, ३२, ३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५३. किरातार्जुनीयः ४१, ४५, ६३
५४. द्विवेदी काव्यमाला –२८२, २८३, २८४
५५. श्रीमत्कविवर भारविकृत किरातार्जुनीय काव्य (मराठी)–श्लोक–२८, ३२, ४६
५६. ईशोपनिषद् भाष्य–१
५७. एकादशोपनिषद्–१७
५८. ईशावास्योपनिषद्: (गीताप्रेस)–१६
५९ ईशावास्योपनिषद्–३१
६०. भारतीय संस्कृति का प्रवाह–३४–३५
६१. हिन्दी गद्य साहित्य–१३४
६२. हिन्दी शब्द सागर–३६५५
६३. हिन्दी विश्वकोश–१४१
६४. सम्मेलन पत्रिकाः पौष फाल्गुन–१८८०: शक–१३३
६५. हिन्दी गद्य साहित्य–१३४
६६. आर्यसमाज का इतिहासः खण्ड–५, १४०
६७. सम्मेलन पत्रिकाः पौष फाल्गुन १८८० शक–१३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८
विद्यावाचस्पतिजी का इतिहास एवं राजनीतिक विषयक चिंतन

८.१ इतिहासः स्वरूप विवेचनः-

बीती हुई घटनाओं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले पुरुषों का कालक्रम से वर्णन इतिहास कहलाता है. महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने प्रतिपादित किया है, 'मनुष्य जिज्ञासा का पुतला है. वह अपनी जिज्ञासा पूर्ति के लिए कैसे–कैसे प्रयत्न करता रहा है. इसे जानने की कुछ ना कुछ जिज्ञासा हरेक प्रकृतस्थ पुरुष में होती है. इस पूर्ति के प्रयत्न में जो कुछ लिखा या कहा गया है. वह 'इति–ह–आस' (ऐसा ही था)[१]' हॉलैण्ड के इतिहास लेखक मि. जिंगा का मत है कि 'इतिहास इस शब्द का सबसे प्रचलित अर्थ 'जो कुछ हो चुका है, उसकी कहानी है'[२] वस्तुतः 'इतिहास' शब्द 'इति', 'ह' 'आस' इन तीन शब्दों से मिलकर बना है, जिनका 'निश्चय से ऐसा था' यह शब्दार्थ है. मराठी के सुप्रसिद्ध विचारक गोपाल हरि देशमुख 'लोकहितवादी' के अनुसार 'विगत घटनाओं का परिपक्व विश्लेषण और प्रमाण पुरस्पर जांच पडताल कर, अन्य देश के इतिहासों से उनकी तुलना करते हुए, जो यथार्थ तथ्य व निष्कर्ष सामने आयें उन्हें प्रस्तुत करना इतिहास है'[३]. इतिहास का स्वरूप स्पष्ट करते हुए डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने कहा है– 'स्मरण रखना चाहिये कि इतिहास न तो साधारण परिभाषा के अनुसार विज्ञान है, और न केवल काल्पनिक दर्शन, अथवा साहित्यिक रचना है. इन सबके यथोचित सम्मिश्रण से इतिहास का स्वरूप रचा जाता है.''[४] इस प्रकार स्पष्ट है कि बीती हुई घटनाओं के सच्चे वृतान्त का नाम इतिहास है. 'हम कौन थे' की जिज्ञासा इतिहास से तृप्त होती है. अतीत का यथार्थ चित्र जब सामने उपस्थित हो जाता है. तब 'क्या हो गये हैं' की स्थिति का गहराई से अनुभव करने की क्षमता प्राप्त होती है. और तभी 'और क्या होंगे अभी' का अनुमान भी लगाया जा सकता है. विद्यावाचस्पति जी का यह मत सत्य है कि 'इतिहास' के विद्यार्थी.... इतिहास के पाठ से मनुष्य जाति पर शासन करने वाले मूल सिद्धांतों तक पहुँच सकते हैं'.[५]

विद्यावाचस्पतिजी ने विदेशी राष्ट्रपुरुषों के जीवन चरित्र के माध्यम से एक सौ वर्ष का स्वाधीनता का इतिहास हिन्दी पाठकों के सामने रखने की योजना बनायी थी. उस योजना में क्रमशः अमेरिका का स्वाधीनता संग्राम (वाशिंगटन की जीवनी : १७३२–१७९९) फ्रांस का स्वाधीनता संग्राम (नैपोलियन बोनापार्ट १७६९–१८२१) जर्मनी का स्वाधीनता संग्राम (प्रिंस बिस्मार्क १८११–१८७१) तथा इटली का स्वाधीनता संग्राम (महावीर गेरीवाल्डी १८२०–१८७१) का समावेश किया गया था. इनमें से केवल वे वाशिंगटन की जीवनी नहीं लिख पाये. इन जीवन चरित्रों के माध्यम से वे लगभग शतवर्षीय विदेशी राष्ट्रों के स्वाधीनता के इतिहास व उसकी लेखन–कला से सुपरिचित हो गए थे. उन्होंने इतिहास लेखन–कला व उसकी कार्यकारण श्रृंखला की मीमांसा करते हुए लिखा है, 'इतिहास एक गोरखधन्धा है.... उसके ऊबड़–खाबड़ जंगल में रास्ता पाना कठिन प्रतीत होता है. उसकी एक–एक घटना इतनी नोकीली प्रतीत होती है कि उसमें छिद्र करना और छिद्र में से सूत्र को निकाल लेना बड़ा असंभव जंचता है, किन्तु जरा गहरी दृष्टि से देखने पर सारा दृश्य ही बदल जाता है.... एक लड़ी में सब घटनायें बंध जाती हैं, एक तागे में सब मनके पिरोये जाते हैं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

' इस प्रकार इतिहास की उलझन को विवेक दृष्टि से सुलझाकर, सुन्दर माला का मोहक रूप देने वाले विद्यावाचस्पति जी, इस तथ्य से सुपरिचित थे कि इतिहास में अन्तिम और निश्चित रूप से किसी बात को प्रस्तुत करना बड़ा कठिन होता है, इसलिए उन्होंने इतिहास को गोरखधन्धा ही नहीं, अपितु 'अगम, अगोचर और अनाद्यनंत' भी कहा है'[६]

८.२ ऐतिहासिक साहित्य की पृष्ठभूमिः-

भारतीय भाषाओं में चाहे फिर हिन्दी हो या मराठी, इतिहास लेखन का प्रारंभ प्रायः अनुवादों के माध्यम से हुआ है. जो मौलिक ग्रन्थ है, उनके लेखक भी विदेशी इतिहासकारों या प्राच्य संस्कृत इतिहासकारों की लेखन परंपरा से प्रभावित हुए बिना न रहे. श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार ने महाकवि बाल्मीकि विरचित संस्कृत पद्य में लिखे ऐतिहासिक महाकाव्य रामायण का 'श्रीमद्बाल्मीकिय रामायण' (सन् १९५१) नाम से तीन खण्ड़ों में हिन्दी अनुवाद किया. संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक काव्य 'राजतरंगिणी' का भी किसी अज्ञात अनुवादक ने अनुवाद किया है. 'राजतरंगिणी' में काश्मीर का ११५१ ई. तक का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विवरण प्रस्तुत है. इसमें कवि कल्हण ने राजकीय अधिकार पत्रों, शिलालेखों, दान पत्रों तथा हस्तलिखित ग्रन्थों एवं स्थानीय दन्तकथाओं का उपयोग किया है. कल्हण की ऐतिहासिक दृष्टि अर्वाचीन इतिहासवेत्ता की शोधक दृष्टि के समान है, जो अपने साधनों को पर्याप्त परीक्षण के पश्चात् ग्रहण करती है.[७] कर्नल टॉड, ग्रैंट डफ, गिब्बन, एल्फिन्स्टन, मैकाले इत्यादि विदेशी लेखकों ने इतिहासकार के रूप में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की है.

हिन्दी के इतिहास लेखकों में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है. इन्हें इतिहास की ओर उन्मुख करने का श्रेय स्वामी दयानन्द के शिष्य श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया को है. इन्होंने अपनी मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त कर्नल टॉड के इतिहास का संपादन कियाहै. इतिहास विषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद करने वालों में श्री संतराम बी.ए. का कार्य उल्लेखनीय है. उन्होंने महमूद गजनवी के समकालीन अरब विद्वान् अल्बेरूनी द्वारा लिखे अरबी ग्रन्थ के डॉ. जखाऊ द्वारा लिखित अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर 'अलबेरूनी का भारत' के नाम से किया है. सातवीं शताब्दी में भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री इत्सिंग के यात्रा विवरण का भी उन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया.[८] श्री संतराम ने सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता व इतिहास के प्रौढ़ विद्वान् लाला लाजपतराय जी की उर्दू रचना 'भारतवर्ष का इतिहास' (भाग–१) का भी हिन्दी में अनुवाद किया. इतिहास के प्रारंभिक अनुशीलन कर्ता पं. लेखराम की 'तारीखे दुनिया' (१८९८) नामक उर्दू रचना के हिन्दी में अनुवाद करने वाले पांच अनुवादक सामने आये. जिनमें से स्वामी अनुभवानंद, पं. प्रेमशरण, पं. रामसुख व पं. अमरसिंह ने अपने अनुवादों का नाम 'ऐतिहासिक निरीक्षण' रखा तो पांचवे अनुवादक पं. सूर्यप्रसाद ने अपनी अनुदित कृति का नाम 'भारत गौरवादर्श' (सन् १९००) रखना पसन्द किया.

डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे ने स्वीकार किया है, हिन्दी में ऐतिहासिक मौलिक ग्रन्थ लिखना गुरुकुल कांगड़ी के अध्यापकों और स्नातकों ने शुरू किया था.[९] अध्यापकों में इतिहास लेखन परम्परा का श्रीगणेश गुरुकुल के आचार्य श्री रामदेव (१८८१–१९३९) ने किया था. उनकी ऐतिहासिक कृति का नाम है 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' (प्रथम भागः १९११) आचार्य जी के इतिहास के अग्रिम भाग को उनके शिष्य डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार (१९०३–१९८९) ने सन् १९३४ में पूर्ण किया था. उनकी गणना प्राचीन इतिहासकारों में की जाती है. श्री सत्यकेतु जी की 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' (सन् १९२८) नामक रचना, 'मंगलाप्रसाद' व 'जोधसिंह' नामक पुरस्कार से पुरस्कृत व 'राधाकृष्ण पदक' से सम्मानित रचना है. श्री जयचन्द्र विद्यालंकार (१८९८–१९७७) स्वामी श्रद्धानंद द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी, लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित नेशनल कॉलेज लाहौर और डॉ. राजेन्द्रप्रसाद द्वारा स्थापित बिहार विद्यापीठ में इतिहास के प्राध्यापक रहे. 'भारत का भौगोलिक आधार' (१९२५) आदि रचनाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अतिरिक्त आपने 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा (१९३३) नामक कृति लिखी, जिसके १९३४ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में 'मंगलाप्रसाद' पुरस्कार से पुरस्कृत किया था. श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार (निधनः १९४४) ने बृहत्तर भारत' (१९३९) नामक सांस्कृतिक इतिहास भी लिखा. पालिरत्न चन्द्रमणि विद्यालंकार (१८९१–१९६५) ने 'महर्षि पतंजलि और तत्कालीन भारतवर्ष' (१९१४) नामक ग्रन्थ भी लिखा. श्री हरिदत्त वेदालंकार (१९१७–१९८६) ने 'हिन्दू विवाह का इतिहास' व 'हिन्दू परिवार मीमांसा' नामक ग्रन्थ लिखे. दोनों ग्रन्थ बंगाल हिन्दी मंडल द्वारा पुरस्कृत हैं. श्री भीमसेन विद्यालंकार (१९००–१९६२) ने ''वीर मराठे'' ''वीर शिवाजी'' और 'वीर पंजाबी' नामक ऐतिहासिक रचनायें लिखीं. उक्त सभी इतिहास लेखक गुरुकुल के स्नातक, विद्यावाचस्पति जी के गुरुभाई, सहाध्यायी, सन्निकटस्थ, व समकालीन या अन्तेवासी लेखकों में से थे. इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन गुरुकुल के स्नातकों में इतिहास जैसा शुष्क विषय अतिशय लोकप्रिय था.

इन सभी गुरुकुलीय स्नातकों के अग्रज विद्यावाचस्पतिजी की ऐतिहासिक अमर कृति 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' है. उन्होंने इसे १९२५ में ही लिखने का संकल्प कर लिया था. यह ग्रंथ चार भागों में विभाजित है. इसके प्रथम व द्वितीय भाग का ८५ प्रतिशत भाग क्रमशः १९२७ व १९३० में दिल्ली जेल में लिखा गया था. द्वितीय भाग को अन्तिम रूप १३.८.१९३१ को दिया गया. जब वे १२ जून १९३२ को लाहौर के कृष्णमन्दिर (जेल) से छूटे तो उन्हें इन दोनों भागों के प्रकाशित हो जाने का समाचार मिला था. मुगल साम्राज्य का शेष ३ व ४ था भाग का लेखन विद्यावाचस्पतिजी की हस्तलिखित डायरी के अनुसार कृष्ण जन्माष्टमी (२८.२.१९३७) के दिन संपन्न हुआ था.[१०] इस प्रकार इस लोकप्रिय ग्रन्थ को आकार ग्रहण करने में लगभग दस वर्ष का समय लग गया.

इन गुरुकुलीय स्नातकों के किंचित् पूर्व, समकालीन तथा किंचित् पश्चात् हिन्दी में ऐतिहासिक उल्लेखनीय ग्रंथ लिखने वाले अन्य भी कतिपय महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं, यथासंभव उनका भी उल्लेख करना यहाँ अत्यावश्यक प्रतीत होता है. सुप्रसिद्ध इतिहासकार गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'सोलंकियों का इतिहास' (१९०८) 'प्राचीन भारतीय लिपिमाला' आदि ग्रन्थों की रचना की. भाई परमानन्द (१८७६–१९४७) ने 'तारीखे–हिन्द' की उर्दू में रचना की, जिसका हिन्दी रूपान्तर 'भारतवर्ष का इतिहास' नाम से 'ज्ञानमण्डल काशी' से प्रकाशित हुआ था. पं. भगवतदत्त बी.ए. रिसर्च स्कॉलर (१८९३–१९६८) द्वारा लिखित ग्रंथ है– 'भारत वर्ष का बृहद् इतिहास' खण्ड–!–२ (१९५२:१९६१). 'पंडित जी ने गंभीर शोध के परिणाम स्वरूप भारत का जो इतिहास प्रस्तुत किया है, वह पाश्चात्य इतिहासों की मान्यता के सर्वथा विपरीत है. (पुनरपि) इस ग्रन्थ में प्राचीन इतिहास का जो तिथिक्रम रखा गया है उसे कदापि निराधार नहीं कहा जा सकता. भारत की परम्परागत मान्यताओं के अनुकूल होने के कारण उसे कभी भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता.[११] डॉ. भवानीलाल भारतीय के अनुसार– 'इस ऐतिहासिक ग्रंथ में पाश्चात्य लेखकों की भारतीय इतिहास की मिथ्या धारणाओं को अपनी प्रबल युक्तियों एवं तर्कबल से पं. भगवद्दत्तजी ने भूमिसात् कर दिया है.'[१२] महापण्डित राहुल सांकृत्यायन (१८९३–१९६३) ने साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त ऐतिहासिक ग्रंथ भी लिखे हैं, उन्होंने 'मध्य एशिया का इतिहास' १–२ भाग (१९५२/१९५६) लिखा है, जो कि हिन्दी में इस भू–भाग का विस्तृत परिचय देने वाला पहला ग्रन्थ है, तथा 'ऋग्वेदिक आर्यसमाज' (१९६७) में उन्होंने तत्कालीन आर्यों के जीवन पर यथाशक्ति प्रकाश डालने का पूरा प्रयास किया है. इस प्रकार यह अनूदित व मौलिक इतिहास लेखन की परंपरा व पृष्ठभूमि विद्यावाचस्पतिजी के इतिहास लेखन काल में विद्यमान थी. जिसका न्यूनाधिक परिणाम विद्यावाचस्पतिजी की लेखन परंपरा पर सुनिश्चित रूप से पड़ा है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८.३ इतिहास की ओर देखने की दृष्टिः-

प्राच्य वाङ्मय में इतिहास को पंचम वेद के नाम से संबोधित किया गया है. वेदोद्धारक स्वामी दयानन्द ने भारतीय इतिहास को जिस दृष्टि से देखने की प्रेरणा दी है, वह राष्ट्रीय दृष्टि है. इसलिए 'आर्यसमाजी विद्वान् राष्ट्रीय इतिहास के अनुशीलन में विशेष रूपेण प्रयत्नशील रहे हैं.'[१३] प्राचीन इतिहास के संबंध में आर्यसमाज आत्महीनता के लवलेश से विरहित, जो गौरवपूर्ण राष्ट्रीय दृष्टिकोण है, उससे विद्यावाचस्पति जी सुपरिचित है. इस राष्ट्रीय दृष्टि के अनुसार प्राचीन भारत सारे संसार का जगद्गुरु रहा है.

ऋषि दयानंद ने 'सत्यार्थप्रकाश' में स्पष्ट लिखा है कि 'जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब आर्यावर्त्त देश से फैली है.' उनकी यह धारणा थी कि पश्चिम जिन वैज्ञानिक आविष्कारों पर आज गर्व कर रहा है वे सब आविष्कार प्राचीन आर्य पहले ही बना चुके थे. 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में 'नौविमानादि विद्या विषयक' एक स्वतंत्र प्रकरण लिखकर स्वामीजी वेदों में वैमानिक विद्या का मूल भी सिद्ध कर चुके थे. पुणे में दिये पांचवे प्रवचन में स्वामीजी ने कहा था– 'पूर्व काल में भिन्न–भिन्न विद्यायें भरत–खण्ड में वेदों के संबंध से प्रसिद्ध थीं....उन्हें विमान रचने का उत्कृष्ट ज्ञान था. विमान रचना का एक पुस्तक मैंने भी देखा है. अहो ! उस समय दरिद्रों के घर में भी विमान थे. उस व्यवस्था के सम्मुख आगगाडी की क्या प्रतिष्ठा है.''[१४] इसी प्रकार आर्यावर्त्त की प्राचीन शिक्षित स्त्रियों पर गर्व व्यक्त करते हुए स्वामी दयानंद ने लिखा था– 'देखो, आर्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्ध विद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं. क्योंकि जो न जानती होतीं तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं और युद्ध कर सकती थीं.'[१५] नवजागरण के पुरोधा स्वामी दयानन्द की इसी राष्ट्रीय दृष्टि से प्रेरित होकर आर्यसमाज प्राचीन भारतीय इतिहास, धर्म और संस्कृति पर विशेष बल देता रहा है. अतः आर्यसमाज ने आरंभ से ही प्राचीन भारतीय इतिहास को महत्व दिया और उस पर अनेक ग्रंथ लिखे. उसकी यह मान्यता रही है कि महाभारत के युद्ध से भारतवर्ष का क्रमशः पतन शुरु हुआ.

इस आर्यसमाजी धारणा से पाश्चात्य ऐतिहासिक विचारक सर्वथा प्रतिकूल रहे हैं. उनके मतानुसार आंग्लशासन से पूर्व भारतवर्ष अज्ञानांधकार में डूबा हुआ था और ज्ञान–विज्ञान के हर क्षेत्र में पिछड़ा हुआ था. जब कि प्राच्य इतिहास पर गर्व करने वाले इतिहासवेत्ताओं के अनुसार इन पाश्चात्य आंग्लविचारकों ने अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से प्राचीन काल के गौरव को घटाने वाले अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया और भारतीय इतिहास की घटनाओं को भी बड़े विकृत रूप में प्रस्तुत किया. विद्यावाचस्पति जी के जीवन और साहित्य पर इस राष्ट्रीय आर्य विचार सरणी की गौरवमयी ऐतिहासिक दृष्टि का अतिशय प्रभाव रहा है. स्वयं विद्यावाचस्पति जी ने अपने निजी जीवन पर प्रकाश डालते हुए टिप्पणी की है, 'मुझमें व्यतीत काल की ओर देखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है. अन्यथा परिवार के बच्चों के रोहिताश्व, जयन्त आदि तथा पत्रों के 'सत्यवादी', 'अर्जुन' आदि नाम न रखता.'[१६] आर्यसमाज की प्राच्य संस्कृति पर बल देने की प्रवृत्ति के कारण भी वे पत्रकारिता का मूल खोजते हुए 'महाभारत के संजय के पास पहुँच जाते हैं. समाचार–संग्रह की प्राच्य प्रथा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है, 'महाभारत के समय महायुद्ध के दैनिक समाचार संजय धृतराष्ट्र को सुनाया करता था. संजय के पास पूरे समाचार प्राप्त करने का साधन अवश्य रहा होगा. इतने विशाल युद्ध की खबरें इकट्ठी करने के लिए काफी विस्तृत संगठन होना चाहिये'.[१७] पाश्चात्यों की भारतीय इतिहास को विकृत करने की मनोवृत्ति तथा उसके भयंकर दुष्परिणामों का उन्होंने इस प्रकार विवेचन किया है, 'ख्याति के अनुसार कालिदास सम्राट् विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में अन्यतम थे. यह ख्याति संस्कृत साहित्य में सत्य करके मानी जाती रही है. स्वाभाविक तो यह था कि जब तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुष्ट प्रमाणों से उस ख्याति का खण्डन न हो जाता, तब तक उसे ही स्वीकार किया जाता. परन्तु पश्चिम के समालोचकों ने संवत् के संस्थापक विक्रमादित्य की सत्ता पर ही आशंका उठा दी. बस, फिर क्या था 'मानसिक पराधीनता काल के भारतीय विद्वान् एकदम विक्रमादित्य को केवल भूत–प्रेतों जैसा कल्पित व्यक्ति मानकर मानपत्रों और शिलालेखों में से किसी अन्य विक्रमादित्य को ढूँढ निकालने का ऐसा प्रयत्न करने लगे. कई विक्रमादित्य खोदकर निकाले गये, परन्तु यह बतलाने वाला कोई शिलालेख अब तक भी नहीं मिला कि उनमें से किसके समय में महाकवि ने कविता की. ऐसी दशा में यही उचित समझता हूँ कि महाकवि कालिदास को विक्रमी संवत् के संस्थापक सम्राट् विक्रमादित्य का समकालीन माना जाय. इस मन्तव्य के पक्ष में जनश्रुति के अतिरिक्त साहित्य के पोषक प्रमाण भी विद्यमान हैं. केवल काल्पनिक युक्तियों के प्रहार से २००० वर्ष पुरानी ख्याति का दुर्ग नहीं तोड़ा जा सकता. यदि हम एक बार इस मार्ग पर चल पड़े, तो हमें अपने सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास से हाथ धोना पड़ेगा. हमारे मनु और मान्धाता, हमारे राम और कृष्ण और हमारे बाल्मीकि और व्यास पोषक शिलालेखों और ताम्रपत्रों के अभाव के कारण अविश्वास की आंधी से उड़ जायेंगे'.[१८]

कई बार इतिहास में मनगढ़न्त या किसी स्वार्थ विशेष से प्रेरित होकर कल्पित घटनाओं का भी समावेश कर दिया जाता है. बंगाल के शासक सिराजुद्दौला के कलकत्ता विजय (सन् १७६५) के साथ 'ब्लॅक हॉल' की तथाकथित दुःखान्त घटना इसी प्रकार की एक घटना है. यह कहा गया कि नवाब सिराजुद्दौला के आदेश पर १८ वर्गफीट कमरे में १४६ अंग्रेज कैदियों को ठूंसकर बन्द कर दिया गया, जब सुबह दरवाजा खुला तो उसमें से १२३ मृत और २३ अर्धमृत पाये गये. तत्पश्चात् इस घटना पर अंग्रेज लेखकों ने अनेक पुस्तकें लिखीं, साहित्यिकों ने अपने जौहर दिखलाये और लार्ड मैकाले ने तो इस घटना का उल्लेख करते समय अंग्रेजी भाषा का निन्दात्मक शब्दों का कोष ही समाप्त कर दिया. विद्यावाचस्पति जी के अनुसार यह घटना मनगढ़न्त है और युवा अंग्रेजों को भारतीयों के विरूद्ध उकसाने के लिए बनायी गई है. उन्होंने इस बात पर दुःख व्यक्त किया है कि 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' के अनुसार अंग्रेज लेखकों का अनुकरण करने वाले कई भारतीय लेखकों ने भी उस मनगढ़न्त कहानी को सच्चा इतिहास माना है.[१९] इतिहास लेखक भाई परमानन्दजी ने भी इस घटना को 'सर्वथा निराधार और कपोलकल्पित घटना' माना है.[२०] विद्यावाचस्पतिजी ने अन्यत्र भी – –सिपाहियों के काम को बलवा या गदर, और अपने काम को अनुशासन बतलाने वाले और उनका अनुकरण करने वाले उनके शिष्य भारतवासियों के विषय में व्यंग्य करते हुए कहा है – 'ते के न जानीमहे' –हमें नहीं सूझता कि उन कृतघ्नों का क्या नाम रखें.'[२१] विद्यावाचस्पतिजी का यह मत सत्य है कि– 'ब्रिटिशकाल में जहाँ भारतीय इतिहास को विकृत किया गया वहाँ भारत के वीरतापूर्ण इतिहास को –बलभद्रसिंह जैसे वीरों की साहसी शौर्य गाथाओं को – पाठयक्रम में जानबूझकर स्थान नहीं दिया गया.'[२२]

८.४ इतिहास लेखन के प्रकारः-

इतिहास लेखन के चार प्रकार हैं. १. संशोधनात्म्क २– संकलनात्मक ३– विवेचनात्मक और ४– मीमांसात्मक.[२३] संशोधक का संकलनकर्ता होना आवश्यक है, पर संकलनकर्ता के लिए यह जरूरी नहीं कि वह संशोधक हो ही. इसके बाद की प्रक्रिया विवेचनकर्ता और मार्मिक समीक्षक की है. कुछ इतिहासकार संशोधकीय गुण के कारण महान् होते हैं. तो कुछ योजनाबद्ध और क्रमबद्ध रूप में संकलनात्मक लेखन कर पाते हैं. कुछ में विवेचन–शक्ति होती है तो कुछ अपनी कुशाग्र बुद्धि और समीक्षात्मक दृष्टि के कारण महत्ता प्राप्त करते हैं. हरेक इतिहासकार में न्यूनाधिक मात्रा में ये चारों प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं. जिसमें जो प्रवृत्ति बलवान होती है उसे उसी श्रेणी के इतिहासकार की कोटि में रखा जा सकता है. इतिहासकार विद्यावाचस्पति जी में भी ये चारों गुण विद्यमान हैं. पुनरपि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके लेखन की प्रधान प्रवृत्ति के अनुसार उन्हें संकलनात्मक और विवेचनात्मक इतिहासकार की श्रेणी में रखा जा सकता है.

संकलनात्मक इतिहास लेखकः- इतिहास की दृष्टि से भारत की पुरातात्विक सामग्री का उल्लेख करते हुए श्री राहुल सांकृत्यायन ने स्वीकार किया है, 'इतिहास की सबसे ठोस सामग्री ही पुरातत्व सामग्री है, और उस सामग्री से भारत की कोई जगह शून्य नहीं है. गांवों के पुराने डीहों पर फेंके गए मिटटी के बर्तनों के चित्र–विचित्र टुकड़े भी हमें इतिहास की कभी–कभी महत्वपूर्ण बातें बतलाते रहते हैं.' पुरातत्वीय सामग्री पर और अधिक प्रकाश डालते हुए राहुलजी ने लिखा है– 'पुरातात्विक निधियाँ अत्यन्त ठोस और निर्भ्रान्त समकालीन अभिलेख हैं. उनका महत्व उसी तरह सबसे अधिक है, जिस तरह यथार्थ ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष का.'[२४] विद्यावाचस्पतिजी भी इस पुरातत्व संग्रहालय के महत्व से सुपरिचित थे. गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पुरातत्व संग्रहालय के अध्यक्ष श्री हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार 'गुरुकुल का भव्य संग्रहालय विद्यावाचस्पतिजी की प्रेरणा से आरंभ हुआ था.[२५] उस संग्रहालय की स्थापना में ही नहीं विकास में भी उनकी प्रेरणा का बड़ा सहयोग रहा.'[२६] किस पुरातत्व संग्रहालय में किन–किन वस्तुओं का संग्रह है इस बात की भी उन्हें अच्छी जानकारी थी. विद्यावाचस्पतिजी के अनुसार– 'जनरल इंग्लिस और हैवलॉक में जो पत्रव्यवहार हुआ, उसके कुछ अवशेष लखनऊ की रेजीडेन्सी में अब भी विद्यमान हैं.[२७] पुणे से पेशवा माधवराव नारायण द्वारा छत्रपति महाराज को भेजा पत्र नाना फड़णवीस के हाथ का लिखा हुआ है, जो अब तक सुरक्षित है.[२८] लार्ड हेस्टिंग्ज की डायरी की प्रतिलिपि 'पाणिनि ऑफिस' में विद्यमान है.[२९] अपने ऐतिहासिक ग्रन्थों में विद्यावाचस्पतिजी ने अनेक स्थानों पर ऐसे उल्लेख किये हैं.

ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में विद्यावाचस्पतिजी ने स्पष्ट किया है– 'भारत में ब्रिटिशकाल के इतिहास की सामग्री का संग्रह करने में मैंने लगभग दस वर्षों तक प्रयत्न किया है, पुस्तकें, पुस्तिकायें, लेख तथा पत्रव्यवहार जो कुछ भी प्राप्त हो सका है, उसका मैंने उपयोग किया. जहाँ तक संभव हुआ है अंग्रेजों के दृष्टिकोण को अंग्रेज लेखकों के तत्कालीन ग्रन्थों से जानने का यत्न किया है. ' आगे इसी सन्दर्भ में वे कहते हैं– 'यह प्रणाली प्रचलित है कि प्रत्येक पुस्तक के अन्त में उन ग्रन्थों या लेखों की सूची दी जाती है, जिनके आधार पर पुस्तक लिखी गई है.' इस सूची कार्य के कठिन पक्ष पर प्रकाश डालते हुए वे स्पष्ट करते हैं– 'कोई लेखक बड़ी आयु में इतने बड़े ग्रंथ में जो कुछ लिखता है, वह प्रायः उसके जीवन भर के अध्ययन और अनुभव का परिणाम होता है, उस सारे अध्ययन और अनुभव की सूची तैयार करना कठिन ही नहीं असंभव है.'[३०] फिर भी उन्होंने अपने ऐतिहासिक ग्रंथों के बीच–बीच में जिस ग्रंथ का प्रमाण देना आवश्यक समझा है, वहीं उसका नामोल्लेख कर दिया है या उद्धरण दे दिया है. इतिहास लेखन प्रक्रिया से वे गहराई से सुपरिचित थे. इसके संकेत हमें उनके निम्नांकित कथनों से प्राप्त होते हैं. 'मराठाशाही का विस्तृत–इतिहास लिखने में उस समय के बक्खरों से अत्यधिक सहायता मिली है.' उनकी दृष्टि में 'बक्खर उस समय की राजनीतिक घटनाओं के अप्रकाशित समाचार–पत्र थे.'[३१] महाराष्ट्र के इतिहास लेखक मि. ग्रॉन्ट डफ ने मराठों के अभ्युदय की सह्यद्रि की अग्निज्वाला के साथ उपमा दी है.[३२] इसी आधार पर विद्यावाचस्पति जी ने मुगल साम्राज्य के १६ वें परिच्छेद का शीर्षक 'सह्यद्रि की ज्वाला' दिया है. 'मि. रानड़े ने अपने स्मरणीय ग्रंथ 'मराठों के उत्थान' में ३३ भक्त और संत कवियों के नाम दिये हैं.[३३] जिन्हें उन्होंने मुगल साम्राज्य के इतिहास में अवतरित–उद्धृत किया है. 'गड आला पण सिंह गेला'–'गढ़ आ गया, परन्तु सिंह चला गया' की मराठी उक्ति का भी उन्होंने उल्लेख किया है.'[३४]

उपरोक्त संकेतों के अतिरिक्त अपने ग्रंथ 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' में यथाप्रसंग जिन लेखकों के उल्लेख और उद्धरण दिये हैं, वे इस प्रकार हैं. कर्नल टॉड (राजपूताना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का इतिहास–३३) प्रो. सर जदुनाथ सरकार ('औरंगजेब की जीवनी' व 'औरंगजेब का इतिहास'–१०६, १३३, १५२) अबुल फजल ('अकबर नामा' व 'आईने अकबरी'–५१, ५२) दाराशिकोह ('मजमूआ–ए–वाहरियान' व 'सिर्र–उल–असरार'–१०३, १०४) प्रथम ग्रंथ में इस्लाम व हिन्दू धर्म दोनों के सच्चाई के अंश दिये हैं और दूसरा ग्रंथ दाराशिकोह द्वारा कराया गया पचास उपनिषदों का फारसी अनुवाद है. 'मआसिर–उल–उमरा' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख है, पर लेखक का नाम नहीं है. इस ग्रन्थ में मुसलमान हाकिमों द्वारा किये गए स्त्री अपहरणों की चर्चा की गई है. इसी प्रकार अकबर के इतिहास लेखक विन्सेट स्मिथ, पंजाब के इतिहास लेखक सय्यद मुहम्मद लतीफ और ईश्वरदास का भी उल्लेख है, पर लेखक ने इन इतिहास लेखकों के ग्रन्थों के नाम नहीं दिये हैं (३६, २२६, २४७). सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री हुयेन सांग की भी चर्चा की है, जिन्होंने अपने यात्रा वृतान्तों में जाटों को शूद्रों की श्रेणी में रखा है (२२१). अनेक ऐसे स्थल है जहाँ इतिहासकारों के नामों का उल्लेख न करते हुए सामूहिक रूप में उनकी चर्चा की है. जैसे, 'कई इतिहास लेखकों ने लिखा है.' (३६, २७६, ११८, १४५), 'मुसलमान लेखकों ने लिखा है' (२६–३०), 'विदेशी लेखकों ने ताज की प्रशंसा के बारे में पन्ने के पन्ने खर्च कर डाले हैं' (६०), 'अंग्रेज लेखक का मत' (५०) आदि. प्रसंगवशात् संत गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित–मानस' का भी उल्लेख हुआ है. भूषण (शिवा बावनी–१८८), गुरू नानक (ग्रंथ साहिब–२३३) के अतिरिक्त सम्राट् जलालुद्दीन अकबर (५१), व 'राजा टोडरमल' (५१) के हिन्दी के पद भी दिये हैं. फिरदौसी (६३), शाहजहाँ की लड़की शाहनारा (११६), बादशाह बहादुरशाह की दूसरी सन्तान रफी उश्शान (६०) के शेर भी उद्धृत किये गये हैं. सात परिच्छेदों का नाम 'मुगलो का महाभारत' है, जिसमें एकाधिक बार 'सूच्यंग्र नैव दास्यामि' उद्धरण उद्धृत किया गयाहै (१८७). ग्रन्थ के उपसंहार में एक विदेशी अंग्रेजी कवि के काव्य का भी उद्धरण दियागया है. उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त मुगल साम्राज्य के इतिहास में अनेक पत्रों के संकेत और उनके उद्धरण भी दिये गये हैं. जैसे–औरंगजेब की सादुल्लाखाँ को लिखी चिट्ठी (१०६), शाहजहाँ का पानी तक बन्द कर देने वाले अपने पुत्र औरंगजेब को लिखा पत्र (१५५), जहाँनारा द्वारा औरंगजेब को लिखा पत्र (१५४), शिवाजी का औरंगजेब को जजिया कर न लगाने के संबंध में पत्र (२०३), औरंगजेब के अपने पुत्र द्वय आजम व कामबख्श को लिखे पत्र (३२), राजा शाहू द्वारा बालाजी बाजीराव को पेशवा पद पर नियुक्त करने का आज्ञा पत्र (१५०) बुन्देलखण्ड के राजा छत्रसाल द्वारा बाजीराव पेशवा को रक्षा करने की अपील करते हुए लिखा गया काव्यात्मक पत्र.– "जो गत ग्राह गजेन्द्र की, सो गत भई है आज। बाजी जात बुंदेला की राखों बाजी लाज।।" (चौथा भाग–१११)

चर्चित ऐतिहासिक ग्रन्थ मुगल साम्राज्य में 'फरमानों' (१३३, १६३, २०१) के अतिरिक्त 'जनश्रुति' (२५१), शर्त (६६), मुद्रा (२६६, २८३) इत्यादि का उपयोग किया गया है. सन् १६००, १८८६, १६३१ के गेहूँ, जौ, ज्वार, चना आदि धान्यों के भावों की 'तुलनात्मक पत्रिका' दी गई है (४८). आर्थिक लूट की भी चर्चा हुई है–नादिरशाह के मन्त्री के अनुसार दिल्ली की लूट में १५ करोड़ नकद के अतिरिक्त जवाहर आदि बहुत बड़ी राशि लूटी गयी. और फ्रेजर के हिसाब से ७० करोड़, ३०० हाथी और दस हजार घोड़े लूट में ले जाये गये (१४५).

विद्यावाचस्पति जी ने मुगल साम्राज्य के इतिहास की तरह 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय' नामक ग्रन्थ में भी सहयोगी ग्रन्थों की सूची परिशिष्ट के रूप में नहीं जोड़ी है. उन्होंने जहाँ–जहाँ आवश्यक समझा पूर्ववत् यथाप्रसंग यथास्थान लेखकों तथा उनके ग्रंथों का उल्लेख किया है. जैसे स्वदेशी लेखकों में भारत के विख्यात विद्वान श्री रमेशचन्द्र दत्त (इण्डिया इन विक्टोरियन एज–२८६), मेजर बी.डी. बसु (राइज़ एण्ड फॉल ऑफ ब्रिटिश एम्पायर इन इंडिया–६३), देशभक्त सावरकर (१८५७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का स्वातन्त्र्य संग्राम–२६५, २६८) डी.बी. पारसनीस (लाइफ ऑव लक्ष्मीबाई). भारतीय इतिहास लेखकों में सर शफात अहमदखाँ का भी इतिहासकार के रूप में विद्यावाचस्पति जी ने विशेष रूप से उल्लेख किया है (पृ. १६).

स्वदेशी लेखकों की अपेक्षा विदेशी लेखक चौगुने हैं जिनका उपयोग विद्यावाचस्पति जी ने ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में किया है. इससे अनायास यह स्पष्ट होता है कि इतिहास लेखन के क्षेत्र में भारतीय बहुत ही उदासीन रहे हैं. विदेशी लेखकों में कर्नल मैलीसन ('भारत के निर्णायक युद्ध–३५, ३२६ व 'भारतीय विद्रोह'–१–४ भाग–३१५, ३१६) पी.ई. राबर्ट्स (भारत के १८७० के दुर्भिक्ष के विषय में ४१–४२), व्हीलर (अर्ली रिकार्ड्स ऑव ब्रिटिश इण्डिया–४१), ग्राण्ट डफ (मराठों का इतिहास–१३६), जेम्स मिल (भारत का इतिहास–१३६) आदि २२ से भी अधिक अंग्रेज लेखकों के ग्रंथों का विद्यावाचस्पति जी ने इतिहास लेखन हेतु उपादान सामग्री के रूप में उपयोग किया है और इनमें से अधिकांश ग्रन्थों के उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं.

विद्यावाचस्पति जी ने जहाँ कतिपय अंग्रेज लेखकों की पक्षपातपूर्ण रवैये की तीव्र आलोचना की है, वहाँ तटस्थ आलोचकों की अन्तःकरण पूर्वक प्रशंसा भी की है. लैफ्टिनेंट जनरल मैकल्योड़ इन्स को उन्होंने यथासंभव पक्षपातहीन दृष्टि से लिखने वाला इतिहास लेखक कहा है.[३५] इसी प्रकार वे ब्रिटिश साम्राज्य की भूमिका में लिखते हैं– 'अंग्रेज शासन काल के प्रारंभिक और सन् ५७ के क्रान्ति के समय की ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन करते समय यह देखकर आश्चर्य होता है कि अंग्रेज शासकों अथवा योद्धाओं के निन्दा योग्य कार्यों का सच्चा वृतान्त यदि कहीं उपलब्ध हो सकता है तो वह अंग्रेज वक्ताओं के भाषणों और अंग्रेज लेखकों के लेखों में. वारेन हेस्टिंग्ज के विरूद्ध एडमण्ड बर्क के भाषणों को पढ़कर एक भारतवासी का खून खौल उठता है. प्रतीत होने लगता है कि हेस्टिंग्ज के अत्याचारों की कड़वाहट को शायद किसी भारतवासी ने भी उतनी तीव्रता से अनुभव न किया हो, जितनी तीव्रता से उस तेजस्वी अंग्रेज ने किया था'... 'लक्ष्मीबाई की असाधारण वीरता, तात्या टोपे की अद्भुत चतुरता और कुँवरसिंह की युद्ध कुशलता की खुलेदिल से प्रशंसा पढ़नी हो तो वह अंग्रेज लेखकों की पुस्तकों में मिलेगी.' 'अंग्रेज सिपाहियों तथा सेनापतियों ने क्रोध तथा बदले की भावना से प्रेरित होकर भारत की निर्दोष प्रजा पर जो पाशविक अत्याचार किये उनकी कहानी आपको अंग्रेज लेखकों के लेखों से प्राप्त होगी. अंग्रेजों में अनेक दोष थे, और हैं, परन्तु पक्षपातहीन दृष्टि से देखें तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि अनेक अंग्रेजों में विरोधी के पक्ष को सहानुभूति से देखनेऔर पक्षपात से अलग होकर विचार करने का प्रयत्न करने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति विद्यमान है, उसी ने बीसियों उतार–चढाव होने के बाद भी इंग्लैण्ड के गौरव को सुरक्षित रखा है. ब्रिटिश काल के भारतीय लेखक का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उन अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करे, जिनके भाषणों और लेखों से उसे मूर्ति के दोनों पार्श्वों को देखने में सहायता मिलती है.'

ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास लेखन में संदर्भ ग्रन्थों के अतिरिक्त पत्रों का भी उपयोग किया है. मुगल साम्राज्य के इतिहास में ६ से अधिक पत्रों का, तो ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास लेखन में १८ से अधिक पत्रों या पत्रांशों का पूरक–प्रामाणिक सामग्री के रूप में उपयोग किया गया है. जिनमें अपनी स्त्री से प्रेरणा प्राप्त कर रघुनाथराव द्वारा भाई नारायणराव को बंदी बनाने के संबंध में लिखा उस पत्र का भी समावेश है, जिस पत्र के धरावे के स्थान पर रघुनाथराव की पत्नी आनंदीराव ने मारावे कर दिया था,[३६] और इतिहास इस बात का साक्षी है कि एकाक्षर के परिवर्तन के कारण नारायणराव की मौत हो गई थी. पत्रों के अतिरिक्त ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में विद्यावाचस्पति जी ने ऐक्टों, चार्टरों, सन्धियों, सन्देशों, गवाहियों, डायरियों, समाचार–पत्रों, रिपोर्टों,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घोषणाओं, सम्मतियों, बयानों व भाषणों के आवश्यक अंशों का यथास्थान समावेश किया है, जिससे उनका संकलनात्मक इतिहासकार का स्वरूप स्पष्ट रूप से उभरता है.

ब्रिटिश व मुगल साम्राज्य के इतिहास की तरह आर्यसमाज व भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में भी विद्यावाचस्पति जी का संकलनात्म्क इतिहासकार का रूप नजर आता है. आर्यसमाज के इतिहास के सिलसिले में वे संकलनात्मक इतिहासकार की तरह यह अपील करते हुये नजर आते हैं– 'सब आर्य नर–नारी अपना धर्म समझकर उपलभ्य सामग्री भेजकर मेरा हाथ बटायें'. पूरक व दुर्लभ सामग्री भेजने वालों के प्रति इतिहासकार में कृतज्ञता का भाव होना बहुत जरूरी है, अन्यथा वह अपने कार्य में कदापि यशस्वी नहीं हो सकता. श्री विद्यावाचस्पति में यह कृतज्ञता का भाव कूट–कूटकर भरा है. सहायक महानुभावों के प्रति धन्यवाद देते हुये वे कहते हैं– 'मैं विशेष धन्यवाद ऋषि दयानंद के पत्रों के अन्वेषक श्री मामराजसिंह का करना चाहता हूँ जिन्होंने वर्षों के परिश्रम से संग्रह किया हुआ पुस्तकों, समाचार पत्रों तथा चिट्ठियों का संग्रह मेरे सुपुर्द कर दिया. आपकी तत्परता और मेहनत देखकर मुझे आश्चर्य भी हुआ और थोड़ी–सी ईर्ष्या भी. किसी प्रकार की लोकैषणा न रखकर केवल कर्तव्य की प्रेरणा से वर्षों तक इतना परिश्रम करना और फिर उसे विश्वास के साथ दूसरे को सौंप देना साधारण कार्य नहीं है'[३७] विद्यावाचस्पति जी आगत सामग्री का यथोचित स्थान पर बड़ी उत्तमता से उपयोग करते थे. 'भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास' के समीक्षक ने लिखा है– 'उनकी इस कृति में यथाशक्य इस विषय में सुलभ उपादानों का जितनी उत्तमता एवं वैज्ञानिक दृष्टि से उपयोग किया गया है, वह अन्य जन सुलभ नहीं था.'[३८]

विवेचनात्मक इतिहास लेखकः- विद्यावाचस्पति जी ने श्री मदनमोहन मालवीय के संबंध में लिखा है– 'वह हृदय–प्रधान पुरुष थे. हृदय और बुद्धि के मध्य जब संघर्ष होता था तब उनका हृदय सदा जीतता था और जो हृदय कहता था, वही वह करते थे.'[३९] किन्तु स्वयं विद्यावाचस्पति जी बुद्धिप्रधान पुरुष थे. भावना के आवेश में कोई निर्णय नहीं करते थे. मुगल साम्राज्य के इतिहास में भी प्रसंगवशात् वे शिवाजी का इतिहास लिखते–लिखते चरित्र–चित्रण की ओर झुक ही रहे थे कि बुद्धि की लगाम ने उनकी भावुक कलम को एकदम नियन्त्रित कर लिया.[४०] पिता मुंशीराम का भावुक हृदय विद्यावाचस्पति जी के अग्रज हरिश्चन्द्र के हिस्से में चला गया था और उनकी बुद्धि की निर्णायक क्षमता विद्यावाचस्पति जी के हिस्से में आ गयी थी. अतः उनके इतिहास ही नहीं जीवनी, उपन्यास आदि से संबद्ध साहित्य में भी उनकी विवेचनात्मक लेखन शैली के दर्शन होते हैं. श्री शंकरदेव विद्यालंकार के अनुसार उनके मुगल व ब्रिटिश साम्राज्य विषयक विशाल ग्रन्थ ऐतिहासिक तत्वमीमांसा परक ग्रंथ है, 'जिनमें उनकी विद्वता, गवेषणा और विवेचन शक्ति का परिचय मिलता है. एक समीक्षक ने तो मुगल साम्राज्य विषयक ग्रंथ की समीक्षा में यहाँ तक लिखा है' 'यह ग्रन्थ इतनी अच्छी तरह लिखा गया है कि इसने रचना के क्षेत्र में ग्रंथकार की उमर दो सौ वर्ष कर दी है.'[४१]

विद्यावाचस्पति जी की विवेचनात्मक इतिहास लेखन शैली के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं. उन्होंने मुगल साम्राज्य के क्षय और ब्रिटिश साम्राज्य के उदय का विवेचन इस प्रकार किया है, 'दो राही पहाड़ की आधी ऊँचाई पर आपस में मिलते है. देखने में दोनों एक जगह खड़े हैं, परन्तु उनकी मानसिक परिस्थितियों का भेद हमारी समझ में तब आयेगा जब हमें यह मालूम होगा कि उनमें से एक पहाड़ की चोटी से नीचे उतर रहा है, और दूसरा चोटी की ओर जा रहा है. एक की चढ़ती कला है और दूसरे की उतरती कला. खडे दोनों एक ही स्थान पर है, परन्तु एक ऊपर को देख रहा है और दूसरा नीचे को.'[४२] उनके ऐतिहासिक साहित्य में ऐसे असंख्य स्थल हैं, जिनसे उनकी विवेचनात्मक शैली का परिचय मिलता है. जैसे 'इतिहास लेखक अबुल फजल का लिखा हुआ 'आईने अकबरी' अपने समय का बिल्कुल सच्चा तो नहीं, परन्तु उज्ज्वल चित्र अवश्य है.'[४३] औरंगजेब की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मराठों से हुई दक्षिण लड़ाई का वर्णन करते हुए बादशाह के मराठों के बहुत समीप होने पर भी बाल–बाल बचने पर उन्होंने यह टिप्पणी की है, 'मुसलमान लेखकों ने इसे औरंगजेब के महत्व या दबदबे का परिणाम माना है और इसे भी एक खुदाई मोजजा कहा है, परन्तु हमें तो इसकी तह में मराठा सरदारों की मुगल सेनाओं की परिस्थिति से अनभिज्ञता ही मालूम होती है.'[४४] श्री काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार 'गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयीन स्नातकों के इतिहास लेखन पर किसी प्रकार का सांप्रदायिक मुलम्मा नहीं है.'[४५] श्री विद्यावाचस्पति ने अकबर को 'दूरदर्शी' तथा 'अपने समय का सबसे बड़ा राजनीतिज्ञ'[४६] कहा है. अकबर व औरंगजेब की दुर्बलताओं के साथ उन्होंने उनकी विशेषताओं की भी चर्चा की है. छत्रपति शिवाजी की विकासोन्मुख अवस्था का चित्रण करते हुए उन्होंने उन्हें धीरे–धीरे 'हिन्दू धर्म रक्षक' से 'राष्ट्रीय–स्वधीनता–रक्षक' के रूप में आगे बढ़ते हुए बताया है. शिवाजी के युद्ध के प्रेरक कारणों की विद्यावाचस्पति जी ने इस प्रकार मीमांसा की है, "क्या शिवाजी केवल विजय की, लूट की या ख्याति की इच्छा से प्रेरित होकर ही यह युद्ध कर रहे थे? या केवल हिन्दू धर्म की रक्षा ही उनका लक्ष्य था, अथवा एक स्वाधीन राष्ट्र की स्थापना के लिए उनका उद्योग था? कभी कोई बड़ा भाव या लक्ष्य एकदम नहीं पला करता. मनुष्य की मानसिक और उसके कारण उत्पन्न होने वाली संपूर्ण शक्तियों की उन्नति के साथ–साथ लक्ष्य के बाहरी रूप में भी परिवर्तन आता है....व्यापारी बनकर आये अंग्रेजों का ज्यों–ज्यों भारत की कमजोरी से उत्साह बढ़ता गया त्यों–त्यों उनका लक्ष्य भी फैलता गया. बीज रूप में जो विचार कार्य के प्रारंभ का कारण बनता है, अनुकूल भूमि पाकर वही अन्त में एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है. शिवाजी का मूल विचार स्वाधीनता का था... शिवाजी के हृदय में स्वभावतः जो स्वाधीनता की चाह थी, उसके साथ हिन्दू धर्म की इस्लाम के आक्रमणों की प्रतिक्रिया का मेल होकर जिस विद्रोह या क्रान्ति का आरंभ हुआ था, सुलभ सफलता ने उसे विस्तृत कर दिया...मुगलों के साथ टक्कर लेने के समय शिवाजी के हृदय में महाराष्ट्र में एक हिन्दू राज्य की स्थापना का भाव दृढ़ हो चुका था. उस भाव में भारत–भर के हिन्दू साम्राज्य की कल्पना थी या नहीं, इस पर विवाद करना व्यर्थ है. क्योंकि यह मनुष्य प्रकृति के विरूद्ध है कि वह लाभ की आशा होने पर अधिक से अधिक लाभ की ही अभिलाषा न रखे.....शिवाजी की मुद्राओं पर जो श्लोक लिखा रहता था, वह महाराष्ट्र की बढ़ती हुई भावनाओं का अच्छा प्रतिबिम्ब था....शिवाजी की हरेक कल्पना समय के साथ बढ़ती गई. शिवाजी का लक्ष्य वर्धिष्णु था. वह जागीर से बढ़कर राज्य का, और राज्य से बढ़कर साम्राज्य का रूप धारण कर रहा था. शिवाजी की मुद्राओं पर निम्नांकित श्लोक अंकित था.

प्रतिपच्चन्द्र रेखेव वर्धिष्णुर्विश्ववन्दिता। शाहसूनोः शिवस्यैषा मुद्रा भद्राय राजते।।

अर्थात् प्रतिपदा के चाँद की रेखा की भांति निरन्तर बढ़ने वाली, संसार द्वारा सादर स्वीकार की गई, शाहजी के पुत्र शिवाजी की यह मुद्रा, कल्याण के लिए शोभायमान होती है.[४७]

उपरोक्त विवेचन से शिवाजी के उत्तोत्तर विकसित होते हुए व्यापक व्यक्तित्व के परिचय के साथ ही विद्यावाचस्पति जी की विवेचनात्मक इतिहास लेखन शैली का रूप भी स्पष्ट होता है. समस्त ऐतिहासिक साहित्य में उन्होंने इसी शैली का प्रयोग किया है. श्री सत्यकाम विद्यालंकार ने ठीक ही कहा है कि 'विद्यावाचस्पति जी का ऐतिहासिक विवेचन पूर्णतः विश्लेषणात्मक है.'[४८]

८.५ विद्यावाचस्पति जी का ऐतिहासिक वाङ्मयः-

विद्यावाचस्पति जी 'इतिहास के गंभीर विद्यार्थी[४९] ही नहीं 'प्रोफेसर भी थे.[५०] छात्रावस्था में ही उन्होंने इतिहास लिखने की तैयारी कर ली थी.[५१] उनकी डायरी इस बात की साक्षी है कि स्नातक होने के बाद १६ जून १९१३ को उन्होंने 'अपने पुराने इतिहास की खोज करने' का निश्चय कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया था.[५२] पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति जी के अनुसार 'जब वे इतिहास पढ़ाते थे तो उनके विचारों में स्पष्टता होती थी और किसी प्रकार की गड़बड़ न होती थी.[५३] विद्यावाचस्पति के सर्वप्रथम कक्षा के शिष्य और उनसे चार–पांच साल तक शिक्षा प्राप्त करने वाले श्री दीनानाथ सिद्धान्तालंकार के कथनानुसार वे हमें रात को भोजन के बाद रामायण–महाभारत तथा अन्य भारतीय इतिहास की कथायें सुनाया करते थे.[५४] आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति के मतानुसार इतिहास का विषय विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से पढ़ाने में उनकी विशेष रूचि थी. इतिहास के अध्यापन को अधिक गहरा और महत्वपूर्ण बनाने के लिए उन्होंने गुरुकुल में एक ऐतिहासिक ग्रंथालय की स्थापना की थी जिसमें प्राचीन इतिहास से संबंधित बहुत अधिक उपयोगी सामग्री का संग्रह किया गया था.[५५] पं. इन्द्रजी के विद्याव्यसनी होने के कारण गुरुकुलीय पुस्तकालय की बहुत बड़ी उन्नति हुई. विद्यावाचस्पति जी की सुपुत्री व सैक्रेटी डॉ. ऊषा पुरी विद्यावाचस्पति के शब्दों में उनका घरेलू पुस्तकालय भी एक विराट् पुस्तकालय था. जिसमें हिन्दी, संस्कृत, गुरुमुखी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि देशी भाषाओं के व अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि विदेशी भाषाओं के दुर्लभ ऐतिहासिक ग्रन्थ थे.[५६] १९१८ में ही उनका ऐतिहासिक उपन्यास 'शाह आलम की आँखें' धारावाहिक रूप में 'सद्धर्म प्रचारक' में छपता रहा था.'[५७] श्री शंकरदेव विद्यालंकार ने लिखा है. अवकाश के क्षणों में वे देशी–विदेशी साहित्यकारों के अतिरिक्त इतिहासकार गिब्बन लिखित ग्रंथ भी पढ़ते थे.[५८] उनके इतिहास ज्ञान व इतिहास लेखन से प्रभावित होकर इतिहासानुरागी हरियाणा पुरातत्व संग्रहालय के संस्थापक आचार्य भगवान्देवजी ने उनसे 'जाटों का इतिहास' लिखने की प्रार्थना की थी, जिसे उन्होंने मान्य भी कर लिया था.[५९] मुगल साम्राज्य के उत्थान और पतन की भांति मराठा शक्ति का उत्थान और पतन भी बड़ा रोचक और शिक्षाप्रद विषय है, अवसर मिला तो उसकी विस्तृत कहानी लिखने का भी उन्होंने संकल्प किया था.[६०]

विद्यावाचस्पति जी की अतीत की ओर देखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी. गुरुकुल में पुरातत्व संग्रहालय की स्थापना उनकी इसी प्रवृत्ति की द्योतक थी. सामान्य जनजीवन में भी अनायास वे आदर्श जीवन जीने के लिए ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करते थे. एक बार जब वे सपरिवार यमुना किनारे घूमने गये, तब एक कंटीली झाड़ी में उनके इकलौते पुत्र जयन्त की कमीज की बांह अटक गयी. जिसे उसने झटका देकर छुड़ा लिया. जिससे बांह में एक लम्बा खोंचा लग गया. इस पर विद्यावाचस्पति जी ने कहा था– 'ऐसे ही एक बार सम्राट् नैपोलियन अपने बेटे के साथ अपने बगीचे में घूम रहा था और राजकुमार का कपड़ा कांटों में उलझ गया था. लड़के ने झटका दिया था, जिससे उसका कपड़ा तो फटा ही, उसे खरोंच लगी और लहू भी निकल आया था. इस पर सम्राट् ने राजकुमार से कहा था– 'सम्राट् नैपोलियन के साम्राज्य को उसका वंशज चला पायेगा या नहीं, इसमें शक है'[६१] इस सबसे स्पष्ट है कि छात्रावस्था से ही विद्यावाचस्पति जी इतिहासानुरागी थे. 'चिर पक्कं सुपक्कं भवति' के सिद्धान्त के अनुसार उत्तरोत्तर जब वे इतिहास से और अधिक एकरूप हो गये तब उन्होंने इतिहास का लेखन प्रारंभ किया और हिन्दी जगत् को साहित्यिक शैली में लिखे चार विशालकाय सरस ग्रन्थ प्रदान किये. उनका संक्षिप्त परिचय क्रमशः अग्रिम पंक्तियों में प्रस्तुत है.

मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण (भाग १-२ (पूर्वार्ध) १९३२, भाग-३-४ (उत्तरार्ध) १९३८):- यह बहुचर्चित सुप्रसिद्ध ग्रन्थ अंग्रेज इतिहासवेत्ता एडवर्ड गिब्बन (१७३७–१७९४) द्वारा लिखित 'डिक्लाइन ऑफ रोमन एम्पायर' (पांच भाग) को पढ़ने के उपरान्त विद्यावाचस्पति जी ने लिखा है. उन्हें ग्रन्थ लिखने की विशेष प्रेरणा श्री गिब्बन से प्राप्त हुई थी. प्रथम भाग में 'अकबर का राज्यारोहण' (१५५६) से लेकर 'रक्तरंजित सिंहासन पर (औरंगजेब का) आरोहण' (१६५९) तक २४ परिच्छेद हैं. द्वितीय भाग में 'चमकदार प्रारंभ (१६५९) से लेकर 'इतिहास में शिवाजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का स्थान' (१६८०) तक २८ परिच्छेद हैं. तृतीय भाग में 'साम्राज्य के कब्रिस्तान' (१६८०) से लेकर 'सय्यदों का अधःपात' (१७२०) तक १६ परिच्छेद हैं और चौथे भाग में 'तीन बड़े शत्रु' (१. केन्द्रीय शक्ति दिल्ली का क्षीण होना, २. स्वार्थी मुसलमान सरदार, ३. बाह्य आक्रमण) (१७२०) से लेकर 'पानीपत–उपसंहार' (सन् १७६०) तक २२ परिच्छेद हैं. पुस्तक की कुल पृष्ठ संख्या ५०६ है. विद्यावाचस्पति जी ने तृतीय भाग को 'औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के रक्षा के लिए व्यर्थ प्रयत्न' और चौथे भाग को 'अन्तिम झलक' के नाम से भी स्पष्ट किया है. लेखक ने इतिहास के इन चार भागों को 'यौवन काल', 'प्रौढावस्था काल', 'क्षीणता काल' और 'समाप्ति काल' के नाम से भी संबोधित किया है.

मुगल साम्राज्य के इतिहास लेखन का उद्देश्य मुगल साम्राज्य का क्षय बतलाना है. अतः लेखक ने इस ग्रंथ की शुरुआत मुगल साम्राज्य के जन्मकाल (बाबर) से नहीं, अपितु यौवनकाल (अकबर) से शुरु की है. उदयास्त का प्राकृतिक नियम साम्राज्यों पर भी लागू है. साम्राज्य भी नैसर्गिक रूप से अविर्भाव और क्षय के दौर से गुजरते हैं. 'नीचैर्गच्छत्युपरिच दशा चक्रनेमिक्रमेण' की तरह हर साम्राज्य में 'चार दिन की चांदनी और फिर अंधेरी रात' आती है. कभी वे पराजित होते हैं तो कभी विजयी.' जहाँ इस चलाचली की ओर संकेत करना ग्रंथ लेखक का प्रयोजन है. वहाँ साम्राज्य और राष्ट्र रूपी शरीर के क्षीणता के उन कारणों की ओर भी संकेत करना है. जिनके कारण राज्य और राष्ट्र मौत के घाट पहुँचते हैं. लेखक के शब्दों में– 'जिन कारणों से हमें दो बार विदेशी साम्राज्यों का भोजन बनना पड़ा उन्हें सर्वथा निर्मूल कर देना हमारा सबसे प्रथम और ऊँचा कर्तव्य है. यदि मेरे इस ग्रन्थ से राष्ट्र का ध्यान इस कर्तव्य की ओर आकृष्ट हो सके तो मैं अपने यत्न को सफल समझूँगा'[६२]

'आर्यसमाज का इतिहास' (प्रथम भाग-१६२५, द्वितीय भाग-१६५७):- अपने पूज्य 'पिता स्वामी श्रद्धानन्द की प्रेरणा से विद्यावाचस्पति जी ने इस ग्रन्थ की रचना की. प्रथम भाग में कुल सात खण्ड हैं. इसमें प्रमुख रूप से १८२४ से लेकर १८६० तक की घटनाओं का वर्णन है. 'अवतरणिका' खण्ड में सृष्टि के आदि से लेकर स्वामी दयानन्द के प्रादुर्भाव (१८२४) से पूर्व तक का संक्षिप्त इतिहास है. अवशिष्ट छः खण्ड़ों के शीर्षक हैं– 'महर्षि का आगमन', 'आर्यसमाज की स्थापना', 'शिक्षण संस्थाओं की स्थापना', 'संघर्ष युग', 'विस्तार' और 'परिशिष्ट'. परिशिष्ट में कुल दस परिच्छेद हैं– 'महर्षि की जन्मतिथि, 'पिता का नाम', 'आर्यसमाज की स्थापना दिवस', 'ऋषि की मृत्यु कैसे हुई'?, इन प्रारंभिक चार परिशिष्टों में तत्सम्बन्धी विषय का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है. अगले ६ परिशिष्ट मुंबई व लाहौर में बनाये गये 'आर्यसमाज के नियम', 'स्वामी दयानन्द का वसीयतनामा', 'महर्षि ग्रंथ सूची', 'महर्षि पत्र–व्यवहार' और 'महर्षि के वास्तविक चित्रों के वर्णन' से संबद्ध हैं.

आर्यसमाज के इतिहास का द्वितीय भाग भी सात खण्ड़ों में विभाजित है. प्रथम खण्ड– 'गुरुकुल युग', 'पटियाले के आर्यों की अग्नि परीक्षा', 'सार्वदेशिक सभा की स्थापना तथा देशी–विदेशी आर्यसमाज के प्रचार और प्रचारकों से संबंधित है. द्वितीय खण्ड– 'शुद्धि अभियान', 'दलितोद्धार', 'विविध प्रान्तों में आर्यसमाज की प्रगति' व 'दक्षिण अफ्रीका में आर्यसमाज का प्रचार' से संबद्ध है. तृतीय खण्ड– 'स्वाधीनता संग्राम', 'आर्यसमाज–काँग्रेस में मतभेद', 'शुद्धि और आर्यसमाज', 'सांप्रदायिक उपद्रव और आर्यसमाज', 'दक्षिण में प्रचार', 'श्रीमद्दयानन्द जन्मशताब्दी' व 'स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान' से संबंधित हैं. चतुर्थ खण्ड़ का शीर्षक है– 'धर्मयुद्ध की अवतरणिका.' यह खण्ड– 'स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान की प्रतिक्रिया', महाशय राजपाल का बलिदान', 'सार्वदेशिक सभा के दिल्ली और बरेली में संपन्न आर्य महासम्मेलन', 'अजमेर में संपन्न दयानन्द निर्वाण अर्धशताब्दी' और 'लाहौर में संपन्न आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अर्धशताब्दी', 'सार्वदेशिक सभा का कार्य विस्तार',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'महात्मा नारायण स्वामीजी', 'संयुक्त प्रान्त में नवजागरण', 'आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा', 'राज़पूताना बम्बई, हैदराबाद, बिहार, मध्यप्रदेश व विदर्भ, सिन्ध, बंगाल, आसाम आदि प्रदेशों तथा मौरीशस, पूर्वी अफ्रीका, दक्षिण अफ्रीका, ब्रह्मदेश, बगदाद आदि विदेशों के आर्यसमाजों तथा आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकलापों से संबद्ध है. इसी चतुर्थ खण्ड के अन्त में गुरुकुल कांगड़ी, गुरुकुल वृन्दावन, गुरुकुल ज्वालापुर, 'डी.ए.वी. शिक्षण संस्था' व 'आर्यकुमार परिषद्' की गतिविधियों का सिंहावलोकन किया गया है. पंचम खण्ड– निजाम (हैदराबाद) रियासत में आर्यसमाज द्वारा अपने मूलभूत अधिकारों के लिए निजाम के विरूद्ध किए गऐ संघर्षों से संबंधित है. पष्ठ खण्ड का अधिकांश भाग सिंध सरकार द्वारा सत्यार्थप्रकाश पर किये गए विफल आक्रमण से संबद्ध है. कोल्हापुर, हैदराबाद व मद्रास में संचालित आर्यसमाज की विविध प्रवृत्तियां, सार्वदेशिक सभा द्वारा दैनिक आर्य समाचार पत्र निकालने का प्रयास, आर्य वीर दल सेवा संबंधी कार्य, प्रो. महेश प्रसाद आलिम फाजिल की सुपुत्री कल्याणी देवी को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में वैदिक शिक्षा की कक्षा में प्रवेश दिलाने हेतु किये गये अभियान से संबद्ध है, इस खण्ड के अंत में, स्वाधीनता प्राप्ति में आर्य समाज के योगदान पर प्रकाश डाला गया है. सप्तम खण्ड–परिशिष्ट में पहले 'दक्षिण भारत आर्य कान्फ्रेस–मद्रास (१९४१) के सभाध्यक्ष के रूप में दिया गया श्री सत्यमूर्ति जी का अभिभाषण छपा है. श्री सत्यमूर्ति जी का विचार था कि 'दक्षिण में ब्रा ह्मण, नौन–ब्राह्मण तथा आर्य–द्रविड़ के भेद को यदि कोई मिटा सकता है तो आर्य समाज ही.'[६३] श्री सत्यमूर्ति के अभिभाषण के पश्चात् महर्षि दयानन्द के उपदेशों से जिनके व्यक्तित्व में चेतना प्रकट हुई, उन आद्य क्रान्तिकारी श्री पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा का संक्षिप्त परिचय है.

विद्यावाचस्पति जी के पूज्य 'पिता' स्वामी श्रद्धानन्द जी ने बलिदान से एक दिन पूर्व प्रातः छः बजे अपनी वसीयत लिखने का आग्रह करते हुए कहा था– 'मैं आर्य समाज का इतिहास' लिखना चाहता था, लिख नहीं सका, इन्द्र उसे लिखकर पूरा कर दें.'[६४] इस वसीयत के लगभग १८ वर्ष बाद सन् १९४४ की डायरी में पिताजी की वसीयत को पूरा करने का लिखित रूप में विद्यावाचस्पति जी ने पुनः संकल्प किया और तत्पश्चात् अपने सार्वजनिक जीवन के बहुविध कार्यो को निभाते हुए वे इस संकल्पित कार्य को १३ वर्ष बाद १९५७ में ग्रंथ रूप में साकार कर सके. विद्यावाचस्पति जी का १९४४ की हस्तलिखित डायरी में लिपिबद्ध आर्यसमाज का इतिहास पूर्ण करने के हेतु किया गया संकल्प अवलोकनीय है.

"आज प्रातःकाल अपने पुस्तकालय में आने पर पूज्य पिताजी के चित्र पर दृष्टि पड़ी. उसके सामने कुछ देर तक बैठकर विचार किया तो प्रतीत हुआ कि वह मुझे मेरी प्रतिज्ञा याद दिला रहें है. जिसमें मैंने कहा था– 'मैं आर्य समाज का इतिहास लिखकर पूरा करूंगा. मैंने अब तक उस कार्य को पूरा नहीं किया. इसे करने का अन्तिम आदेश था. मैंने उसी समय पूज्य पिताजी के चित्र को साक्षी रखकर यह प्रण किया था कि अब उस आदेश के पालन का समय आ गया है. अब विलम्ब न करूंगा. उसी समय तैयारी प्रारंभ कर दी. अनुभव हुआ कि मेरे संकल्प ने पिताजी को संतोष दिया है"[६५]

'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय' (१८५६):- यह ग्रन्थ भी दो भागों में विभाजित है– उदय और अस्त, पर लगता है दूसरे भाग का नाम 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का अस्त' न रखकर 'भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास' रखा गया है. ऐसा लेखक–प्रकाशक की इच्छा से ही हुआ होगा. ऐसी स्थिति में 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त' को केवल उदय ही कहना ठीक है, क्योंकि लेखक के अस्त होने के बाद 'और अस्त' के रूप में द्वितीय भाग के प्रकाशित होने की अब कोई संभावना नहीं है, वर्तमान स्थिति में उक्त पुस्तक के पीछे लगा 'और अस्त' का पुछल्ला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विसंगत और अटपटा प्रतीत होता है.

लेखक को ब्रिटिश साम्राज्य विषयक ग्रंथ लिखने की विशेष प्रेरणा लेफ्टिनेंट मेजर बी.डी. वसु द्वारा लिखित –'राइज एण्ड फॉल ऑफ ब्रिटिश एम्पायर' नामक ग्रंथ से प्राप्त हुई. इस ग्रंथ में 'अंग्रेज व्यापारी कैसे आये?' (१५७८) से लेकर 'कम्पनी का अन्त और विक्टोरिया का घोषणा पत्र' (१८५६) तक ७६ परिच्छेद हैं. प्रारंभ में 'भूमिका' और अन्त में 'नामानुक्रमणिका' है. 'भूमिका' से पूर्व यह ग्रंथ अग्रिम शब्दों के साथ राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद को समर्पित है– 'भारत के सपूतों के बलिदानों से / पूर्ण स्वाधीनता संग्राम/ की /यह सच्ची कहानी / स्वतन्त्र भारत के / प्रथम राष्ट्रपति / कर्मयोगी डॉ. राजेन्द्रप्रसाद / की सेवा में / समर्पित / – ग्रंथ की महत्वपूर्ण 'भूमिका' में इतिहास की परिभाषा, इतिहासकार का कर्तव्य, इतिहासकार की लेखनशैली, लेखक की इतिहास लेखन–शैली, ब्रिटिश–अंग्रेज इतिहासकारों के प्रति लेखक का कृतज्ञता भाव आदि का विवेचन हुआ है. इसी भूमिका में अंतिम परिच्छेद में इतिहासकार विद्यावाचस्पति जी ने तटस्थ लेखन शैली अपनाने के बावजूद भी अपने भारतीयपन को न भुला पाने की बात स्वीकार की है. इस ग्रंथ की कुल पृष्ठ संख्या ११ + ३७५ = ३८८ है. ग्रंथ में 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' नामक ग्रंथ की इतिहास लेखन शैली का ही अनुसरण किया गया है.

'भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास' (१९६०):- विद्यावाचस्पति जी का यह अन्तिम ऐतिहासिक ग्रंथ है. लेखक स्वयं स्वाधीनता संग्राम के एक सेनानी थे अतः प्रसंगवशात् कहीं–कहीं इस इतिहास में ३–४ स्थान पर उनकी भी झलक आ गयी है. 'सन् सत्तावन की क्रान्ति का सिंहावलोकन' (१८५७) से लेकर 'समुद्र–मन्थन के फलः विष, अमृत, सुरा' (१९४७) तक ग्रंथ में कुल ७४ परिच्छेद हैं. कुल पृष्ठ संख्या ४२४ है. प्रारंभ में 'प्रकाशकीय वक्तव्य' और अन्त में 'अनुक्रमणिका' है. प्रकाशकीय वक्तव्य से स्पष्ट है कि मृत्यु से तीन दिन पूर्व लेखक ने भूमिका लिखने की अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहा था – 'यदि पुस्तक के छपे फर्मे उन्हें भिजवा दें तो वह इसकी भूमिका लिख दें.'[६६] पर न वे फर्मे देख पाये और न भूमिका लिख पाये और एकाएक चले गये. इसी ग्रंथ में इस ग्रन्थ की विषयवस्तु पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है –'सन् १८५८ के पश्चात् भारत में सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक जागृति के कारण राष्ट्रीयता का विकास किस प्रकार हुआ और धीरे–धीरे उसने प्रचण्ड रूप कैसे धारण किया. इन प्रश्नों का उत्तर इस ग्रंथ में विस्तार से दिया जा चुका है.'[६७] चर्चित ग्रंथ में विद्यावाचस्पति जी ने भारतीय साहित्य के माध्यम से हुई जन जागृति का भी विश्लेषण किया है, जिसमें हिन्दी के अतिरिक्त बंगाली, उर्दू, मराठी, गुजराती, तमिल और तेलगु में लिखे गये राष्ट्रीय साहित्य की भी चर्चा की गई है (१७३–७८). स्टुअर्ट मिल की जगप्रसिद्ध पुस्तक 'लिबर्टी' का अनुवाद महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा किये जाने का उल्लेख किया गया है. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, स्वामी दयानन्द, महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रेमचन्द द्वारा किये गये साहित्यिक जागरण की विशेष रूप से चर्चा की गई है (१७३–१७४). स्वाधीनता काल में समस्त राष्ट्र जिन देशभक्ति के गीतों से उत्प्रेरित होता रहा उन सबका यथास्थान–यथा प्रसंग ग्रंथ में उल्लेख किया गया है. 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' (२८१), 'आबरू पर हिंद की हम सब फिदा हो जायेंगे' (२८१), पंजाब का वन्दे मातरम्–'पगड़ी संभाल ओ जट्टा' (२१३) आजाद हिंद का राष्ट्रगीत– 'शुभ सुख चैन की वर्षा बरसे' (३७७) इकबाल का तराना– 'सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' (३४८) क्रान्तिकारी–कवि रामप्रसाद बिस्मिल और शायर अश्फाक उल्ला खां द्वारा क्रमशः फांसी के तख्ते की ओर जाते समय गाये गए निम्नलिखित काव्यांशों का भी इतिहास में अंतर्भाव किया गया है–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अब न पिछले वलवले हैं, और न अरमानों की भीड़। एक मिट जाने की हसरत, अब दिले 'बिस्मिल' में हैं"।।

"तंग आकर जालिमों के जुल्म और बेदाद से। चल दिए सूए अदम जिंदाने फैजाबाद से"!! (२५५–२५६)

विद्यावाचस्पति जी ने अपने इस इतिहास में उन सभी प्रवृत्तियों एवं राजनीतिक दलों का स्थान दिया है, जिन्होंने भारतीय स्वाधीनता संग्राम में योगदान दिया. 'राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास' के लेखक श्री मन्मथनाथ गुप्त ने स्वाधीनता विषयक साहित्य के अभाव पर खेद व्यक्त करते हुए कहा है– 'जब यह पुस्तक पहले पहले (सन् १९४७) में प्रकाशित हुई थी, उसके बाद लगभग एक पीढ़ी निकल गई है. दुःख है कि इस बीच कम से कम हिन्दी में इस संबंध में कम ही साहित्य प्रकाशित हुआ है, और जो प्रकाशित हुआ है, उसमें कोई मौलिकता नहीं है. हां इन्द्र विद्यावाचस्पति जी की एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, मुझे खुशी है कि उसमें इन्द्र जी ने मेरे मुख्य प्रतिपाद्य को मान लिया है. यानी यह कि राष्ट्रीय आन्दोलन को साफल्य मण्डित करने में समस्त राजनीतिक दलों एवं प्रवृत्तियों का योगदान रहा है.'[६८]

'भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास' लिखने हेतु लेखक ने ६ से अधिक विदेशी लेखकों और २२ से अधिक भारतीय लेखकों द्वारा लिखित संदर्भ ग्रन्थों का उपयोग किया है. स्वदेशी लेखकों में डॉ. पट्टाभि सीतारमय्या (कांग्रेस का इतिहास) और श्री रमेशचन्द्र दत्त (इंडियन इन द विक्टोरिया एज) के ग्रन्थों का और विदेशी लेखकों में सर वैलेण्टाइल शिरोल (इंडियन अनरेस्ट) व मि. जे. आर. सीले की इतिहास विषयक सूझ–बूझ को विद्यावाचस्पति जी ने अद्भुत बतलाते हुए कहा है– 'प्रो. सीले ने भारत के ५० वर्ष बाद के पर्दे पर आने वाले चित्र की लगभग ठीक कल्पना कर ली थी, परन्तु लॉर्ड मैकाले या प्रो. सीले जैसे प्रतिभाशाली अंग्रेज अपवाद थे, नियम नहीं. सामान्य रूप से बीसवीं सदी के आरंभ तक भी अंग्रेजों को यह विश्वास था कि वे भारत की रक्षा के लिए ईश्वर की ओर से नियुक्त हुए हैं... (जिस) निकट आ रही भारत की स्वाधीनता का लॉर्ड मैकाले ने स्वागत किया था, (उस) स्वाधीनता की प्रो. सीले ने ५० वर्ष पूर्व ही कल्पना की थी.' विद्यावाचस्पति जी ने इस पर आश्चर्य व्यक्त किया है कि '२०वीं सदी के ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने प्रो. सीले जैसे अंग्रेज विचारकों की चेतावनी पर ध्यान देना क्यों छोड़ दिया था.[६९]

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास लेखन में– विद्यावाचस्पति जी ने ग्रंथों के अतिरिक्त आज्ञापत्र, घोषणा–पत्र, मैमोरेण्डम, रिपोर्ट, ऐक्ट, खरीता, बयान, तार, प्रस्ताव, विवरण, भाषण, पत्र, समाचार–पत्र आदि का यथास्थान यथावसर उपयोग किया है. सन् १९१६ में दिल्ली के सत्याग्रह युद्ध में जो अद्भुत हिन्दू–मुस्लिम एकता का रूप दिखलाई दिया उसका वर्णन करते हुए विद्यावाचस्पति जी ने लिखा है 'हिन्दू और मुसलमान मिलकर घी–शक्कर हो गए थे.'[७०] गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयीन प्राच्य भारतीय इतिहास विभाग व पुरातत्व संग्रहालय के निदेशक डॉ. जबरसिंह सेंगर ने यह टिप्पणी की है "भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास' लिखते समय पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति जी ने आर्यजनों को काफी हाईलाइट करने का प्रयास किया है.'[७१] हमारी दृष्टि में विद्यावाचस्पति जी जैसे तटस्थ इतिहासकार को आर्यजनों पर 'हाई–लाइट' डालने के लिए. इसलिए विवश होना पड़ा, क्योंकि अन्य इतिहासकार और महत्वपूर्ण पदों पर बैठे हुए व्यक्ति आर्यजनों के स्वर्णिम ऐतिहासिक पृष्ठों को नजर अंदाज और ओझल करने का प्रयत्न कर रहे थे. प्रो. राजेन्द्र जिज्ञासु के अनुसार– 'विद्यावाचस्पति जी इतिहासकार के रूप में बड़े निष्पक्ष थे.. उन्होंने विरोधियों की चर्चा करते समय... पक्षपात से काम नहीं लिया. कहीं–कहीं तो वे प्रशंसा करते हुए आवश्यकता से भी अधिक उदार दिखाई देते हैं'.[७२]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८.६ भाषा-शैली:-

इतिहास लेखन की भाषा शैली के संबंध में विभिन्न मत हैं– कुछ इतिहास लेखकों का मत है कि 'इतिहास एक विज्ञान है, इस कारण उसकी भाषा सर्वथा शुष्क व अभिधा प्रधान होनी चाहिये. ' इसी से यत्किंचित् मिलता–जुलता दूसरा मत यह है कि 'इतिहास लेखन में उसे रोचक बनाने का प्रयत्न करने से इतिहास का मूल्य घट जाता है.' कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि 'इतिहास की वैज्ञानिक छानबीन करने के बाद इतिहास लेखन में सरस साहित्यिक भाषा अपनाने में कोई दोष नहीं है.' विद्यावाचस्पति जी तृतीय मत के अनुसरणकर्ता हैं. वे इतिहास लेखन की प्रक्रिया को दो भागों में विभाजित करते हैं. पहला भाग अन्वेषण अर्थात् इतिहास की विश्वसनीय सामग्री एकत्र करने का काम है, यह भाग विज्ञान की सीमा में आता है. दूसरा भाग लेखन कला का है जो कला की सीमा में आता है. इतिहास लेखक को कला की सहायता उस समय लेनी पड़ती है, जब वह अपने खोज के परिणामों को दूसरे के सामने रखने लगता हे. उस समय वह अन्वेषक या वैज्ञानिक नहीं होता, अपितु कलाकार बन जाता है. उनकी धारणा के अनुसार– 'इतिहास और इतिहास की भाषा को असत्य और अत्युक्ति दोष से सर्वथा शून्य रखते हुए साहित्यिक रूप देना ज्यादा श्रेयस्कर है. '[७३]

सन् १६३२ में जब लेखक की मुगल साम्राज्य विषयक पुस्तक प्रकाशित हुई थी. तब कई आलोचकों ने यह आपत्ति उठाई थी कि पुस्तक की भाषा वैज्ञानिक न होकर साहित्यिक है. उस समय बड़ी विनम्रता के साथ स्पष्टीकरण देते हुए विद्यावाचस्पति ने कहा था. 'मैं जानता हूँ कि मेरी भाषा न तो बहुत साहित्यिक है और न परिष्कृत तथापि मेरा प्रयत्न यही रहा है कि मैं अपने भावों को यथासंभव स्पष्ट और परिष्कृत ढंग से पाठकों के सामने रख सकूँ. यदि इतिहास की घटनाओं के संग्रह और छानबीन में वैज्ञानिक प्रक्रिया से कार्य लिया गया हो तो उसके लेखबद्ध करने के समय साहित्यिक या परिष्कृत भाषा के प्रयोग को गुण ही मानना चाहिये, दोष नहीं.'[७४]

विद्यावाचस्पति जी अपने ऐतिहासिक वाङ्मय में कहीं विदेशी लेखकों से सहमत हैं तो कहीं असहमत, कहीं तीव्र आलोचक हैं. तो कहीं प्रशंसक, कहीं विदेशियों का अन्धानुकरण करने वाले भारतीय इतिहास लेखकों को कोसते हैं, तो कहीं विदेशियों और भारतीय लेखकों–दोनों से ही असहमति व्यक्त करते हुए अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से मध्यमार्ग का अनुसरण करते हैं या एक अभिनव मत प्रस्तुत करते हुए नजर आते हैं. विदेशी पक्षपाती लेखकों की जहाँ उन्होंने तीव्र आलोचना की है, वहाँ निष्पक्ष विदेशी इतिहासवेत्ताओं की भरपेट प्रशंसा भी की है. विद्यावाचस्पति जी के जीवन और साहित्य के इस लचकीलेपन को देखकर श्री विष्णु प्रभाकर ने उन्हें 'समन्वयशील और संतुलित वृत्ति वाला' मानते हुए कहा है. 'कथा साहित्य में यह वृत्ति उतनी प्रभावशालिनी नहीं होती जितनी इतिहास लेखने में', पश्चात् उन्होंने उनकी भाषा शैली का इस प्रकार विवेचन किया है. 'विद्यावाचस्पतिजी की सहज–सरल भाषा, सहज सुगम शैली, स्पष्ट सुलझे हुए विचार सब मिलाकर एक ऐसा चित्र पाठक के मन पर अंकित करते हैं कि वह उसे कभी भूल नहीं पाता और उसका अर्थ समझने के लिए उसे द्राविड प्राणायाम भी नहीं करना पड़ता.'[७५] हमारी दृष्टि से भी विद्यावाचस्पति की ऐतिहासिक वाङ्मय की भाषा सुबोध और सर्वसाधारण के योग्य है, तथा मुहावरों, लोकोक्तियों, यथावश्यक संदर्भों, सूक्ति वाक्यों व सहज अलंकारों से सुसज्जित है.

निबन्धमालाकार विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के अनुसार इतिहास लेखन के अनेक उद्देश्यों में से एक उद्देश्य मनोरंजन भी है. विद्यावाचस्पतिजी भी इतिहास को उपन्यासों से भी अधिक मनोरंजक शैली में लिखने के पक्षपाती रहे हैं. 'शाह आलम की आँखें' कथा में विद्यावाचस्पतिजी में छिपा इतिहासकार जाग उठता है और वकालत करता हुआ उपन्यास के बीच में ही पाठकों से संवाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापित करते हुए कहता है. 'शायद आप पूछ बैठें कि यदि ऐसा ही है तो लोग उपन्यास क्यों पढ़ते हैं?' इतिहास में पाठकों की अरूचि होने का दोष वे इतिहास लेखकों पर डालते हुए इतिहास लेखन के तीन प्रकारों पर प्रकाश डालते हैं– १. इतिहास को तिथियों या घटनाओं का सूची पत्र बना देना. २. इतिहास के बहाने राजनीति के शास्त्रीय रहस्य बखान करने का प्रयास करना और ३. इतिहास को मनोरंजक शैली में लिखना. मनोरंजक शैली में इतिहास लिखने वाले लॉर्ड मैकाले का उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा है. 'लार्ड मैकाले ने इंग्लैण्ड का इतिहास लिखकर कुछ समय के लिए ड्राइंग रूमों से उपन्यास उठा दिये थे, उस इतिहास में लिखी हुई घटनायें उपन्यास से भी अधिक मनोरंजक प्रतीत होती हैं.' अपनी बात समाप्त करते हुए उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'शाह आलम की आँखें' में किंसी ऐतिहासिक ग्रंथ के उपन्यास सदृश प्रतीत होने वाले (७७ पंक्तियों, आठ परिच्छेदों या तीन पन्नों के) प्रदीर्घ घटना चक्र को प्रस्तुत करते हुए कहा है– 'यह इतिहास ग्रंथ का उल्लेख है या उपन्यास का. यह समझना आपके लिए दुष्कर होगा.' घटना चक्र समाप्त होने पर पुनश्च वे कहते हैं, 'पाठक सीधे इतिहास का परिच्छेद यहाँ समाप्त होता है, अब आगे जो कुछ हुआ वह उपन्यास के मुँह से सुनिये'[७६] इस प्रकार अपने ऐतिहासिक उपन्यास में उन्होंने इतिहास को उपन्यासवत् मनोरंजन शैली में लिखने का जोरदार समर्थन किया है. विद्यावाचस्पतिजी ने प्रायः अपने समस्त ऐतिहासिक वाङ्मय में बीस–पच्चीस से भी अधिक बार इतिहास सुनाने के स्थान पर कहानी सुनाने का उल्लेख किया है. इससे यही स्पष्ट होता है कि वे इतिहास को मनोरंज़नात्मक शैली में लिखने के प्रबल पक्षधर थे. उनका यह मत सन् १९१८ में ही बन चुका था. ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास की भूमिका में उन्होंने मनोरंजन के आशय को 'कहानी' में समेटते हुए कहा है– 'जहां इतिहास का आधार सर्वथा सत्य होना चाहिये, वहां उसकी लेख–शैली ऐसी होनी चाहिये कि.. वह कथा बन जाय, कथा तो हो, परन्तु हो सत्य.'

मि. गिब्बन के 'डिक्लाइन ऑफ रोमन एम्पायर' नामक ऐतिहासिक ग्रंथ को, भाषा–शैली, वर्णन के अनूठे ढ़ंग, लालित्य, सौन्दर्य एवं व्यक्ति चित्रण के कारण अंग्रेजी साहित्य में जैसी विलक्षणता प्राप्त हुई है, न्यूनाधिक रूप में वैसी ही विलक्षणता विद्यावाचस्पति जी के 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' ग्रंथ को हासिल हुई है. उनके द्वारा की गई राणा प्रताप और अकबर की तुलना अद्भुत रम्य है. उन्होंने अकबर की तुलना तूफान से और राणा प्रताप की चट्टान से की है. तूफान चंचल और अस्थायी है, परन्तु चट्टान स्थिर और स्थायी.[७७] औरंगजेब और शिवाजी की तुलना करते हुए वे लिखते हैं 'एक ही समय में भारत भूमि ने दो असाधारण पुरुष पैदा किये– एक दिल्ली के राजसी प्रासाद में, दूसरा पूना की झोपड़ी में. एक धन–जन–सुरक्षित साम्राज्य का स्वामी था. दूसरा केवल अपनी तलवार का. दोनों के कारनामों की ऐसी टक्कर हुई कि भारत का नक्शा पलट गया. ..'शिवाजी की धार्मिक दृष्टि उसकी स्वभावसिद्ध उदारता की सहचरी थी, और औरंगजेब की धार्मिक दृष्टि अनुदारता की सखी बनकर धर्मान्धता के रूप में परिणत हो गई थी. इस भेद से दोनों के चरित्र में दिन और रात का भेद हो गया था.'[७८] इसी प्रकार विद्यावाचस्पति जी ने 'शाहजहाँ' (पृ. ८६) जहाँनारा (पृ. ११६) राजा राममोहन राय (२०२) झांसी की रानी लक्ष्मीबाई (२०२) लाला हरदयाल (१३४–१३५) आदि का यथा प्रसंग सुंदर चित्रण किया है. विश्वप्रसिद्ध ताजमहल का अनूठा वर्णन करते हुए वे लिखते हैं– 'ताज' क्या है, यह लिखने का नहीं, देखने का विषय है... ताज संसार का आश्चर्य है, भारत का गहना है, मुगल साम्राज्य की विभूति का नमूना है और शाहजहाँ की विशाल कल्पना का एक टुकड़ा है' (६०–६१).

शैलीकार श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' विद्यावाचस्पति जी की लेखन शैली पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं– 'इन्द्र विद्यावाचस्पति जी की इतिहास लिखने की अपनी ही शैली है... यह शैली इतिहास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रामाणिकता के साथ उसे उपन्यास की रोचकता भी प्रदान करती है और अपने छोटे–छोटे रिमार्को से पाठक को इतिहास समझने की दृष्टि भी देती है.'[७९] उदाहरण के रूप में धर्म और 'विश्वासघात' विषयक दो रिमार्क क्रमशः प्रस्तुत हैं, 'न कोरी तपस्या में धर्म है और न सिर्फ पूजा–पाठ या कुरान बाँचने में. धर्म तो जीवन की पवित्रता में है, और परमात्मा की सच्ची भक्ति में है.' 'विश्वासघात जैसा महापाप किसी अंश में यदि क्षन्तव्य हो सकता है, तो केवल उसी दशा में, यदि उसका परिणाम पराधीनता का नाश और स्वाधीनता की प्राप्ति हो.'[८०] इतिहास और कलात्मक भाषा शैली की अद्‌भुत समन्वय साधना के कारण विद्यावाचस्पति जी के ऐतिहासिक ग्रन्थों की गणना 'इस विषय पर लिखे गये प्रथम श्रेणी के ग्रन्थों में की जाती है.'[८१]

८.७ राजनीतिः स्वरूप विवेचनः-

राष्ट्र की रक्षा और शासन को सदृढ़ करने का उपाय बतलाने वाली नीति राजनीति कहलाती है. इसी नीति से राष्ट्र और उसके प्रशासन का संचालन किया जाता है. विभिन्न गुटों की पारस्पारिक स्वार्थ वाली तथा स्वार्थ पूर्ण नीति को भी राजनीति के नाम से ही संबोधित किया जाता है. वेद, मनुस्मृति (के सप्तम, अष्टम, नवम अध्याय) शुक्रनीति, विदुर नीति, महाभारत (शान्ति पर्व के राजधर्म और आपद्धर्मादि से संबद्ध परिच्छेद) पंचतन्त्र (हितोपदेश) बार्हस्पत्य राजधर्म सूत्र, कौटिल्य अर्थशास्त्र, चाणक्यसूत्र, चाणक्य नीति आदि संस्कृत ग्रंथ राजनीति आदि और तद्‌विषयक शास्त्र से संबंधित ग्रन्थ हैं, प्राच्य आर्ष वाङ्‌मय की परंपरा का अनुसरण करते हुए स्वामी दयानंद ने भी 'सत्यार्थ प्रकाश' में राजनीति को 'राजधर्म' के नाम से संबोधित किया है. महात्मा गांधी भी राजनीति पर धर्म का नियंत्रण और अनुशासन आवश्यक मानते थे. डॉ. भवानी लाल भारतीय के अनुसार 'सिद्धान्ततः धर्म और राजनीति को पृथक् नहीं किया जा सकता.[८२]

८.८ राजनीति विषयक साहित्यः-

विद्यावाचस्पति जी राजनीति विषयक साहित्य राजनीति शास्त्र का गंभीर विश्लेषण करने वाला साहित्य नहीं है. अपितु वह साहित्य उनकी सम–सामायिक राजनीति पर उस–उस समय पर प्रकट की गई वैचारिक प्रतिक्रियाओं का प्रतिबिम्ब है. उनकी राजनीति विषयक साहित्य संपदा निम्न प्रकार है. १– 'राष्ट्रों की उन्नति' (१९१४), २– 'राष्ट्रीयता का मूलमन्त्र' (१९१४), ३– 'जीवन संग्राम' (१९४५), ४– 'स्वतंत्र भारत की रूपरेखा' (१९४७), ५– 'दैनिक वीर अर्जुन में प्रकाशित राजनीति विषयक संपादकीय लेख' (१९४६–१९५९), ६– 'राजधर्म– एक निवेदन' (१९५०), ७– 'स्वराज्य और चरित्र निर्माण' (१९५४), ८– 'यदि आचार्य चाणक्य प्रधान मन्त्री होते' (१९६१).

'राष्ट्रों की उन्नति' व 'राष्ट्रीयता का मूलमन्त्र' (१९१४):- उक्त दोनों पुस्तकें अनुलब्ध एवं दुर्लभ हैं. इन दोनों पुस्तकों के प्रकाशित किये जाने की सूचना 'प्रिंस बिस्मार्क' (१९१४) नामक जीवन चरित्र में 'विषय सूची' से पूर्व 'सद्‌धर्म प्रचारक' पत्र के प्रबन्धकर्ता की ओर से 'ग्रंथकर्ता की अन्य पुस्तकें' शीर्षक से दी गई है. साथ ही कलकत्ते के सुप्रसिद्ध मासिक 'मॉडर्न रिव्यू' की उक्त दोनों पुस्तकों के संबंध में दी गई अग्रिम सम्मति उद्‌धृत की गई है. 'दोनों निबन्धों का विषय प्रतिपादन अत्युत्तम है. निबन्धों के अन्दर आये हुए नए भावों और लेख शैली की सुन्दरता और स्पष्टता के कारण हम इन्हें पढ़ने की पाठकों को सलाह देते हैं'.

'जीवन-संग्राम' (१९४५):- इस अहिंसा–हिंसा का विश्लेषण करने वाली पुस्तक की जन्म कथा को जानने के लिए तत्कालीन पृष्ठभूमि जान लेना जरूरी है. सन् १९४१ में भारतीय राजनीति में हिंसा अहिंसा का वाद–विवाद बहुत तीव्र हुआ था. स्वयं विद्यावाचस्पतिजी भी २५ वर्ष से काँग्रेस के सदस्य होते हुए भी महात्मा गांधीजी द्वारा प्रस्तुत अहिंसा को अधूरा और अव्यवहारिक मानते थे.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अपनी इस दृष्टि को उन्होंने गुप्त नहीं रखा था. इसी मतभेद के कारण उन्होंने सन् १६४१ में काँग्रेस से त्यागपत्र दे दिया था. जब त्यागपत्र की बात गांधीजी के पास पहुँची, तब उन्होंने यह व्यवस्था दी थी कि 'ऐसी दशा में भी उन्हें काँग्रेस का सदस्य रहने दिया जा सकता है' गांधीजी के समूचे व्यक्तित्व को देखते हुए स्वयं विद्यावाचस्पति जी ने कहा है. ''महात्माजी स्वयं विशेष अवस्थाओं में आततायी का हाथ रोकने के लिए बल प्रयोग के विरोधी नहीं थे. एक बार स्वयं महात्मा जी ने गुण्ड़ों से स्त्रियों की सतीत्व रक्षा के प्रश्न पर सम्मति देते हुए लिखा था.'' जिस स्त्री पर इस तरह का हमला हो वह उस समय हिंसा–अहिंसा का विचार न करे...ईश्वर ने उसे नाखून दिये हैं, दांत दिये हैं और ताकत दी है, वह उनका उपयोग करे, और करते–करते मर जाय.' महात्मा जी ने एक बार आश्रम में दुःख से तड़पते हुए बछड़े को भी यातना से बचाने के लिए मार डालने की अनुमति दी थी.[८३] यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि काँग्रेस से त्यागपत्र देने के बाद और तत्पश्चात् महात्मा जी से अभिनव व्यवस्था मिलने पर जब विद्यावाचस्पति जी ने दुबारा काँग्रेस की सदस्यता का फार्म भरा तब उस पर यह अंकित कर दिया था कि 'मैं मानता हूँ कि आत्मरक्षा में बल प्रयोग करना वर्जित नहीं है.' इसके बाद वे पुनश्च काँग्रेस के सदस्य बन गये और उन्हें यह आशंका रही कि कहीं मेरे मन्तव्य के संबंध में भ्रमात्मक विचार न फैल जाय इसी आशंका के निवारण के लिए उन्होंने 'जीवन संग्राम' नामक पुस्तक लिखी थी.[८४]

'स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा' (१६४८):- यह कृति पुस्तक रूप में निकलने से पूर्व लेखमाला के रूप में स्वयं लेखक द्वारा संचालित साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' में क्रमशः प्रकाशित हुई थी. इसका प्रकाशन १६४७ के जुलाई मास में आरंभ हुआ था और देश विभाजन से पूर्व ये पूरे लेख प्रकाशित हो चुके थे. विभाजन होने के कारण देश की परिस्थिति में परिवर्तन आ गया है. तो भी सिद्धान्त रूप में जो भी बात लिखी गई है, उसमें परिवर्तन नहीं हुआ है. पुस्तिका में अनुस्यूत राजनैतिक मन्तव्य लेखक के जीवन भर के अध्ययन, अनुभव और चिंतन के परिणाम हैं.[८५] उनका मुख्य आग्रह था कि 'स्वतंत्र भारत के संविधान रूपी भवन का निर्माण भारतीय संस्कृति के आधार पर होना चाहिये.' पुस्तिका में ग्रंथित विचारों के बारे में उनका आत्मविश्वास है कि 'ये विचार देश के लिए कल्याणकारी हैं. साथ ही उसने यह चेतावनी भी दी है कि 'यदि उन पर ध्यान न दिया गया तो देश के लिए अनिष्ट होने की आशंका है.....जिस विधान में भारतीयता की उपेक्षा करके विदेश से लाये हुए किन्हीं सिद्धांतों का आश्रय लिया जायेगा, वह चिरकाल तक नहीं चल सकेगा और जब तक चलेगा देश में बेचैनी और असन्तोष का राज्य होगा. राष्ट्र की आत्मा अराष्ट्रीय विधान से तब तक लड़ती रहेगी, जब तक उसे भारतीय न बना लेगी.' लेखक ने इस रचना का निर्माण उन दिनों किया था जब भारतीय विधान परिषद् देश के भावी विधान का निर्माण कर रही थी. लेखक के अनुसार 'इस परिषद् में देशभर की योग्यता और विचार शक्ति का निचोड़ विद्यमान था.' उक्त परिषद् का ध्यानाकृष्ट करने के लिये ही यह पुस्तक लिखी गई थी.

भारत के संवैधानिक इतिहास में ६ दिसंबर १६४६ से २६ नवंबर १६४६ तक का समय भारतीय संविधान बनाने का काल था. इस कालवधि में विभिन्न राजनैतिक दल व अन्य संगठन देश के भावी संविधान को अपने–अपने ढंग से प्रभावित करने का प्रयास कर रहे थे. विद्यावाचस्पति जी इस समय आर्यसमाज के अंतर्राष्ट्रीय संगठन–सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान थे. उन्होंने एक समाज–सेवी, पत्रकार और सतर्क राजनीतिज्ञ के नाते तत्कालीन संविधान को इस रचना द्वारा प्रभावित और प्रेरित करने का यथाशक्ति प्रयास किया है. भारत का संविधान बनाने के लिए जो एक सर्वसमावेशक संविधान सभा गठित की गई थी. उसकी कुल संख्या २६८ थी. जिनमें ३२ मुसलमान, ४ सिख और २६२ गैर मुस्लिम थे. ये २६२ गैर मुस्लिम सदस्य प्रायः हिन्दू धर्म के अनुयायी थे. उनमें ४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्यसमाजियों का समावेश था.'[८६] अन्य हिन्दू सदस्यों में स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं से प्रभावित और आर्यसमाज की उपयोगिता को मानने वाले बहुत सदस्य थे. पुनरपि निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि आर्य नेता व पत्रकार विद्यावाचस्पति जी के विचारों ने तत्कालीन संविधान सभा को कितना और किस रूप में प्रभावित किया. इतना ही कहा जा सकता है कि विद्यावाचस्पति जी का 'वीर अर्जुन' राजधानी दिल्ली कप्रमुख पत्र था. जो कि उनके लेखों के कारण विशेष लोकप्रिय था. उन दिनों गंभींरता से संविधान सभा के स्वरूप पर विचार करने वाले व्यक्तियों के मस्तिष्क को विद्यावाचस्पति जी के विचारों ने न्यूनाधिक रूप में निश्चित रूप से आन्दोलित व प्रभावित किया होगा. देश के एक सजग बुद्धिजीवी के नाते अपने भारत हितैषी विचारों को व्यक्त कर उन्होंने एक सच्चे नागरिक और चिंतक के रूप में अपना उत्तरदायित्व पूरा किया.

विद्यावाचस्पति जी संविधान में स्वदेश का नाम केवल भारतवर्ष के रूप में देखना चाहते थे, 'इण्डिया' नाम भी साथ में रख देने से वे बहुत ही असंतुष्ट रहे. वे यह भी चाहते थे कि भारतीय संविधान भारतीय संस्कृति पर आधारित हो पर उनकी यह इच्छा भी पूरी न हो पायी अतः उन्होंने खेद व्यक्त करते हुए कहा कि– 'हमने अंग्रेजों से स्वाधीन होकर भी अपने कानून, विधान, भाषा, रहन–सहन और कारोबार में इंग्लैण्ड की अधीनता मानो स्थिर रूप से स्वीकार कर ली है. कानून के संदर्भ में उन्होंने कहा था कि 'इंग्लैण्ड से ली हुई न्याय प्रणाली से बड़े–बड़े वकीलों और कानूनी नुक्तों के द्वारा अपराधी को न्यायालय से मिलने वाले दण्ड की आशंका बहुत कम हो गई है. फलतः देश में दिन–दहाड़े खुले अपराध करने की प्रवृत्ति हो रही है.'[८७]

'वीर अर्जुन' में प्रकाशित राजनीति विषयक संपादकीय लेख (१९४६-१९५६):- श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने विद्यावाचस्पति जी के उत्कृष्ट लेखों का संग्रह प्रकाशित करने की कामना व्यक्त करते हुए टिप्पणी की थी कि 'अर्जुन' में प्रकाशित उनके महत्वपूर्ण अग्रलेखों का संग्रह हो जाना चाहिये.'[८८] प्रो. विजयेन्द्र स्नातक ने भी स्वीकार किया है कि 'पत्रकारिता के क्षेत्र में आने के बाद विद्यावाचस्पति जी ने राजनीति विषयक सैकड़ों लेख लिखे थे, किन्तु उन लेखों को एकत्र कर संकलित नहीं किया गया. इस कारण उनकी राजनीति विषयक विचारधारा को सही रूप में नहीं देखा जा सका. यदि दैनिक अर्जुन में प्रकाशित उन लेखों को संकलित किया जाता तो तत्कालीन भारत की राजनीतिक तथा विदेशों की राजनीति में होने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता था.[८९] वस्तुतः यह खेद की बात है कि दिल्ली के सक्रिय राजनेता एवं दिल्ली की बंजर भूमि में हिंदी का सर्वप्रथम दैनिक निकालने वाले राजनीतिज्ञ पत्रकार विद्यावाचस्पति जी के संपादकीय लेखों का यथावत् रूप में संकलन नहीं हो सका, फिर भी इस बात का संतोष है कि श्री सत्यकाम विद्यालंकार और अवनीन्द्र विद्यालंकार ने अपनी 'इन्द्र विद्यावाचस्पति' जीवनी में उनके अविकल लेखों का तो नहीं, पर उनके 'वीर अर्जुन' में प्रकाशित महत्वपूर्ण ३५ संपादकीय लेखांशों का संग्रह किया है, जिनसे उनका राजनीति विषयक चिंतन स्पष्ट होता है.

'क्या पाकिस्तान भारत पर आक्रमण कर सकता है?', 'राजदण्ड हाथ में लो', 'दब्बू नीति से काम नहीं चलेगा', 'भारत का इंग्लैण्ड से क्या संबंध हो' इत्यादि विद्यावाचस्पतिजी के संपादकीय लेखों के लेखांश उनकी राजनीतिक सूझ–बूझ व दूरदर्शिता के परिचायक हैं. 'काश्मीर की समस्या', 'विदेशी कूटनीति', 'राजनीति में दण्ड का महत्व' इत्यादि प्रासंगिक विषयों पर उनके द्वारा प्रकट किये गये विचार अतीत की तरह वर्तमान संदर्भ में भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, उनसे पदे–पदे विद्यावाचस्पति जी के कूटनीय व ज्ञान राजनीतिक चिंतन की विशिष्ट झलक प्राप्त होती है. उदाहरण के रूप में उनके राजनीतिक चिंतन के एक–दो बिंदु प्रस्तुत हैं.–

"इंग्लैण्ड भौगोलिक दृष्टि से तो भारत से अपनी बोरिया–बिसतर बाँधकर उठा ले गया है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized By Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु लक्षणों से प्रतीत होता है कि उसकी अन्तरात्मा अभी बहुत समय तक भारत के अन्तरिक्ष पर मंडराती रहेगी, इधर अमेरिका भी दूसरे विश्वव्यापी युद्ध के पश्चात् शतरंज के खेल में पूरी तरह शामिल हो गया हे, उसे भी एशिया प्रदेश में चलने के लिए कोई न कोई मोहरा चाहिये. लक्षणों से प्रतीत होता है कि भारतीय संघ अभी किसी अन्य देश का मोहरा बनने को तैयार नहीं है. ऐसी दशा में यूरोप के पश्चिमीय संघ की दया–दृष्टि पाकिस्तान पर पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं. लक्षणों से प्रतीत होता है कि पाकिस्तान उन देशों का मोहरा बनने को तैयार है''.... ''काश्मीर पर पाकिस्तानी सेनाओं का आक्रमण भारत पर पाकिस्तानी सेना के आक्रमण की भूमिका है. वे लोग काश्मीर को टटोलकर देखना चाहते हैं कि भारत सरकार में कितनी जान है.' (वीर अर्जुन: २६ अक्टूबर १९४७)

'राजधर्म-एक निवेदन' (१९५०):- इस पुस्तक का विस्तृत नाम है 'महर्षि दयानन्द प्रणीत राजधर्म.' पुस्तक की जन्मकथा बतलाते हुए पुस्तक के संपादक पं. लक्ष्मीदत्त दीक्षित (स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती) ने लिखा है, 'सन् १९५० में डॉ. राजेन्द्रप्रसाद भारत के राष्ट्रपति निर्वाचित हुये. २६ जनवरी को उनका स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति का स्वतंत्र भारत की राजधानी में जुलूस निकलना था. १५ जनवरी को सार्वजनिक सभा में निश्चय हुआ कि सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास के आधार पर वैदिक राजनीति का एक ग्रन्थ हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में तैयार किया जाय और जिस समय राष्ट्रपति का जुलूस चांदनी चौक में से गुजरे तब आर्यसमाज दीवानहॉल के निकटस्थ मोती सिनेमा के पास सार्वजनिक सभा के प्रधान पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति वह पुस्तक राष्ट्रपति को भेंट करें. तदनन्तर इसकी एक–एक प्रति लोकसभा तथा राज्यसभा के सदस्यों को भेंट की जाय. अन्तरंग सभा की स्वीकृति लेकर पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति ने यह कार्य मुझे सौंप दिया....मैंने केवल ६ नि के भीतर सब काम पूरा करके २४ जनवरी को दोनों भाषाओं में पुस्तक की एक–एक प्रति पं. इन्द्र जी के हाथों में थमा दी.'[६०]

उक्त पुस्तक प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी को आर्य जगत् की ओर से तत्कालीन सार्वदेशिक सभा के प्रधान विद्यावाचस्पति जी ने समर्पित की है. स्वामी विद्यानन्दजी के अनुसार 'यह पुस्तक राष्ट्रपति जी को निश्चित रूप से भेंट तो की गई, पर निश्चयानुसार २६ जनवरी के जुलूस के अवसर पर भेंट न की जा सकी.[६१] इस पुस्तक के चार पृष्ठीय प्रारंभिक निवेदन में विद्यावाचस्पति जी ने प्रतिपादित किया है ''महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में केवल राजनीति के मौलिक सिद्धांतों की व्याख्या करके ही संतोष नहीं किया. भारत के प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने व्यावहारिक राजनीति का भी विस्तार से प्रतिपादन किया है. वह प्रतिपादन इतना व्यापक और उपयोगी है कि प्रत्येक शासक को उसका अध्ययन करना चाहिये और आवश्यकतानुसार उससे लाभ उठाना चाहिये. महर्षि दयानंद अंग्रेजी नहीं जानते थे, जो कुछ कहा या लिखा वह उनकी अन्तर्दृष्टि का परिणाम था, और यह बात असंदिग्ध है कि अन्तर्दृष्टि से उद्भूत विचार मनुष्य के सबसे उत्तम मार्गदर्शक होते हैं.''

'स्वराज और चरित्र निर्माण' (१९५४):- इस पुस्तिका का उद्देश्य बतलाते हुए, 'निवेदन में विद्यावाचस्पति जी ने स्पष्ट किया है– 'स्वतंत्र राष्ट्र की रक्षा के लिए चरित्र निर्माण से बढ़कर आवश्यक कोई कार्य नहीं है. यह विचारकर मैंने इस विषय पर कुछ लेख लिखे थे. वह लेख दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' तथा सहारनपुर के 'ज्ञानोदय' में समय–समय पर प्रकाशित हुए. अपने विचार को देश के नेताओं तथा जनता के सम्मुख व्यापक रूप से रखने के लिए मैंने उन्हें पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कर दिया है.' पुस्तक में प्रसंगवशात् विद्यावाचस्पति जी ने 'समाचार पत्रों का दायित्व' 'सिनेमा का प्रभाव', 'रेडियों कार्यक्रम' आदि पर भी अपने महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये है.

'यदि आचार्य चाणक्य प्रधानमंत्री होते' (१९६१):- यह विद्यावाचस्पति जी द्वारा लिखित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके 'जीवन का अन्तिम लेख है.' जो उनके देहान्त से ६ दिन पूर्व 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में १४ अगस्त १६६० को प्रकाशित हुआ था. इस रचना को एक दस पृष्ठीय पुस्तिका का रूप देते हुए 'आर्य केन्द्रीय सभा–दिल्ली' के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले ने अपने प्रकाशकीय निवेदन में कहा था 'इस लेख में भारतीय आत्मा का साक्षात् दर्शन और राष्ट्र का कल्याण निहित है. स्वर्गीय आत्मा को इस महान् पथ–प्रदर्शन के लिए आदरांजलि प्रस्तुत करता हुआ चाहता हूँ कि इस ट्रेक्ट का करोड़ों की संख्या में प्रचार हो, जिससे भारत के कोटि–कोटि नर–नारी अपने राष्ट्र को ठीक दशा में ले जा सकें. इसे उन्होंने 'गंभीर चिन्तन और मनन पूर्वक लिखा एक महत्वपूर्ण लेख' माना है.

प्रस्तुत पुस्तिका में विद्यावाचस्पति जी नेआर्य चाणक्य के तपस्वी, तेजस्वी व आदर्श व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए उनके द्वारा लिखित 'चाणक्य सूत्र' के माध्यम से शासन से संबंद्ध तथा राष्ट्रहित की दृष्टि से अपेक्षित मन्त्रियों के अत्यावश्यक गुण, विदेश नीति, गृहनीति, दण्डनीति आदि पर गहन मार्मिक विचार अभिव्यक्त किये हैं. लेख के अन्त में राष्ट्र के कर्णधारों से अपील करते हुए उन्होंने टिप्पणी की है– ''यदि भारत के वर्तमान भाग्यविधाता चाणक्य के सूत्रों का और अर्थशास्त्र का ध्यान से अनुशीलन करें तो अवस्थाओं में भारी भेद होते हुए भी आज के शासन को चलाने के लिए बहुत उत्तम निर्देश प्राप्त कर सकते हैं. प्रजातन्त्र के नवीन सिद्धांतों के अपनाने के साथ–साथ यदि हम भारत की प्राचीन शासन प्रणाली की सादगी तथा पेचीदगियों से रहित कार्यक्षमता को अपनाने का यत्न करें, और शासनकर्ता जनता के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध रखने की प्रवृत्ति को बढ़ा सकें तो हमारे स्वराज्य को सुराज्य बनने में बहुत सहायता मिलेगी''.

विद्यावाचस्पति जी ने संक्षेप में चाणक्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कहा है– 'चाणक्य की यही महिमा थी कि वह सेनानी थे, विद्वान भी थे और शासक भी थे. वह सब प्रवृत्तियों की सीमा को जानते थे. उनमें आदर्श और व्यावहारिकता का समन्वय था.' वर्तमान संदर्भ में भी वे चाणक्य जैसे दूरदर्शी, कठोर राजनीतिज्ञ की आवश्यकता महसूस करते हुए प्रतिपादित करते हैं– 'आज शासन को चाणक्याचार्य की आवश्यकता है. सन्तों की नहीं. सन्त यदि जनता के आचरण संबंधी स्तर को ऊँचा करने में लगे रहें तो बड़ी कृपा होगी.' इसी समय वे आर्य–चाणक्य के पथानुगामी सरदार पटेल का स्मरण करते हुए स्वीकार करते हैं– 'सादगी और समन्वय बुद्धि में यदि किसी वर्तमान काल के नीतिज्ञ को आचार्य के मार्ग का राही माना जा सकता था तो वह सरदार वल्लभभाई पटेल थे'.

लेखक ने यदि आज आर्य चाणक्य जीवित होते तो कैसे रहते? किन उपायों से देश की प्रजा को सुखी बनाते? और किस प्रकार आक्रान्ताओं को परास्त करते? इन सबका एक मधुर मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है जो काल्पनिक होते हुए भी देश के उज्ज्वल भविष्य की दृष्टि से अनुसरणीय है. सबसे पहले वे उनके निवास स्थान की कल्पना करते हुए कहते हैं–

'यदि आज आचार्य चाणक्य प्रधानमन्त्री होते तो वे संभवतः (पहले की तरह) फूस की कुटिया में तो न रह सकते थे क्योंकि नई दिल्ली की गन्दी बस्तियों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं छप्पर बनाने की आज्ञा शायद ही मिले, परन्तु यह हो सकता है कि ऐसे छोटे से मकान में रहते, जैसे मकान में महात्मा गांधी रहा करते थे. निश्चय ही वह कोई ऐसा महल या शानदार भवन होता जिसकी रक्षा के लिए हजारों की राशि व्यय करनी पड़ती.'

आचार्य चाणक्य के निवास स्थान पर प्रकाश डालने के बाद वे उनका जीवन किस प्रकार की सादगी से परिपूर्ण होता इसका विवेचन करते हुए कहते हैं 'वे स्वयं अत्यंत सादा जीवन व्यतीत करके, अन्य केन्द्रीय और प्रादेशिक मन्त्रियों को भी सादा जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उससे दो लाभ होते. एक तो अधिकारियों तथा सामान्य प्रजा के मध्य जो गहरी खाई बनती जा रही है, वह न बनती और राष्ट्र के कोष पर इतना भारी बोझ भी न पड़ता...आचार्य चाणक्य का निजी व्यय ५०० रुपये मासिक से शायद कुछ कम ही होता.'

काल्पनिक मनोराज्य में वर्तमान प्रधानमंत्री चाणक्य के रहन–सहन का चित्रण करने के बाद वे उनकी मन्त्रिमण्डल की चयन पद्धति पर मीमांसा करते हुए कहते हैं– 'वे केवल उन्हीं मन्त्रियों को नियुक्त करते जो जिस विषय के मन्त्री बन रहे हैं, उसके विशेषज्ञ हों, और लोभ से ऊँचे उठे हुए हों. उनकी महत्वाकांक्षा यह होती कि वह विशुद्ध जीवन व्यतीत करते हुए जब कार्य से अलग हों, तो उनके बैंक में या जमीन में, या कारखानों में बहुत सा धन हो या नहीं, प्रजा के हृदय में उनके प्रति कृतज्ञता का भाव अवश्य हो.'

पड़ौसी देशों के प्रति वर्तमान चाणक्य की सतर्कता का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं– 'यदि आचार्य चाणक्य पर भारत के शासन का भार होता तो वह चीन, पाकिस्तान और बर्मा तीनों की सीमा प्रान्तों पर सुरक्षा का समान रूप से प्रबन्ध करते, यह समझकर कि सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्र में चीन भारत का इतना ऋणी है कि वह कृतज्ञतावश सदा भारत का मित्र बना रहेगा, ऐसी निराधार कल्पना आचार्य के दिमाग में नहीं आ सकती थी'.[६२]

अन्त में लेखक ने वर्तमान चाणक्य की न्यायालयों की दशा व न्याय प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए कहा है– 'निश्चय है कि वे न्यायालयों की दशा ऐसी निर्बल और ढीली न रहने देते. ...चाणक्याचार्य के शासन में ऐसी पेचीदा, महंगी न्याय प्रणाली न रहती. उसमें खूनी और लुटेरे निर्दयतापूर्वक न विचरते और शान्तिप्रिय भले नागरिकों को दुबकने की जरूरत न पड़ती'.

विद्यावाचस्पति जी के इस लेख में कुछ राजनीति से परिपूर्ण सूक्तियाँ भी विद्यमान हैं. जैसे– १– 'किसी देश के शासक को यह न समझना चाहिये कि अमुक पड़ोसी से हमारा कभी झगड़ा नहीं हुआ, इस कारण आगे भी कभी न होगा'.[६३] २– 'केवल शांति की रट लगाने से या शांति की सन्धि करने से भी स्थिर शांति नहीं रह सकती. शांति संभव है, शक्तिशाली बनने से. देश को तपा हुआ लोहे का गोला बनना चाहिये ताकि अन्य तपे हुए गोले उससे संहित हो सकें.[६४] ३– 'मित्रता किसी अतिप्रबल शत्रु के कारण उत्पन्न होती है और भय के जाते ही काफूर हो जाती है.'[६५]

इस प्रकार विद्यावाचस्पति जी के इस राजनीति विषयक साहित्य व चिंतन से स्पष्ट है कि वे केवल साहित्यिक, पत्रकार ही नहीं, अपितु उच्चकोटि के राजनीतिशास्त्रवेत्ता व राजनीतिज्ञ भी थे. उनके राजनीति विषयक साहित्य में प्राच्य ऐतिहासिक घटनाओं के विश्लेषण के साथ राष्ट्र नायकों को समय–समय पर विनम्रतापूर्वक यथोचित चेतावनी भी दी गई है. वे स्वाधीनता सेनानी, दिल्ली प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के प्रधान व राज्यसभा सदस्य होने के कारण इनमें से अनेक राष्ट्रीय नेताओं के सहचर–सखा भी रह चुके थे. पर जब–जब राष्ट्रहित का सवाल आया तो उन्होंने 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे' की नीति अपनाते हुए खरी–खरी सुनाने में कोई कसर न रखी. उनके राजनीतिक लेखों में पदे–पदे पं. नेहरू व महात्मा गांधीजी आदि राष्ट्रीय नेताओं के विषय में तीव्र और मार्मिक आलोचना के दर्शन होते हैं. उन्होंने जिस 'सूझ–बूझ के साथ अपने लेखों द्वारा राजनीतिक भविष्यवाणियाँ व्यक्त की थीं, वे भी सच निकली हैं. अतः निस्संदेह हम उन्हें राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रीयता का प्रखर वैतालिक कह सकते हैं. 'वे आर्यसमाज के उस वर्ग का नेतृत्व करते थे जो यह मानता था कि आर्यसमाज को संस्था के रूप में सक्रिय राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिये.'[६६] संभवतः काँग्रेस से जुड़े होने के कारण भी उनका यह दृष्टिकोण परिपक्व हुआ होगा.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. अतीत से वर्तमान–१८६
२. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय–भूमिका–क
३. भरतखण्ड पर्व (हिन्दुस्थानचा संक्षिप्त इतिहास)–६
४. हिन्दी विश्वकोश–खंड–१–४७६
५. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण–१६७
६. प्रिसं बिसमार्क–२
७. भारतीय साहित्य कोश–१०७३–७४
८. आर्यसमाज का इतिहास भाग–५–६०७–८
९. हिन्दी गद्य साहित्य–१४२
१०. इन्द्र विद्यावाचस्पति–७६, ८२
११. आर्यसमाज का इतिहास–भाग–५–५६८
१२. तत्रैव–४०६
१३. हिन्दी गद्य साहित्य–१४२
१४. पुणे में स्वामी दयानंद के आगमन से लगभग ११ वर्ष पूर्व २३ मार्च, १८६४ से 'मुंबई–पुणे–मुंबई' रेलगाड़ी शुरु हुई थी.
१५. सत्यार्थप्रकाश–११२
१६. पत्रकारिता के अनुभव–३३
१७. तत्रैव–७८
१८. रघुवंशः अनु. इंद्र विद्यावाचस्पति भूमिका–६
१९. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय–२०
२०. आर्यसमाज का इतिहास–भाग–५–५६७
२१. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय–१६८
२२. तत्रैव–१५७
२३. केळकरः लेख – 'न.चि. केळकर आणि इतिहास लेखन–१५०
२४. पुरातत्व निबन्धावली–१
२५. कालिदास के पक्षी–ख
२६. गुरुकुल कांगड़ी के ६० वर्ष–१०
२७. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय–३२३
२८. तत्रैव–१०६–११०
२९. तत्रैव–१६३
३०. तत्रैव–भूमिका–ङ
३१. पत्रकारिता के अनुभव–७६–८०
३२. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण–२६१
३३. तत्रैव–२६४
३४. तत्रैव–३०३
३५. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय–२८६
३६. तत्रैव–६२
३७. आर्यसमाज का इतिहासः प्रथम भाग भागः संपादकीय वक्तव्य–घ
३८. सम्मेलन पत्रिकाः चैत्र ज्येष्ठ १८८३ शक–१४४
३९. मैं इनका ऋणी हूँ–४८
४०. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण–३२३
४१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान : २६ फरवरी १९६१ः लेख–शील और प्रज्ञा के धनी इन्द्रजी–१०
४२. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय–१०
४३. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण–५२
४४. तत्रैव–३०
४५. हिन्दी गद्य साहित्य–१४२
४६. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण–८६
४७. तत्रैव–२८१–८३
४८. इन्द्र विद्यावाचस्पति–८२
४९. हिन्दी साहित्य कोश, भाग–२–३६
५०. गुरुकुल के स्नातक–संपादक हरिदत्त, रामेश वेदी, शंकर देव–२
५१. इन्द्र विद्यावाचस्पति–८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५२. तत्रैव–२७
५३. वानप्रस्थाश्रमः आनंद कुटीरः ज्वालापुर में शोधकर्ता को दिये गये साक्षातकार के आधार पर
५४. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २६ फरवरी १९६१'लेख–दो–पीढ़ी की निकटता–१४
५५. तत्रैव–लेख–इन्द्रजी और गुरुकुल–११
५६. आर्य सन्देशः २३ दिसंबर १९६०. लेख–मेरे पूज्य पिताजी–६४
५७. इन्द्र विद्यावाचस्पति–२६
५८. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २६ फरवरी १९६१–१०
५९. मुंबई में शोधकर्ता को दिये गये साक्षात्कार के आधार पर : दि. २६/१/१९६४
६०. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण–भाग चौथा–१५०
६१. आर्य सन्देशः २३ दिसंबर १९६०–६१
६२. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारणः द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना –५
६३. आर्यसमाज का इतिहास–द्वितीय भाग–३५४
६४. मेरे पिता–२९५
६५. इन्द्र विद्यावाचस्पति–१०८
६६. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहासः प्रकाशकीयः मार्तण्ड उपाध्याय–३
६७. तत्रैव–३८४
६८. राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहासः भूमिका–१
६९. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास–३८८
७०. तत्रैव–२०५
७१. प्रह्लादः अप्रैल १९६०: लेख– पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति की इतिहास चेतना – ८१
७२. आर्य सन्देशः २३ दिसंबर १९६०–लेख–शब्दचयन के धनी पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति–२५
७३. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय–भूमिका–ग
७४. तत्रैव–भूमिका–घ
७५. साप्ताहिक हिंदुस्तान : २८ अगस्त १९६६–२३
७६. शाह आलम की आँखें–१२९–१३२
७७. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण–३६
७८. तत्रैव–३२७–२८
७९. नया जीवन (मेरे पिताः पुस्तक सूची–पृ–२)–सहारनपुर
८०. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण–२३३, १७०
८१. हिन्दी साहित्य कोशः भाग–२ संपा. धीरेन्द्र वर्मा–३६
८२. आर्य समाज का इतिहास : भाग–५–४०६
८३. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास–३४७
८४. वीर अर्जुन ३० दिसंबर १९४६–तलवार का जवाब तलवार से दिया जायेगा–संपादकीय
८५. स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा : प्रारंभिक वक्तव्य–२
८६. आर्य समाज का इतिहास–भाग–६–१३०
८७. यदि आचार्य चाणक्य प्रधानमन्त्री होते–८–६
८८. नवनीतः हिन्दी डाइजेस्टः मई १९६७–६६
८९. इन्द्र विद्यावाचस्पतिः विजयेन्द्र स्नातक–६६
९०. खट्टी–मीठी यादें–७३–७४
९१. २४/१/१९६४ को मुंबई में शोधकर्ता द्वारा की गई ध्वन्यंकित वार्ता के आधार पर
९२. यदि आचार्य चाणक्य प्रधानमंत्री होते–६
९३. तत्रैव–६
९४. तत्रैव–७
९५. तत्रैव–७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६६. आर्य समाज का इतिहास भाग–६–१२८/ 'आर्य सन्देश'–२३ दिसंबर १९६०–१६/ 'आर्य समाज व राजनीति का इतरेतराश्रय संबंध स्पष्ट करते हुए सन् १९०५ के लगभग महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानंद) ने कहा था, 'आर्य समाज का राजनीति से वह संबंध है जो एक संन्यासी का संसार से होता है. संन्यासी सत्य कहने से नहीं घबराता, निर्भय होकर कहता है, परन्तु उसमें लिप्त नहीं रहता.' (आर्य समाज बच्छोवाली–लाहौर के उत्सव में दिये गए भाषण का एक अंश)– आर्यसमाज का इतिहासः द्वितीय भाग–३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६

भारतीय संस्कृति के व्याख्याकार : साहित्यवाचस्पति पं. इन्द्र

६.१ भारतीय संस्कृति का स्वरूपः-

'भारतीय संस्कृति की परिभाषा देना अथवा थोड़े शब्दों में उसका वर्णन कर देना नितान्त कठिन है. कारण यह है कि भारत के लम्बे इतिहास में उसकी संस्कृति पर अनेक प्रभाव पड़ते रहें हैं, जिसके फलस्वरूप उसका रूप न्यूनाधिक परिवर्तित होता रहा है.'[१] यह कथन है काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारतीय दर्शन विभाग के अध्यक्ष डॉ. देवराज का. श्रीमती महादेवी वर्मा[२] व श्री विद्यावाचस्पति[३] जी ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं. अब हम यहाँ भारतीय संस्कृति पर विचार करने से पूर्व 'संस्कृति' के स्वरूप पर पहले विचार करेंगे.

'संस्कृति' शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से बना है, जिसका मूल अर्थ है – परिष्कृत करना. 'संस्कृति' उन गुणों का समुच्चय कहलाती है, जो व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं समृद्ध करते हैं. विभिन्न तत्वज्ञान आदि में होने वाले चिन्तन, साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं, परहित साधन आदि नैतिक आदर्शो तथा व्यापारों को संस्कृति के नाम से संबोधित किया जाता है. संस्कृति का उद्देश्य इन्सान को 'मनुर्भव' की सीख देना है. अतः संस्कृति विषयक अधिकांश परिभाषाओं में 'मानव' को ही केन्द्र बिन्दु में रखा गया है –

डॉ. मंगलदेव शास्त्री के अनुसार – 'मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले आदर्शो की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिये.[४] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी के शब्दों में 'जो चीज मनुष्यता का उद्घाटन करती है उसी को हम संस्कृति कहते हैं.'[५] श्री सुमित्रानन्दन पंत की धारणा है कि – 'अपने हृदय की शिराओं में बहनेवाला मनुष्यत्व का रुधिर संस्कृति है.'[६] संस्कृति के परिचायक चिह्नों की ओर संकेत करते हुए महादेवी वर्मा ने कहा है – 'किसी मनुष्य के साहित्य, कला, दर्शन आदि का संचित ज्ञान और भाव का ऐश्वर्य ही उसकी संस्कृति का परिचायक नहीं, उस समूह के प्रत्येक व्यक्ति का साधारण शिष्टाचार भी उसका परिचय देने में समर्थ है.'[७] व्यक्ति किस प्रकार समूह के शिष्टाचार व संस्कृति का प्रतीक बन जाता है. इसकी पुष्टि के लिए उदाहरण के रूप में विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित संस्मरण 'मिस्टर आसिफ अली' का अंश प्रस्तुत है –'वे लोग दो पीढ़ी पहले नगीने से आकर दिल्ली में बसे. इस प्रकार उनमें मानों उत्तरप्रदेश की संस्कृति पर दिल्ली के तमद्दुन की कलम लगी हुई थी. शिष्टाचार और नफासत में मि. आसिफ अली को परास्त करना कठिन था. उनकी प्रवृत्तियां कला प्रधान थीं... उनमें दिल्ली की पुरानी संस्कृति और बिल्कुल नई संस्कृति का ऐसा सुन्दर मेल था कि यदि हम उन्हें दिल्ली के व्यतीतकाल को वर्तमान से जोड़नेवाली सुनहली शृंखला कहें, तो अनुचित न होगा. उनके लिए गालिब और तुलसी में कोई भेद न था. समय आने पर वह गालिब और तुलसी दोनों के उद्धरण दे देते थे.'[८] इसी प्रकार 'परिमार्जित शिष्टाचार को संस्कृति का आवश्यक अंग' मानते हुए विद्यावाचस्पति जी ने कहा है– 'जिन व्यक्तियों में शिष्टाचार के संस्कार इतने गहरे हैं कि अधिकार की कुरसी उन्हें धो नहीं सकी, उनका स्वागत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नम्रता और शिष्टाचार से पूर्ण होता है'. विद्यावाचस्पति जी की दृष्टि में ऐसे दो महत्वपूर्ण व्यक्ति थे राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा मौलाना अबुल कलाम आजाद. जब व्यक्ति राष्ट्रपति से मिलने जाते थे, और जब वे विशेष कार्य में व्यस्त न होते थे, तब वे खड़े होकर हाथ जोड़कर नमस्ते करते हुए दिखलायी देते थे. यह नम्रता उनके स्वभाव का अंग थी, जिसे राष्ट्र का सबसे ऊँचा पद भी नहीं मिटा सका था.[९] इसी तरह मौलाना आजाद भी मिलने आ रहे परिचित व्यक्ति से 'आइये... साहब! बहुत दिनों में आये'. यह कहकर हाथ बढ़ा थे और बड़े स्नेह से हाथ मिलाकर पास की कुरसी पर बिठा लेते थे...विदा देते हुए भी शिष्टाचार पूर्वक हाथ मिलाना नहीं भूलते थे'... वे देशवासियों के लिए और विदेशियों के लिए भी खरी देशभक्ति और दृढ़ हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रतीक थे.[१०] विद्यावाचस्पति जी के अनुसार 'किसी देश की आध्यात्मिक सामाजिक और मानसिक विभूतियों या प्रवृत्तियों का नाम संस्कृति है.'[११] संक्षेप में 'सस्कृति' वह मूल्य है जो मानव को उत्तरोत्तर उत्कर्ष के पथ की ओर उन्मुख और अग्रसर करें.

संस्कृति और सभ्यता:- सामान्य रूप से व्यावहारिक भाषा में संस्कृति और सभ्यता का प्रयोग साथ–साथ होता है. अतः प्रायः ये दोनों शब्द एक–दूसरे के सहचर प्रवासी–से प्रतीत होते हैं. इसलिए सहजरूपेण प्रश्न उठता है कि इन शब्दों का क्या अर्थ है और इनमें परस्पर एक–दूसरे से कितना अन्तर है? इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए श्री देवराज ने कहा है– 'संस्कृति का अर्थ चिन्तन तथा कलात्मक सर्जन की उन क्रियाओं से है, जो मानव के व्यक्तित्व और जीवन के लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए भी उसे समृद्ध बनाती है, जबकि इसके विपरीत सभ्यता से तात्पर्य उन आविष्कारों, उत्पादन के साधनों एवं सामाजिक–राजनीतिक संस्थाओं से समझना चाहिये, जनके द्वारा मनुष्य की जीवन यात्रा का सरल एवं स्वतंत्र मार्ग प्रशस्त होता है.'[१२] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार– 'संस्कृत आन्तरिक वृत्ति है और सभ्यता बाह्य... सभ्यता शब्द का आजकल जो हमने अर्थ लिया है, वह यह है कि सभ्यता उन सामाजिक चीजों, विषयों, कायदे–कानूनों और रूढ़ियों का नाम है, जो हमारी बाह्य सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये और संस्कृति मनुष्य के चित्त के संस्कार का परिणाम है. यदि हमारा चित्त सांस्कृतिक है तो वह एक ऐसा समाज हो सकता है जो आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक सुरक्षा की दृष्टि से बहुत अच्छा सुसंगठित व सभ्य हो.'[१३] विद्यावाचस्पति जी ने भारतीय संस्कृति व सभ्यता के प्राचीन स्वरूप और उसके परिवर्तित रूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है, 'प्राचीन साहित्य में संस्कृति (कल्चर) के लिए 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया जाता था, और जिसे वर्तमान भाषा में सभ्यता (सिविलाइजेशन) कहा जाता है उसका अन्तर्भाव 'अर्थ' शब्द में था. पर समय के साथ इन दोनों शब्दों का अर्थ संकुचित हो गया. धर्म केवल विश्वास और कर्म का पर्यायवाची रह गया और अर्थ का दायरा धन–संपत्ति तक सीमित हो गया.'[१४] इस प्रकार विद्वानों के संस्कृति–सभ्यता विषयक विश्लेषण से स्पष्ट है कि संस्कृति सूक्ष्म है और सभ्यता स्थूल. संस्कृति आन्तरिक है तो सभ्यता बाह्य. संस्कृति अर्न्तमुखी है तो सभ्यता बहिर्मुखी.

भारतीय संस्कृति:- 'मैं जब भारतीय विशेषण जोड़कर संस्कृति शब्द का प्रयोग करता हूं तो मैं भारतवर्ष द्वारा अधिगत और साक्षात्कृत अविरोध धर्म की ही बात करता हूँ... मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने के लिए इस देश के लोगों ने जो कुछ प्रयत्न किये हैं, वे जितने अंशों में संसार के अन्य मनुष्यों के प्रयत्नों के अविरोधी हैं, उतने अंश में वह भारतीय संस्कृति के अंश है.'[१५] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा अभिव्यक्त इस मत से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति विभिन्न धर्मो में विरोध की नीति अपनाने वाली संस्कृति नहीं, अपितु समन्वय की नीति अपनाने वाली संस्कृति है और वह मानव मात्र के लिए जो सर्वोत्तम तत्व हैं या हो सकते हैं, उनकी भी संरक्षिका है. भारतीय संस्कृति एक ऐसी संस्कृति है जो अपना 'सर्वोत्तम तत्व' देती भी है और भूगोलस्थ अन्य देश विशेष की सर्वोत्तम संस्कृति का तत्व ग्रहण भी करती है. श्रीमती महादेवी वर्मा का भारतीय संस्कृति विषयक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निम्नांकित मन्तव्य उस संस्कृति के स्वरूप को और अधिक उजागर करता है. वे कहती हैं–

'भारतीय संस्कृति निश्चित पथ से कांट–छांटकर निकाली हुई नहर नहीं, वह तो अनेक स्रोतों को साथ ले अपनातट बनाती और पथ निश्चित करती हुई बहने वाली स्रोतस्विनी है. उसे अंधकार भरे गर्तो में उतरना पड़ा है, ढ़ालों पर बिछलना पड़ा है. पर्वत जैसी बाधाओं की परिक्रमा कर मार्ग बनाना पड़ा है. पर लम्बे क्रम में उसने अपनी समन्वयात्मक शक्ति के कारण अपनी मूलधारा नहीं सूखने दी. उसका पथ विषम और टेढ़ा–मेढ़ा रहा है, परन्तु हमारे अनदेखा कर देने से वह अंविच्छिन्न प्रवाह खण्ड़–खण्ड़ में नहीं बंट जाता.'[१६] उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि भारतीय संस्कृति किसी संप्रदाय विशेष की संस्कृति नहीं, अपितु वह विभिन्न संप्रदायों के उदात्त तत्वों की मिली–जुली गंगा–जमुनी संस्कृति है. संभव है किसी आर्य को यह महसूस हो कि वैदिक संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है, किसी हिन्दू को यह महसूस हो कि पौराणिक संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है; तथा किसी बौद्ध को यह प्रतीत हो कि बौद्ध संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है, पर स्थिति ऐसी नहीं है. वह एकांगी संस्कृति नहीं, अनेक संस्कृतियों की उस पर छाप है. विद्यावाचस्पति जी इस तथ्य से सुपरिचित थे अतः उन्होंने स्वयं वैदिक संस्कृति के अनुगामी होने के बावजूद भी भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप पूरी तटस्थता के साथ अंकित है वह निष्पक्ष व यथार्थ है. वे भारतीय संस्कृति का चित्र स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– 'समय के स्वाभाविक प्रभाव, बौद्ध–जैन–धर्मो के प्रभाव और विदेश से आने वाली यवन–शक आदि जातियों के प्रभाव संक्षेप में समय के अतिरिक्त स्वदेशी व विदेशी धर्मो के प्रभाव –आर्य संस्कृति पर पड़ने से उसका जो परिवर्तित रूप हुआ, उसका नाम भारतीय–संस्कृति है'.[१७] इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस संस्कृति को हम भारतीय संस्कृति के नाम से संबोधित करते है। वह अपने वर्तमान रूप में विभिन्न मिली–जुली संस्कृतियों का समन्वित रूप है. यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिये कि – भारतीय संस्कृत केवल भारत की ही हितकारणी संस्कृति नहीं है, व्यापक अर्थ में वंह एशियाई संस्कृति की भी पर्यावाची है. महीयसी महादेवी वर्मा ने तो पूर्ण स्पष्टता के साथ कहा– 'भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियां उसका दाय भाग नहीं. वे मानव जाति का भी उत्तराधिकार हैं'

६.२ भारतीय संस्कृति की विशेषताः-

भारतीय संस्कृति का प्रवाह नामक ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में विद्यावाचस्पति जी ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनका अध्ययन करने के बाद संस्कृति की जो पांच विशेषतायें उभरकर आती हैं, वे इस प्रकार हैं– १– प्राचीनता, २– उदारता, ३– लचकीलापन, ४– ग्रहणशीलता और ५– आध्यात्मिकता.

प्राचीनताः पूर्व और पश्चिम के विद्वान इस तथ्य पर एक मत हैं कि संसार की सबसे प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद है. भारतीय संस्कृति की प्राचीनता पर ही गर्व करते हुए महाकवि इकबाल ने यह तराना गाया था "यूनानों मिस्रों रोमां सब मिट गये जहाँ से/ कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।/... सदियों रहा है दुश्मन दौरे ज़माँ हमारा."

इस प्राचीन भारतीय संस्कृति का अन्य संस्कृतियों की तुलना में अक्षुण्ण बने रहने का जो रहस्य रहा है उस पर प्रकाश डालना ग्रंथ लेखक का प्रमुख प्रयोजन रहा है.[१८] भारत के देवी–देवता पूर्व युगों के समान वर्तमान में भी पूज्य माने जाते हैं. जैसे शिवदत्त, शिवस्वामी, सदाशिव राजूरकर, हरिहरनाथ बैनर्जी आदि.[१९] इसीप्रकार राम वाचक नाम भी सर्वत्र पाये जाते हैं. यथा– सी. रामचन्द्रन, एन.टी. रामाराव, रामकृष्ण हेगड़े, काशीराम, रामविलास पासवान आदि. रामेश्वरम् के मन्दिर में उत्तर भारतीय यात्री और अमरनाथ के मन्दिर में दक्षिण के यात्री सिर नवाते हुए नजर आते हैं. भारतीय नदियों और पर्वतों के प्रति तो समस्त भारतवासियों के मन में प्रेमभाव विद्यमान है. अनेक विदेशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृतियों के आघातों के बावजूद भी यह भारतीय संस्कृति प्राचीन काल से चिरस्थायी रूप से टिकी हुई है.

उदारताः- भारतीय संस्कृति की दूसरी विशेषता उसकी उदारता है. इसका एक प्रमाण यह भी है कि एकेश्वर को अनेक नामों से संबोधित करने की स्वतन्त्रता दी गई है. फलतः 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की उक्ति अब भी सजीव है. 'नृणामेकोगम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव' अर्थात् जिस प्रकार समस्त नदी–नदों का जल समुद्र की ओर जाता है उसी प्रकार विभिन्न मार्गो से चलते हुए सभी मनुष्य एक ही गन्तत्वय की ओर अग्रसर होते हैं– किसी भक्त द्वारा कहा गया यह कथन भारतीय उदार दृष्टिकोण का ही परिचायक है.

लचकीलापनः- भारतीय संस्कृति की तीसरी विशेषता उसका रबर की तरह लचकीलापन है. यही लचकीलापन उसे बाहर से आने वाली आपत्तियों से बचाता रहा है, इस संस्कृति की यह विशेषता है कि वह बाह्य आघातों के कारण दब तो जाती है, परन्तु टूटती नहीं और आघात का कारण हट जाने पर फिर पुरानी अवस्था में आ जाती है. इंग्लैण्ड के महाकवि मैथ्यू आर्नल्ड ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए कहाथा– 'भारत वर्ष विदेश (पश्चिम) से आये हुए तूफान के सामने सिर झुका देता है. इस सिर झुकाने में गहरी उपेक्षा का भाव मिला होता है. तूफानी लश्कर सिर पर से गुजर जाता है और भारतवर्ष फिर अपने ध्यान में मग्न हो जाता है.[२०] 'इसी कारण पूर्ण आशावादिता के साथ विद्यावाचस्पति जी ने कहा है– 'यदि व्यतीत का अनुभव भविष्य का सूचक हो सकता है, तो हमें आशा रखनी चाहिये कि भविष्य में पश्चिम और पूर्व से जिन अन्धड़ों के आने की आशंका है वे भी हमारी संस्कृति की हस्ती को मिटा न सकेंगे.'[२१]

ग्रहणशीलताः- भारतीय संस्कृति की चौथी विशेषता उसकी अद्भुत ग्रहणशीलता या अपना बना लेने की शक्ति है. पुरातन काल से ही हमारी संस्कृति ने संपर्क में आई हुई यूनानी, सीथियन, इस्लामी और क्रिश्चियन संस्कृतियों को अपना बना लिया है. विदेशी नस्लें भारतीय नस्लों में घुल–मिलकर एक हो गई हैं– सिथियन जाति का मिश्रण गुजराती जातियों के साथ हुआ है. मंगोलियन जाति का मिश्रण आसाम, बंगाल के निवासियों के साथ हुआ है. तुर्की व ईरानी जाति का मिश्रण पश्चिमोत्तर प्रदेश के साथ हुआ है.[२२] जातियों के मिश्रण की तरह भाषाओं का भी मिश्रण पाया जाता है. मुगल–हिन्दू तथा कुछ अन्य संस्कृतियां भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से इतनी अधिक घुल–मिल गई हैं कि उन्हें पृथक् करना अब संभव नहीं. प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति 'ले–दे' की भावना में विश्वास करती आई है. उत्तर–दक्षिण की भाषाओं का मिलान करने पर हम उन्हें एक और गहरे सूत्र में बंधा हुआ पाते हैं और वह सूत्र संस्कृत भाषा का है. संस्कृत भाषा ने काश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत की सब श्रेणियों को एक प्रबल सांस्कृतिक माला में पिरो रखा है.[२३] भारतीय संस्कृति की यह विशेषता उसकी ग्रहणशीलता का ही परिणाम है.

अध्यात्मिकताः- भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी आध्यात्मिकता में है. जो उसे पाश्चात्य (प्राचीन यूनान, आधुनिक यूरोप तथा अमेरिका की) संस्कृति से पृथक् करती है. हमारी संस्कृति आत्मा और मोक्ष को महत्व देती है तो पाश्चात्य संस्कृति. भौतिक जगत और विज्ञान को. भारत की आध्यात्मिक प्रवृत्ति में अधिक रूचि है तो पश्चिम की राजनीतिक प्रवृति में. भारतीय संस्कृति में तप को शस्त्र बल से, सत्य को चालाकी से और धर्म को अर्थ से सदा ऊँचा स्थान दिया जाता रहा है. इस अहिंसावादी देश में आत्म रक्षा या राष्ट्र रक्षा के लिए शस्त्र हाथ में लेने की अनुमति है, पर स्वार्थ साधन हेतु निरर्थक हिंसा करना भारतीय संस्कृति में सदा महापाप माना गया है. आध्यात्मवादी दृष्टिकोण के कारण ही पश्चिमी भोगवादी संस्कृति की अपेक्षा भारतीय संस्कृति में सदाचार और त्याग पर अधिक जोर दिया गया है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यावाचस्पति जी के अनुसार – भारतीय संस्कृति की उपरोक्त विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए 'यदि इतिहास और वर्तमान काल का अध्ययन किया जाय तो इतिहास सुसंबद्ध व अखण्डित नजर आता है, अन्यथा सांस्कृतिक इतिहास का क्रम टूटता–सा प्रतीत होता है और अनेक समस्यायें उत्पन्न होती हैं.'[२४]

६.३ विद्यावाचस्पति जी का भारतीय संस्कृति विषयक साहित्यः-

विद्यावाचस्पति जी उन राष्ट्रीय साहित्यकारों में से एक हैं, जिन्होंने भारतीय जीवन को समग्र दृष्टि से देखने का प्रयास किया है. यदि हम उन्हें भारतीय समाज के अन्तर्द्रष्टा और संस्कृति के व्याख्याकार कहें तो बिल्कुल भी अतिशयोक्ति नहीं होगी. उनके सन्निकट रहने का सौभाग्य प्राप्त करने वाले श्री शंकरदेव विद्यालंकार के अनुसार तो 'उनकी जीवन–फुलवारी शील और प्रज्ञा के आर्य गुणों से सदैव महकती रहती थी.'[२५] उनका जीवन आर्य–हिन्दु का जीवन था, पुनरपि उनके द्वारा गृहीत भारतीय संस्कृति से तात्पर्य केवल आर्य संस्कृति से नहीं, अपितु उस संस्कृति से है, जो मूल रूप में वैदिक होते हुए भी देशी–विदेशी विभिन्न संस्कृति के प्रभावों से प्रभावित एवं परिवर्धित है. 'खादी जैसे उज्जवल विचारों के धनी,[२६] 'भारतीय संस्कृति में गहरी पैठ रखने वाले 'सांस्कृतिक राष्ट्रपुरुष'.[२७] 'अखिल भारतीय संस्कृति सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष'[२८] साहित्य वाचस्पति पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित भारतीय संस्कृति विषयक ग्रंथों की कुल संख्या ७ है. १. 'उपनिषदों की भूमिका (सन् १६१३), २. 'संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन (१६१५), ३. 'वैदिक वर्ण व्यवस्था' (१७ मार्च १६१६), ४. 'मृतक श्राद्ध पर विचार' (१२ जून १६१६), ५. 'ईशोपनिषद् भाष्य' (१६५५), ६. 'अध्यात्म रोगों की चिकित्सा' (१६५६) और ७. 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह' (१६५६). अग्रिम पंक्तियों में इन ग्रन्थों का यथासंभव संक्षिप्त परिचय और विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है.

'उपनिषदों की भूमिका' (१६१३):- भारतीय आर्ष वाङ्मय में उपनिषदों का प्रमुख स्थान है. नामधारी उपनिषदों की संख्या सौ से अधिक है, पर प्रमाण कोटि में आने वाले ईशोपनिषद् से लेकर 'श्वेताश्वेतर उपनिषद्' तक कुल ११ ही उपनिषद् हैं. आध्यात्मिक विद्याओं का विश्लेषण होने के कारण इन ग्रन्थों का भारतीय मनीषा में महत्वपूर्ण स्थान है.

जब सन् १६१६ में विद्यावाचस्पति जी ने उपरोक्त ग्रन्थ लिखा तब वे 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि से विभूषित नहीं हुए थे. उस समय तक उन्हें गुरुकुल कांगड़ी का स्नातक (वेदालंकार) बनकर केवल एक ही वर्ष व्यतीत हुआ था. संप्रति हमारी दृष्टि से यह ग्रंथ दुर्लभ एवं अनुपलब्ध है. पुनरपि अन्य स्रोतों से यह पता चलता है कि इसमें 'उपनिषद्' साहित्य की महत्ता तथा उनमें निहित आध्यात्मिक विषयों का विवेचन है.' उपनिषद् वाङ्मय का सामान्य परिचय देने के साथ ही उनके विवेचनीय विषयों को भी संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है. इसके अतिरिक्त स्वदेशी एवं विदेशी विद्वानों द्वारा उपनिषदों का महत्व प्रतिपादित करने वाली सम्मतियों का भी उसमें संग्रह है.[२९] डॉ. ज्ञानवती दरबार के शब्दों में 'उपनिषदों की भूमिका' प्रांजल भाषा में लिखा गया एक विचारपूर्ण ग्रंथ है.[३०] डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे ने टिप्पणी की है, 'यह एक विवेचनात्मक ग्रंथ है.'[३१] 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र के प्रबंधकर्ता के अनुसार 'इस पुस्तक का मूल्य छः आने था. इसमें 'भूमिका' और उपनिषदों के सार के साथ उनके गहन भावों का सरल ढंग पर प्रस्तुत किया गया था.'[३२] प्रो. विजयेन्द्र स्नातक की सम्मति में 'यह कृति उपनिषद् साहित्य को प्रकाश में लाने के लिए और जन सामान्य को पठनीय बनाने की दृष्टि से लिखी गई थी. इससे आम जनता को उपनिषद् जैसे गंभीर ग्रंथ को समझने तथा उसके सार तत्व को ग्रहण करने में बहुत सहायता मिलती है'.[३३] श्री केशवदेव शास्त्री द्वारा संपादित 'नवजीवन' मासिक (सितम्बर १६१३) के 'सामयिक साहित्य चर्चा' स्तंभ में की गई समीक्षा में समीक्षक ने प्रतिपादित किया है, ...'इस पुस्तक में लेखक महाशय ने बतलाया है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि उपनिषदों के विचार वेद से ही लिये गए हैं. यह भी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है कि सारी उपनिषदें जो प्राचीन हैं, वे प्रायः 'ईशावास्योपनिषद्' (यजुर्वेद के ४० वें अध्याय) पर अवलंबित हैं. पुस्तक प्रणेता महोदय ने उपनिषद् भाष्यों पर समालोचनात्मक दृष्टि डाली है.'

'संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन (१९१६):– विद्यावाचस्पति जी का मूल नाम 'इन्द्रचन्द्र था. यह ग्रन्थ इन्द्रचन्द्र वेदालंकार द्वारा लिखा शोध ग्रंथ है. इसी अनुशीलनात्मक ग्रंथ पर उन्हें गुरुकुल कांगड़ी से 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि प्राप्त हुई थी. इस ग्रन्थ में उन्होंने इस बात पर विचार प्रकट किया है कि संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवियों के काव्य निर्माण की आधार–भूमि क्या रही है. वे कौनसी परिस्थितियाँ थीं, जिन्होंने उन्हें उस–उस दिशा की ओर उन्मुख होने के लिए विवश किया. विद्यावाचस्पतिजी ने इसमें संस्कृत कवियों के उसी ऐतिहासिक आधार को भी खोजकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है, जिन्होंने उन कवियों को विशिष्ट रस, भाव और विषय वस्तु का विशेष कवि बनाया था.

प्रायः संस्कृत साहित्य तीन रूपों में उपलब्ध होता है. १. पद्य २. गद्य और ३. सूत्र. विद्यावाचस्पतिजी की दृष्टि में इन तीनों ही रचनाओं का मूलाधार वेद है. ऋग्वेद व सामवेद प्रधान रूप से पद्यमयी रचना है तो यजुर्वेद व अथर्ववेद में गद्यमयी रचना के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं. वेदों में वर्णित उषा, सूर्य, चन्द्र, नदी आदि प्रकृति के मनोहारी दृश्यों से संस्कृत साहित्य ने प्रकृति प्रेम की विशेष प्रेरणा ग्रहण की है'.[३४] संस्कृत साहित्य में जो अनुष्टुप् छंद मिलता है वह भी वेद के ही अनुष्टुप् छंद का यत्किंचित् परिवर्तित रूप है. त्रिष्टुप् छंद का थोड़ा सा रूपान्तरित उपजाति है. जगती और वंशस्थ आदि संस्कृत साहित्य के छंद भी वैदिक छंदों विधान से बहुत समानता रखते हैं.

चारों वेदों के शताब्दियों के बाद ऐतिहासिक काल–क्रमानुसार ब्राह्मण ग्रंथों का काल आता है. डॉ. विजयपाल शास्त्री ने प्रतिपादित किया है, 'वेदों की ज्ञान–कर्ममय उपासना का स्थान ब्राह्मण ग्रंथों के कर्मप्रधान धर्म ने ग्रहण कर लिया था.'[३५] कालान्तर में इन्हीं ब्राह्मण ग्रंथों के अनुकरण पर लौकिक गद्य साहित्य का निर्माण हुआ. यह तथ्य विद्यावाचस्पति जी के विवेचन के अनुसार तीन हेतुओं से स्पष्ट होता है. प्रथम हेतु तो यह है कि ब्राह्मण ग्रंथों की भाषा में कर्ता, कर्म और करण के पौर्वापर्य का नियम नहीं है. यही स्थिति लौकिक गद्यमयी रचनाओं की है. दूसरा हेतु यह है कि लौकिक गद्य और पद्य में भी प्रायः क्रिया को अन्यथा गतार्थ कर दिया जाता है. यथा–'अयमेव चानस्वादित विषय रसस्य ते काल उपदेशस्य' (कादम्बरी)–यहाँ 'अस्ति' क्रिया लुप्त है. यही प्रवृत्ति हमें ब्राह्मण ग्रंथों में भी दृष्टिगोचर होती है–जैसे 'बर्हि वै पशुः' यहाँ 'उच्यते' क्रिया अन्य गतार्थ है. ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुकरण पर लौकिक गद्य साहित्य रचे जाने का तीसरा हेतु यह है कि दोनों गद्यों में उपसर्गों का प्रचुर प्रयोग किया गया है.

संस्कृत साहित्य का तीसरा रूप सूत्र शैली में प्राप्त होता है. जैसे महर्षि पतंजलि का 'योगदर्शन' और पाणिनि मुनि की 'अष्टाध्यायी'. इस सूत्र शैली का भी मूल रूप ब्राह्मण ग्रन्थों के विधि–निषेधात्मक सूत्रों में पाया जाता है, उसी के विकसित रूप में दर्शन लौकिक संस्कृत साहित्य के सूत्रों में होते हैं.

विद्यावाचस्पति जी ने संस्कृत साहित्य के इतिहास को प्रमुख रूप से चार कालों में विभाजित किया है १– उपनिषद् काल २– साम्राज्य काल ३– मध्य काल और ४– पराधीन काल. वैदिक ब्राह्मणकाल के बाद और अर्वाचीन साहित्य युग से पूर्व का जो काल है. वह उपनिषद् काल है. ब्राह्मणों का यज्ञीय कर्मकाण्ड जब कुछ शिथिल हुआ तो उसका स्थान उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड ने ग्रहण किया. उपनिषदों की भाषा प्रायः पद्यात्मक है. उपनिषदों के उपरान्त अर्वाचीन साहित्य का नया युग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरंभ होता है. इस युग का सर्व प्रथम महाकाव्य रामायण है. पश्चात संस्कृत साहित्य आशावादी है और अर्वाचीन संस्कृत साहित्य निराशावादी. पर विद्यावाचस्पति जी इस मत से सहमत नहीं हैं. उनके अनुसार आशा–निराशा का साहित्य प्राचीन–अर्वाचीन दोनों भी युगों के साहित्य में प्राप्त होता है. 'उपनिषद् ग्रन्थों में भी कहीं–कहीं जीवन का बड़ा निराशामय चित्र खींचा है...दूसरी ओर बाल्मीकि, कालिदास तथा भरावि आदि कवियों के वाक्यों में जो आशा की झलक है वह किसी से छिपी नहीं है.'[३६]

तथाकथित आदिकाव्य रामायण के विषय में नयी दृष्टिः- दन्तकथाओं द्वारा प्रायः यह लोक प्रसिद्ध हो चुका कि समागम क्रिया में तन्मय क्रौंच युगल में से एक को जब शिकारी के बाण से छटपटाते हुए डाकू बाल्मीकि ने देखा तो उसका कायापलट हो गया और उसने शिकारी को शाप देते हुए जो कुछ कहा वह रामायण के रचयिता बाल्मीकि का ही नहीं संस्कृत साहित्य का भी आदि काव्य सिद्ध हुआ. हृदयहीन शिकारी को 'कभी भी यश प्राप्त न हो' का शाप देने वाला वह सुप्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार है–

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्।"

'काव्य शैली की दृष्टि से बाल्मीकि से पूर्व इस कोटि का अन्य कोई श्लोक नहीं था' इस मत से असहमति व्यक्त करते हुए विद्यावाचस्पति जी ने कहा है– 'ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप उपाख्यान की कविता में ऐसे अनुष्टुप् पद्य के प्रयोग किये गये है. जो सर्वथा अर्वाचीन प्रतीत होते हैं. यथा–

"नन्विमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न। किं स्वित् पुत्रेण विन्दन्ते तन्म आचक्ष्व नारद।।'

विद्यावाचस्पति जी ने टिप्पणी की है, 'संस्कृत कवियों की निस्सन्देह रूप से लौकिक विषयों की ओर चिरकाल तक प्रवृत्ति रही होगी, तभी अन्त में महाकाव्य तक आने की स्थिति हुई होगी.'[३७] डॉ. विजयपाल शास्त्री ने विद्यावाचस्पति जी के मत से सहमत होते हुए कहा है– 'उनका तर्क समझ में आता है, भला यह कहाँ का तुक है कि पहली बार लौकिक वृतान्त के वर्णन के लिये कविता बने और वह महाकाव्य का रूप ले ले.'[३८]

प्रायः यह माना जाता है कि वैदिक साहित्य की विषयवस्तु धार्मिक और यज्ञ प्रधान थी, जो कि अर्वाचीन साहित्य तक आते–आते लौकिक विषयों की ओर उन्मुख हो गयी. इस परिवर्तन का कारण ऐतिहासिक घटनाओं को मानते हुए विद्यावाचस्पति जी ने लिखा है कि– 'क्षत्रियों का वर्चस्व बढ़ रहा था. बाल्मीकि रामायण के नायक राम क्षत्रिय थे. बलवान राजाओं का शासन था अतः प्रजा सुखी थी. सुख के क्षणों में श्रृंगार आदि रसों से सिक्त स्वच्छन्द कविता का सृजन होता है. इसी कारण साहित्य पारलौकिक नियमों को छोड़कर लौकिक विषयों की ओर झुक गया. सरस्वती देवी प्रायः विजय की देवी का अनुसरण करती है. विजय की अवस्था में लौकिक विषयों पर ही कविता रची जाती है. रामायण और महाभारत ये दोनों महाकाव्य इस तथ्य के प्रमाण है.'[३९]

रामायण और महाभारत जैसे संस्कृत के महाकाव्यों के बाद बौद्ध धर्म का उदय होता है. महात्मा बुद्ध का प्राकृत को अपनी अभिव्यक्ति या धर्म की भाषा बनाने के कारण यह बौद्ध काल संस्कृत साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है. सम्राट् अशोक जैसे राजाओं द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने से धर्म का तो विस्तार हो गया, पर राज्य कार्य में बहुत शिथिलता आ गई. विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार 'शस्त्रधारी ब्राह्मण तपोबल को दूषित कर देता है और मुनिवृत्ति क्षत्रिय राज्य को शिथिल कर देता है....अशोक ने राज–काज में श्रमणता लाकर चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित किया हुआ राज्य चौपट कर डाला.'[४०] इस दौरान बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त कोई संस्कृत काव्य नहीं रचा गया. सम्राट् अशोक के बाद ५०० वर्ष का काल संस्कृत साहित्य की दृष्टि से शिथिल काल रहा है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अशोक के बाद व ईसा से २७२ वर्ष पूर्व शुंग राज्य वंश की नींव डालने वाले राजा पुष्यमित्र के काल में महर्षि पतंजलि ने 'महाभाष्य' की रचना की. इसी काल में अश्वघोष ने 'बुद्ध चरित्र' लिखा. श्री विद्यावाचस्पति जी ने प्रतिपादित किया है, यह बुद्ध चरित व्याकरण व छन्द की दृष्टि से अभिनव शैली में लिखा गया है पर शैली सरल होते हुए भी महाकवि कालिदास के काव्य सी परिमार्जित नहीं है.'

साम्राज्य कालः- उपनिषद् काल के बाद ईसा की चौथी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक का काल साम्राज्य काल है. राजनीतिक दृष्टि से यह उन्नत युग था. विद्यावाचस्पति जी के शब्दों में 'इस युग में धनुष की टंकार के साथ सरस्वती की वीणा की झंकार भी सुनाई देती है.'[४१] कालिदास, विशाखदत्त, दण्डी, शूद्रक और भारवि जैसे कवि तथा बाण, सुबन्धु, भर्तृहरि, श्रीहर्ष और भवभूति जैसे महान् गद्य लेखक इसी युग में हुए. श्री विष्णु शर्मा का 'पंचतन्त्र' और महाकवि भास के 'प्रतिमा' आदि नाटक इसी युग में लिखे गए. विष्णुशर्मा और भास के साहित्य की कथावस्तु यह बताती है कि वह समय राजनीतिक दाँवपेंचों का युग था. दूसरी ओर महाकवि कालिदास आदि कवियों के काव्य से ज्ञात होता है कि वह समय वैभव, हास–परिहास और श्रृंगारप्रियता का युग था. विद्यावाचस्पति जी की सम्मति में साम्राज्य काल की समाप्ति पर जब भारत का गौरव छिन्न–भिन्न होने लगा तो भवभूति ने उस अधःपतन के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा–

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्। विपर्यासं यातों घन विरलभावः क्षितिरुहाम्।।

मध्य कालः- साम्राज्य काल के बाद सातवीं से दसवीं सदी तक का काल मध्यकाल है. इस काल के प्रमुख कवि हैं– माघ, भट्टनारायण, राजशेखर, पद्मगुप्त, क्षेमेश्वर, बिल्हण, दामोदर मिश्र, कृष्णमिश्र, श्रीहर्ष, सोमदेव, जयदेव और क्षेमेन्द्र. मध्यकालीन संस्कृत साहित्य की समालोचना करते हुए विद्यावाचस्पति जी ने चार दोष बतलाये हैं. १– अत्युक्ति अस्वाभाविक दशा तक पहुँच गयी थी २– बाण और सुबन्धु की तरह अन्य कवियों के भी लंबे–लंबे समस्त पद काव्य की शोभा को बिगाड़ रहे थे ३– श्रृंगार रस लम्पटता की दशा तक पहुँच गया था ४– अलंकार शास्त्र की बेड़ियाँ सहज, स्वच्छन्द काव्य को वैसे ही बांध रही थी जैसे भाषा को व्याकरण बांध रहा था.

पराधीन काल या अन्धकार कालः- ११ वीं सदी प्रारंभ होने वाले अर्वाचीन साहित्य के काल को विद्यावाचस्पति जी ने पराधीन काल या अन्धकार काल के नाम से संबोधित किया है. यह वह काल था जब आपसी फूट के कारण भारत पर विदेशी आक्रमण होने लगे और देश में राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई, जो संस्कृत साहित्य के उन्नति के सामने भी एक चट्टान–सी प्रतीत हुई. लेखक के अनुसार 'राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक अत्याचार कविता के परम शत्रु हैं.' मुगलों के समय में इन तीनों प्रकार के अत्याचारों का दौर–दौरा था तब भला कविता का विकास कैसे संभव था. इस काल के पण्डितराज जगन्नाथ ही एक ऐसे कवि हैं जो सर्वाधिक आदरणीय हैं. इन्हीं के 'स्थिति नो रे दध्याः' श्लोक को लोकमान्य तिलक ने नियमित रूप से ध्येय वाक्य की तरह अपने 'केसरी' पत्र में स्थान दिया था. इस पराधीनता काल में अलंकार, व्याकरण, नव्य न्याय आदि शास्त्रों के भी ग्रन्थ लिखे गये, परन्तु विद्यावाचस्पति जी के अनुसार यह साहित्य साम्राज्य कालीन साहित्य की तुलना में निस्तेज था.

इस प्रकार 'संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन' का अध्ययन करने के उपरान्त विद्यावाचस्पति जी की दो बातें प्रमुख रूप से असाधारण प्रतीत होती हैं. १– उन्होंने साहित्य शब्द का प्रयोग प्रमुख रूप से ललित साहित्य के अर्थ में ही कियाहै, और २– लौकिक संस्कृत साहित्य को उपनिषद् काल, साम्राज्य काल, मध्यकाल और पराधीन काल नामक चार कालों में विभाजित कर उसे तत्कालीन परिस्थितियों के परिवेश में देखने का सफल प्रयास किया है. साथ ही इस तथ्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भी उल्लेख कर दिया है कि आदि श्लोक या आदि काव्य की शुरुआत बाल्मीकि से नहीं, अपितु उसका मूल उससे भी प्राचीन ऐतरेय ब्राह्मण के आस–पास है. चूँकि संस्कृत साहित्य के आधार पर ही प्रमुख रूप से भारतीय संस्कृति आश्रित है. अतः उससे सम्बद्ध इस ऐतिहासिक अनुशीलन को हमने भारतीय संस्कृति के परिच्छेद में समाविष्ट करना यथोचित समझा है.

'वैदिकवर्ण व्यवस्था' व 'मृतक श्राद्ध पर विचार' (१९१६):- उपरोक्त दोनों ग्रन्थ सनातन धर्म के प्रतिनिधि पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी (१८८१–१९६७) और आर्यसमाज के प्रतिनिधि प्रो. इन्द्रचन्द्र वेदालंकार (विद्यावाचस्पति) (१८८९–१९६०) के बीच १७ मार्च १९१६ व १२ जून १९१६ को क्रमशः गुरुकुल कांगड़ी (बिजनौर) व गुरुमण्डलाश्रम हरिद्वार में 'वैदिक वर्ण व्यवस्था' व 'मृतक श्राद्ध' पर हुए मौखिक शास्त्रार्थ के लिखित रूप हैं. ये शास्त्रार्थ मुक्त भाषणों के रूप में हुए थे. दोनों पक्षों की ओर से पूरे भाषणों का प्रत्यक्षर लिखने के लिए विद्वान सन्नद्ध थे. 'वर्ण व्यवस्था' शास्त्रार्थ में प्रत्येक पक्ष के ६–६ भाषण मिलाकर कुल १२ भाषण हैं और 'मृतक श्राद्ध' शास्त्रार्थ में ५–५ मिलाकर कुल १० भाषण हैं. इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों में २२ भाषणों का समावेश है. प्रथम शास्त्रार्थ 'वर्ण व्यवस्था' के प्रारंभ व अन्तिम क्रम में, दोनों पक्षों को दस–दस मिनिट का समय दिया गया था और बीच के तीन–तीन क्रमों के लिए सात–सात मिनिट का समय निर्धारित किया गया था.[४२] इसी प्रकार 'मृतक श्राद्ध' विषयक शास्त्रार्थ में प्रारंभ में उभयपक्षों के लिए पन्द्रह–पन्द्रह मिनिट का समय और तत्पश्चात् अन्त तक के सभी क्रमों के लिए दस–दस मिनिट का समय निर्धारित किया गया था.[४३]

आज से ७८ वर्ष पूर्व शास्त्रार्थ काल में पं. गिरिधर शर्मा ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम हरिद्वार के आचार्य थे और विद्यावाचस्पति जी उस समय इन्द्रचन्द्र वेदालंकार के नाम से जाने जाते थे और गुरुकुल कांगड़ी में प्रोफेसर थे. संपन्न शास्त्रार्थ सनातनधर्मियों की ओर से ऋषिकुल के मुखपत्र 'ब्रह्मचारी' तथा पं. भीमसेन शर्मा इटावा वाले के 'ब्राह्मण सर्वस्व' (भाग–१३, अंक–५ मई १९१६ पृ. २१७–२२१) में प्रकाशित हुआ था. आर्यसमाज की ओर से यह शास्त्रार्थ, शास्त्रार्थ के पीछे ही गुरुकुल कांगड़ी के मुखपत्र 'सद्धर्म प्रचारक' और तुलसीराम स्वामी मेरठ वाले के पत्र 'वेदप्रकाश' में प्रकाशित हुआ था.

पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के सुपुत्र श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी द्वारा वर्तमान में 'वर्ण व्यवस्था–शास्त्रार्थ' की कुल पृष्ठ संख्या ३३ है और 'श्राद्ध शास्त्रार्थ' की कुल पृष्ठ संख्या ३६ है. इन दोनों शास्त्रार्थों के संयुक्त जिल्द के प्रारंभ में 'वादे–वादे जायते तत्वबोधः' शीर्षक से संपादक श्री शिवदत्त का नौ पृष्ठीय प्राक्कथन प्रकाशित हुआ है. दोनों शास्त्रार्थों का संयुक्त नाम संपादक ने 'वैदिक वर्ण व्यवस्था और श्राद्ध' रखा है. प्रकाशन काल सन् १९७६ है और मूल्य बीस रूपये है.

आर्यसमाज पक्ष की ओर से प्रकाशित– 'वर्ण व्यवस्था' विषयक शास्त्रार्थ संप्रति अप्राप्य व दुर्लभ होने से तथा शास्त्रार्थों के प्रकाशक–शास्त्रार्थ केसरी ठाकुर अमरसिंह जी (स्व० अमर स्वामीजी सरस्वती) को प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल पाया. दूसरा उपलब्ध शास्त्रार्थ (महात्मा) मुंशीराम जी जिज्ञासु ने 'उसी समय सन् १९१६ में 'मृतक श्राद्ध पर विचार' शीर्षक से 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र में तथा तत्पश्चात् पुस्तक रूप में प्रकाशित किया था. प्रारंभ के २२ पृष्ठ उभय पक्ष में हुए पत्र व्यवहार व शास्त्रार्थ व्यवस्था के नियमों से संबंधित हैं. मूल शास्त्रार्थ ३१ पृष्ठों में (२२ से ५३ तक) प्रकाशित हुआ है. मूल्य ग्यारह आने है. 'वर्ण व्यवस्था' व 'श्राद्ध' विषयक आर्यसमाज का पक्ष यह था कि १– वेद प्रतिपादित वर्ण व्यवस्था गुण कर्म स्वभाव पर आधारित है और एक ही जन्म में कर्म के अनुसार वर्ण परिवर्तन हो सकता है. २– श्राद्ध नामक वैदिक क्रिया कलाप जीवित पितरों से ही संबंधित है, मृत पितरों से उनका किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं है. इसके विपरीत सनातन धर्म का यह पक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था कि– ब्राह्मणादि वर्णों की व्यवस्था जन्म से ही होती है, जो जिस वर्ण के माता–पिता के यहाँ उत्पन्न हो गया है वह उस जन्म में उसी वर्ण का माना जायेगा. एक ही जन्म में वर्ण परिवर्तन नहीं हो सकता. ३– श्राद्ध कर्म का संबंध जीवित पितरों के साथ नहीं, अपितु मृत पितरों के साथ है, जो कि मरणोपरान्त दूसरी दिव्य योनियों में विद्यमान हैं.

इन शास्त्रार्थों को सुनने के लिए और इनका अभूतपूर्व दृश्य देखने के लिए कितने ही लोग कई दिन की ट्रेन यात्रा करके हरिद्वार पहुँचे थे. महात्मा गांधी भी कुछ देर के लिए गुरुकुल कांगड़ी में शास्त्रार्थ के समय उपस्थित थे.[४४] सनातन धर्म और आर्यसमाज के प्रमुख विद्वानों का तो वहाँ पूरा जमघट था. श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी ने लिखा है– 'ऋषिकुल और गुरुकुल के पास–पास संस्थित होने के कारण खुले वैचारिक संघर्ष की तैयारी कई वर्षों से भीतर ही भीतर चल रही थी, परन्तु अभी तक इस प्रकार के सार्वजनिक विचार–संघर्ष का अवसर नहीं आया था. पारस्परिक सौहार्द में दोनों ओर से कोई भी कमी न थी, परन्तु इस शास्त्रार्थ के रूप में वह अवसर प्रथम बार उपस्थित हुआ. यह दोनों महती संस्थाएँ पूरे देश में सनातन धर्म और आर्यसमाज का आशा केन्द्र बन चुकीं थीं. अतः ऐसे आयोजन का प्रभाव भी पूरे देश के सनातनी तथा आर्य जगत् पर पड़ना स्वाभाविक था.[४५] शास्त्रार्थ का आह्वान सर्वप्रथम आर्यसमाज की ओर से किया गया था. गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिकोत्सव के मुद्रित निमन्त्रण पत्र में गुण–कर्म–स्वभावाधारित वर्ण व्यवस्था पर शास्त्रार्थ के लिए मतभेद रखने वालों को खुला निमन्त्रण दिया गया था.[४६] जिसे ऋषिकुल की विद्वान् मण्डली ने स्वीकार कर लिया, दोनों में तेरह पत्रों का आदान–प्रदान हुआ. जिनमें शास्त्रार्थ के आधार या प्रमाणभूत ग्रन्थ आदि पर अनेक बातें तय हुई थीं.

शास्त्रार्थ के दिन प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए एक बैलगाड़ी भर पुस्तकें लेकर ऋषिकुल की मण्डली गुरुकुल पहुँची थी.[४७] गुरुकुल कांगड़ी में सम्पन्न प्रथम शास्त्रार्थ के अवसर पर पं. गिरिधर शर्मा ने यह स्वीकारकिया था कि– 'यह शास्त्रार्थ तो मण्डन मिश्र और शंकराचार्य के शास्त्रार्थ के समान हो गया है.'[४८] पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति जी के अतिरिक्त आर्यसमाज के अन्य विद्वानों के साथ श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के ६ शास्त्रार्थ हुये थे, पर उनमें आक्षेप–प्रत्याक्षेपों की भरमार थी जैसा कि शास्त्रार्थ में प्रायः होता था, पर विद्यावाचस्पति जी के साथ हुआ शास्त्र–विचार–विवरण उन सबसे अलग था. महामहोपध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी इस सुचारू रीति से सम्पन्न शास्त्रार्थ का श्रेय श्री मुंशीराम जी को देते थे.[४९] इन दोनों शास्त्रार्थों में जीत किसकी हुई और हार किसकी हुई यह सामान्य जन के लिए कहना बड़ा कठिन था, क्योंकि कहा भी गया है– 'विद्वानेव जानाति विद्वज्जन परिश्रमम्' उसी समय उभयपक्षों ने अपने–अपने जीत के विवरण छाप दिये थे. स्वामी दयानन्द और विशुद्धानन्द में हुए काशी शास्त्रार्थ के संदर्भ में तब से लेकर अब तक जैसे उभयपक्षों ने अपने–अपने जीत के दावे प्रस्तुत किये हैं, तद्वत् विद्यावाचस्पति और चतुर्वेदी के शास्त्रार्थों के संबंध में तब से लेकर अब तक जितने भी विवरण छपें हैं उन सब में प्रत्येक पक्ष ने अपनी–अपनी जीत का ही उल्लेख किया है. 'आर्यसमाज के शास्त्रार्थ महारथी' में डॉ. भवानीलाल जी भारतीय ने विद्यावाचस्पति जी की जीत का उल्लेख किया है,[५०] तो आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'काशी की पाण्डित्य परम्परा' में चतुर्वेदी जी के विजयी होने का उल्लेख किया है.[५१] सनातनी पक्ष अब भी जन्मना वर्ण व्यवस्था की संकीर्णता को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है. जब कि वर्ण व्यवस्था को ही न मानने वाले माननीय डॉ. भीमराव जी अम्बेडकर ने 'स्वामी दयानंद व आर्यसमाज की वर्ण व्यवस्था को बुद्धिगम्य और निरुपद्रवी माना है.'[५२]

यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति और पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी अपने–अपने मतवादों पर दृढ़ रहते हुए भी समन्वयशील प्रवृत्ति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वान थे. विद्यावाचस्पति जी ने जहां राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद् आदि आयोजना में श्री चतुर्वेदी जी को आमन्त्रित कर उनके व्याख्यान करवाये, वहाँ वे श्री चतुर्वेदी जी का आमन्त्रण पाकर संस्कृत साहित्य सम्मेलन द्वारा परिचालित संस्कृत प्रचार कार्य में बड़े उत्साह और स्नेह से सम्मिलित हुए, इतना ही नहीं उन्होंने श्री चतुर्वेदी जी के अनुरोध पर कई अधिवेशनों की अध्यक्षता भी की थी.[५३] सन्तुलित, समन्वयशील और जन्मतः क्षत्रिय तथा स्वभावतः ब्राम्हण वृत्ति वाले विद्यावाचस्पति जी ने शास्त्रार्थ के बाद अपनी निजी डायरी में लिखा था 'सच्चाई पर पर्दा करने वाला आदमी लोगों पर बहुत भारी प्रभाव नहीं डाल सकता. मुझे इस कार्य में पूरी सफलता पाने की आशा रखते हुए भी नहीं पड़ना चाहिये.'[५४] इसके बाद विद्यावाचस्पति जी ने किसी भी शास्त्रार्थ में भाग नहीं लिया. गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. विष्णुदत्त राकेश के अनुसार– 'जिन लोगों ने विद्यावाचस्पति जी और चतुर्वेदी जी का शास्त्रार्थ सुना है, वे जानते हैं कि पाण्डित्य और युक्तिपूर्वक मान्यताओं के प्रतिपादन में विद्यावाचस्पति जी कितने दक्ष थे.... बहुधंधी होने के कारण बाद में पण्डित जी इस ओर से विरत हो गये.'[५५]

'वैदिक वर्ण व्यवस्था' व 'मृतक श्राद्ध' विषयक शास्त्रार्थ में हुए प्रश्नोत्तरों की बौछारों पर किसी भीपक्ष में हमने अपनी ओर से कोई सैद्धान्तिक टिप्पणी नहीं की है. इसका एक कारण तो यह भी है कि एक पक्ष की ओर से प्रकाशित 'वर्ण व्यवस्था' विषयक शास्त्रार्थ हमें प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल पाया है और मूलतः यह विषय भी वैदिक संस्कृत साहित्य से प्रतिबद्ध होने के कारण दुरूह व विवादास्पद है, उसकी गहराई में न जाते हुए उसका स्थूल परिचय देना ही हमें यहाँ अभीष्ट रहा है. अब इस प्रसंग के अन्त में हम विद्यावाचस्पति जी और चतुर्वेदी जी में हुए 'मृतक श्राद्ध' विषयक शास्त्रार्थ का एक ही संदर्भ क्रमशः आर्यसमाज व सनातन पक्ष की ओर से प्रकाशित शास्त्रार्थ से समुद्धृत कर रहे हैं. इससे यह समझने में आसानी हो जायेगी कि भिन्न–भिन्न दृष्टि भेद के कारण शास्त्रार्थ के प्रस्तुतीकरण में किस प्रकार पाठभेद हो जाता है. पहले आर्यसमाज द्वारा प्रकाशित शास्त्रार्थ से एक प्रसंग प्रस्तुत है, "अच्छा अन्त में, मैं पण्डित (चतुर्वेदी) जी के सामने एक अन्य मन्त्र भी रख जाता हूँ. पण्डित जी बतावें इस मन्त्र का अर्थ मृत पितरों पर किस प्रकार लगा सकते हैं :–

संविशन्विह पितरः स्वानः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः।
तेभ्यः शकमे हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवंतः शरदः पुरूचीः।।

अथर्ववेद–१८ काण्ड, २ अनुवाक, २६ मंत्र.

इस मन्त्र में स्पष्ट–स्पष्ट कहा है कि 'हे पितरो ! आप आवें और विराजें.' मैं पण्डित जी से फिर पूछता हूँ कि क्या जीवित पितर–विद्वज्जन बैठ सकते हैं अथवा मृत पितर?"[५६]

अब इसी प्रकार उपरोक्त प्रसंग को ही सनातन पक्ष द्वारा प्रकाशित शास्त्रार्थ की पुस्तक से प्रस्तुत कर रहे हैं. "अच्छा अब मैं एक मन्त्र और कहता हूँ– 'संविशन्विह...पुरूचीः' इस मन्त्र में 'संविशन्तु' का अर्थ विराजना है. साफ–साफ पितरों से प्रार्थना है कि आप आवें और विराजें. यह प्रार्थना मृतों से कैसे हो सकती है. अतः पितर जीवित होते हैं."[५७]

तथ्य को प्रस्तुत करते समय जो शक्ति विद्यावाचस्पतिजी या आर्यसमाज के कथन में है वही कथन या तथ्य जब सनातन पक्ष या चतुर्वेदीजी ने प्रस्तुत किया है, तो उसके अन्दर की प्राण शक्ति पंचर टायर की तरह रफूचक्कर–सी हो गयी प्रतीत होती है. इन विद्यावाचस्पति–चतुर्वेदी कृत शास्त्रार्थों से या आर्यसमाज और सनातन धर्म के बीच हुए शास्त्रार्थों से कितना तत्वबोध हुआ और कितनी निरी बहस हुई? यह एक स्वतंत्र अध्याय का विषय है, पर इतना निश्चित कहा जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है कि इन शास्त्रार्थों ने तत्कालीन हिन्दी भाषा की तार्किकता को समृद्ध किया. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'हिन्दी के लिए आर्यसमाज ने जो कार्य किया है, उसकी तुलना नहीं हो सकती. उन्नीसवीं शताब्दी में आर्यसमाज ने पुस्तकों, व्याख्यानों और शास्त्रार्थों की धूम मचा दी थी. उसने अनेक पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन किया. व्यंग्यों, कटाक्षों, उत्तर–प्रत्युत्तरों से निकलने वाली सूक्तियों और व्यंग्योक्तियों से भाषा को समृद्ध बनाने में आर्यसमाज की देन अमूल्य है....स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल विश्वविद्यालय से निकले हुए स्नातकों ने हिन्दी भाषा साहित्य को बहुमूल्य ग्रंथ दिये हैं....इनमें अधिकांश पंजाबी हैं. विपरीत परिस्थितियों में भी इन्होंने हिन्दी को समृद्ध और सम्पन्न बनाने का कार्य किया है.'[५८]

विद्यावाचस्पति जी केवल आर्यसमाजी ही नहीं, आर्य नेता भी थे. गुरुकुल के केवल स्नातक ही नहीं, अपितु सर्वप्रथम स्नातक होने का श्रेय उन्हें प्राप्त था. वे जन्मजात पंजाबी तो थे ही. आचार्य द्विवेदीजी ने उपरोक्त परिच्छेद में आर्यसमाज, गुरुकुल और पंजाब की जिस हिंदी हितकारिणी त्रिवेणी का उल्लेख किया है उसका संगम विद्यावाचस्पति जी के व्यक्तित्व में भी विद्यमान है. उनके अनमोल और विपुल साहित्य से हिन्दी वाङ्मय निश्चित रूप से समृद्ध हुआ है.

ईशोपनिषद् भाष्य (१९५५):- इस ग्रन्थ की चर्चा प्रसंगवशात् विद्यावाचस्पतिजी के अनूदित साहित्य के प्रसंग में पीछे की जा चुकी है. उपनिषदों का भारतीय आर्ष साहित्य में प्रमुख स्थान है. अतः ईशोपनिषद् भाष्य का यथास्थान यत्किंचित् परिचय इस भारतीय संस्कृति के परिच्छेदों में करना अत्यावश्यक है, क्योंकि भारतीय संस्कृति की चिंतन संपदा के उपनिषद् उत्तम रत्न माने जाते हैं, और हजारों वर्षों से वे आध्यात्मिक शांति पथ के पथिकों के लिए उत्तम पाथेय सिद्ध हो चुके हैं. विद्यावाचस्पति जी के पिता महात्मा मुंशीराम भी उपनिषदों के तलस्पर्शी अध्येता थे. अमेरिका के प्रख्यात लेखक श्री ऐन्ड्रू जॅक्सन डेविस ने उपनिषदों पर जो पुस्तकें लिखीं थीं वे सब श्री मुंशीराम जी ने अपने लिए खरीदी थीं. जिन्हें पढ़ने के उपरान्त उन्होंने सन् १९०६ से पूर्व ही गुरुकुल कांगड़ी के पुस्तकालय को अर्पित कर दिया था. इनमें वे चिह्न भी थे, जो महात्मा मुंशीराम जी ने पढ़ते समय लगाये थे.[५९] उपनिषद कालीन ब्राह्मण की तरह ब्राह्ममुहूर्त में उठने वाले[६०] विद्यावाचस्पति जी ने इन सभी ग्रन्थों का निश्चित रूप से सदुपयोग किया होगा. ईशोपनिषद् भाष्य से अभिभूत होकर जर्मनी के विश्वविश्रुत चिंतक शॉपनहार ने कहा था. 'उपनिषद् मेरे जीवन रूपी सरोवर में अमृत सींचने वाले रहें हैं और वे मेरी मृत्यु में भी अमृत का ही काम देंगे.' इसी प्रकार जर्मनी के ही दार्शनिक उच्चकोटि के विद्वान पाल डायसन ने 'उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ की भूमिका में लिखा था. 'ये वैदिक सिद्धान्त बुद्धदेव से पूर्व के समय में ही उन्नत कोटि तक पहुँच गये थे. और आज तक के किसी भी पीछे के विचार ने उनके दार्शनिक महत्व को मात नहीं किया.'[६१] यह सुप्रसिद्ध है कि मुगल काल के दाराशिकोह ने भी उपनिषदों से प्रभावित होकर उसके अनुवाद करवाये थे.[६२] उपनिषदों की इस अद्भुत महत्ता को अनुभव करते हुए विद्यावाचस्पति जी ने भी उपनिषदों में सर्वप्रमुख उपनिषद् 'ईशोपनिषद्' का भाष्य करना आवश्यक समझा. उनका यह ग्रंथ सत्रह अध्यायों में विभाजित है.

विद्यावाचस्पति जी ने 'ईशोपनिषद् भाष्य' में उपनिषदों के तत्वों का स्पष्टीकरण उपनिषद् की अन्तःसाक्षी से ही किया है. 'यह ईशोपनिषद् का एक सुन्दर विवेचनात्मक भाष्य है. इस भाष्य से पाठक एक नया ज्ञानप्रकाश पायेंगे.[६३] वह प्रकाश जहाँ ज्ञानवर्धक होगा, वहाँ उन्हें वह मानसिक और आत्मिक शान्ति देने वाला भी होगा.[६४] 'कर्म बड़ा है या ज्ञान' अथवा 'कर्म व ज्ञान का जीवन में क्या स्थान है.' इस समस्या को बड़ी सहज रीति से सुलझाते हुए विद्यावाचस्पति जी ने लिखा है.' 'वह ज्ञान सफल है जो अच्छे कर्मों का कारण बने और वही कर्म कल्याणकारी है जो बुद्धिपूर्वक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जाय' प्रो. राजेन्द्र जिज्ञासु के अनुसार गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक सिद्धांत को बड़े सरल शब्दों में समझाने की उनकी क्षमता को देखकर उनसे किस साहित्यकार को ईर्ष्या न होगी,[६५] पुस्तक का अन्तरंग बड़ा आकर्षक है. विषय प्रतिपादन और भाषा आदि की दृष्टि से यह अत्युत्तम ग्रंथ है.[६६] इसमें उपनिषदों की अतिगूढ़ परिभाषाओं को मानव जीवन के संदर्भ में बहुत ही सुंदर तथा तुलनात्मक ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है.

'अध्यात्म रोगों की चिकित्सा' (१९५६):- विद्यावाचस्पति जी ने चरित्र संबंधी रोगों की चिकित्सा को अध्यात्म रोगों की चिकित्सा कहा है. उनके अनुसार पुस्तकस्थ विद्या किसी भी आयु में प्राप्त की जा सकती है. परन्तु छोटी आयु में बना हुआ चरित्र अच्छा हो या बुरा बड़ी आयु में नहीं बदल सकता. अतः शिक्षा का सबसे मुख्य कार्य चरित्र निर्माण है. चरित्र संबंधी समस्या का समाधान वे अनेक स्मृतिशास्त्रों और नीतिशास्त्रों के आधार पर ढूँढने का प्रयास करना पसन्द करते हैं. इस ग्रन्थ के संबंध में स्वयं उन्होंने कहा है. मैंने जो कुछ लिखा है देश–विदेश के प्राचीन मुनियों और विचारकों के मन्तव्य के आधार पर लिखा है.[६७] इसमें भारतीय दर्शन शास्त्रों के आध्यात्मिक और वर्तमान मनोविज्ञान के भौतिक विश्लेषण का समन्वय करते हुए उन्होंने उन विचारों को अपने अनुभवों से अनुप्राणित कर चिकित्सा शास्त्र के क्रम में बांधने का प्रयत्न किया है. उन्हीं के शब्दों में 'यदि आध्यात्मिक रोगों के संबंध में पूरा चिकित्सा शास्त्र बनाया जाय तो निस्संदेह वह बहुत विशाल होगा. यदि अवसर मिला तो मेरा विचार इस रूपरेखा के आधार पर विस्तृत ग्रन्थ लिखने का है.[६८] पर इस संकल्प की पूर्ति ईश्वराधीन है. जैसे 'ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो', कहने वाले स्वामी दयानंद की वेदभाष्य पूर्ण करने की इच्छा अपूर्ण ही रही वैसे ही 'अध्यात्म रोगों की चिकित्सा' को कालान्तर में और अधिक विस्तृत रूप देने की अभिलाषा रखने वाले परम आस्तिक विद्यावाचस्पति जी की इच्छा भी अधूरी ही रह गयी. प्रस्तुत ग्रन्थ में विद्यावाचस्पति जी ने चारित्रिक या आध्यात्मिक रोगों की चिकित्सा के संदर्भ में जो विचार व अनुभव व्यक्त किये हैं, उनके आधार भारतीय मनीषियों के अतिरिक्त विदेशी विचारकों के मंतव्य भी हैं,[६९] पर इस सबके बावजूद ग्रंथ का मूल आधार व चिंतन भारतवर्षीय प्राचीन ऋषि–मुनियों के चिंतन के अनुरूप ही है. प्रो. राजेन्द्र जिज्ञासु के शब्दों में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि पर विद्वानों ने प्रत्येक देश में और प्रत्येक भाषा में बहुत कुछ लिखा है. परन्तु 'आध्यात्मिक रोगों की चिकित्सा' में श्री विद्यावाचस्पति जी ने इनके बारे में जो कुछ लिखा है. उसका एक अलग ही स्थान है. उनकी लेखनी का यह भी एक कमाल है. जिन बातों की हम प्रायः चर्चा करते व सुनते हैं. इस पुस्तक में उनको बार–बार पढ़कर भी जी नहीं भरता.[७०]

'भारतीय संस्कृति का प्रवाह' (१९५६):- उत्तर प्रदेश शासन द्वारा 'मैं इनका ऋणी हूँ' व 'पत्रकारिता के अनुभव' के बाद विद्यावाचस्पति जी की जो तीसरी रचना पुरस्कृत हुई, वह 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह' है. विद्यावाचस्पति जी ने भारतीय संस्कृति का व्यापक और तलस्पर्शी चिंतन और अध्ययन किया था. उनके लिए ऐतिहासिक, राजनीतिक विषयों पर लिखना जितना सहज था. उतना ही धार्मिक, दार्शनिक, शास्त्रीय और सांस्कृतिक विषयों पर भी. प्रस्तावना एवं विषय सूची के साथ इस ग्रन्थ की कुल पृष्ठ संख्या ४+२६६=२७० है.

६.४ भारतीय संस्कृति-विक्रम कालः-

विद्यावाचस्पतिजी ने उक्त ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति को तीन कालों में विभाजित किया है. विक्रम, मध्य और वर्तमान काल. उन्होंने भारतीय इतिहास का प्रारंभ ईसा से ३०० वर्ष पीछे न करके लगभग २०० वर्ष पहले शुरु करने का आग्रह करते हुए कहा है– 'मौर्य वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था. उसके बाद ईसा से लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व पुष्यमित्र शुंग पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ, उसके साथ ही भारतीय संस्कृति के रूप में परिवर्तन भी आ गया. पुष्यमित्र ने स्मार्त धर्म का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनरूज्जीवन किया. कुछ इतिहास लेखक गुप्त काल को ही स्वर्णयुग मानते हैं.' परन्तु विद्यावाचस्पति जी के अनुसार संस्कृति के पुनरूत्थान का क्रम पुष्यमित्र के राज्यारोहण के समय से ही प्रारंभ होने के कारण, भारतीय स्वर्णयुग का आरंभ उसी समय से मानना चाहिये.'[७१] उन्होंने गुप्त काल के स्वर्णिम काल को विक्रम काल में समाविष्ट करते हुए कहा है. ईसा से लगभग दौ सौ वर्ष पूर्व से छटी शताब्दी के अन्त और सातवीं शताब्दी के आरंभ (हर्षवर्धन) तक का काल विक्रम काल है. राज हर्षवर्धन के संबंध में उन्होंने कहा है. 'यद्यपि साहित्य में अथवा शिलालेखों में उसके साथ विक्रमादित्य का पद उपलब्ध नहीं होता तो भी मैं समझता हूं कि वह अपने कृत्यों के कारण विक्रमादित्य पद के योग्य राजा था. उसके साथ भारतीय इतिहास का विक्रम काल समाप्त होता है.'[७२]

विद्यावाचस्पति जी की दृष्टि में विक्रम काल की दो मुख्य विशेषतायें हैं. १– जो थोड़े–थोड़े समय के अन्तराल से बाह्य आक्रमण होते रहे उन्हें भारतीय वीर परास्त करते रहे. विदेशी आक्रमणों का यह दौर ईसा की छटी शताब्दी के अन्त तक जारी रहा. २– विक्रम काल की दूसरी विशेषता यह थी कि उसमें साहित्य–कला–शिल्प और वैभव की अपूर्व वृद्धि हुई. इस काल को विक्रम काल के नाम से विशेषित करने का कारण देते हुए विद्यावाचस्पतिजी ने कहा है कि– इस काल के विक्रमादित्य उपाधि से विभूषित राजाओं ने विदेशी आक्रान्ताओं को पराभूत किया था. कुछ विद्वानों ने १२ विक्रमादित्य राजाओं की गणना की है, पर पांच विक्रमादित्यों के ही ऐतिहासिक प्रमाण विद्यमान हैं. शक आक्रान्ताओं को परास्त करने वाले राजा सर्वप्रथम विक्रमादित्य थे. तत्पश्चात् शक, यवन आदि आक्रमणकर्ताओं को परास्त करने वाले दक्षिणस्थ राजा प्रथम शातकर्णी द्वितीय विक्रमादित्य थे. विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले और विदेशियों को परास्त करने वाले अन्य राजा थे – समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, यशोधर्मन् और हर्षवर्धन. हर्षवर्धन के साथ विक्रम काल की समाप्ति होती है.

विक्रम काल में बौद्ध धर्म का क्षय होने का कारण बतलाते हुए लेखक ने लिखा है –'आक्रान्ताओं को मुकाबला करने के लिए जो बल और उग्र भाव चाहिये, प्रारंभिक बौद्ध धर्म उसका विरोधी था. इस कारण भारत वर्ष को बौद्ध धर्म का सहारा छोड़ देना पड़ा पड़ा.'[७३] विक्रम काल में वैदिक धर्म पौराणिक धर्म के रूप में परिवर्तित हो गया. २४ हजार श्लोकों का महाभारत उसी काल में एक लाख श्लोकों से भी अधिक बड़ा हो गया. उसी काल में वह संस्कृत साहित्य उत्पन्न हुआ, जिसके कारण भारत का सिर संसार में ऊँचा है. उसी काल में पाणिनि–पतंजलि हुए, जिनके संस्कार के कारण आर्षवाणी संस्कृत के रूप में बदल गई. उसी काल में कालिदास, भारवि, भवभूति आदि महाकवि हुए. शिक्षा, कल्प, व्याकरण आदि कानिर्माण और भाषा का विकास भी उसी काल में हुआ. श्री रामधारीसिंह दिनकर ने उस काल की महत्ता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है, 'चौथी सदी तक आते–आते हिंदुत्व का पूरा विकास हो गया और उसके वे सारे अंग पुष्ट हो गए जिन्हें हम आज देखते हैं... हिन्दुत्व के जो भी मुख्य अंग हैं, उसके जो भी प्रधान लक्षण और विशेषतायें हैं वे गुप्तकाल तक बढ़कर तैयार हो गये. इसके बाद हिन्दुत्व के निर्माण में कोई नई ईट नहीं लगी. .. कहीं से भी उसने कोई बड़ा उपकरण नहीं लिया.'[७४] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी गुप्तकाल की महत्ता गाते हुए कहा है –'जो पुराण और स्मृतियाँ आजकल निःसंदिग्ध रूप में प्रामाणिक मानी जाती हैं, उनका संपादन अंतिम रूप में उसी गुप्तकाल में हुआ था, जो काव्य, नाटक, कथा–आख्यायिकायें, गुप्तकाल में रची गयीं, वे आज भारतवर्ष का चित्त मुग्ध कर रहीं है, जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए वे सैकड़ो वर्षो बाद आज भी भारतीय मनीषा को प्रेरणा दे रहें हैं.'[७५]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६.५ भारतीय संस्कृतिः मध्यकालः-

सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु (६४७ ईस्वी) और महमूद गजनवी के आक्रमण (दसवीं शताब्दी) के बीच का लगभग ३५० वर्षों का काल मध्यकाल कहलाता है. विद्यावाचस्पति जी के अनुसारइस काल की सर्वप्रमुख तीन घटनायें हैं. १– भारत के क्षत्रिय, राजपूत नाम से संबोधित किये जाने लगे. २– मुगल लोग सिन्ध की सीमा में घुस आये. ३– विदेशी आक्रान्ताओं ने भारत के आन्तरिक भू–भाग पर बड़ा आक्रमण करने का यत्न नहीं किया, और न ही देश में रघु, समुद्रगुप्त और हर्षवर्धन जैसे प्रभावशाली शासक पैदा हुए.

सांस्कृतिक दृष्टि से मध्यकाल के दो सुप्रसिद्ध आचार्य हैं – कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य. दक्षिण के राजाओं ने भारतीय संस्कृति को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया. संस्कृत भाषा ने दक्षिणी भाषाओं का विशेष विकास किया. रामानुज, मध्वाचार्य आदि मूर्धन्य सिद्धान्त प्रवर्तक आचार्य दक्षिण में ही हुये. विजयनगरम् के आश्रित विद्वान सायण और माधव ने वेदों के भाष्य किये. दक्षिण में प्राचीन काल से संस्कृत नाट्य प्रदर्शन की भी परंपरा रही. भास के जितने भी नाटक मिले हैं, वे दक्षिण में ही मिले हैं, दक्षिण के मन्दिर भी अपनी विशालता और कला के लिए प्रसिद्ध हैं. तंजोर का उत्कृष्ट शिल्प कला युक्त रामेश्वर मन्दिर १६० फुट ऊंचा है. विद्यावाचस्पति जी की दृष्टि में – 'दक्षिण बहुत काल तक बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रहा. इस कारण उसमें संस्कृति का प्रवाह उत्तर की अपेक्षा अधिक स्वच्छन्दता से और अधिक देर तक चलता रहा.'[७६]

मध्यकाल से आधुनिक काल के प्रारंभिक चरण (१२ वीं शताब्दी) तक काव्य, नाटक, कथा, इतिहास, चरित्र और वास्तुकला के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति का जो प्रवाह प्रवाहित हुआ उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है – माघ ('शिशुपाल वध'), भर्तृहरि ('भट्टिकाव्य'), श्रीहर्ष ('नैषध चरित'), जयदेव ('गीत गोविंद') आदि कवियों के काव्य उसी मध्य युग में लिखे गए. करूण रस के सिद्धहस्त कलाकार भवभूति ('उत्तर रामचरित', 'मालती माधव', 'महावीर चरित') राजशेखर ('कर्पूर मंजरी') तथा कृष्णमिश्र ('प्रबोध चन्द्रोदय') उसी मध्य युग के नाटककार हैं. 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश', कथा सरित् सागर' जैसा व्यावहारिक, शिक्षाप्रद, कालजयी साहित्य उसी समय लिखा गया. कल्हण (राज तरंगिणी) बिल्हण (विक्रमांक चरित्र) बल्लाल (भोज प्रबन्ध) सनाढय करनन्दी (राम चरित्र) आदि इतिहासकार और चरित्र लेखक उसी मध्य युग के हैं. प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य, चिकित्साशास्त्रज्ञ वाग्भट्ट और धर्मशास्त्रवेत्ता विज्ञानेश्वर भी उसी मध्य युग के हैं, वास्तुकला का भी अच्छा विकास हुआ, उड़ीसा का भुवनेश्वर मन्दिर, बुन्देलखण्ड का खजुराहों का मन्दिर, आबू का जैन मन्दिर और एलोरा का कैलास मन्दिर उसी मध्यकाल की ही रचनायें हैं.

६.६ भारतीय संस्कृतिः वर्तमानकालः-

विद्यावाचस्पति जी ने भारतीय संस्कृति के तृतीय काल को वर्तमान काल कहा है. इस वर्तमान काल को सुविधा की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है १– स्वातन्त्रय पूर्व काल और २– स्वातंत्र्योत्तर काल. ११ वीं सदीं से बीसवीं सदी तक का प्रदीर्घ काल स्वातन्त्र्य पूर्व काल है. यह काल मुगल साम्राज्य और ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास की संस्कृति से जुड़ा हुआ काल है. एक प्रकार से यह काल अनेक कारणों से सुपरिचित काल होने के कारण इसका विस्तार से परिचय देने की आवश्यकता नहीं. इस्लाम के भारत में आगमन से हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति का मिश्रण प्रारंभ हुआ. अकबर ने 'दीने इलाही' के माध्यम से वही काम करने का प्रयास किया जिसका उद्योग साहित्य के माध्यम से कबीर और नानक ने किया था. उसकी इस उदारता का ही फल था कि उसके जाने के बाद ६० वर्ष तक मुगल साम्राज्य अबाध गति से आगे बढ़ता रहा और इसी के साथ चुपचाप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतवर्ष में विद्यमान हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति का मिश्रण जारी रहा. इस दोगली–मिश्रित संस्कृति के कारण भारतीय संस्कृति इतनी दुर्बल हो गयी कि भारत में पश्चिम का प्रवेश हो गया.[७७]

६.७ भारत में पश्चिम का प्रवेश और उसकी प्रतिक्रिया:-

दुर्बल भारत की आर्थिक खेती पर पश्चिम के अंग्रेज टिड्डी दल की तरह टूट पड़े. 'फंसि भारत जर्जर भयो, काबुल युद्ध अकाल', 'बढ़ै ब्रिटिश वाणिज्य पै हमको केवल सोक' इत्यादि अनेक रूपों में 'धन विदेस चलि जात' की व्यथा भरी प्रक्रिया शुरू हो गई.[७८] 'राज्यस्य मूलं अर्थः'. यूरोपियन लोगों के प्रवेश के साथ ही देश की कारीगरी मरती गई. भारतीय जीवन का हरेक अंग बुरी तरह से प्रभावित हो उठा. जहां–जहां यूरोपियन लोगों के चरण पड़ते गये वहां–वहां शेष सामाजिक संगठन के साथ ही साथ शिक्षा की प्राचीन योजना भी टूटती गयी. जैसे मुगल राज्य के अन्तिम चरण में भारत में दोगला वर्ग उत्पन्न हुआ वैसे ही उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे चरण में लॉर्ड मैकाले की शिक्षा प्रणाली के कारण भारत में एक नया दोगला–मिश्रित वर्ग उत्पन्न हो गया, जो रंग–रूप से भारतीय होते हुए भी रहन–सहन से पूरा साहब बनने का प्रयत्न कर रहा था. १८५८ से लेकर लगभग २५ वर्षो तक भारत पर पश्चिम का राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभाव बिना किसी रुकावट के बढ़ता चला गया. तत्पश्चात् सुधारकों के प्रादुर्भाव व सुधारकों से कुछ भिन्न पर अन्तिम लक्ष्य में समानता की दृष्टि रखने वाले लोकमान्य तिलक जैसे स्वाधीनता के पुजारियों के प्रयास से भारतीय संस्कृति, भारतीयता और भारतीय स्वाधीनता की दृष्टि से सर्वतोमुखी जागृति हुई. शान्ति निकेतन, गुरुकुल कांगड़ी, पुणे व काशी के कतिपय राष्ट्रीय शिक्षणालयों ने तथा तत्कालीन भारतीय साहित्य ने यूरोप के संपर्क से उत्पन्न दोगले वर्ग की मानसिक दासता को तोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की. डॉ. जगदीशचन्द्र वसु, डॉ. चन्द्रशेखर वेंकटरमन, सर शान्तिस्वरूप भटनागर की वैज्ञानिकता व रवीन्द्रनाथ ठाकुर व महात्मा गांधी की व्यापक दृष्टि ने 'दीन–छीन' भारत को एक नया तेज, नयी दृष्टि और अभिनव आत्मबल प्रदान किया.

भारतीय संस्कृतिः स्वातंत्र्योत्तर कालः- मुगल और ब्रिटिश–साम्राज्य काल के बाद तथा स्वातंत्र्य–युद्ध के पश्चात् १५ अगस्त १९४७ से भारतीय संस्कृति के वर्तमानकालीन उत्तरार्द्ध अर्थात् स्वातंत्र्योत्तर काल की शुरुआत हो जाती है. विद्यावाचस्पतिजी के अनुसार इस काल में प्रथम–द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बाद तृतीय पंचवर्षीय योजना की तैयारी से आर्थिक परिवर्तन होने की आशा है. हिन्दी भाषा की सब दिशाओं में उन्नति शुरु हो गई है, पर महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, प्रेमचन्द जैसे समकक्ष साहित्यकार नये सिरे से अभी मैदान में नहीं आये हैं. वैज्ञानिक–ऐतिहासिक अनुसंधान के कार्य में भी सविशेष उन्नति हो रही है. राजगोपालाचार्य और श्री क.मा. मुंशी जी जैसे राजनीतिज्ञों के साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण होने से आम लेखकों को प्रोत्साहन मिला है. ये सब वर्तमानकालीन प्रवृत्तियां भारतीय संस्कृति की समर्थक प्रवृत्तियां हैं. इस प्रकार इन वर्तमानकालीन भारतीय संस्कृति के अनुकूल प्रवृत्तियों का विवेचन करने के बाद विद्यावाचस्पतिजी ने उन प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है, जो भारत के लिए नवीन और महात्मा गांधी या भारतीय संस्कृति की विचारधारा के प्रतिकूल हैं. जैसे– १– राजकीय स्तर पर ईश्वर और धर्म का प्रयोग बंद–सा हो गया है. २– उच्च अधिकारियों द्वारा अंग्रेजी की शिक्षा को स्थिर अंग बनाने का प्रयास किया जा रहा है. ३– तलाक की प्रथा राजनियम द्वारा मान ली गई है. ४– चर्खे का स्थान मशीन लेती जा रही है. ५– शिक्षा की पूर्ति के लिए विदेश जाकर पढ़ना अधिक आवश्यक हो रहा है. ६– वास्तुकला में भारतीय निर्माण कला का स्थान पश्चिम की शैली ने ले लिया है, प्रायः नयी सरकारी इमारतें 'डिब्बा' प्रणाली पर बनायी जा रही हैं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

विद्यावाचस्पति जी ने अंत में भारतीय संस्कृति के भविष्य के प्रति चिंता महसूस करते हुए

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतावनी की शैली में पूर्ण सतर्कता के साथ कहा है – 'राष्ट्रीय नेतृत्व के नीचे पश्चिम और भारतीय सभ्यताओं के मिश्रण का एक नया परीक्षण किया जा रहा है. भारत और पश्चिम के वर्तमान संपर्क के अन्त में कौन जीतेगा अभी यह कहना कठिना है. देश की वर्तमान प्रगति के नेता पं. जवाहर लाल नेहरू हैं जो स्वयं पश्चिम और पूर्व के समन्वय के परिणाम हैं. कहा जा सकता है कि उनके दिमाग पर पश्चिम का और दिल पर भारत का प्रभुत्व है. अन्त में उन्होंने कहा है कि –'यह वर्तमान काल भारतीय संस्कृति को किधर ले जायेगा यह शायद आज से २० साल पीछे भली प्रकार बताया जा सकेगा.'[७९] विद्यावाचस्पति जी के उक्त कथन के उपरान्त अब ३४ साल बीत चुके हैं. अभी तक तो भारत पर पश्मात्य संस्कृति हावी है, क्योंकि जिन पश्चिमाभिमुख ६ प्रवृत्तियों की ओर उन्होंने संकेत किया था वे क्षीण होने की अपेक्षा उत्तरोत्तर उग्र और प्रबल होती जा रहीं हैं.

६.८ भारतीय संस्कृति का विदेशों में विस्तारः-

विद्यावाचस्पति जी ने 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह' का ३० वां अध्याय उक्त शीर्षक से ही लिखा है, जिसमें आधुनिक तो नहीं, अपितु प्राचीन भारतीय संस्कृति विदेशों में किस तरह से फैली इसकी चर्चा की है. सबसे प्रथम उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि भारतवासी संकीर्ण, कूपमण्डूक नहीं, अपितु भ्रमणशील थे, वे समुद्रपार भी जाते थे. विद्यावाचस्पति जी के शब्दों में –'जल और स्थल के भागों में प्राचीन भारत के साहसी निवासी पृथ्वी के दूर से दूर देशों में जाते थे, उनसे व्यापार करते थे और ज्ञान का आदान–प्रदान करते थे. उस युग में भारतवासियों में वास्को डि गामा और कोलम्बस जैसे उत्साही और उद्योगी पुरुषों की कमी नहीं थी. वह दूसरे देशों में व्यापार करके लौट आते थे, परन्तु कभी–कभी समूह के समूह वहीं बस जाते थे.'[८०]

प्राचीन भारतवासियों की भ्रमणशीलता का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि वे पहले पर्वतों से मैदान में आये औरे फिर समय–समय पर ईरान, लंका, अफ्रीका, मिस्र, स्केण्डीनेविया, चीन, हिन्दचीन, मलाया, हिन्देशिया, स्वर्णद्वीप समूह के देशों (जावा अर्थात् यवद्वीप, सुमात्रा, बाली), इंडोनेशिया, सीरिया, मैसिडोनिया, एदीरस, कम्बोडिया, वर्मा, तिब्बत, स्याम, नेपाल आदि ही नहीं, अमेरिका भी गये. विद्यावाचस्पति जी के अनुसार –'पहले समझा जाता था कि अमेरिका को सबसे पहले तलाश करने वाला कोलम्बस था, परन्तु ऐतिहासिक अनुसंधान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अमेरिका में प्रथम प्रवेश का श्रेय भारतवासियों का था.'[८१]

ईरान में भारतीयों के पहुंचने का आधार उनका धर्मग्रंथ जिन्दावस्था है. उस ग्रंथ का, भाषा और भाव की दृष्टि से वेदों से बहुत निकट का संबंध है.[८२] अफ्रीका में भारतीयों के पहुंचने का आधार यह है कि फोनेशियन शब्द की उत्पत्ति 'पणि' से हुई है. अत्यन्त प्राचीन काल में आर्य जाति का एक वर्ग 'पणि' कहलाता था. पणि लोग व्यापारी थे. वणिक् शब्द पणि से ही निकला है. पणि लोग नौकाओं से समुद्रों को पार करके सुदूर देशों में व्यापार के लिए जाते थे. मिस्र वासियों के पूर्वज सांस्कृतिक दृष्टि से ही नहीं शारीरिक दृष्टि से भी भारतवासियों के समान थे. स्केण्डिनेविया में भारतीय संस्कृति के अवशेष पाये जाते हैं. स्केण्डिनेवियन शब्द की उत्पत्ति 'क्षत्रिय' शब्द से हुई है.

बौद्ध धर्म के प्रचारक सीरिया, मैसिड़ोनिया, एदीरस, चीन, सिंहल आदि देशों में प्रचारार्थ गये. स्वर्णद्वीप समूह के देशों में महात्मा बुद्ध से पहले भी भारतीय संस्कृति का दौर–दौरा था. महाभारत–रामायण और भारत की अन्य ऐतिहासिक और धार्मिक परम्पराएँ उन द्वीपों में आज भी उसी स्पष्टता से विद्यमान है, जैसी भारतीय ग्रामों में. डॉ. रघुवीर ने उन द्वीपों की यात्रा करके जो जानकारी प्राप्त की है उससे तो यही प्रतीत होता है कि भारत और स्वर्णद्वीप मानो एक ही देश के दो प्रदेश हैं. विद्यावाचस्पति जी की सम्मति में– 'महात्मा बुद्ध के पश्चात् तो भारत मानो गंगोत्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का जलस्रोत बन गया. वहाँ से चली हुई धर्म की धारायें गंगा के जल की तरह दक्षिण–पूर्वी एशिया को सींचती हुई बहने लगीं.'[८३]

कंबोड़िया आजकल हिन्दचीन का एक भाग माना जाता है, उसे उत्तरीय भारत के कम्बोज नामक प्रान्त के निवासियों ने बसाया था.[८४] राम ने विवश होकर लंका को जीता था, पुनरपि उन्होंने वहाँ का राज्य, राजा के अनुज को देकर अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के सामने एक आदर्श उदाहरण रख दिया था. भारतीयों में युद्ध द्वारा विदेशों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा नहीं थी. फलतः वे जिस देश में गये वहीं के बन गये, और वहाँ के निवासियों से उनके बहुत गहरे संबंध हो गये, परिणामस्वरूप उन्हें कहीं से भागना न पड़ा. ईसा से ६८० वर्ष पूर्व भारत के व्यापारियों ने समुद्र के रास्ते से चीन पहुँचकर 'लंगगा' नामक शहर बसाया था. स्वर्णद्वीप समूहवाले देशों की इमारतों के अवशेषों, रीति–रिवाजों और साहित्य को देखकर निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि – उन प्रदेशों को मुख्य रूप से भारतवासियों ने ही बसाया था.[८५]

स्याम, नेपाल आदि देश राजनैतिक दृष्टि से चाहे भिन्न हों, पर धार्मिक और ऐतिहासिक परम्पराओं की दृष्टि से ये देश और भारत एक ही नैतिक शरीर के अंग प्रतीत होते हैं. विद्यावाचस्पति जी के शब्दों मेंगंगा की घाटी से लेकर यदि मलाया की दक्षिणी नोक तक एक रेखा खींचे तो वह जिन स्थानों में से होकर गुजरेगी, वहाँ यात्रा करता हुआ कोई भी भारतवासी यह अनुभव नहीं कर सकता कि वह किसी परदेश में जा रहा है, उसे सब जगह अपनेपन के से चिह्न मिलेंगे.[८६] महाराजा अशोक ने जिन देशों में धर्म–प्रचार के लिए प्रचारक भेजे उनकी सूची में एशिया के अतिरिक्त अफ्रीका और यूरोप नामक महाप्रदेशों का भी नाम है.[८७]

प्राचीन भारतवासियों के भ्रमणशील होने की पुष्टि विदेशी विद्वान हैविट के इस कथन से होती है कि– 'जो हिन्दू व्यापारी भारत से मेक्सिको आये थे, वे अपने साथ पाण्डवों का अठारह महीनों का वर्ष, व्यापार व्यवस्था और भारतीय बाजार की शैली लेकर आये थे.'[८८] अंत में विद्यावाचस्पति जी ने निष्कर्ष रूप में कहा है – अमेरिका के पुराने निवासी केवल नाम से ही इण्डियन नहीं थे, वस्तुतः वे भारत के यात्रियों की ही सन्तान थे.[८९]

विद्यावाचस्पति जी 'भगवद्गीता' को भारतीय संस्कृति (अर्थात्–वेद, उपनिषद् और दर्शनों) के सिद्धान्त वाक्यों का समन्वयात्मक ग्रन्थ मानते थे.[९०] वे प्रतिदिन प्रातः संध्या के बाद गीता का पाठ करते थे.[९१] श्री शंकरदेव विद्यालंकार के अनुसार– 'मैथ्यू आर्नल्ड ने संस्कृति की परिभाषा करते हुए माधुर्य और प्रकाश नामक जिन दो आवश्यक उपादानों की चर्चा की है, उन्हें हम विद्यावाचस्पति जी के जीवन में प्रतिफलित हुआ पाते हैं.'[९२] प्रो. विजयेन्द्र स्नातक ने उन्हें 'भारतीय मनीषा का प्रतीक' कहा है.[९३] 'संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन' देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वैदिक काल से लेकर स्वतंत्र भारत तक के इतिहास पर अपनी कलम चलाई है. 'उपनिषदों की भूमिका', 'वैदिक वर्णव्यवस्था', 'मृतक श्राद्ध पर विचार', 'ईशोपनिषद्भाष्य', 'अध्यात्म रोगों की चिकित्सा' और 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह' से स्पष्ट है कि विद्यावाचस्पति जी प्राच्य भारतीय संस्कृति के प्रकाण्ड पण्डित और व्याख्याकार थे, और उनमें 'प्राचीन भारतीय शास्त्रों का परम वैदुष्य'[९४] सन्निहित था.

हम इस भारतीय संस्कृति विषयक अध्याय का समापन विद्यावाचस्पति जी द्वारा 'भारतीय संस्कृति की रक्षा' हेतु ही राष्ट्रीय नेताओं से किये गये हार्दिक निवेदन के साथ करना चाहते हैं. प्रस्तुत निवेदन हरेक के लिए पठनीय, मननीय व आचरणीय है. निवेदन विद्यावाचस्पति जी के शब्दों में इस प्रकार है.... 'हरेक देश और जाति की अपनी अलग संस्कृति होती है. उसकी रक्षा वह जाति ही करती है, जिसके हाथ में राज्यसत्ता हो. कई संस्कृतियों को यह सौभाग्य प्राप्त है कि उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रक्षा अनेक राष्ट्र करते हैं ..... हिन्दू संस्कृति इस दृष्टि से कुछ निर्बल है, क्योंकि उसका प्रभाव केवल एक देश तक ही सीमित है, परन्तु सन्तोष की बात यह है कि वह एक राष्ट्र, आकार और संख्या में कई राष्ट्रों के बराबर है. यदि वह एक ही राष्ट्र अपनी संस्कृति से प्यार करे और उसकी रक्षा का प्रयत्न करे तो संसार की कोई शक्ति नहीं, जो उसका बाल बांका कर सके. मेरा राष्ट्र और राष्ट्र के नेताओं से निवेदन है कि वे समय रहते सचेत होकर भारत की उज्ज्वल संस्कृति को अपनायें. उसके संरक्षण के उपायों पर विचार करें और भारत के भावी राजमहल की दीवारें उसी नींव पर स्थापित करें. ध्यान रखें कि इसका विकल्प बड़ा ही भयानक है. भारतीय संस्कृति के अभाव में शीघ्र ही वह समय आयेगा कि देश की राजनीति बोल्शेविज्म से ओत–प्रोत हो जायेगी. क्योंकि प्रत्येक देश को कोई न कोई नींव अवश्य चाहिये.''[६५]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ

१. हिन्दी साहित्य कोशः भाग–१–८६६
२. महादेवी साहित्यः भाग–१–३२
३. भारतीय संस्कृति का प्रवाह–२
४. मैथिलीशरण गुप्त और उनका साहित्य–४७६
५. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः १७ जून १९७६ पृ. ३५ : लेख–आचार्य द्विवेदी जी से एक साक्षात्कारः संस्कृति सभ्यता और कुछ प्रश्नः प्रस्तुतकर्ता– मित्रत्रयी १–सुरेश ऋतुपर्ण २–हरीश नवल ३–राकेश जैन
६. मैथिलीशरण गुप्त और उनका साहित्य–४७७
७. महादेवी साहित्यः १–लेखः संस्कृति का प्रश्न–३२
८. मैं इनका ऋणी हूँ–१०७
९. तत्रैव–६०
१०. तत्रैव–६१
११. भारतीय संस्कृति का प्रवाहः १, १५६
१२. हिन्दी साहित्य कोशः १–८६८
१३. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः १७ जून १९७६–३५
१४. भारतीय संस्कृति का प्रवाह–१
१५. मैथिलीशरण गुप्त और उनका साहित्य–४७८
१६. महादेवी साहित्यः १–३४
१७. स्वतंत्र भारत की रूपरेखा–३४
१८. भारतीय संस्कृति का प्रवाहः प्रस्तावना–क
१९. तत्रैव–७
२०. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण–भाग–४,–१८७
२१. भारतीय संस्कृति का प्रवाहः प्रस्तावना–ख
२२. तत्रैव–१०
२३. तत्रैव–११
२४. तत्रैव–१२
२५. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २६ फरवरी १९६१, पृ. ६, लेख–शील और प्रज्ञा के धनी इन्द्रजी
२६. प्रह्लादः त्रैमासिक शोध पत्रिकाः अप्रैल १९६०–संपादकीय–६
२७. प्रह्लादः अप्रैल १९६०ः लेख–भारतीय मनीषा के प्रतीक पं. इंद्र विद्यावाचस्पति–३०
२८. तत्रैव–२७
२९. आर्यसमाज का इतिहासः भाग–५–१४२–१४३
३०. हिन्दी साहित्य कोशः भाग–२–३६–३७
३१. हिन्दी गद्य साहित्यः –१३४
३२. इंद्र वेदालंकार लिखित 'प्रिंस बिस्मार्क' जीवनी में विषय–सूची से पूर्व दिये गए 'ग्रन्थकर्ता की अन्य पुस्तकें' से.
३३. इन्द्र विद्यावाचस्पति–६७
३४. संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन–४
३५. प्रह्लाद, अप्रैल १९६०–पृ. ८६ः लेख–इन्द्रजी की संस्कृत साहित्यानुशीलन की ऐतिहासिक दृष्टि
३६. तत्रैव–८८
३७. संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन–१७
३८. प्रह्लाद, अप्रैल १९६०–८८
३९. तत्रैव–८९
४०. तत्रैव–८९
४१. तत्रैव–९०
४२. वैदिक वर्ण व्यवस्था और श्राद्ध–७
४३. मृतक श्राद्ध पर विचार–११
४४. वैदिक वर्ण व्यवस्था और श्राद्धः वादे वादे जायते तत्वबोधः (प्राक्कथन)–१
४५. तत्रैव–४
४६. तत्रैव–३
४७. तत्रैव–४
४८. इन्द्र विद्यावाचस्पति–२२
४९. वैदिक वर्ण व्यवस्था और श्राद्ध–६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५०. आर्यसमाज के शास्त्रार्थ महारथी–७३
५१. काशी की पाण्डित्य परंपरा–५६१
५२. जातिभेद निर्मूलन–१०६
५३. वैदिक वर्ण व्यवस्था और श्राद्ध–६
५४. इन्द्र विद्यावाचस्पति–४१
५५. प्रह्लादः अप्रैल १९६०–८
५६. मृतक श्राद्ध पर विचारः मुंशीराम जिज्ञासु–३५
५७. वैदिक वर्ण व्यवस्था और श्राद्ध–४७
५८. कुटज– १२८–लेख–हिन्दी को पंजाब की देन.
५९. मेरे संस्मरणः मूलराज एम.ए.–७७
६०. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २६ फरवरी १९६१–९
६१. ईशोपनिषद् भाष्यः –१४६–१४७
६२. दाराशिकोह ने उपनिषदों के भाषान्तर में लिखा था– 'मैंने अरबी आदि बहुत सी भाषा पढ़ी, परन्तु मेरे मन का सन्देह छूटकर आनन्द न हुआ. जब संस्कृत देखा और सुना, तब निस्सन्देह मुझको बड़ा आनन्द हुआ' पं. भगवद्दत्त के अनुसार–दाराशिकोह के उपनिषदों के भाषान्तर का फारसी नाम है 'सिरे अकबर' अर्थात्–बड़ा रहस्य– 'सत्यार्थ प्रकाश' (संपा. युधिष्ठिर मीमांसक)–पृ. ४३३
६३. वेदवाणीः संपा. पदवाक्यप्रमाणज्ञ पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासुः 'मेरे पिता'–परिशिष्ट
६४. ईशोपनिषद् भाष्यः निवेदन–१
६५. आर्य सन्देशः २३ दिसंबर १९६०–२४
६६. मेरे पिता–परिशिष्ट–डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल
६७. अध्यात्म रोगों की चिकित्साः प्रस्तावना –पांच
६८. तत्रैव–५
६९. तत्रैव–१३०
७०. आर्य सन्देशः २३ दिसंबर १९६०–२४
७१. भारतीय संस्कृति का प्रवाह–८५
७२. तत्रैव–८७
७३. तत्रैव–८८
७४. संस्कृति के चार अध्याय–१०७
७५. मध्यकालीन धर्मसाधना–३२
७६. भारतीय संस्कृति का प्रवाह–१०६
७७. तत्रैव–१६२
७८. भारतेन्दु के विचार : एक पुनर्विचार –२३–२४
७९. भारतीय संस्कृति का प्रवाह–२२३
८०. तत्रैव–२२४
८१. तत्रैव–२२६
८२. तत्रैव–२२४
८३. तत्रैव–२२७
८४. तत्रैव–२२८
८५. तत्रैव–२२६
८६. तत्रैव–२२८
८७. तत्रैव–२२७
८८. तत्रैव–२२६
८९. तत्रैव–२३१
९०. भारतीय संस्कृति का प्रवाह–६३
९१. प्रह्लादः अप्रैल १९६०–६३–लेख–मेरे पूज्य पिताजी–लेखिका–डॉ. उषा पुरी विद्यावाचस्पति
९२. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २६ फरवरी १९६१–९.
९३. इन्द्र विद्यावाचस्पति : विजयेन्द्र स्नातक –२५
९४. प्रह्लादः अप्रैल १९६०–पृ. ४६: लेख–पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति से मेरा संपर्क
९५. वीर अर्जुनः १८ अप्रैल १९४८: संपादकीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०

विद्यावाचस्पति जीः निबन्धकार, कवि और नाटककार के रूप में

१०.१ विद्यावाचस्पति जीः निबन्धकार के रूप में:-

निबंध का प्रारंभिक रूप पत्रकारिता की भूमि पर फला–फूला है. डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे का यह मत सत्य है कि, १६ वीं सदी के सभी हिन्दी निबन्धकार पत्रकार थे. उक्त सदी की मराठी पत्र–पत्रिकाओं के 'निबन्धमाला', 'निबन्ध चन्द्रिका', 'निबन्ध सार' आदि पत्र भी निबंध विधा के विकास में पत्रकारिता के महत्व के द्योतक हैं.[१] १० वीं सदी की तरह २० वीं सदी के श्री गणेश शंकर विद्यार्थी व इन्द्र विद्यावाचस्पति के निबन्धों का रूप भी पत्रकारिता की भूमि पर पल्लवित–पुष्पित हुआ. जैसे उक्त सदी के पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित संपादकीय लेखों को निबन्ध कहा गया, वैसे ही विद्यार्थी व विद्यावाचस्पति जी के लेखों को भी निबन्ध ही कहा गया है. विद्यावाचस्पति जी द्वारा सम्पादित 'सद्धर्म प्रचारक' में स्वाधीनता के लिए मर मिटने वाले राष्ट्रभक्त स्वतंत्रता सेनानियों पर लिखे जोशीले लेखों को पढ़कर श्री गणेश शंकर विद्यार्थी इतने प्रभावित हुए थे कि वे उनसे मिलने कानपुर से हरिद्वार पधारे थे.[२]

'मॉडर्न रिव्यू' ने सन् १६१४ में विद्यावाचस्पति जी द्वारा लिखी 'राष्ट्रों की उन्नति' व 'राष्ट्रीयता का मूलमन्त्र' पुस्तकों को विषय प्रतिपादन और शैली की दृष्टि से 'अत्युत्तम निबन्ध कहा है और नए भावों, शैली की सुन्दरता और स्पष्टता के कारण पाठकों को इन्हें पढ़ने की सलाह दी है.[३] 'सद्धर्म प्रचारक' के संपादक की जगह जब विद्यावाचस्पति जी का पहले–पहल नाम छपा था तब स्व. लक्ष्मीघर बाजपेयी ने 'हिन्दी चित्रमय जगत्' में लिखा था– 'हिन्दी जगत् में एक मौलिक और तेजस्वी लेखनी ने प्रवेश किया है.'[४] 'विशाल भारत' ने 'स्वराज्य और चरित्र निर्माण' में संकलित 'हिन्दुस्तान' और 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित पांच लेखों को निबन्ध के रूप में ही संबोधित किया है. उसकी दृष्टि में निबन्धकार के विचार एकदम सुलझे हुए, उपयोगी और हरेक तरुण के लिए पढ़ने लायक हैं.'[५] 'आजकल' की दृष्टि में श्री विद्यावाचस्पति 'प्रौढ़ गद्य शैली संपन्न पत्रकार और लेखक थे.'[६]

प्रो. विजयेन्द्र स्नातक ने स्वीकार किया है, 'विद्यावाचस्पति जी का लेखन कर्म उपन्यास, जीवनी, संस्मरण, निबन्ध आदि विविध विधाओं में फैला हुआ है.'[७] श्री शंकरदेव विद्यालंकार की सम्मति में उनके निबन्ध 'मिताक्षरी शैली में लिखे गये विचारपूर्ण निबन्ध हैं.' जिस बात को समझाने में कई लेखक पांच पन्ने भर डालते हैं उसे पंडित विद्यावाचस्पति जी ने दो पन्नों में संयत परन्तु रोचक रूप में लिख देते थे.[८] श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के अनुसार– 'विद्यावाचस्पति जी के अग्रलेखों का प्रभाव प्रारंभ से ही मेरे मन पर था. 'अर्जुन' के डेढ़, पौने दो कॉलम में राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर लिखे गये इनके लेख इतने स्पष्ट और समझाऊ होते थे कि पढ़कर अज्ञ भी विशेषज्ञ का अभिमान कर सके.[९] अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार ने भी विविध दिशाओं में लेखन कार्य करने वाले विद्यावाचस्पति जी का सर्वप्रथम निबंध लेखक और तत्पश्चात् कवि आदि के रूप में उल्लेख किया है.[१०] उपन्यास सम्राट् प्रेमचंद ने जिन लेखकों व दैनिकों को पढ़ा उनमें विद्यावाचस्पति और उनके 'अर्जुन' पत्र का भी समावेश है.[११] स्व. डॉ. प्रशान्तकुमार वेदालंकार ने लिखा है कि–पं. विद्यावाचस्पति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जी के लेख अत्यन्त स्वाभाविक और सहज हैं. वे किसी भी हिन्दी व संस्कृत लेखक के लिए आदर्श हो सकते हैं....हम उनके अप्रतिम लेखन के प्रति श्रद्धावनत हैं.[१२] पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने कहा था कि–क्या यह संभव नहीं कि उनके 'गांव में बितायी रात', 'शहरों की कृत्रिम आवभगत' तथा 'अर्जुन' में प्रकाशित महत्वपूर्ण लेखों का संग्रह छाप दिया जाय, यह कार्य हो जाना चाहिए.'[१३] काश विद्यावाचस्पतिजी के श्रेष्ठ निबन्धों का संग्रह यथासमय प्रकाशित हो जाता तो अब तक़ उनका निबन्धकार का रूप जो ओझल–सा रहा है. वह कदापि न रहता, और हिन्दी निबन्ध साहित्य को विद्यावाचस्पति की देन का मूल्यांकन करने में किसी भी समीक्षक को असुविधा न होती.

निबन्ध साहित्यः- स्वयं विद्यावाचस्पति जी ने अपने 'अध्यात्म रोगों की चिकित्सा' नामक ग्रन्थ में लिखे दस अध्यायों को भी 'निबन्ध' विधा के अन्तर्गत ही समाविष्ट किया है. 'आत्मा', 'श्रद्धा', 'काम', 'क्रोध', 'लोभ', 'मोह', 'अहंकार' इत्यादि दस अध्यायों में ग्रन्थ को विभक्त कर वे लिखते हैं–इस ग्रन्थ में 'मैंने यथाशक्ति यत्न किया है कि निबन्ध की शास्त्रीय तथा व्यावहारिक, दोनों पहलुओं की भाषा सर्वसाधारण के समझने योग्य हो.'[१४]

विवेच्य विषय की दृष्टि से वर्गीकरणः- विद्यावाचस्पति जी ने सामान्य और गंभीर दोनों प्रकार के विषयों पर लेखनी चलायी है. उन्होंने विविध विषयों पर निबन्ध लिखे हैं, जो उनके व्यापक अध्ययन के परिचायक हैं, जैसे १– संस्मरणात्मक जीवनी परक निबंध २– आत्मकथात्मक निबन्ध ३– सम–सामयिक समस्या प्रधान निबन्ध ४– सामाजिक निबन्ध ५– संस्कृति विषयक निबन्ध ६– पत्रकारिता विषयक निबंध ७– साहित्यिक निबन्ध. शैली या रूप की दृष्टि से विद्यावाचस्पति जी के निबंधों को निम्नांकित वर्गों में बांटा जा सकता है १– वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्ध २– विचारात्मक .निबन्ध ३– भावात्मक निबन्ध ४– समीक्षात्मक निबन्ध ५– व्याख्यात्मक निबन्ध: इसी परिच्छेद में यथाप्रसंग हम जो उनके निबंधों के उद्धरण दे रहे हैं, उनसे अनायास स्पष्ट हो जाता है कि विद्यावाचस्पति जी इन सब शैलियों का सफलता के साथ समुचित प्रयोग करने में पूर्णतया सफल रहे हैं.

संस्मरणात्मक जीवनी परक निबन्धः- विद्यावाचस्पति जी ने अपने निबन्धों में राष्ट्रीय समस्याओं तथा सांस्कृतिक विषयों को प्रधान स्थान दिया है, परन्तु साथ ही उन्होंने व्यक्तिविशेष के व्यक्तित्व तथा जीवनी–वृत्त पर कुशल चित्रकार की तरह अपने निबन्धों में प्रकाश डाला है. जिस किसी के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा आस्था थी, उसके गुणों का वर्णन उन्होंने अंतःकरण पूर्वक किया है. प्रथम महायुद्ध शुरु होते ही राजा महेन्द्रप्रताप के साथ विदेश जाने वाले और फिर कभी लौटकर न आने वाले अपने एक मात्र भाई के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाला निबन्ध–'बड़े भाई हरिश्चंद्र',[१५] अपने विद्या गुरु के जीवन से संबंधित निबंध 'गुरुवर पं. काशीनाथ शास्त्री'[१६], 'अर्जुन' प्रेस के सहयोगी मशीनमैन पर प्रकाश डालने वाला निबंध 'उस्ताद काशीराम,'[१७] 'आचार्य नरेन्द्र देव'[१८] नामक निबंध, अपना यौवन, रोजगार और सुख–सर्वस्व धर्म–सेवा को अर्पण करने वाले, पं. विश्वंभरनाथ जी से संबंधित निबन्ध, 'एक आदर्श कर्मयोगी',[१९] 'हैदराबाद के न्यायमूर्ति रानड़े' केशवराव कोरटकर के सुपुत्र व लोकनेता के जीवन पर प्रकाश डालने वाला निबन्ध 'बैरिस्टर विनायकराव विद्यालंकार'[२०] गुरुकुल कुरुक्षेत्र की सेवा में समर्पण भाव से संलग्न तपोमूर्ति व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाला निबन्ध 'आचार्य प्रियव्रत विद्यालंकार'[२१] असाधारण प्रतिभा और तेज के खजाने, उग्र क्रान्ति के केन्द्र, राष्ट्र सेवी लाला हरदयाल के संबंध में अभिव्यक्त उनकी धारणा इसी संस्मरणात्मक जीवनी परक निबन्ध कोटि की है विद्यावाचस्पति जी जीवन में जिस किसी से प्रभावित हुए उस व्यक्ति विशेष की सेवाओं की प्रशंसा में उन्होंने दो–चार शब्द तो अवश्य ही कहें हैं. गुरुकुल में कई मास तक रहकर सरकारी शिक्षा के विरूद्ध कठोर आलोचनात्मक लेख लिखने वाले लाला हरदयाल के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संबंध में उन्होंने कहा है 'कम से कम मैंने अपने सारे जीवन में उनसे बढ़कर या उनके समान तीक्ष्ण प्रतिभा वाला व्यक्ति नहीं देखा.'[२२]

आत्म-कथानक निबन्धः- विद्यावाचस्पति जी द्वारा लिखित इस श्रेणी के निबन्धों को आत्म–परिचयात्मक निबन्ध भी कहा जा सकता है. इस श्रेणी का सर्वप्रथम निबंध है– 'मेरी प्रथम यात्रा'.[२३] यह लेखक द्वारा बचपन में की गई अपने पूर्वजों के मूलगांव 'तलवन' की यात्रा है. यह गांव जालन्धर शहर से बीस–बाईस मील दूरी पर स्थित है. द्वितीय निबन्ध है– 'दिल्ली जेल का मेरे मानस पर पड़ा सामूहिक प्रभाव'.[२४] तृतीय निबंध है– 'गांव में एक रात'.[२५] यह बिजनौर जिले के हसनपुर गांव में बितायी गई एक रात का वर्णन है. इस निबन्ध की समता श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने ए.जी. गार्डिनर के रेखाचित्रों से की है.[२६] चौथा निबंध है– 'मैं क्या न कर सका'. इसमें लेखक ने बतलाया है कि –'मैं अब तक एक प्रयत्न में सफल नहीं हो सका, और वह प्रयत्न था कि मैं सर्वप्रिय हो जाऊँ– मुझसे कोई नाराज न हो, मुझे लोग अजातशत्रु समझें.'[२७] पांचवां निबन्ध है– 'मृत्यु द्वार के दर्शन'. विद्यावाचस्पति जी ने इस निबन्ध में देहान्त से लगभग सवा वर्ष पूर्व निमोनिया के आक्रमण के बाद चेतना की अन्तिम सीमा–अचेतावस्था–तक पहुंचकर, जो कुछ अनुभव किया उसका वर्णन किया है. निबन्ध आद्यन्त उद्धरणीय है. प्रारंभ में लेखक ने लिखा है– 'गत वर्ष गर्मियों में मुझे एक दुर्लभ अनुभव प्राप्त हुआ. मैंने यह देख लिया कि मृत्यु का द्वार कैसा है और यह भी अनुभव कर लिया कि, वहां तक की यात्रा कैसे की जाती है, यदि एक कदम आगे बढ़ जाता, तो अनन्त में विलीन हो जाता. हुआ यह कि ठीक द्वार पर पहुंचने पर मुझे पीछे खींच लिया गया और मैं गहरे अंधकार से फिर प्रकाश में आ गया.' निबंध का समापन इस परिच्छेद के साथ इस प्रकार हुआ है. – 'इस घटना में मुझे तीन तथ्यों का अनुभव कराया, पहला, मनुष्य की जीवनेच्छा अति प्रबल है. स्वभावतः वह मरने की अपेक्षा अत्यन्त रोगी और निर्बल जीवन व्यतीत करना भी पसंद करता है. दूसरे, मरने से पूर्व की जीवन–चेष्टा वस्तुतः बहुत दुःखदायी होती है, उसे केवल अत्यन्त धैर्य से ही सहा जा सकता है. तीसरे, जब मनुष्य की चेतना जाती रहे, तब तक वह जिस अंधकार के प्रदेश में प्रवेश करता है, उससे वह सुख और दुःख दोनों से मुक्त हो जाता है. उस समय वह यह भी अनुभव करता है कि उसका अस्तित्व है.'[२८] छटा निबन्ध है– 'यदि मुझे पुनः जीने का अवसर मिले'. इस निबन्ध का भी प्रारंभ, मध्य और उपसंहार अवलोकनीय है. प्रारंभ में कहा गया है– 'यदि मुझे पुनः जीने का अवसर मिले, तो मैं भारतभूमि में ही उत्पन्न होना पसन्द करूंगा. इसे चाहे मेरी कूपमण्डूकता समझें, अथवा देश का मोह मेरी मनोवांछा यही है.' मध्य में कहा है– 'यदि मुझे पुनः जीने का अवसर मिले तो मैं चाहूंगा कि स्वदेश में शिक्षा प्राप्त करके, विदेश भ्रमण द्वारा उसे पुष्ट तथा परिपूर्ण कर लूं. तब कार्यक्षेत्र में प्रवेश करूं. उससे मेरा दृष्टिकोण अधिक विस्तृत हो जायेगा. निबंध की इतिश्री इन शब्दों के साथ हुई है– 'यदि अगले जीवन में निरोग शरीर मिलेगा, तो इस जीवन की अपेक्षा राष्ट्र की अधिक सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकूंगा, न अन्तरिक्ष की इच्छा है, और न पाताल की. मेरी इच्छा इस भूलोक तक ही परिमित है.'[२९]

समसामयिक समस्या प्रधान निबन्धः- विद्यावाचस्पति जी केवल संस्कृति के गूढ़ रहस्यों के विवेचन में ही नहीं लगे रहे, अपितु सम–सामयिक समस्याओं के प्रति भी वे एक लेखक एवं निबंधकार के नाते सतर्क रहे, चाहे फिर स्वातंन्त्र्य पूर्व काल हो या स्वातन्त्र्योत्तर. रॉलट बिल विरोधी राजनीतिक क्रान्ति के दिनों में उनके द्वारा लिखे गए कुछ लेखों के शीर्षक हैं– १– 'अजदहा जागा. दिल्ली में अपूर्व दृश्य'[३०] २– 'लंगड़ा खूनी मैदान में,[३१] 'हमारी छाती पर पिस्तौल'[३२] अग्रलेखों की तेजस्विता से क्षुब्ध होकर जब अंग्रेज सरकार की सेंसरशिप आयी तो उसने एक बार श्री विद्यावाचस्पति द्वारा लिखा पूरा अग्रलेख ही काट दिया, तब उन्होंने अग्रलेख के स्थान पर निम्नलिखित शेर दे दिया था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"करीब है यार रोज़े महशर, छुपेगा कुश्तों का खून कब तक।
जो चुप रहेगी जुबाने खंजर, लहू पुकारेगा आस्तीं का।।"[३३]

स्वातंत्र्य पूर्व काल में विद्यावाचस्पति जी द्वारा लिखे गये कतिपय अन्य लेखों के शीर्षक हैं १– 'सम्राट यहीं रहो'[३४] २– 'प्राचीन भारत में स्वाधीनता का अभाव'[३५] ३– 'चीन की उन्नति क्यों हुई'?[३६] ४– 'क्रान्ति', ५– 'सत्याग्रह'[३७] ६– 'साम्राज्यवाद', ७– 'संसार की विकट आर्थिक परिस्थिति'[३८] ८– 'दो मस्जिदें'[३९] ९– 'भाई परमानन्द और स्वराज्य'[४०] १०– 'भारत वर्ष किधर को'?[४१] स्वातंत्र्योत्तर कालीन सम–सामायिक समस्याओं से संबंधित उनके कतिपय निबन्धों या लेखों के शीर्षक हैं १– 'राष्ट्रभाषा की हत्या'[४२] २– 'श्री महाराणा प्रताप का स्मारक'[४३] ३– 'सरकार का संस्कृत आयोग'[४४] और ४– 'शहरों की कृत्रिम आवभगत'[४५] 'राष्ट्रभाषा की हत्या' निबन्ध में भारतीयों की मानसिक दासता की ओर संकेत करते हुए विद्यावाचस्पति जी कहते हैं– 'पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होकर हम स्वतन्त्र रूप से कोई निर्णय नहीं कर सकते. एक ओर अंग्रेजी और दूसरी ओर से फारसी लिपि और उर्दू, हमारे मस्तिष्क पर अधिकार किये बैठी है. हम सोच ही नहीं सकते कि हमारी अपनी लोकभाषा भी राष्ट्रभाषा हो सकती है. हमारी इस मनोवृत्ति को यदि आप दासता नहीं कहना चाहते तो 'दासता की प्रतिध्वनि' इस नाम से निर्दिष्ट कर दीजिये, परन्तु है तो दासता ही." श्री महाराणा प्रताप और रानी लक्ष्मीबाई के यथोचित स्मारकों के अभाव से व्यथित होकर उन्होंने लिखा था– 'किसी भी जाति के विद्या और आचरण का स्तर पहचानना हो तो यह देखना पर्याप्त है कि उस जाति के सर्वसामान्य और सुरक्षित लोग किन व्यक्तियों का आदर करते हैं. एक आदर्श प्रेमी जाति में सन्तों और वीरों का आदर किया जाता है. .. यह आश्चर्य की बात है कि अपने का आदर्श प्रेमी समझने वाले भारतवासियों ने आज तक अपने देश के अनेक महात्माओं और वीरों की स्मृतियों को उचित सम्मान नहीं दिया. आज तक झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई और चित्तौड़ केसरी महाराणा प्रतापसिंह के समुचित स्मारकों का न बनना हम लोगों की निर्बलता और क्षुद्र प्रवृत्तियों का प्रमाण है."[४६] 'सरकार का संस्कृत आयोग' निबन्ध में भारत सरकार की संस्कृत विषयक नीति से व्यथित होकर विद्यावाचस्पति जी ने कहा है– "आयोग के सदस्यों का निश्चय करते हुए यह ध्यान रखा गया है कि उसमें ऐसे व्यक्ति न आने पायें जिनका दृष्टिकोण सर्वथा स्वतन्त्र हो. जो महानुभाव, आयोग की सदस्यता से सम्मानित किये गये हैं. वे किसी न किसी रूप में सरकार के प्रबन्ध यन्त्र से संबद्ध हैं... अनुभव से प्रतीत होता है कि जिस दशा में सरकार को कोई काम करना होता है, उसके लिए आयोग बनाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती. संगीत और नृत्य को राष्ट्रीय कार्यक्रम में ऊँचा स्थान देने के संबंध में कोई कमीशन नहीं बिठाया गया तो भी उन्हें आज राष्ट्रपति भवन तथा अन्य सरकारी स्थानों में उच्च स्थान प्राप्त हो गया है."[४७]

सामाजिक निबन्धः- विद्यावाचस्पति जी के सामाजिक निबंधों में अधिकांश निबंध आर्य सामाजिक क्षेत्र से संबंधित हैं. अतः उन्हें आर्य सामाजिक निबंध भी कहा जा सकता है, इस श्रेणी के निबन्ध इस प्रकार हैं– १– 'आर्य कौन'?[४८] २– 'आर्य समाज का भविष्य',[४९] ३– 'श्री दयानन्द सेवा–सदन की प्रस्तावित योजना',[५०] ४– 'आर्य वीर दलों का संगठन,'[५१] ५– 'आर्य समाज और उसका साहित्य',[५२] ६– 'विश्व साहित्य में सत्यार्थ प्रकाश का स्थान',[५३] ७– 'महर्षि दयानन्द की बोधरात्रि',[५४] ८– 'पूर्ण स्वराज्य के आद्य स्वप्नद्रष्टाः स्वामी दयानन्द',[५५] ९– 'पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा',[५६] १०– 'वैदिक धर्मी का राजनैतिक दृष्टिकोण',[५७] ११– 'स्वाधीनता संग्राम में आर्य समाज का भाग',[५८] १२– 'आर्य समाज और राजनीति',[५९] १३– 'आर्य समाज की कार्य प्रणाली में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता' और १४– 'श्री स्वामी स्वतंन्त्रानंद जी'.[६०] विद्यावाचस्पति जी आर्यसमाज की अंतर्राष्ट्रीय संस्था– 'सार्वदेशिक सभा' के प्रधान और मन्त्री थे. आर्य समाज की गतिविधियों से तो वे आजीवन जुड़े रहे. श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक की दृष्टि में उनके 'आर्य सामाजिक लेख आदेश–निर्देशों से युक्त और सारगर्भित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहते थे.'[६१] आर्य समाज का स्वयंसेवक दल– 'आर्य वीर दल–' को भी प्रशिक्षित करने के लिए भी विद्यावाचस्पति जी ने दस लघु निबंध लिखे थे. जिनके शीर्षक हैं– १– 'आर्य वीर दल का प्रधान लक्ष्य', २– 'क्षात्र शक्ति का सामूहिक प्रादुर्भाव' ३– 'आर्य वीर दल का ध्वज', ४– 'आर्य वीर दल के कर्तव्य', ५– 'आर्य वीर दल का विधान तथा उसका आर्य समाज से संबंध', ६– 'आर्यत्व की व्याख्या', ७– 'आर्य वीर और राष्ट्र धर्म', ८– 'आर्य वीर दलों का वर्तमान कार्यक्रम, ९– 'आर्य वीर दल और अन्य स्वयंसेवक दल', १०– 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और आर्य वीर दल' इन दस लघु लेखों को संकलित कर एक स्वतन्त्र पुस्तिका तैयार की गई है जिसका नाम है– 'आर्य वीर दल का बौद्धिक शिक्षण'.[६२] जैसे इन लेखों का संग्रह प्रकाशित किया गया है तद्वत् उपरोक्त आर्य सामाजिक तेरह निबंधों का भी एक स्वतंत्र श्रेष्ठ संग्रह तैयार किया जा सकता है.

विद्यावाचस्पति जी ने ३ जून १९०८ ई. के 'सद्धर्म प्रसारक' में 'क्ष' छद्म नाम से 'आर्य समाज और उसका साहित्य' नामक लेख लिखा था. इस लेख के लेखन काल में वे छात्र थे और उनकी आयु केवल १६ वर्ष की थी. तत्कालीन उनकी समृद्ध भाषा और तीव्र आलोचनात्मक शैली के उदाहरण के रूप में उक्त लेख का एक गद्यांश प्रस्तुत है. आर्य सामाजिक क्षेत्र की कविता की स्थिति का वर्णन करते हुए वे कहते हैं– 'कविता के विषय में हमें यही कहना है कि आर्य समाज ने कविता–देवी का इतना अपमान किया है जितना कोई पूरी शक्ति से कर सकता था. जिन लोगों के ऊपर कभी कविता–देवी ने भूलकर भी दृष्टि निक्षेप नहीं किया, जिन्होंने कभी जन्म भर में एक बार भी सत्कवियों का संग नहीं किया, वे लोग केवल गले के प्रभाव से या पद के प्रभाव से आर्य समाज में कवि पदवी पाकर कविता–देवी के नाम पर अकड़–अकड़ कर चलते तथा नगर–कीर्तनों में सरस्वती की कर्णशूल तुक बन्दियों को सुना–सुनाकर तालियों का प्रसाद पाते हैं. आर्य समाज ने कविता का ख़ण्डनात्मक पद्यों तथा तुकबन्दियों से बिगाड़ कर जितना पाप अपने ऊपर लिया है, उससे निस्तार पाना कष्ट साध्य हैं.''[६३] 'विश्व साहित्य में सत्यार्थ प्रकाश का स्थान' निबंध में वे अर्न्तराष्ट्रीय धार्मिक साहित्य में 'सत्यार्थ प्रकाश की असाधारण महत्ता' का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं– ''यह तो संभव है कि सत्यार्थ प्रकाश का पढ़ने वाला व्यक्ति उसकी कुछ बातों से असहमत हो, परन्तु यदि वह पक्षपात की ऐनक को उतारकर सत्यार्थ प्रकाश के समस्त समुल्लासों को पढ़ेगा, तो वह इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकता कि ग्रन्थकर्ता ने युक्ति और प्रमाण की सहायता से सत्य पर पहुंचने का प्रयत्न किया है... जो लोग सत्यार्थ प्रकाश को पढ़े बिना ही केवल सुनी–सुनाई बातों के आधार पर सम्मति बना लें अथवा केवल उसी भाव को पढ़कर सम्मति बनाए जिसमें उनके अपने परम्परागत सम्प्रदाय की आलोचना की गई है, उनकी सम्मतियों को छोड़ दीजिए और पूरे सत्यार्थ प्रकाश को पढ़ जाइये, तो फिर चाहे आप किसी मत के अनुयायी हो, आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि महर्षि ने विविध धर्म और मत–मतान्तरों की आलोचना करने में अणुमात्र का भी पक्षपात नहीं किया. पौराणिक, जैन, ईसाई और मुसलमान के माने हुए सांप्रदायिक विचारों तथा रूढ़ियों की एक ही कसौटी पर कसकर परीक्षा की है. उनके तर्क की कैंची उन सब विचारों पर एक ही रही है, जिन्हें वह भ्रमपूर्ण मानते हैं. कुछ लोगों को यह कहने की आदत पड़ गई है कि स्वामी दयानन्द मुसलमानों के शत्रु थे... वस्तुतः सत्यार्थ प्रकाश का स्थान तो विश्व के धार्मिक साहित्य में होना चाहिये, क्योंकि वह मनुष्यों को रूढ़ियों के मायाजाल को काटने और तर्क द्वारा सत्य तक पहुंचाने का रास्ता बतलाता है.[६४]

'महर्षि दयानन्द की बोध रात्रि' निबन्ध में उन्होंने महर्षि के सुधार कार्यक्रम को चौमुखा बतलाते हुए कहा है– ''उस कार्यक्रम की चार दिशायें थीं. प्रथम– मानसिक दासता का विरोध, द्वितीय– सामाजिक कुरीतियों का विरोध, तृतीय– पाश्चात्य सभ्यता के अन्धे अनुकरण का विरोध और चतुर्थ–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक पराधीनता का विरोध, महर्षि दयानन्द का सुधारों का कार्यक्रम मूल रूप में उन चार दासताओं के विरोध का कार्यक्रम था जिनके नीचे जाति दबी हुई थी. यह बात स्पष्ट ही है कि यदि किसी असह्य बोझ से दबे हुए मनुष्य को खड़ा करना हो तो उस पर से बोझ हटा देना चाहिये. महर्षि दयानन्द ने जाति का सबसे बड़ा उपकार यह किया कि उसकी छाती परसे चारों प्रकार की पराधीनताओं का बोझ हटाने का प्रयत्न किया."[६५] ".... उनके उपदेशों ने देशवासियों की प्रवृत्ति का मुंह पश्चिम दिशा से हटाकर पूर्व की ओर मोड़ दिया. इस प्रकार उन्होंने रूढ़ियों के जंगल के स्थान में विदेशी सभ्यता का जो विष वृक्ष बोया जा रहा था, उसे रोक कर भारतीयता के कल्पवृक्ष का आरोपण कर दिया..." यदि देशवासी महर्षि के जीवन का सावधानता से अनुशीलन करें, और उनके संदेश के व्यापक रूप को सामने रखें तो उन्हें निश्चय हो जायेगा कि उन्हें भारत की स्वाधीनता रूपी भागीरथी का भगीरथ कहने में अणुमात्र भी अत्युक्ति नहीं है. जब हम यह कहते हैं कि स्वामी दयानन्द जी भारत की स्वाधीनता के भगीरथ थे, तब हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उनका विचार क्षेत्र केवल भारत तक परिमित नहीं था." उन्होंने संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य बतलाया है केवल हिन्दू जाति अथवा केवल भारत का उपकार करना नहीं." ...."जो लोग उसके विशाल रूप को न पहिचानकर उसे संकुचित मतवाद की सीमा में बांध देते हैं, वे महर्षि के व्यक्तित्व और मिशन के साथ अन्याय करते हैं."[६६]

संस्कृति विषयक निबन्धः- विद्यावाचस्पति जी के निबन्धों में प्राचीन साहित्य तथा संस्कृति का ज्ञान–वैभव और विचारों की मौलिकता का अपूर्व समन्वय है. इस श्रेणी के अन्तर्गत आने वाले उनके निबन्ध इस प्रकार हैं. १– 'वैदिक अनुसंधान का उद्देश्य,'[६७] २– 'सहजीवन का वैदिक उपाय,'[६८] ३– 'कर्मफल ' एक वैदिक दृष्टिकोण,'[६९] ४– 'उपनिषदों का अध्यात्म योग,'[७०] ५– 'उपनिषदों की ज्ञान परंपरा,'[७१] ६– 'संस्कृत भाषा की ज्ञान–परम्परा,'[७२] ७– 'राम–राज्य की अमर भावना,'[७३] ८– बुद्ध जयन्तीः एक सन्देश,'[७४] ९– 'इन्द्रसूक्तः राष्ट्रपति की विशेषतायें,'[७५] १०– 'धर्म क्या है और अधर्म क्या है?', ११– 'धर्म क्या है और क्या नहीं?,'[७६] १२– 'मानवीय इतिहास में उत्थान और पतन की अवश्यंभाविता',[७७] १३– 'स्वामी श्रद्धानन्द जी का शिक्षा संबंधी ध्येय',[७८] १३– 'पं. जवाहर लाल नेहरू –एक विश्लेषण',[७९] १४– 'लोकमान्य की देन',[८०] १५– 'पाप क्या है?'[७१] १६– 'वक्तृत्व कलाः उसके अंग और विभाग'[८२]

उक्त १६ निबन्धों में से ६ निबंध विद्यावाचस्पति जी के ग्रन्थों में परिशिष्ट और प्रस्तावना के रूप में प्रकाशित लेख हैं. 'उपनिषदों की ज्ञान परंपरा', 'संस्कृत भाषा की ज्ञान परंपरा' (मूलशीर्षक–भाषा परम्परा), और 'लोकमान्य तिलक की देन' ये तीन निबन्ध क्रमशः 'ईशोपनिषद्भाष्य' और 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' नामक ग्रंथ में परिशिष्ट या ग्रन्थान्त में प्रकाशित लेख हैं, तथा इसी प्रकार 'मानवी इतिहास में उत्थान और पतन' 'पं. जवाहरलाल नेहरू–एक विश्लेषण' तथा 'वक्तृत्व कलाः अंग और उपाय' नामक तीन निबन्ध क्रमशः 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण', 'पं. जवाहर लाल नेहरू' तथा 'आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला और प्रगति' में प्रस्तावना के रूप में प्रकाशित लेख हैं. प्रस्तावना–परिशिष्टों के रूप में प्रकाशित इन ६ लेखों का समावेश हमने निबंधों में इसलिये किया है, क्योंकि इनमें निबन्धों के सभी आवश्यक गुणों का समावेश है. कई बार ऐसा भी होता है मूल ग्रन्थों पर जितना ध्यान टिका रहता है. उतना प्रस्तावना और परिशिष्टों पर नहीं. प्रायः इनकी उपेक्षित हो जाने की अधिक संभावना रहती है, अतः इनकी उपेक्षा न हो तथा भविष्य में जब विद्यावाचस्पति जी के श्रेष्ठ निबन्धों का प्रकाशन हो तब इन 'परिशिष्ट' और 'प्रस्तावना' के रूप में प्रकाशित इन ६ लेखों का भी समावेश हो अतः हमने इनकी गणना शेष १० निबन्धों के साथ की है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सहजीवन का वैदिक उपाय' निबन्ध में लेखक ने कहा है कि – 'यदि हम भारत के पंचशील, अहिंसा तथा सर्वभूतदया आदि सिद्धान्तों का बीज तलाश करना चाहें, तो हमें संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक 'ऋग्वेद' के अन्तिम सूक्त का पाठ करना चाहिये... जिसे आज संघ–मण्डल आदि नामों से पुकारा जाता है. वेद में उसके लिये 'समानी–समिति' शब्द का प्रयोग है.... मनुष्यों के हृदयों में जब कभी युद्ध से बचने और मिल–जुलकर रहने की इच्छा उत्पन्न हुई. तब–तब उन्होंने एक समिति का निर्माण किया. कभी उसका नाम 'लीग–ऑफ नेशन्ज' रक्खा गया तो कभी उसे 'यू.एन. ओ.' के नाम से पुकारा गया.... शांतिपूर्वक मिलकर रहने को आजकल की राजनीति की भाषा में Co-Existence (सह अस्तित्व) कहा जाता है. इस शब्द से केवल साथ रहने का भाव प्रकट होता है, भली प्रकार साथ रहने का नहीं. यदि Co-Existence (सह अस्तित्व) की जगह 'सुसहासन' इस शब्द का प्रयोग किया जाय तो बहुत अधिक उपयुक्त होगा.'[८३]

'उपनिषदों का अध्यात्म योग' निबन्ध में विद्यावाचस्पति जी लिखते हैं –'ब्रह्म को भली प्रकार जानने का उपाय अध्यात्म योग है. लक्ष्य है आनन्द की प्राप्ति, उपाय है ब्रह्म–शक्ति, और ब्रह्मज्ञान का साधन है ''अध्यात्म योग.''.... अध्यात्म योग के चार अंग हैं– सत्य, तप, सम्यक्ज्ञान और नित्य ब्रह्मचर्य.'[८४]

'स्वामी श्रद्धानन्द जी का शिक्षा संबंधी ध्येय' नामक निबंध की प्रश्नोत्तर शैली में शुरुआत करते हुए लेखक ने कहा है– ''यदि यह पूछा जाय कि श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की अपने देश को और सारे विश्व को सबसे बड़ी देन क्या थी? तो उसका उत्तर होगा गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का पुनरुज्जीवन.' लेख के मध्य में गुरुकुल शिक्षा–प्रणाली का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है –''गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में तीन वस्तुओं का समन्वय किया गया था. ब्रह्मचर्य नियमों का पालन सबसे मुख्य था. उसके साथ–साथ वैदिक तथा उत्तरकालीन संस्कृत वाङ्मय की शिक्षा आवश्यक रखी गई. तीसरे स्थान पर आंग्ल भाषा, आधुनिक विज्ञान, इतिहास आदि विद्यायें और शिल्प उद्योग आदि अर्थकरी विद्याओं की शिक्षा को रखा गया था.'' लेख की इतिश्री करते हुए विद्यावाचस्पति जी ने लिखा है–'स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने जिस ध्येय को सामने रखकर गुरुकुल की स्थापना का संकल्प किया. उसका निरन्तर स्मरण इसलिए आवश्यक है कि गुरुकुल के संचालक सदा ध्येय पर अपनी दृष्टि लगाए रखें और कभी पथभ्रष्ट न हों.''[८५]

'वक्तृत्व कलाः अंग और विभाग' नामक निबंध में विद्यावाचस्पति जी ने वक्तृत्व कला के तीन अंग और दो विभाग बतलाये हैं, वक्तृत्व कला के तीन अंग हैं, १– भाषा और उसका ठीक उच्चारण, २– स्वर का उतार–चढ़ाव, और ३– कायिक चेष्टायें. वक्ताओं के दो विभाग हैं. १– सुवक्ता और २– ऑरेटर. सुवक्ता संसदीय वक्ता होता है और ऑरेटर जनता का वक्ता होता है. श्रीयुत गोखले संसदीय वक्ता थे तो लाला लाजपतराय जनता के वक्ता. वस्तुतः यह निबंध निबंधकार ने 'आधुनिक भारत मेंवक्तृत्व कला की प्रगति' की 'भूमिका' के रूप में लिखा था. दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' पत्र ने इस पुस्तक को पूर्णतया मौलिक और उपयोगी बताते हुए लिखा था–'पुस्तक के प्रारंभ में एक अच्छी भूमिका लिखकर विश्व एवं भारत में वक्तृत्व कला के इतिहास और विकास पर लेखक ने सराहनीय प्रकाश ड़ाला है.'[८६]

पत्रकारिता विषयक निबन्धः- विद्यावाचस्पति जी के पत्रकारिता से संबंधित ५ निबन्ध हैं, इनमें से चार 'पत्रकारिता के अनुभव' नामक ग्रन्थ के अन्त में प्रकाशित हुए हैं और पांचवां लघु निबन्ध 'स्वराज्य और चरित्र निर्माण'ग्रन्थ में 'समाचार पत्रों का दायित्व'[८७] शीर्षक से प्रकाशित हुआ है. शेष निबन्धों के शीर्षक हैं– 'समाचार–पत्र का प्रारंभ काल',[८८] 'समाचार–पत्र के उपयोग'[८९], 'समाचार पत्रों की शक्ति'[९०] और 'भारत में पत्रकारिता– क्या मिशन से व्यवसाय बनेगा?'[९१] डॉ. सोनवणे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जी ने लिखा है 'श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'पत्रकारिता के अनुभव' नामक संस्मरणात्मक पुस्तक तथ्यात्मक अधिक है, भावात्मक कम.'[६२] पुस्तक के तथ्यात्मक बन जाने का एक कारण यह भी है कि पत्रकारिता विषयक निबंधों को स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की अपेक्षा पत्रकारिता संबंधी संस्मरणों के साथ प्रकाशित कर दिया गया है.

साहित्यिक निबन्धः- विद्यावाचस्पति जी द्वारा लिखित 'स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा', 'स्वराज्य और चरित्र निर्माण', 'स्वाधीनता संग्राम में आर्य समाज का भाग', 'यदि आचार्य चाणक्य प्रधानमन्त्री होते?' आदि ग्रन्थों के रूप में प्रकाशित सामग्री पहले लेख रूप में प्रकाशित हुई थी, कालान्तर में उसने ग्रन्थों का रूप धारण कर लिया. आगे जिन ११ निबन्धों का हम उल्लेख कर रहें हैं वे विद्यावाचस्पति जी के हमारी दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक निबन्ध हैं. इनमें से प्रथम दो निबंध 'रघुवंश' की भूमिका' में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं. तीसरा निबन्ध 'किरातार्जुनीय' की 'प्रस्तावना' के रूप में और चौथा निबन्ध 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय' की 'भूमिका' के रूप में लिखा गया है, और पांचवाँ निबन्ध 'भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास' का ३२ वां परिच्छेद है. शेष ६ निबन्ध छात्रावास के काल से लेकर जीवन–सन्ध्या के अन्तिम चरण तक समय–समय पर लिखे गए हैं, जो यथासमय पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं. निबन्धों के क्रमशः शीर्षक इस प्रकार हैं. १– 'महाकवि कालिदास और तत्कालीन भारत,'[६३] २– 'रघुवंश का लक्ष्यबिन्दु',[६४] ३– 'किरातार्जुनीयः एक ओजस्वी काव्य',[६५] ४– 'इतिहासः विज्ञान और साहित्य',[६६] ५– 'साहित्य जागरण',[६७] ६– 'शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ लिखित ब्राह्मण ग्रन्थों की समीक्षा'[६८] ७– बनारसीदास चतुर्वेदी जी लिखित प्रवासी भारतवासी की समीक्षा[६९] ८– विष्णु प्रभाकर लिखित– विधवा की उन्मुक्त प्रेम–विषयक कथा की समीक्षा',[७०] तथा ९– सरदार के. एम. पणिक्कर लिखित 'प्रतिक्रिया का खतरा' नामक लेख की 'घोर प्रतिक्रिया के पुजारी'[७१] नामक लेख द्वारा शल्य चिकित्सा. १०– 'उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें फौलाद भर दिया'[७२] शीर्षक से आचार्य चतुरसेन जी शास्त्री को श्रद्धाजंलि और ११– देहावसान के कुछ ही समय पूर्व लिखा 'कण्वाश्रम का स्मारक'[७३] निबन्ध. यह स्मारक, उत्तर प्रदेश सरकार की अनुमति और गढ़वाल प्रदेश के उत्साही निवासियों के प्रयत्न से, गढ़वाल आंचलस्थ, चौकी घाट के पास, मालिनी नदी के तट पर स्थित, एक पहाड़ी चोटी पर बनाया गया है.

उपरोक्त निबंधों में से प्रारंभिक ६ निबन्धों की चर्चा विद्यावाचस्पति जी के अनूंदित, इतिहास एवं पत्रकारिता विषयक अध्यायों में यथाप्रसंग की जा चुकी है. ब्राह्मण ग्रंथों की समीक्षा के विषय में स्वयं लेखक ने कहा है–'बाह्मण ग्रन्थों की आलोचना में मैंने जो उल्लेख लिखे वे स्थायी उपयोगिता की दृष्टि से नहीं, अपितु बचपन के उत्साह में लेखनी की खुजली मिटाने के लिए, केवल वाग्विलास समझकर, व्यंग्यपूर्ण तथा नवीन शैली की हिन्दी में लिखे थे.'[७४] इन निबन्धों का लेखन काल लगभग सन् १६१० या १६११ है. सत्यकाम–अवनींद्र विद्यालंकार के अनुसार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी लिखित 'प्रवासी भारतवासी' पुस्तक की समीक्षा में 'गवेषणापूर्ण तथ्य' लिखे गये हैं.[७५] विष्णु प्रभाकर लिखित विधवा की उन्मुक्त प्रेम–कथा उन्हें 'ऊबड–खाबड़' प्रतीत होते हुए भी अच्छी लगी थी. कहानी अच्छी लगने का एक कारण आर्य समाज का उग्र सुधारवाद था, क्योंकि उसमें प्रचलित रीति–नीति का घोर विरोध किया था.[७६]

सरदार के. एम. पणिक्कर लिखित 'प्रतिक्रिया का खतरा' लेख की आलोचना करते हुए विद्यावास्पति जी ने श्री पणिक्कर की दृष्टि में जो दकियानूसी संकीर्ण विचार बतलायें हैं उनकी संख्या लगभग १५ है. १– बीते हुए स्वर्णिम युग पर विश्वास, २– ग्रामों की दशा पर अधिक ध्यान देना, ३– भारत की दरिद्रता और दासता का कारण आध्यात्मिकता की श्रेष्ठता में विश्वास, ४– शराब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
बन्दी का आन्दोलन, ५– गाय के प्रति पूज्यभाव, ६– गोमांस भक्षण को बुरा मानना, ७– ज्योतिष पर विश्वास रखना, ८– आयुर्वेद को 'नेशनल सिस्टम ऑफ मेडीसन' मानना, ९– संन्यासी तथा पण्डितों के प्रति आदरभाव रखना, १०– कल–कारखानों की उन्नति से भयभीत होना, ११– पत्नी का पतिभक्ति में विश्वास, १२– शिक्षा को राष्ट्रीय बनाने का प्रयास करना, १३– मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दिलाने का आग्रह करना, १४– राम और कृष्ण के प्रति भक्तिभाव रखना, १५– हस्त शिल्प, पुरानी दवा–दारू और खादी आदि के लिए आन्दोलन करना.

अपने इस 'घोर प्रतिक्रिया के पुजारी' (सरदार के. एम. पणिक्कर) लेख की शुरुआत में विद्यावाचस्पति जी ने लिखा है– 'नई दिल्ली के प्रधानमन्त्री भवन से श्रीमती इन्दिरा गांधी की कृपा से एक पुस्तक प्राप्त हुई. पुस्तक की छपाई, कागज, आकार–प्रकार आदि का क्या कहना है? भारत के प्रकाशनों में सर्वोत्कृष्ट कोटि का कह सकते हैं. पुस्तक 'जनहित निधि' नाम की संस्था की ओर से प्रकाशित हुई है. यहीं पर विद्यावाचस्पति जी ने व्यंग्य में कहा है– 'प्रतीत होता है कि यह हमारे प्रतिभासम्पन्न प्रधानमन्त्री (नेहरू) जी की क्रियाशीलता का नवीनतम परिणाम है.' इस लेख के अन्तिम परिच्छेद में विद्यावाचस्पति जी ने कहा है...'यदि सरदार पणिक्कर के दृष्टिकोण से देखा जाय तो महात्मा गांधी सबसे बड़े प्रतिक्रियावादी थे..... उनसे बचने का शायद एक ही उपाय है कि भारत की किश्ती को इंग्लैण्ड या रूस के जहाज के पीछे बांध दिया जाय. स्वाधीनता में तो कुछ न कुछ भारतीयता रहेगी ही और भारतीयता से पणिक्कर साहब को चिढ़ है. स्वाधीनता प्राप्त होने के पश्चात् देश के अनेक पाश्चात्य विचारों के पुजारियों में यह भावना पैदा हो गयी है कि कहीं सचमुच हमें भारतीय ही न बनना पड़े. इस भय ने जो प्रतिक्रिया पैदा की है, सरदार पणिक्कर का लेख उसका एक नमूना है.' इसी अन्तिम परिच्छेद के अंत में लेखक ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए लिखा है कि– 'यह लेख श्रीमति इन्दिरा गांधी द्वारा संपादित और प्रधानमंत्री के भवन से प्रकाशित ग्रन्थ में संपादकीय टिप्पणी के बिना कैसे प्रकाशित हो गया?'[१०७] इस पूरे लेख में विद्यावाचस्पति जी उस पुस्तक का नाम देना या तो भूल गये हैं या टाल गये हैं, जिसमें सरदार पणिक्कर का 'प्रतिक्रिया का खतरा' नामक लेख प्रकाशित हुआ है.

'उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें फौलाद भर दिया' इस आचार्य चतुरसेन शास्त्री से संबंधित श्रद्धाजंलि परक एक लेख में उनकी निर्भीकताकी ओर संकेत करते हुए विद्यावाचस्पतिजी लिखते हैं– "वह लिखते समय किसी से डरते नहीं थे. हृदय के उद्‌गारों को अक्षरों में ढालते हुए उन्होंने यह भी विचार नहीं किया कि इससे कोई राजा, सेठ, या नेता नाराज हो जायेगा, कोई मित्र रूठ जायेगा. वह उन दुर्लभ लेखकों में से थे जिनके बारे में नीतिकार ने कहा है– 'सुलभाः पुरूषा राजन् सततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः'।।[१०८]

१०.२ विद्यावाचस्पति जीः कवि के रूप मेंः-

विद्यावाचस्पति जी ने केवल हिन्दी में ही नहीं संस्कृत भाषा में भी काव्य रचना की थी. संस्कृत में तो उन्होंने ३० अध्यायों में विभाजित 'भारतेतिहासः' नामक ऐतिहासिक काव्य भी लिखा था. इस ऐतिहासिक काव्य ग्रन्थ की कुल श्लोक संख्या १६६५ है. यहाँ हम पहले क्रमशः हिन्दी व संस्कृत में लिखे प्रकीर्ण काव्य और तत्पश्चात् उनके द्वारा विरचित संस्कृत काव्य ग्रन्थ का संक्षिप्त में परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं.

प्रकीर्ण हिंदी काव्यः- छात्रावस्था से ही विद्यावाचस्पति जी हिन्दी में कविता करने लगे थे. 'सद्‌धर्म प्रचारक' पत्र के प्रबन्धक के अनुसार सन् १६१४ में ही उनका 'गुरुकुल गीत' नामक काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुका था.[१०९] श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति की सम्मति में गद्य के साथ पद्य पर भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका अच्छा अधिकार था. उनके कुछ सुन्दर गीत एवं मधुर भजन कुलभूमि–गुरुकुल कांगड़ी की 'प्रार्थनावली' में स्थायी स्थान पा गये थे.[११०] श्री इंद्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में 'छात्रावस्था में मैं संस्कृत और हिन्दी में कविता भी करता था....मेरी हिन्दी कविताओं का संशोधन पं. श्रीधर पाठक किया करते थे. लगभग ४० वर्ष से (अर्थात् सन् १६१२ से) मैंने कविता करना छोड़ दिया था.'[१११] स्वर्ण देश का उद्धार' नाटक के लिए उनके द्वारा लिखी गई नौ कवितायें सन् १६२१ की हैं. इससे पूर्व सन् १६१६ में उनका 'हृदयोद्गार' नामक एक लघु काव्य संग्रह भी प्रकाशित हुआ था. इसमें उनकी 'ईश–प्रार्थना', 'मातृ–वन्दना', 'काल को उपालंभ', 'विधना से प्रश्न' और 'आकाशवाणी' शीर्षक ११ कवितायें प्रकाशित हुई थीं. ये कवितायें सरस होने के साथ–साथ उपदेशपूर्ण भी थीं'. (मर्यादाः मार्च–१६१६–१६७)

विद्यावाचस्पति जी द्वारा रचित गीतों की आलोचक शिरोमणि पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने भूमि–भूरि प्रशंसा की थी. महात्मा गांधी जी के आश्रम में गाया जाने वाला गीत– 'हे मातृभूमि तेरे चरणों में सिर नवाऊँ' उनका ही बनाया हुआ था. यह सब होते हुए विद्यावाचस्पति जी ने यह महसूस कर लिया था कि– 'मेरे लिए गद्य लिखना ही स्वाभाविक है',[११२] इसीलिए उन्होंने 'रघुवंश' और 'किरातार्जुनीय' का अनुवाद किया तो पद्यानुवाद न करके गद्यानुवाद ही किया था. 'भारत को इस समय श्रृंगार की नहीं, ओज की जरूरत है' यह सोचकर उन्होंने 'किरातार्जुनीय' का पद्यानुवाद करना चाहा था–उन्हीं के शब्दों में 'यदि मुझमें कविता करने की शक्ति आ जाय और फिर कहा जाय कि समयानुकूल कविता करो, तो मैं 'किरातार्जुनीय' का हिन्दी में काव्यानुवाद करने का प्रयत्न करूँगा.'[११३] पर अपनी काव्य–शक्ति की क्षमता से सुपरिचित होने के कारण उन्होंने काव्यानुवाद के संसार में प्रवेश करना समुचित नहीं समझा. अपने कवि न होने के विषय में एक स्थान पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा है– 'मैंने छात्रावस्था में हिन्दी और संस्कृत में कविताएँ और गीतियाँ लिखी अवश्यथीं, परन्तु मैं कवि नहीं हूँ. इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि मुझे अपनी बनायी कविताएँ याद नहीं रहतीं. यह भी याद नहीं रहता कोई कविता लिखी भी थी. जब अपनी पूर्वावस्था की लिखी कविता को सुनता हूँ तो ऐसा भान होता है कि यह कविता कभी सुनी थी.'[११४] एक बार उन्होंने स्वयं अपना दृष्टांत देते हुए कहा था– 'जो अपना क्षेत्र नहीं है, व्यर्थ ही उसमें कूदना नहीं चाहिये. मेरे पास १०० से अधिक गीत लिखे रखे हैं. पर मैं समझता हूँ कि वह मेरा क्षेत्र नहीं है, इसलिए इन्हें छपवाने का प्रयास मैंने कभी नहीं किया.'[११५]

विद्यावाचस्पति के लिए चाहे अपना कवि रूप विस्मरणीय, अप्रकाशनीय हो, पर उनका परिवेश उनके कवि रूप को कभी भुला नहीं पाया. श्री शंकरदेव विद्यालंकार ने प्रतिपादित किया है, महात्मा गांधी के सुपुत्र देवदास गांधी कुछ समय तक गुरुकुल में रहे थे. उन्हीं के साथ विद्यावाचस्पति जी द्वारा लिखित 'भारत वन्दना' गीत सत्याग्रह आश्रम में पहुँचा और राष्ट्रीय आन्दोलन का एक प्रेरक तत्व बन गया. पूज्य बापू जी को यह विशेष रूप से प्रिय था.'[११६] अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार की सम्मति में 'श्री विद्यावाचस्पति कवि भी थे. उनके द्वारा रचित गीत 'जयति जयति जगत् जननी' आज भी गुरुकुल में गाया जाता है. श्रीधर पाठक के घनाष्टक के ढंग पर उन्होंने भी अष्टक लिखे थे'[११७] परन्तु स्वर्ण देश के उद्धार' के बाद शायद ही उन्होंने कभी कविता की हो, दीनानाथ सिद्धांतालंकार के शब्दों में 'विद्यावाचस्पति को कविता करने का अच्छा अभ्यास था. गुरुकुल की प्रातःकालीन सामूहिक प्रार्थना में बोले जाने वाले भजनों में 'सुन लो नाथ, अब विनय हमारी' –उन्हीं का बनाया हुआ था, जो बाद में काफी लोकप्रिय हुआ. उनके सब गीतों में उत्कट देशभक्ति और भारत को स्वतंत्र करने की प्रबल आकांक्षा भरी रहती थी.[११८] विद्यावाचस्पति जी का काव्य 'गुरुकुल कांगड़ी' की सीमा तक ही सीमित रहा हो, ऐसी बात नहीं. उस युग में उनके अनेक गीत 'सत्याग्रह आश्रम' व राष्ट्रीय आन्दोलन में गाये जाते थे, और वर्तमान में भी उनके गीत प्रार्थना–कार्यक्रमों के अविभाज्य अंग बने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
हुए हैं. अब भी हरियाणा प्रान्तीय अनेक शिक्षण संस्थाओं की प्रार्थनाओं में उनके गीतों का समावेश है. यह जानकर आश्चर्य होता है कि विद्यावाचस्पति की कर्मभूमि हरिद्वार और दिल्ली से सुदूर महाराष्ट्र में स्थित उदगीर के शासकीय अध्यापक विद्यालय के प्रार्थना–कार्यक्रमों में भी विद्यावाचस्पति जी के 'भारत–वंदना' गीत का समावेश है.[११६]

विद्यावाचस्पति जी ने अपनी युवावस्था में जो सोद्देश्य कवितायें रचीं, उनके विषय प्रायः अध्यात्म, राष्ट्र और प्रकृति–प्रेम से संबंधित हैं. 'कुल वन्दना' ('प्राणों से हमको प्यारा कुल हो सदा हमारा'), 'प्रार्थना–गीत' ('तव वन्दन है नाथ, करें हम'), 'ईश–स्तुति' ('अद्भुत महिमा जाल'), 'स्वर्ण–देश का गीत' ('भूतल का गहना चमकीला, स्वर्ण देश यह मेरा है'), 'भारत–वन्दना' ('हे मातृभूमि तेरे चरणों में सिर नवाऊँ'), 'वसन्त–वर्णन' ('कैसा यह वसन्त काल जग निहाल आया') ,'उद्बोधन–गीत' ('जागो प्रमाद छोड़ो, कसकर कमर खड़े हो'), 'वन्दना–गीत' ('जयति जयति जगत् जननी'), 'विनय–पत्रिका' ('सुन लो नाथ, अब विनय हमारी') आदि विद्यावाचस्पति जी की रचनायें, जिनमें से अधिकांश का समावेश सत्यकाम–अवनींद्र विद्यालंकार द्वय द्वारा लिखित 'इन्द्र विद्यावाचस्पति' नामक जीवनी में किया गया है.[१२०] ये समस्त कवितायें विद्यावाचस्पतिजी ने द्विवेदी युग में लिखी थीं. अतः उनमें प्रायः द्विवेदी युगीन समस्त विशेषतायें अनायास दृष्टिपथ में आ जाती हैं.

प्रकीर्ण संस्कृत काव्यः- विद्यावाचस्पति जी में संस्कृत में श्लोक व गीत लिखने की प्रवृत्ति छात्रावस्था से रही है और उनकी यह काव्य निर्माण की प्रवृत्ति, हिन्दी काव्य निर्माण की प्रवृत्ति की तरह बीच में नहीं छूटी, अपितु शरीर त्याग से ४–५ दिन पूर्व तक जारी रही. 'गुरुकुले राजप्रतिनिधेः स्वागतम्' ('अमल सलिल वीचि–क्षालितो प्रांतकूले...प्रवर धरणिपालः स्वागतं स्वागतं ते'), 'गुरुकुल जन्मोत्सव संदेशः' ('अपगतवति शीते पीत–पीते वनान्ते....कुलभुवि कुलबन्धून् द्रष्टुकामोऽस्मिबन्धुः') ये दोनों उनके मालिनी छन्द में रचे संस्कृत पद हैं. प्रथम पद का रचना काल सन् १६१७ है, तो द्वितीय पद का रचना काल ४ मार्च १६१६ है.[१२१] पं. तुलसीराम स्वामी द्वारा सराही गयी 'राम–स्मरणम्' ('वयं राम पुण्य प्रतापाश्रयामः भवन्तं गुणास्ते सदा वाचयामः') नामक कविता 'सद्धर्म प्रचारक' २६ आश्विन १६६५ विक्रमी के अंक में प्रकाशित हुई थी, जिससे अभिभूत होकर पं. तुलसीराम स्वामी ने उसे अपने मेरठ से निकलने वाले 'वेदप्रकाश' पत्र के कार्तिक १६६५ के अंक में उद्धृत किया था.[१२२] अपने फिरोजपुर के जेल जीवन (सन् १६२८) में भी उन्होंने अपना अनुभव संस्कृत में ही पद्य बद्ध करते हुए लिखा था– 'गुण कार्य विहीनानि दिनान्यायान्ति यांति च.'

विद्यावाचस्पति जी ने 'राष्ट्रीय आन्दोलन में उभरे हिंसा–अहिंसा के राजनीतिक विवाद में अपना अभिमत स्पष्ट करने के लिए 'जीवन संग्राम' (सन् १६४५) नामक पुस्तक लिखी थी. इस पुस्तक का सारांश इसी पुस्तक के प्रारंभ में उन्होंने 'विजय रहस्यम्' ('सबला एव जीवन्ति विलीयन्ते तु निर्बलाः') नामक शीर्षक से ११ श्लोकों में पद्यबद्ध किया था. 'आर्यसमाज से लेखन का कार्य कभी बन्द न हो' संदेश देने वाले अमर शहीद लेखरामजी की पुण्यस्मृति में उन्होंने श्रद्धाजंलि देते हुए 'लेखराम षट्कम' ('अंकुरस्य प्ररोहाय बीजो भवति धूलिसात्, धर्म क्षेत्राणि सिच्यन्ते वीराणां रक्तवारिणा') नामक कविता लिखी थी, जो 'सार्वदेशिक' मासिक के मार्च १६५५ के अंक में प्रकाशित हुई है. डॉ. गोपाल वेदालंकार रेड्डी संस्कृत विभागाध्यक्ष–उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद ने विद्यावाचस्पति जी द्वारा निर्मित एक श्लोक से मेरा परिचय कराया था– वह श्लोक इस प्रकार है–

"विषयात्मिकया मृगतृष्णिकया, कुलितं तृषितंच ययाधिमया।
भवखेदहरां निज भक्ति सुधाम्, कृपया परिपायय पाहि हरे।।"[१२३]

विद्यावाचस्पति जी ने 'सूक्ति दशकम्' व 'पंचनद प्रदेशः' नामक दो संस्कृत काव्य रचनायें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी की हैं जो क्रमशः 'गुरुकुल पत्रिका' के अगस्त १९५५ और जून १९५६ के अंक में प्रकाशित हुई है. सत्तरवां वर्ष प्रारंभ होने पर जब ६ नवंबर १९५८ में आपके भक्तों ने 'भूयश्च शरदः शतात्' की प्रार्थना की तो आपने निम्न श्लोक द्वारा उसका प्रत्युत्तर दिया था–

"यावन्ते जीवितं लोके परार्थं तत् भवेत प्रभोः।

तावत् जीवितुमिच्छामि यावच्छक्नोमि सेवितुम्।।"[१२३]

१ जनवरी १९६० को इसी 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' की भावना को उन्होंने निम्न प्रकार से थोड़ा–सा पाठभेद कर पुनः दोहराया था–

"यावन्मे जीवितं लोके परमार्थाय भवेत्प्रभो।

तावज्जीवितुमिच्छामि यावच्छक्नोमि सेवितुम्।।"[१२५]

देहावसान से ठीक तीन दिन पूर्व २० अगस्त १९६० को उन्होंने अपनी निम्न संस्कृत प्रार्थना द्वारा प्रभु से सत्कर्म में नियुक्त रखने की प्रार्थना करते हुए कहा था–

"स्वकर्मभिः शोषित काययष्टि, महालये मृत्युमुखे प्रविष्टम्।

तव प्रसादात्पुनराप्त शक्तिः, त्वमम्ब सत्क्रर्मणि मां नियुंक्ष्व।।"[१२६]

स्वयं विद्यावाचस्पति जी ने अपने संस्कृत श्लोकों के विषय में कहा है– "मैंने और भाई हरिश्चन्द्र जी ने संस्कृत श्लोक बनाये, वे प्रायः सभी मेरे पास सुरक्षित हैं. उनका काफी बड़ा बस्ता बन गया है. उनमें बहुत से श्लोक छपे भी थे, शेष अनछपे पड़े थे. वे छपने लायक हैं भी नहीं, क्योंकि उन्हें पढ़ेगा कौन? बस मैं ही कभी–कभी पढ़ लेता हूँ, और आनन्द लेता हूँ.'[१२७] यह सब महसूस करने के बाद भी वे संस्कृत काव्य निर्माण के मोह से अपने आपको मुक्त नहीं कर पाये. जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपने तीस अध्यायों में विभाजित 'भारतेतिहासः', काव्य के बीच–बीच में 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद', 'अथर्ववेद', 'बाल्मिकी रामायण' और 'श्रीमद्भगवद्गीता' इत्यादि से सौ के लगभग श्लोक समुद्धृत किये हैं, और दो अध्यायों में तो एकाधिक स्थान पर वे पद्य से अपने सहज स्वभाव गद्य पर उतर आये हैं.

अपने हिन्दी काव्य की तरह संस्कृत काव्य की लोकप्रियता के विषय में भी विद्यावाचस्पति जी में निराशा दिखलायी देती है. पर इस निराशा के बावजूद भी वे अपने परिवेश में संस्कृत विद्वान् और संस्कृत कवि के रूप में याद किये जाते रहे. दीनानाथ सिद्धांतालंकार के अनुसार– 'अखिल भारतीय संस्कृत महासम्मेलन के संस्थापकों में आप एक अत्युत्तम थे. धारा प्रवाह संस्कृत भाषण और पद्य रचना में भी आप कुशल थे.'[१२८] संस्कृत पद्य रचनाओं की तरह कभी–कभी आपने संस्कृत गद्य में भी लेखन कार्य किया था और आप इस गद्य रचना की निकष की दृष्टि से भी एक अत्युत्तम सर्जक थे. आपका एक लेख– 'वर्तमान भारते संस्कृत भाषायाः स्थानम्'–'गुरुकुल पत्रिका' (अप्रैल १९६२) के 'संस्कृत शिक्षा विशेषांक' में हमारे देखने में आया जिसमें आपने सरल–प्रसाद शैली में संस्कृत लिखने का आग्रह करते हुए कहा है– "यदि वयं संस्कृतं सर्ववेद्यं कर्त्तुमिच्छामस्तर्हि अस्माभिः प्रसाद गुणयुक्ता सरला शैली आश्रयणीया....तस्मान्ममेदं प्रथमन्निवेदनं यत्–

देववाणीं समुद्धर्त्तु यदि कल्पोऽस्ति ते कवे !

कवीनां सरलां रीतिं प्रसादाख्यां समाश्रय।।[१२९]

विद्यावाचस्पति जी का 'पंचनदीय संस्कृत साहित्य सम्मेलने अध्यक्षीय भाषणम्, 'गुरुकुल पत्रिका' के अप्रैल १९५६ के अंक में पृष्ठ २८१ से २८४ तक प्रकाशित हुआ है. संभवतः यह बहुत कम लोगों को मालूम है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी भी कभी–कभी शौक से संस्कृत में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य रचना करते थे. स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रति आदरांजलि[१३०] व्यक्त करते हुए तथा 'आर्यमित्र' पत्र की शुभाशंसा[१३१] में उन्होंने श्लोकों की रचना की थी. कहते हैं अपने युग के साहित्यिक नेता आचार्य प्रवर महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने विद्यावाचस्पति के संस्कृत काव्य की परीक्षा लेने के उपरान्त उनके हिन्दी काव्य की तरह संस्कृत काव्य की भी भूमि–भूरि प्रशंसा की थी.[१३२] पं. धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड ने भी उन्हें 'शुभ कवि' कहा था.''[१३३]

भारतेतिहासः एक श्रेष्ठतम संस्कृत काव्य रचनाः- विद्यावाचस्पति जी की श्रेष्ठतम रचनाओं में से एक 'भारतेतिहासः' है, जो १६६० में लिखी गई और भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रलय की आर्थिक सहायता से १६७० में हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर–द्वारा प्रकाशित की गई है. यह ऐतिहासिक काव्य पहले 'गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय' की 'गुरुकुल पत्रिका' में 'भारतैतिह्यम्' शीर्षक से धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था, पर जब इसे ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया, तो इसका नामकरण 'भारतेतिहासः' (प्रथम खण्ड) कर दिया गया. विद्यावाचस्पतिजी भारत का सम्पूर्ण इतिहास काव्य के रूप में लिखना चाहते थे, पर वे उसका प्रथम खण्ड ही लिख पाये और उसका अंतिम ३० वाँ अध्याय भी उन्होंने रुग्णावस्था में ही लिखा था. डॉ. महावीर ने प्रतिपादित किया है, 'यह अद्यावधि लिखे गये भारतवर्ष के इतिहासों की परम्परा से हटकर सर्वथा नूतन एवं अभिनव शैली में किया गया सर्वथा मौलिक कार्य है. इसमें रसहीन भाषा में इतिहास की घटनाओं का ब्यौरेवार संकलन मात्र नहीं है, अपितु देशवासियों के हृदयों को रसाप्लावित कर अत्यन्त माधुर्य के साथ कान्तासम्मित शैली में अपने देश तथा संस्कृति के प्रति प्रेम और गौरव की भावना जगाने का सफलतम प्रयास है',[१३४]

संस्कृत में क्रमशः कल्हण और बिल्हण रचित 'राजतरंगिणी' और 'विक्रमांकदेव' जैसे अनेक चरित्र काव्य मिलते हैं. जो ऐतिहासिक काव्य कोटि में आते हैं, इनमें चरित्रनायक राजाओं के राज्य प्रशासन, प्रजा पालन, दान, युद्ध, लोकोपकार जैसे कार्यो का विस्तृत तथा अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन मिलता है. आर्यसमाज के क्षेत्र में इस विधा के काव्य रचयिताओं में पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति, गंगा प्रसाद उपाध्याय और यमुनादत्त षट्शास्त्री प्रमुख हैं.[१३५] विद्यावाचस्पतिजी लिखित 'भारतेतिहासः' यह संस्कृत काव्य ग्रंथ ३० अध्यायों में विभाजित है. काल क्रमानुसार लिखे प्राचीन 'भारतेतिहासः' काव्य का प्रमुख उद्देश्य भारत की असाधारणता दर्शाना है.[१३६] डॉ. वेदव्रत ने टिप्पणी की है, 'स्वतन्त्र भारत में इस प्रकार के ऐतिहासिक संतुलन की वास्तविक अपेक्षा है. जिसमें नये की चकाचौंध में अपना पुराना गौरव और अनुभव विस्मृत न हो. 'भारतेतिहासः' में पौराणिक कथा की तुलना में वस्तु को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने की प्रवृत्ति बढ़ी है. जिसके साथ नवीन वस्तु और उसमें भी देशप्रेम या अपना इतिहास निबद्ध करना विद्यावाचस्पतिजी को अधिक भाया है. यह एक शुभ लक्षण है. जो विद्यावाचस्पतिजी के साथ–साथ संस्कृत की प्रगतिशीलता का भी सूचक है.[१३७] यह काव्य वर्णनात्मक होते हुए भी उसमें सरसता और सृजनात्मकता अथ से इति तक बनी हुई है. कथानक का निर्वाह, पात्रों का चरित्र विश्लेषण, स्फूर्तियुक्त कथनोपकथन 'भारतेतिहासः' की विशेषतायें हैं. स्थान–स्थान पर अलंकारादि काव्य गुणों के कारण कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय पाठकों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है. भाषा की सरलता और प्रसाद गुणोपेता शैली को देखने से प्रतीत होता है, मानो विद्यावाचस्पतिजी ने महाभारतकार की प्रसाद गुणयुता शैली का ही प्रयोग किया है.[१३८] डॉ. महावीर के शब्दों में 'मधुर छन्दों', विविध अलंकारों, रमणीय रस प्रयोगों तथा प्रकृति के हृदयहारी चित्रों से परिपूर्ण विद्यावाचस्पति की कविता ब्रह्मानंद सहोदर आनन्द की सृष्टि के साथ जहाँ बाल्मीकि और कालिदास का स्मरण कराती है. वहां वेद, दर्शन एवं स्मृतियों के निगूढतम रहस्यों को अत्यन्त सरस एवं सरल शब्दावली में अनावृत्त करती है.'[१३९]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो. विजयेन्द्र स्नातक की सम्मति में, 'विद्यावाचस्पति जी काव्य मर्मज्ञ और सहृदय कवि थे. ''[१४०] वे महाभारत की शैली में भारत का सम्पूर्ण इतिहास लिखना चाहते थे. किन्तु उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी. श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति का यह मत सत्य ही है, साहित्य, पत्रकारिता एवं राजनीति में व्यस्त रहने के बावजूद भी वह संस्कृत के कवि कुलगुरु कालिदास की शैली में 'भारतैतिह्यम्' शीर्षक से ऐसा अनेमोल संस्कृत काव्य रच गये हैं. जिसे महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के पाठयक्रम में सरलता से सम्मिलित किया जा सकता है.'[१४१] श्री अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार की दृष्टि में 'जयति जननी जगत् जननी' और 'हे मातृभूमि तेरे चरणों में सिर नवाऊँ' गीतों के गायक कवि ने यद्यपि राजनीति की खड़गधार पर चलते हुए कविता का मार्ग छोड़ दिया, किन्तु भारतीय संस्कृति के इतिहास को संस्कृत श्लोकों में पुराण के ढ़ंग पर लिखने का कार्य कभी नहीं छोड़ा. अन्तिम समय तक वह लिखते रहे. ढ़ंग पुराणों जैसा है, पर शैली कालिदास की है और कविता भावपूर्ण है, शब्दों से बोझिल नहीं है.'[१४२]

१०.३ विद्यावाचस्पति जीः नाटककार के रूप मेंः-

श्री विद्यावाचस्पति जिस वातावरण में पले, बढ़े और विकसित हुए, वह वातावरण स्वामी दयानंद और आर्यसमाज की विचारधारा से पूर्णतया ओतप्रोत था. पं. शिवकुमार मिश्रा ने प्रतिपादित किया है, 'महाराष्ट्र और बंगाल की तुलना में हिन्दी भाषी क्षेत्र के नाटक के पिछड़ जाने का कारण स्वामी दयानंद का नाटक विरोधी आन्दोलन था.'[१४३] डॉ. चन्द्रभानु सोनवने की सम्मति में स्वामी दयानन्द नाटक के इतने विरोधी नहीं थे जितने कि नाटक के भडुवेपन के[१४४] भारतेन्दु युग में पारसी रंगमंचों पर घोर शृंगारी दृश्य दिखाये जाते थे. इसलिए उन्होंने आर्यसमाज के पत्रों में नाटक प्रकाशित करने का विरोध किया था. इस शोध प्रबन्ध के लेखक ने वह दृश्य देखा है, जब दिल्ली में आयोजित अंर्तराष्ट्रीय आर्य समाज स्थापना शताब्दी (१९७५) समारोह के अवसर पर स्वामी दयानंद पर ही एक नाटिका दिखलाने का कुछ लोगों ने प्रयास किया, तो उस नाटिका को तत्काल आर्य समाज के ही एक दल ने जबरदस्ती बन्द करवा दिया था. पठनीय ग्रंथों का उल्लेख करते हुए आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा है. गांधर्ववेद कि जिसको 'गान विद्या' कहते हैं. उसमें स्वर, राग, रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य गीत आदि को यथावत् सीखें.... और 'नारद–संहिता' आदि जो आर्ष ग्रंन्थ हैं उनको पढ़ें, परन्तु भडुवे, वेश्या और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभ शब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें. तत्पश्चात् अपठनीय ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं –'अब जो परित्याग के योग्य ग्रन्थ हैं. उनका परिगणन संक्षेप से किया जाता है. अर्थात् जो–जो नीचे ग्रन्थ लिखेंगे वह–वह जाल ग्रन्थ समझना चाहिए ... काव्य में 'नायिका भेद', कुवलयानंद 'रघुवंश' माघ 'किरातार्जुनीय' आदि... सब तन्त्र ग्रंथ, सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदास कृत भाषा रामायण, रुक्मिणी मंगलादि और सर्व भाषा ग्रन्थ (अनार्ष ग्रन्थ)', ये सब कपोल'कल्पित मिथ्या ग्रन्थ हैं.'[१४५] उपरोक्त उद्धृत उद्धरण में विद्यावाचस्पतिजी की अनूदित कृति 'रघुवंश' व 'किरातार्जुनीय' का भी समावेश है. गोस्वामी तुलसीदास रचित 'रामचरित–मानस' का भी समावेश है.[१४६] एक बार जब महात्मा गांधी जी ने विद्यावाचस्पति जी से यह कहा कि 'स्वामी दयानंद जी ने अपठनीय ग्रंथों में 'रामचरित–मानस' का भी समावेश किया है, तो विद्यावाचस्पति जी ने उसका प्रत्युत्तर देते हुए कहा था– वह प्रकरण ब्रह्मचारी बालक–बालिकाओं के अध्ययन अध्यापन से संबंधित है, बुजुर्गों से नहीं.'[१४७] यह सुनकर महात्मा गांधी जी ने मौन धारण कर लिया था. जो बात 'रामचरित–मानस' पर लागू होती है. वहीं 'रघुवंश' और 'किरातर्जुनीय' पर भी. जहां तक नाटक का प्रश्न है स्वामी जी का नाटक से उतना विरोध नही था. जितना कि नाटक के भड़वेपन से. देशभक्ति से ओत–प्रोत नाटक लिखकर विद्यावाचस्पति जी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने नाटक का भड़वापन निकाल दिया था. फिर भी गुरुकुल जैसे आर्य सामाजिक क्षेत्र में नाटक व रंगमंच का प्रवेश आसान बात नहीं थी. उसके लिए असाधारण साहस की अपेक्षा थी, और यह असाधारण साहस का कार्य विद्यावाचस्पति जी द्वारा संपन्न हुआ. प्रो. विजयेन्द्र स्नातक ने टिप्पणी की है, 'यह भी विद्यावाचस्पति जी की व्यापक दृष्टि का निदर्शन है.'[१४८]

विद्यावाचस्पति जी ने केवल अपनी ही नाट्य रचना के लिए गुरुकुल में नाटक और रंगमंच का प्रवेश किया–करवाया हो, ऐसी बात नहीं, उन्होंने गुरुकुल में अध्यापन करते समय विद्यार्थियों को 'भारत दुर्दशा' नाटक के अभिनय की भी शिक्षा दी थी. डॉ. गंगा राम गर्ग ने स्पष्ट किया है, 'विद्यावाचस्पति जी ने भरत के नाट्यशास्त्र' का गहन अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि उसके क्रियात्मक पक्ष पर भी चिन्तन किया था' एक बार उन्होंने अभिनय के संबंध में कहा था– 'पुस्तक में जो भी शब्द होते हैं, चाहे वे प्रेम के हों, वीर रस के हों, या वियोग के, वे एक ही स्याही में और एक ही टाइप के छपे होते हैं. जब भी किसी भाव का पुस्तक में उल्लेख हो तो कलाकार को यह देखना होता है कि उसकी वाणी तथा उसके हाव–भाव द्वारा उक्तभाव का प्रदर्शन भी हो. उच्च कलाकार अपने को उसी परिस्थिति में ढ़ाल लेता है. यही अभिनय कला का मूलमन्त्र है. यही बीज है'.[१४९] एक बार विद्यावाचस्पति जी ने प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर को भी गुरुकुल में निमंत्रित कर उनका व्याख्यान आयोजित किया था.[१५०]

श्री सत्यकाम विद्यालंकार के शब्दों में– 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित नाटक 'भारत दुर्दशा' का साहित्य के उपाध्याय विद्यावाचस्पति जी द्वारा निर्देशन करने से और छात्रों द्वारा उसका अभिनय करने से गुरुकुल में एक नये तत्व का प्रवेश हुआ.' गुरुकुल में अभिनय किया जाना यह एक अद्भुत बात थी. उस समय अभिनय से या नाट्य प्रस्तुतीकरण से होने वाले तीन लाभों की चर्चा की गई थी– १– इससे सामाजिक आनन्द प्राप्त होता है, २– उच्चारण शुद्ध होता है, ३– यथार्थ संसार का ज्ञान होता है.[१५१]

स्वर्ण देश का उद्धार' यह विद्यावाचस्पति जी लिखित नाटय कृति अनुपलब्ध एवं दुर्लभ है. अतः इस विषय में विस्तार से कुछ कहने की स्थिति में हम नही हैं. फिर भी विभिन्न स्रोतों से जो जानकारी मिलती है उससे यह पता चलता है कि 'इस नाटक में गांधी युग की भावनायें निहित हैं. विद्यावाचस्पति जी राजनीतिक क्षेत्र में लोकमान्य तिलक के अनुयायी थे. तिलक जी ने ही विद्यावाचस्पति जी व उनके अन्य साथियों से कहा था– 'मैं अब शारीरिक दृष्टि से वृद्ध हो गया हूं, मुझे जो कुछ कहना था, वह कह चुका हूं. अब आवश्यक है कि देश का नेतृत्व दूसरे के हाथों में जाय. वह व्यक्ति जिसके हाथों में मुझे नेतृत्व संभालने की शक्ति दिखाई देती है, वह गान्धी है.'[१५२] १ अगस्त १६२० को गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन का शुभारंभ करने के लिए पहली हड़ताल करने की घोषणा की. दिनांक २५ सितंबर १६२० को विद्यावाचस्पति जी के पिता स्वामी श्रद्धानन्द जी ने राजनीति में छलांग लगाने का निश्चय करते हुए लिखा 'इस समय मेरी सम्मति में असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृ–भूमि का भविष्य निर्भर है. यदि यह आन्दोलन अकृतकार्य हुआ और महात्मा गांधी को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा. यह जाति के जीवन और मृत्यु का प्रश्न है. इसलिए मैं इस काम में शीघ्र ही लग जाऊँगा... मैं इस कार्य से रुक नहीं सकता. मुझे यह कार्य इस समय सर्वोपरि दीखता है.'[१५३] अपने राजनैतिक गुरु लोकमान्य तिलक के अन्तिम आदेश और पूज्य पिता व आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द के सक्रिय रूप में गांधी जी की राजनीति में अवतरित होने के बाद विद्यावाचस्पति जी के लिए बापू के अतिरिक्त अन्य किसी का नेतृत्व स्वीकारने का प्रश्न ही नहीं उठता था. वे भी महात्मा गांधी के अनुयायी बन गये. जबकि अहिंसा विषयक उनका दृष्टिकोण महात्मा जी के अहिंसावादी सिद्धान्तों से मेल नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खाता था. विद्यावाचस्पति जी के शब्दों में 'देशवासी चाहे विचारों में महात्मा जी से कितना ही मतभेद रखते हों, उनके हृदय बापू को मानने के लिए लाचार हो जाते थे. 'स पिता पितरस्तेषां केवलं जन्महेतवः''.[१५४] कविवर हरिशंकर शर्मा के शब्दों में–

"विश्ववन्द्य गांधी जब कल्याणार्थ आगे आये, सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, सिद्धान्त सभी को समझाए।

पं. इन्द्र बड़ी श्रद्धा से बापू के सद्भक्त रहे. उनके आदेशों–उपदेशों से सदैव अनुरक्त रहे।।"[१५५]

डॉ. विष्णुदत्त राकेश ने स्वीकार किया है, 'विद्यावाचस्पति जी पर गांधी का गहरा प्रभाव था. आर्यसमाज और गांधी युग की मशाल उनके हाथों में अंत तक रही'[१५६] १९२० से गांधीजी ने भारत की राजनीति का नेतृत्व संभाला था और १९२१ में ही विद्यावाचस्पति जी ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम व महात्मा गांधी जी को केन्द्र में रखकर 'स्वर्ण–देश का उद्धार' नामक नाटक लिखा था.

इस नाटक की रचना प्रक्रिया की ओर संकेत करते हुए श्री शंकरदेव विद्यालंकार ने लिखा है–'कम ही लोग जाते हैं विद्यावाचस्पति जी ने नाटक की भी रचना की है. इन पंक्तियों का लेखक गुरुकुल में आठवीं कक्षा में पढ़ता था, उन दिनों छात्रों की साहित्य संवर्धिनी सभा के वार्षिक सम्मेलन पर खेलने के लिए विद्यावाचस्पति जी ने आठ दिनों के अन्दर–अन्दर 'स्वर्ण देश का उद्धार' नामक एक देशभक्तिपूर्ण नाटक लिखकर दिया था और लेखक की कक्षा ने उसका अभिनय किया था. यह बात संवत् १९७८ की है.'[१५७]

'स्वर्ण–देश का उद्धार' (सन् १९२१) यह नाटक असहयोग आन्दोलन काल में विक्रमी संवत् १९७८ में प्रकाशित हुआ है. प्रकाशक हैं–गुरुकुल यन्त्रालय कांगड़ी. नाटक में पुरुष पात्र सोलह और स्त्री पात्र केवल एक है. कुल अंक तीन हैं, प्रत्येक अंक में आठ–आठ दृश्य हैं. घटनास्थल स्वर्गलोक और राज–दरबार है. विद्यावाचस्पति जी के जो प्रकाशित गीत दिखलाई देते हैं, उनमें से अनेकों की रचना इसी नाटक के लिए की गई थी. पात्र बाहुल्य, आदर्शवाद की स्थापना, राष्ट्र–प्रेम इत्यादि से स्पष्ट है कि वे नाटय क्षेत्र में श्री जयशंकरप्रसाद से प्रभावित रहे हैं. नाटककार ने इस नाटक में असन्तुष्ट जनता द्वारा अन्यायी राज्य की सत्ता को उलटकर १५ फाल्गुन १९७९ (सन् १९२२) को गणतन्त्र की स्थापना की है. इसमें मोहनदास कर्मचन्द गांधी के प्रतीक प्रतिनिधि के रूप में विद्यावाचस्पति जी ने महात्मा कर्मदास की सृष्टि की है. 'कर्मचन्द' का कर्म और 'मोहनदास' का दास शब्द लेकर उन्होंने 'महात्मा कर्मदास' को नाटयक्षेत्र में उतारा है. महात्मा कर्मदास अपने स्वयंसेवकों को हिंसा से नहीं, अपितु अहिंसा और शुद्ध भाव से अत्याचारी का हृदय परिवर्तन का मन्त्रपाठ और संदेश देते हैं. नाटक में धर्मात्मा और क्रूर में विजयलक्ष्मी किसकों वरमाला पहनाती है–इस समस्या को उठाया गया है.

नाटय रचना के उद्देश्य तथा उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डॉ. दशरथ ओझा ने विस्तार से प्रकाश डालते हुए कहा है– 'नाट्यकार इस नाटक का उद्देश्य 'एक राजनीतिक समस्या का हल' घोषित करता है. असहयोग आन्दोलन में धर्म के प्रतीक, निरस्त्र तपस्वी, महात्मा गांधी, क्रूर शस्त्रधारियों से युद्ध कर रहे हैं. धर्मात्मा और क्रूर में विजयलक्ष्मी किसका साथ देती है, यही समस्या उठायी गई है. इसके प्रत्येक गर्भांक में अलग–अलग कथा सूत्र हैं, यही कथा धर्मप्राण नामक आन्दोलनकारी की है. वह एक सभा में देश की दुर्दशा का चित्र खींचते हैं और इसका दोष भारतवासियों पर लगाते हैं. इसी समय एक राजपुरुष धर्मप्राण को बन्दी बनाता है. न्यायालय में उनके ऊपर अभियोग चलता है. कर्मदास नामक महात्मा प्रकट होकर धर्मप्राण को समझाते हैं कि– 'यदि अत्याचारी को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम शुद्ध भाव में समझायें तो वह मान जायेगा.' न्यायाधीश पर राजपुरुष का दबाव पड़ता है कि धर्मप्राण को अवश्य दण्ड दिया जाय. इसी अवधि में न्यायाधीश भी राज्यक्रान्ति में सम्मिलित होता है. आन्दोलनकारियों को कर्मदास का (अहिंसा का) सन्देश सुनाया जाता है पुलिस सबको बन्दी बनाती है. देशप्रेमी एक–एक करके बन्दी बना लिये जाते हैं. नाटक में एक ही स्त्री पात्र है, वह है अनन्तप्रभा देवी, जो देश में क्रान्ति का आह्वान करती है, वह राज्य को उलट देना चाहती है, वह हिंसा पर भी उतर आती है, किन्तु महात्मा कर्मदास उसे समझाते हैं. धर्मप्राण को बंदीगृह से मुक्त कराने के लिए अनन्तप्रभा के साथ जनता एकत्र होती है. धर्मप्राण मुक्त होते हैं. राजा अपने दीवान पर रुष्ट होता है. ढिंढोरा पीटने वाला घोषणा करता है कि १५ फाल्गुन १९७९ को सारे देश के लोगों ने अपनी सम्मति से राज्य की संस्था बना ली है और पांच साल के लिए धर्मप्राण को अपना राष्ट्रपति चुना है. इस बीच न्यायाधीश राजा को समझाता है कि 'प्रजा जब तक सह सकती है, शान्ति से सह लेती है, परन्तु जब कष्ट असह्य हो जाता है तो भूखी बाघिन की तरह उठती है.'[१५८]

डॉ. श्रीराम शर्मा का यह मत सत्य है– 'अपने एक मात्र नाटक के माध्यम से विद्यावाचस्पति जी ने शस्त्र–शक्ति की अनिवार्यता का व स्वाधीनता हेतु हिंसक गतिविधियों का समर्थन किया है.'[१५९] नाटककार के प्राक्कथन के अनुसार 'यह नाटक उनके हृदय की एक उमंग का फल है और प्रकाशित करने से पूर्व रंगमंच पर खेला गया है और उपयोगी भी प्रमाणित हुआ है.'[१६०] पर साहित्यिक पत्रिका 'सरस्वती' के अनुसार–यह नाटक शिक्षाप्रद, विषय की दृष्टि से नवीन, अच्छे विषय, अच्छी भाषा और अच्छी कविता वाला है, लेखक की विद्वत्ता और गंभीरता की दृष्टि से भी विश्वसनीय है, पर इसमें चित्ताकर्षकता और कलात्मक नैपुण्य का अभाव है. इसके कथा भाग में वह बात नहीं है जिससे दर्शकों की कौतूहल वृद्धि होती रहे. इसका कारण हमें यह मालूम होता है कि इसमें लेखक ने एक राजनैतिक समस्या का हल किया है. अतःएव उन्हें उसी के अनुकूल कथा की सृष्टि करनी पड़ी है. जब रस्सी में फूलों की माला गूंथी जाती है, तब माला तो तैयार हो जाती है, पर फूलों का रूप बिगड़ जाता है.'[१६१] विद्यावाचस्पति जी ने एक बार कहा था– 'जो अपना क्षेत्र नहीं है, व्यर्थ ही उसमें कूदना नहीं चाहिये.' हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में तो उन्होंने स्पष्ट ही कहा था कि 'वह मेरा क्षेत्र नहीं है'. और इस बात की अनुभूति होने के बाद वे पुनश्च दुबारा कभी काव्य के मैदान में नहीं उतरे. 'स्वर्ण–देश का उद्धार' के बाद अपनी नाटय कृति की सफलता–असफलता के संबंध में उनका कोई भी वक्तव्य कहीं पर भी नहीं दिखलायी देता. चर्चित नाट्यकृति उनकी 'एकमेवाद्वितीयम्' कृति है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वे यह ताड़ गये थे कि काव्य की तरह नाटक भी अपना क्षेत्र नहीं है, फिर भी विषय की नवीनता के कारण उनका नाटक अपने समय में लोकप्रिय रहा. श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में, 'उनके 'स्वर्ण–देश का उद्धार' शीर्षक नाटक ने उस युग में अच्छी लोकप्रियता पाई थी.'[१६२]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ

१. हिन्दी गद्य साहित्य–२०३
२. आर्य संदेशः २३ दिसंबर १९६०: लेख–दिल्ली की हिन्दी पत्रकारिता के जनक–४३
३. प्रिंस बिस्मार्कः विषय–सूची से पूर्व
४. साप्ताहिक हिन्दुस्तान २६ फरवरी १९६१ः लेख–नूतन युग के प्रहरी–५
५. 'विशाल भारत': मेरे पिताः पुस्तक सूची पत्र–१४
६. आजकलः १५ नवंबर १९४९
७. प्रह्लादः अप्रैल १९६०: भारतीय मनीषा के प्रतीकः पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति–२५
८. नवनीतः मई १९६७: लेख– श्रद्धेय इन्द्रजी–९
९. साप्ताहिक हिन्दुस्तान २६ फरवरी १९६१ः लेखः 'वह अपनी पीढ़ी के उत्तम लेखक थे–६
१०. तत्रैवः ११ सितंबर १९६०: लेखः नूतन युग के प्रहरी स्व. इंद्र विद्यावाचस्पति ४
११. प्रेमचन्द विश्वकोशः खण्ड–१–२५०–५१, ५५
१२. आर्य सन्देशः २३ दिसंबर १९६०: लेख–महान् लेखक आर्य हिन्दी के अनन्य भक्त–३९
१३. नवनीतः मई १९६७–लेखः श्रद्धेय इन्द्रजी–६६
१४. आध्यात्म रोगों की चिकित्साः प्रास्ताविकः निवेदन–छह
१५. आजकलः सितम्बर–१९६०
१६. अजन्ताः १९५९
१७. पत्रकारिता के अनुभव–४२
१८. साप्ताहिक हिन्दुस्तान ११ सितम्बर १९६०–लेख–नूतन युग के प्रहरी–४
१९. 'सार्वदेशिक': मई १९४९–१३१, १३२
२०. विनायकराव अभिनन्दन ग्रंथ–३१–३३
२१. वेदवाणीः सितम्बर १९७९
२२. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास–१३५
२३. आजकलः १५ नवंबर १९४९–७, ८
२४. अमृत बाजार पत्रिकाः १९२७
२५. आजकलः दिसंबर–१९६०
२६. नवनीतः मई १९६७: लेखः श्रद्धेय इन्द्र–६६
२७. सार्वदेशिकः फरवरी १९५५–६५०
२८. नवनीतः मई १९६०–२३–२६
२९. नवनीतः जौलाई १९६०–३६, ३७
३०. विजय–दैनिकः ६ अप्रैल १९१९
३१. तत्रैवः १ अप्रैल १९१९
३२. तत्रैवः ३१ मार्च व १, २ अप्रैल १९१९
३३. पत्रकारिता के अनुभव–२७
३४. सद्धर्म प्रचारकः दिसंबर १९११
३५. माधुरी–अगस्त १९२६ से जनवरी १९२७ का कोई अंक–२३४
३६. मर्यादा–१९१२–१९१४ के बीच का कोई अंक
३७. विशाल भारतः दिसंबर १९३१, अक्टूबर १९३३, अप्रैल–मई १९३४
३८. पं. जवाहरलाल नेहरूः प्रथम संस्करण–परिशिष्ट
३९. तत्रैव
४०. तत्रैव
४१. तत्रैव
४२. सार्वदेशिकः अगस्त १९४८–२७५, ७६
४३. तत्रैवः अक्टूबर १९५६–३६६, ३६७
४४. तत्रैवः अप्रैल १९५७–६३, ६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४५. आजकलः नवनीत–मई १९६७ः श्रद्धेय इन्द्रजी–६५
४६. सार्वदेशिक : अक्टूबर १९५६–३९६–३९७
४७. सार्वदेशिकः अप्रैल १९५७–६३, ६४
४८. वेदप्रकाशः मार्च १९५८–आवरण–१
४९. पत्रकार प्रेमचंद और हंस–३०९/हंसः अगस्त १९३४–५०
५०. सार्वदेशिकः अक्टूबर १९५६ – ४३४, ४३५
५१. आर्य वीर दल शिक्षण शिविरः कार्य तथा शिक्षणक्रम भूमिका–३
५२. सद्धर्म प्रचारक–३ जून १९०८
५३. सार्वदेशिकः जौलाई १९५६ः २३०–२३२
५४. तत्रैवः अप्रैल १९५७–७०–७३
५५. राजधर्मः भूमिका–१–४
५६. सार्वदेशिकः अप्रैल १९५७–१०१–१०३
५७. तत्रैवः अक्टूबर १९५६ः ३९४–३९६
५८. आर्यसमाज का इतिहासः द्वितीय भाग–३१८–३२२
५९. सद्धर्म प्रचारकः १९१४/संदर्भः इन्द्र विद्यावाचस्पति–३७
६०. आर्यमित्रः ६ जून १९३८ः स्वर्ण जयन्ती अंक–५६ / आर्य संदेशः ४ सितंबर १९१४
६१. सार्वदेशिकः ३ सितंबर १९७८–लेख– श्री पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति की स्मृति में–६
६२. आर्य वीर दल का बौद्धिक शिक्षणः १–२७
६३. सद्धर्म प्रचारकः ३ जून १९०८
६४. सार्वदेशिकः जुलाई १९५६–२३०–२३२
६५. सार्वदेशिकः अप्रैल १९५७–७०
६६. तत्रैव–७३
६७. वैदिक अनुसन्धानः नवम्बर १९५६
६८. तत्रैव.
६९. शोध लेखक को प्रा. राजेन्द्र जिज्ञासु द्वारा २९/१/६४ को दिये गए साक्षात्कार के आधार पर.
७०. सार्वदेशिकः जून १९५७–१८१–१८३
७१. ईशोपनिषद्भाष्यः परिशिष्ट–१२२–१३२
७२. तत्रैवः परिशिष्ट–१३३–१४५
७३. मुंशी अभिनन्दन ग्रन्थः ४ जनवरी १९५०–२६३–६६
७४. काशी के समस्त हिन्दी–अंग्रेजी समाचार पत्रः २३, २४, २५ मई १९५६/ सार्वदेशिकः जुलाई १९५६–२७४
७५. गुरुकुल पत्रिकाः कार्तिक २००६
७६. आर्य जगत्ः १४ फरवरी १९६०ः ३३–४०/ विशाल भारतः सितंबर–१९३२ः २६३–६६
७७. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारणः प्रस्तावनाः ५–१५
७८. सार्वदेशिकः दिसंबर १९५६ : ५२८–५३१
७९. पं. जवाहर लाल नेहरू : प्रस्तावना क–च
८०. लोकमान्य तिलक और उनका युगः–२२९–२३३
८१. धर्मयुग–१६ अक्तूबर १९६०–१०
८२. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति– ५–१५
८३. वैदिक अनुसंधानः नवंबर १९५६
८४. सार्वदेशिकः जून १९५७–१८१
८५. तत्रैव– दिसम्बर १९५६–५२८–५३१
८६. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः १९५६–संदर्भ–सार्वदेशिक दिसंबरः १९५६–५६६
८७. स्वराज्य और चरित्र निर्माण– २५–२७
८८. पत्रकारिता के अनुभव– ७८–८४
८९. तत्रैव–८५–९३
९०. तत्रैव–९४–१०१
९१. तत्रैव–१०२–१०६
९२. हिन्दी गद्य साहित्य–१६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६३. रघुवंश–भूमिका–पूर्वार्ध–३–१०

६४. तत्रैव–भूमिका–उत्तरार्ध–१०–१५

६५. किरातार्जुनीय–प्रस्तावना–११–२५

६६. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदयः भूमिका–क–ङ

६७. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास–१७१–१७८

६८. पत्रकारिता के अनुभव–३–७

६९. इन्द्र विद्यावाचस्पति–२६

१००. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २८ अगस्त १९६६ः लेख– सचमुच एक मानव–२३

१०१. सार्वदेशिकः फरवरी १९५९– ५९८–५९९

१०२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान : १७ अप्रैल १९६०–७

१०३. नवनीतः नवंबर १९६०–९७–१००

१०४. पत्रकारिता के अनुभव– ६–७

१०५. इन्द्र विद्यावाचस्पति–२६

१०६. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २८ अगस्त १९६६–२३

१०७. सार्वदेशिकः फरवरी १९५९–५९९

१०८. साप्ताहिक हिन्दुस्तान : १७ अप्रैल १९६०–७

१०९. प्रिंस बिस्मार्क – ग्रन्थकर्ता की अन्य पुस्तकें.

११०. आर्य जगत्ः ५ नवंबर १९८९ लेख– इतिहास, साहित्य एवं पत्रकारिता के महारथी–२

१११. अजन्ताः सितंबर १९५२–४७

११२. तत्रैव–४७

११३. किरातार्जुनीय – प्रस्तावना–६

११४. मैं इनका ऋणी हूं–११६

११५. प्रह्लाद : अप्रैल १९६०ः लेख– पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति से मेरा संपर्क–४६

११६. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २६ फरवरी १९६१ः लेख–शील और प्रज्ञा के धनी इन्द्रजी–१०

११७. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २६ फरवरी १९६१ः लेख–दो पीढ़ी की निकटता–१४

११८. इन्द्र विद्यावाचस्पति–३१–३३

११९. अध्यापिका श्रीमति शोभा ओमप्रकाश निलंगेकर से हमें उदगीर के शासकीय अध्यापक विद्यालय में 'भारत वंदना' गीत गाये जाने की जानकारी प्राप्त हुई.

१२०. तत्रैव–३३–३५

१२१. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन–२३८

१२२. इन्द्र विद्यावाचस्पति–६५

१२३. डॉ. गोपाल रेड्डी द्वारा शोधकर्ता को दिये गए एक साक्षात्कार के आधार पर

१२४. इन्द्र विद्यावाचस्पति–१७५

१२५. तत्रैव–१७६

१२६. तत्रैव–१७८

१२७. पत्रकारिता के अनुभव–२–३

१२८. आर्योदयः ३ सितंबर १९६७–लेख–श्री इंद्र विद्यावाचस्पति–१७

१२९. गुरुकुल पत्रिकाः अप्रैल १९६२–३०३–३०४

१३०. दयानन्द कम्मोरेशन वाल्यूम–३७३

१३१. आर्यमित्रः ६ जनवरी १९३८–१२

१३२. अजन्ताः सितंबर १९५२ः इन्द्र विद्यावाचस्पति (साक्षात्कार)–४७

१३३. इन्द्र विद्यावाचस्पति–२२०

१३४. प्रह्लादः अप्रैल १९६०ः लेख–प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना–६६

१३५. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन–१७८

१३६. प्रकर– भारतीय साहित्य के २५ वर्ष–१७

१३७. प्रकर–विशेषांक–भारतीय साहित्य के २५ वर्ष–लेख–सर्वदेशीय भाषा–संस्कृत साहित्य २५ वर्ष– लेखक–डॉ. वेदव्रत–१७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३८. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन–१८७–८

१३९. प्रह्लादः अप्रैल १९९०–९६

१४०. इन्द्र विद्यावाचस्पति–२५

१४१. आर्य जगत् ५ दिसंबर १९८९–२

१४२. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः ११ सितंबर १९९०–५

१४३. डॉ. बाबासाहब अंबेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय : हिन्दी विभाग रजत जयन्ती और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जन्म शताब्दी वर्ष के उपलब्ध में आयोजित समारोह (२३ मार्च १९९४) में दिये वक्तव्य के आधार पर.

१४४. डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे जी से हुई शोधकर्ता की एक चर्चा के आधार पर

१४५. सत्यार्थप्रकाश–१०३–१०५

१४६. सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का २७ वर्षीय इतिहास–२६९

१४७. तत्रैव–२७०

१४८. प्रह्लादः अप्रैल १९९०–२४

१४९. तत्रैव–४८

१५०. तत्रैव–४८

१५१. इन्द्र विद्यावाचस्पति–३८

१५२. मेरे पिता–२३३

१५३. स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान श्रीमान् लाला रामकृष्ण जी को लिखा पत्र

१५४. मैं इनका ऋणी हूँ–२१

१५५. इन्द्र विद्यावाचस्पति–२२२

१५६. प्रह्लादः अप्रैल १९९०–९

१५७. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः २१ फरवरी १९६१–१०

१५८. हिन्दी नाटक कोश–६३२

१५९. दि. १०–६–१८८० को डॉ. श्रीराम शर्मा हैदराबाद द्वारा शोधकर्ता को दिये गये साक्षात्कार के आधार पर

१६०. स्वर्ण देश का उद्धार–पाठकों के प्रति–१

१६१. सरस्वतीः १ जनवरी १९२२–१०३–१०४

१६२. आर्य जगत्ः ५ नवंबर १९८९–२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११

विद्यावाचस्पति जी की भाषा-शैली

११.१ तत्युगीन भाषायी परिवेशः-

आधुनिक काल से पूर्व साहित्य के रीतिकाल में, साहित्य–भाषा के रूप में, ब्रज–भाषा का आधिपत्य था, पर आधुनिक कालीन द्विवेदी–युग तक आते–आते उसका स्थान खड़ी बोली ने ले लिया. भारतेन्दु युगीन कविता की भाषा तो ब्रज–भाषा ही थी, पर उसी समय खड़ी बोली का प्रयोग गद्य के लिए प्रारंभ हो गया था. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने गद्य और पद्य की अलग–अलग प्रयुक्त होने वाली भाषा पर टिप्पणी करते हुए लिखा था, 'गद्य और पद्य की भाषा पृथक्–पृथक् न होनी चाहिये. हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है. सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी में गद्य–पद्यात्मक साहित्य होना चाहिये. जो लोग हिन्दी बोलते हैं और हिन्दी के गद्य–साहित्य की सेवा करते हैं, उनके पद में ब्रज की भाषा का आधिपत्य बहुत दिनों तक नहीं रह सकता.'[१] भारतेन्दु से द्विवेदी काल तक आते–आते गद्य–पद्य दोनों ही क्षेत्रों में खड़ी बोली धीरे–धीरे पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गई.

प्रदीर्घ काल तक साहित्य और व्यवहार में खड़ी बोली के प्रयोग न होने का कारण देते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने यह तर्क दिया है कि 'खड़ी बोली वैसे ही एक कोने में पड़ी रही जैसे और प्रान्तों की बोलियाँ. साहित्य या काव्य में उसका व्यवहार नहीं हुआ पर किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व ही नहीं था. उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप में वर्तमान थी और अब भी बनी हुई है.'[२] बीसवीं सदी के प्रथम चतुर्थांश (१६००–१६२५) तक की भाषा की स्थिति का विश्लेषण करते हुए डॉ. श्रीकृष्णलाल ने 'हिन्दी साहित्य का विकास' नामक ग्रन्थ में लिखा है, 'बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी गद्य का इतिहास अपने अवयव स्थिर होने और पुनः व्यवस्थित और विकसित होने का इतिहास है. साहित्यिक क्षेत्र में ब्रजभाषा का प्रभुत्व हो या खड़ी बोली का, इससंघर्ष के शान्त होने के साथ–साथ एक नये संघर्ष ने जन्म लिया, जिसे हम खड़ी बोली के संस्कृतनिष्ठ या उर्दूप्रधान होने का संघर्ष कह सकते हैं. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व ही हिन्दी और उर्दू के पक्ष को लेकर लेखकों के दो वर्ग हो गए थे. भारतेन्दु काल में स्वामी दयानंद संस्कृत के पक्षधर थे, तो राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द उर्दू के हिमायती थे. स्वामीजी ने विलासिनी उर्दू की तुलना में संस्कृत और सभ्यता की भाषा हिन्दी को 'कुलकामिनी' कहा था. उनके परामर्श के अनुसार ही उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह ने सरल हिन्दी को राजभाषा बनाकर राजकीय कार्यालयों के क्लिष्ट फारसी नामों के स्थान पर 'महद्राजसभा' 'शिल्पसभा' आदि नाम रखे थे.३ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने संस्कृत–उर्दू की अतिवादी या आग्रही भूमिका को त्यागकर मध्यम मार्ग अपनाया और खड़ी बोली को व्यवस्थित रूप प्रदान किया, परन्तु व्याकरण और भाषा संबंधी अन्य अशुद्धियों का परिमार्जन तब तक नहीं हो पाया था. इस अभाव को अपने अथक प्रयास से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने दूर किया. कालान्तर में महात्मा गांधी और काँग्रेस ने राष्ट्रीय एकता के भाव को ध्यान में रखकर हिन्दी भाषा को हिन्दुस्तानी का नाम दिया जिसका उद्देश्य था–भाषा का स्तर सर्वसुलभ करना, किन्तु 'इस मिलावट की नीति ने न केवल एक समस्या खड़ी की, बल्कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा के स्वरूप को विश्रृंखलित सा कर दिया'.४ हिन्दू–उर्दू का यह संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहा. डॉ. लल्लन मिश्र के अनुसार 'उन्नति की अवस्था में बहुत से प्रतिद्वंद्वी खड़े हो जाते हैं और उनसे संघर्ष करना अनिवार्य हो जाता है. हिन्दी का जब प्रचार और प्रसार होने लगा, तब उसे और अधिक कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा. प्रारंभिक अवस्था में हिन्दी और उर्दू में कोई विशेष अन्तर नहीं था. विकास काल में वे एक दूसरे से अलग हो गई'.[५]

इस उपरोक्त भाषायी उथल–पुथल के संदर्भ में श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति के क्या विचार थे और वे भाषा को किस रूप में ग्राह्य समझते थे. यह भी यहाँ जान लेना आवश्यक है. उर्दू भाषा के संबंध में श्री विद्यावाचस्पति ने लिखा है. 'उर्दू भाषा का जन्म उन्हीं स्थानों पर हुआ जहाँ सर्वसाधारण हिन्दू और मुसलमान मिलते और हाकिम–महकूम के भेदभाव को छोड़कर परस्पर वार्तालाप करते थे. उर्दू जबान हिन्दुओं और मुसलमानों के निरन्तर संपर्क से उत्पन्न हुई है.[६] वर्तमान हिन्दी को देश की भाषाओं में प्रमुख स्थान दिलाने का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और स्वामी दयानन्द को देते हुए उन्होंने लिखा है. 'साहित्यिक क्षेत्र में नवीन हिन्दी के भगीरथ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे और प्रचार क्षेत्र में उसके पथदर्शक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे.....तथा महावीरप्रसाद द्विवेदी स्वसम्पादित सरस्वती द्वारा हिन्दी जगत् में स्वतन्त्र और मानसिक जागृति के प्रवर्तक बन गये थे.'[७] विद्यावाचस्पति जी की दृष्टि में, 'हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि पूर्व सूरियों ने अपने प्रयत्न से नये जीवनपूर्ण प्रगतिशील साहित्य का जो मार्ग बनाया, उस पर चलकर अनेक कवियों, लेखकों और सम्पादकों ने देश के नवीन सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जागरण में सहयोग दिया.'[८] ऐसे राष्ट्रीय लेखक–संपादकों में श्री विद्यावाचस्पति का भी उल्लेखनीय स्थान है.

श्री विद्यावाचस्पति भाषा के किस रूप को ग्राह्य समझते थे? इसका संक्षेप में यही उत्तर दिया जा सकता है कि वे सहज भाषा को ग्राह्य समझते थे. उनकी भाषा में तत्सम शब्दों के अतिरिक्त प्रसंगानुसार उर्दू (अरबी–फारसी) व अंग्रेजी भाषा के शब्द भी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं. उन्हीं के शब्दों में– 'भाषा में जो शब्द आते हैं उन्हें निकालने की आवश्यकता नहीं और न वह निकाले ही जा सकते हैं. आवश्यकता इतनी ही है कि हम उनके असली अभिप्राय को समझें और उसके अनुसार ही प्रयोग करें.'[९] भाषा वही समुचित है, जो श्रोताओं तथा पाठकों के कानों के रास्ते सीधी हृदय तक पहुँच जाय, मैंने वैसी ही भाषा लिखने का यत्न किया है.'[१०]

अपनी भाषा शैली के गुण–दोषों की विस्तार से चर्चा करते हुए श्री विद्यावाचस्पति लिखते हैं– 'पहले मैं अपनी भाषा की सबसे बड़ी त्रुटि बतलाऊँगा. हमारे शिक्षा काल में गुरुकुल में हिन्दी का प्रयोग शिक्षा के माध्यम के रूप में ही किया जाता था, उसके साहित्य तथा व्याकरण की पढ़ाई नहीं होती थी. मैंने हिन्दी का व्याकरण सर्वथा नहीं पढ़ा. इस कारण मेरी हिन्दी प्रारंभ में संस्कृत के सांचे में ढल गई. हमें संस्कृत का व्याकरण ही पढ़ाया जाता था. जब मैंने अपनी प्रथम पुस्तक 'नैपोलियन बोनापार्ट' प्रकाशित की तब उसके समालोचकों ने प्रधान रूप से दो बातें लिखीं–पहली बात तो यह थी कि भाषा में हिन्दी व्याकरण संबंधी अनेक दोष हैं और दूसरी यह थी कि भाषा जोरदार और स्पष्ट है. जहाँ तक मैं समझ सका हूँ मेरी भाषा के स्पष्ट होने का मुख्य कारण यह है कि मैं लिखने के समय पाठकों के साथ अपना एकीभाव कर देता हूँ. प्रत्येक वाक्य लिखते हुए यह ध्यान रखता हूँ कि मेरे शब्द पढ़ने वालों तक मेरे हृदय के भावों को सरल और स्पष्ट रीति से पहुँचा देंगे अथवा नहीं....सदा यह ध्यान रखने से मुझे अपने पाठकों के हृदय तक पहुँचने में थोड़ी बहुत सफलता प्राप्त हुई है. उस सफलता ने मेरी हिन्दी व्याकरण की अनभिज्ञता को थोड़ा बहुत ढक दिया है. इतने वर्षों तक लिखते–लिखते व्यावहारिक व्याकरण का कुछ बोध हो जाने पर भी मैं समझता हूँ हिन्दी व्याकरण का विशेषज्ञ आज भी मेरी भाषा में से 'भाषा की अनस्थिरता'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के दृष्टान्त पा सकते हैं.' इस न्यूनता के रहते भी प्रारंभ से ही पाठकों के साथ मेरा जो एकीभाव स्थापित हुआ, वही वस्तुतः मेरी साहित्यिक निधि है.'[११]

श्री विद्यावाचस्पति संस्कृत के विद्वान् होने के बावजूद भी संस्कृतनिष्ठ भाषा के नहीं, अपितु सहज–सरल भाषा के समर्थक थे. प्रो. विजयेन्द्र स्नातक की सम्मति में उनकी 'भाषा शैली प्रभावशाली एवं आकर्षक थी.[१२] श्री गोपीनाथ 'अमन' के शब्दों में विद्यावास्पति जी की भाषा 'शब्द जाल से मुक्त होते हुए भी बहुत सारगर्भित थी.'१३ श्री टी.एस. कन्नन के मतानुसार 'उनकी भाषा सरल एवं बोधगम्य थी. छोटे छोटे वाक्यों में बड़ी बात कहने में वे सिद्धहस्त थे. भाषा उनकी अपनी होकर चलती थी.[१४] श्रीमति महादेवी वर्मा ने भाषा के विषय में कहा है, 'आदिम जीवन से आज तक मनुष्य की जो सर्जनात्मक उपलब्धियाँ हैं. उनकी दीर्घ सूची में भाषा महत्वपूर्ण आविष्कार है.' इसी क्रम में आगे वे लिखती है, ''मनुष्य अपने भाव या विचार दूसरे मनुष्य के अन्तःकरण में प्रतिफलित करना चाहता है और इस संक्रमण की सफलता भावानुकूल शब्दावली, अभिव्यक्ति की शैली तथा शब्दों की प्रभविष्णु शक्ति पर निर्भर है.'[१५] इस दृष्टि से जब हम राष्ट्रीय लेखक व पत्रकार श्री विद्यावाचस्पति के साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो पाते हैं कि वे अपने भावों और विचारों को अपने बहुमुखी सर्जनात्मक साहित्य के माध्यम से व्यापक स्तर पर अभिव्यक्त करने में निःसन्देह रूप से यशस्वी हुए हैं.''

श्री विद्यावाचस्पति ने विषयानुकूल, भावानुकूल, परिमार्जित और परिनिष्ठित भाषा में सफलतापूर्वक अपने विचारों की अभिव्यक्ति की है. उनकी भाषा को सुसज्जित करने में उनके द्वारा निर्मित व समुद्धृत सूक्तियों का उल्लेखनीय सहयोग है. मुहावरों और कहावतों ने उनकी भाषा का श्रृंगार किया है. संस्कृत के साथ लोक प्रचलित अरबी–फारसी तथा अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करना भी उन्होंने सर्वथा समुचित समझा है. उनकी रचना–पद्धति में अलंकारिता का चमत्कार भी विद्यमान है. उपमा, रूपक, विरोधाभास, उदाहरण, मानवीकरण आदि अलंकारों की छटा उनके गद्य में देखते ही बनती है. भाषा शैली की दृष्टि से उन्होंने प्रमुखतया प्रसाद शैली का प्रयोग किया है, किन्तु कंचिंत् यत्र–तत्र वे समास शैली का भी आश्रय लेते हुए दिखलाई देते हैं. उसका मूल कारण उन पर पड़ा संस्कृत साहित्य शैली का प्रभाव है. रूप शैली की दृष्टि से उन्होंने समालोचना और प्रश्नोत्तर शैली को अपनाया है. भाव शैली की दृष्टि से विद्यावाचस्पति जी ने प्रमुख रूप से विवेचनात्मक या विश्लेषणात्म्क शैली को स्वीकार किया है. इन उपरोक्त विविध रंगों से श्री विद्यावाचस्पति ने अपनी भाषा शैली को सजाया है. यहाँ कतिपय उदाहरणों के साथ उनकी उक्त विशेषताओं से परिपूर्ण विविधतामयी भाषा की झाँकी प्रस्तुत की जा रही है.

११.२ विद्यावाचस्पति द्वारा प्रयुक्त सूक्तियाँः-

सूक्ति शैली में कला, साहित्य, प्रेम, जीवन, मृत्यु आदि के विषयों में नई–नई कल्पनायें की जाती है. इन सूक्तियों का प्रयोग भाषा को चमत्कारपूर्ण तथा अर्थ को गौरवपूर्ण बनाता है. सूक्तियों में साहित्य तथा लोकानुभूति का भी समन्वय होता है. डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे ने स्वीकार किया है, 'विचार प्रधान भाषा शैली में सूक्तियों का प्रयोग प्रायः अधिक होता है[१६], विद्यावाचस्पति जी की रचनाओं में भी प्रचुर मात्रा में सूक्तियाँ विद्यमान हैं. उन्होंने भावाभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रायः हिन्दी व संस्कृत सूक्तियों का प्रयोग किया है. जैसे, 'संदेश से हीन साहित्य महान् नहीं हो सकता.'[१७] कवि उसे कहते हैं जो दिल के भाव को पहचाने और गहराई में छिपी हुई सच्चाई बाहर ला (कर) रखे.'[१८] 'जो काव्य केवल धन या केवल यश के लिए के लिखा जायेगा, वह उस ऊँचाई तक न पहुँच पायेगा, जिस ऊँचाई तक वह पहुँचेगा जिसका लक्ष्य लोक कल्याण हो,'[१९] 'दास मनोवृत्ति के लोग राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकते,'[२०] विद्यावाचस्पति जी की भाषा को सुसज्जित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने में संस्कृत की सूक्तियों ने भी बड़ा सहयोग दिया है. जैसे, 'क्रिया सिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे,'[२१] 'भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः,'[२२] ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'[२३] 'साहसे श्रीर्निवसति'[२४] स्वल्पारंभाः क्षेमकराः,' उन्होंने पद्य सूक्तियों से भी अपनी भाषा का श्रृंगार किया है और वे सूक्तियाँ यत्र–यत्र उनकी भाषा की शोभा को द्विगुणित करती हुई–सी प्रतीत होती है. जैसे 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं,'[२६] बिन मांगे मोती मिले मांगे मिले न भीख,'[२७] 'काल करे सो आज कर, आज करें सो अब,'[२८] बीति ताहि विसार दे, आगे की सुधि ले.'[२९]

११.३ मुहावरेः-

मुहावरों के प्रयोग से भाषा के अर्थ में चमत्कारिक शक्ति आ जाती है, और भाषा प्रवाहमयी हो जाती है. जब निर्जीव शब्दालियों के स्थान पर सजीव मुहावरों को अनायास भाषा में स्थान मिलता है. तब उस भाषा में अद्भुत सामर्थ्य आ जाता है. पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार– 'मुहावरें एक प्रकार से लाक्षणिक प्रयोग ही है.'[३०] डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे के मतानुसार 'मुहावरे और लोकोक्तियों को रूढ़ा लक्षणा के अंतर्गत समाविष्ट किया जा सकता है,'[३१] श्री विद्यावाचस्पति ने अपनी रचनाओं में शतशः मुहावरों का प्रयोग किया है. जिससे उनकी भाषा सशक्त और व्यावहारिक हो गई है, तथा भाषा शैली में सहज सौन्दर्य का समावेश हो गया है. कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है, 'उन्होंने सरकारी छात्रवृत्ति को लात मार दी,'[३२] उनकी मृत्यु से ऐसा लगता है मानों हमारे सिर पर से एक बड़ा साया उठ गया है.'[३३] 'वह अपने दृष्टिकोण से जगत् की सब समस्यायें हल करने का दावा करके कलम नहीं उठाते थे.'[३४] 'दोनों डर तीन दिन में काफूर हो गए,'[३५] इस प्रकार उक्त तथा अन्यान्य लोक प्रचलित मुहावरों के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि श्री विद्यावाचस्पति की भाषा निसंदेह सजीव और चुस्त बन गयी है.

११.४ लोकोक्तियाँ-कहावतेंः-

मौखिक साहित्य में लोकोक्ति का अतिशय महत्व है. इनमें गागर में सागर भरने की शक्ति पायी जाती है. सांसारिक व्यवहार–पटुता व सामान्य बुद्धि का जैसा निदर्शन लोकोक्तियों में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार जिस दिन हिन्दी लिखने की शैली में लोकोक्ति–कहावतों का समुचित आदर होगा उस दिन उसका रूप खिल उठेगा,'[३६] अभिव्यक्ति में सौष्ठव लाने के लिए विद्यावाचस्पति जी ने हिन्दी–संस्कृत व कहीं– कहीं अरबी–फारसी की लोकोक्तियों का भी यथोचित प्रयोग किया है. जैसे, हिन्दी लोकोक्तियां– 'जिसकी लाठी उसकी भैंस,'[३७] 'दूध का जला छांछ भी फूंक–फूंककर पीता है,'[३८] 'डूबते को तिनके का सहारा',[३९] 'जो बोले सो कुण्डा खोले,'[४०] 'श्री विद्यावाचस्पति ने कतिपय लोकोक्तियों का प्रयोग किंचित् परिवर्तन के साथ किया है. जैसे, 'बबूल बोकर आम के फल कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं,'[४१] 'यदि बिल्लियां न लडें तो बंदर को पंच बनने का अवसर कैसे मिले?,'[४२] 'पहाड़ खोदकर चूहा भी न निकला,'[४३] बिल्ली जब खिसिया जाती है तो खम्भा नोचने लगती है'[४४] संस्कृत लोकोक्तियां– 'देवोऽपि दुर्बल घातकः,[४५] श्रेयांसि बहुविध्नानि,'[४६] 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः'[४७] 'कार्यं वा साधयेम् देहं वा पातयेम्,'[४८] श्री विद्यावाचस्पति द्वारा प्रस्तुत कतिपय हिन्दी लोकाक्तियां या कथन संस्कृत लोकोक्तियों से प्रभावित हैं. यथा, 'आग लग चुकी थी कुआं खोदने से कुछ काम बनने की आशा नहीं थी,'[४९] औरंगजेब के सौभाग्य घट के तले में पहले से कई ऐसे छिद्र हो रहे थे. जिससे पानी का निकलना निरन्तर जारी रहा.'[५०] उर्दू–फारसी लोकोक्तियां– 'करे खानाबदोशों की खुदा ही खाक सामानी,'[५१] 'नीम–हकीम खतराए जान,'[५२] 'पीर शौ बिया मोज=बूढ़ा हो फिर भी सीख.'[५३] अंग्रेजी लोकोक्ति– 'हिज मास्टर्स वायस'[५४]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११.५ शब्द संपदाः-

श्री विद्यावाचस्पति की शब्द संपदा या शब्दावली अतिविस्तृत और समृद्ध ज्ञान की परिचायिका है. संस्कृत और आर्ष वाङ्मय प्रधान गुरुकुलीय शिक्षा के कारण उन्होंने संस्कृत गर्भित तत्सम शब्दावली का प्रयोग बहुलता से किया है, पर उर्दू माहोल के पंजाब में जन्म लेने के कारण उनकी भाषा में अरबी–फारसी की शब्दावली भी प्रचुर मात्रा में है. व्यावहारिक भाषा के पक्षधर होने के कारण, जहां आवश्यक प्रतीत हुआ, वहां उन्होंने निःसंकोच अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है. शब्दावली की दृष्टि से श्री विद्यावाचस्पति की भाषा के तीन रूप परिलक्षित होते हैं. १– संस्कृत गर्भित तत्सम शब्दावली, २– उर्दू के माध्यम से हिन्दी तक पहुंची अरबी–फारसी की शब्दावली, तथा– ३– अंग्रेजी शब्दावली.

श्री विद्यावाचस्पति ने संस्कृत के तत्सम शब्दों को सर्वाधिक अपनाया है. जैसे, 'असूर्यंपश्या, 'आसनासीन', 'इतिवृत्त', 'ईश्वरेच्छा, उत्पात, ऊहापोह, एकच्छत्र, औचित्य, कंटकाकीर्ण, गगनस्पर्शी, चर्मचक्षु, जघन्य, तत्रस्थ, दौहित्र, धराशायी, निरभ्र, प्रत्युत्पन्नमति, ब्राह्म मुहूर्त, भरताग्रज, महती, यज्ञाग्नि, रन्ध्र, लब्धप्रतिष्ठ, वावदूक, शास्य, सच्छिष्य, हार्द, क्षन्तव्य, त्रिकालबाधित आदि.

श्री विद्यावाचस्पति सहज लोक प्रचलित भाषा से अरबी–फारसी के यावनिक शब्दों को बीन–बीन कर अलग करने के पक्षधर नहीं थे. हमें उनके भाषा भंडार में अरबी–फारसी (उर्दू) के शब्द बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं. उनकी शब्द–चयन प्रवृत्ति को देखकर यही प्रतीत होता है. जहां वे हजारों वर्षो की परंपरा से चले आ रहे संस्कृत के शब्दों की उपेक्षा करना आत्मघात समझते थे. वहां वे अनायास लोकभाषा में प्रचलित शब्दों को विदेशी कहकर त्यागना भी मूर्खता मानते थे. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'उर्दू का जो विशाल साहित्य है और गद्य लिखने में उर्दू वालों का जो निरालापन है. हिन्दी वालों को उसमें सदा रूचि रही है और आगे भी रहेगी... फारसी–अरबी के पांच–सात हजार नये शब्द लेने से पांच लाख शब्दों वाली हिन्दी का कुछ बनता बिगड़ता नहीं है, और न हिन्दी वालों को इसकी झिझक है.'[५५] विद्यावाचस्पतिजी ने भी लोक–प्रचलित अरबी–फारसी (उर्दू) शब्दों का खुले दिल से अपनी भाषा में इस्तेमाल किया है. जैसे, अरबी शब्द– अहलकार, आमफहम, इनायत, उसूल, काफूर, खरीता, जनाब, तजर्बा, दिक्कत, मरदूद, रसूख, वजीर, शोहरत, सदर, हकीकी. उर्दू खड़ी बोली का वह साहित्यिक रूप हैं. जिसमें अरबी–फारसी के शब्दों की अधिकता है, तो हिन्दी खड़ी बोली का वह साहित्यिक रूप है, जिसमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य पाया जाता है. विद्यावाचस्पतिजी की भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी उसमें यत्र–तत्र फारसी के शब्द पाये जाते हैं. फारसी के विषय में महापंडित राहुल सांकृत्यायन का मत है कि, 'अरबी भाषा की अपेक्षा फारसी के शब्द हिन्दी में अधिक आसानी से स्थान पा सकते हैं.'[५६] विद्यावाचस्पति जी की रचनाओं में प्रयुक्त फारसी शब्दों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं. अहदनामा, आतिश, उज्रदारी, कुफ्र, ख्वाबगाह, चुस्त, जबान, तोशाखाना, दस्तंदाजी, नौबत, पुश्तैनी, फौजदारी, बंदोबस्त, मीर, लश्कर, शीराजा, सरमायेदार, हरजाना आदि. श्री विद्यावाचस्पति ने अपनी भाषा को लोक व्यवहार के अनुकूल बनाने के लिए वाक्यों के बीच–बीच में अंग्रेजी के बहु प्रचलित शब्दों का प्रयोग करना जरूरी समझा है और उनसे भाषा के प्रवाह में कोई व्याघात भी उत्पन्न नहीं हुआ है. कभी–कभी निबन्धादि विद्याओं में आलोचना–प्रत्यालोचना, खण्डन–मण्डन अथवा तथ्य निरूपण के लिए अन्य भाषाओं के शब्द जितने प्रभावशाली तर्क–संगत तथा भावव्यंजक होते हैं. उतने अपनी भाषा के नहीं होते. इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में भावप्रेषणीयता का गुण अधिक मात्रा में लाने के लिए संस्कृत–अरबी–फारसी की तरह अंग्रेजी शब्दों का भी उपयोग किया है. विद्यावाचस्पति जी की भाषा में कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द भी हैं, जो अंग्रेजी शब्दों के आधार पर उनके द्वारा निर्मित हैं. और जिनका उल्लेख करते समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

उन्होंने उनके अंग्रेजी शब्द भी कोष्ठक में दिये हैं.

विद्यावाचस्पति जी ने स्वभाषा में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग अनेक रूपों में किया है. कतिपय अंग्रेजी शब्दों के अर्थ पहले हिन्दी में और मूल शब्द कोष्ठक के अन्तर्गत रोमन लिपि में दिये हैं. जैसे, अग्रभाग (Van) मध्यभाग (Centre) दक्षिण पार्श्व (Right) वाम पार्श्व (Left) सहायक भाग (Reserve Force) बुद्धि स्वातंत्र्य (Freedom of thought) कवलीकरण (Annexation) सांप्रदायिक (Communal) देवमाला (Muthology) क्रियाकलाप (Ritualism) हेतुवाद (Rationalism) प्रतिस्पर्धा (Competition) ऐरां–गैरा महाशय (Mr. Anybody) तर्कशास्त्र (Logic) व्यापारिक स्वाधीनता (Ereetrade) प्रतियोगी सहयोग (Responsive Co-Operation) भारत छोड़ों (Quit India) मन्त्रीमण्डल पद्धति (Cabinet System) आदि.

अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग के दूसरे वाक्यान्तर्गत रूप वह है जिनमें अंग्रेजी शब्दों के अर्थ पूर्ववत् हिन्दी में पर मूल अंग्रेजी शब्द नागरी लिपि में ही कोष्ठक में रखे गये हैं. जैसे, शरीरी (सोल) भोक्ता (ईगो) कर्ता (स्पिरिट) प्रबोध काल (रेनेसाँ) धार्मिक सुधार (रिफार्मेशन) सांस्कृतिक प्रबोध (कल्चरल रेनेसाँ) उदार (लिबरल) अनुदार (कन्जरवेटिव) आदेश–पत्र (ह्विप) राज्य मण्डल (कॉनफिडरेशन) विवरण पत्र (मिनिट) पतित (रेनीगेड) प्रेसिडेंसी (बड़े प्रान्त) गोले का दर्द (गाल ब्लॅडर कालिक) आज्ञापत्र (चार्टर) प्रतिबंध (सेंसरशिप) आदि.

अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग के तीसरे वाक्यान्तर्गत रूप वह है जिनमें रोमन लिपि का रूप, रोमन में न देकर, केवल नागरी लिपि में ही दिया गया है. प्रायः वाक्यान्तर्गत अधिकतर अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग विद्यावाचस्पति जी ने नागरी लिपि में ही किया है. जैसे अप–टू–डेट, इन्फ्लुएंजा, एक्टर, ऑनरेबल, कन्वेन्शन, ग्रेन, चार्ट, ट्यूटर, ड्यूटी, पैनेल्टी, फिलासफी, ब्रांकों निमोनिया, मजिस्ट्रेट, वालन्टियर, शॉर्ट–हैन्ड, सेक्रेटेरियट, हिज हाइनेस आदि.

अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग के चौथे वाक्यान्तर्गगत रूप वह हैं जो केवल रोमन लिपि में लिखे गये हैं, पर ऐसे शब्द अत्यल्प हैं. जैसे, Misfire, Nervous systen, India, Psycho-Andlysis, Thank you आदि इसी प्रकार कतिपय पुस्तकों के नाम भी उन्होंने प्रायः रोमन लिपि में लिखे हैं. जैसे India Divided, India in Vicatorian age, Unrest in India, Indian Princes under British Protection.

अंग्रेजी शब्द–प्रयोग के पांचवे वाक्यान्तर्गत रूप वे हैं जिनमें नागरी लिपि लिपि में अंग्रेजी शब्द प्रयोग किया गया है, और तत्पश्चात् कोष्ठक में उसका रोमन रूप भी दिया गया है. इस कोटि के अंग्रेजी शब्द प्रयोग भी अत्यल्प ही हैं. जैसे, मैडिसन (Medicine) सर्जरी (Surgery) इज्म (Isma) दि वीक्ली न्यूज (the Weekly) दि ओरियन (the orion) आदि. अंग्रेजी शब्द–प्रयोग के छटे वाक्यान्तर्गत रूप वे हैं, जिनमें पहले नागरी लिपि में अंग्रेजी शब्द का प्रयोग किया है और तत्पश्चात् उसका हिन्दी अनुवाद दिया गया है. ऐसे शब्द भी अत्यल्प या नगण्य ही हैं. जैसे, सिलवर टंग (रजत जिह्व), लाउडथिंकिंग (सस्वर विचार करना), हिडोनिज्म (सुखवाद) डोमीनियम (उपनिवेश) मॉडरेट (नर्म) अगनोस्टिसिज्म (अनीश्वरतावाद) जीनियस (असाधारण प्रतिभाशाली) आदि.

विद्यावाचस्पति जी ने अपनी बात को न्यायसंगत, प्रमाणपुष्ट एवं तर्कसंगत बनाने के लिए अपनी रचनाओं में संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा के उद्धरणों का भी प्रयोग किया है. कहीं पहले मूल रोमन लिपि में अंग्रेजी विचारकों के उद्धरण दिये हैं और तत्पश्चात् उसका हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया है तो कहीं मूल ग्रंथ भाग में अंग्रेजी विचारकों के हिन्दी अनुवाद देकर उनके कथनों को पाद टिप्पणी में मूल रोमन लिपि में यथावत् उद्धृत किया गया है. जैसे, Good government is no substitute for self government (सुराज्य स्वराज्य का स्थानापन्न नहीं हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता, Nations by themselves are is better than cure' (बीमारी को आने से पहले रोक देना उसके इलाज से कहीं अच्छा है) आदि.

विद्यावाचस्पति जी की ललित व ललितेतर रचनाओं में बार–बार कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ हैं, जो उसी रूप में अन्य साहित्यकारों की रचनाओं में नहीं पाये जाते. जैसे आश्चर्यचकित के स्थान पर 'आश्चर्यित', निजी के स्थान पर 'निजू', घरेलू के स्थान पर 'घरू', सुरक्षा के स्थान पर 'संरक्षा', स्वर्णिम के स्थान पर 'स्वर्णीय', सावधानी के स्थान पर 'सावधानता', स्पष्टता के स्थान पर 'स्पष्टवादिता' आदि. इसी प्रकार एकाधिक बार बहुत के स्थान पर 'पुष्कल, परन्तु के स्थान पर 'प्रत्युत', अतीत के स्थान पर 'व्यतीत', अंतर्निहित के स्थान पर 'अंतर्हित', 'व्यापी' के स्थान पर 'व्यापिनी' 'अंतर्धान' के स्थान पर 'अंतर्ध्यान', निःसंदेह के स्थान पर 'अंसदिग्ध' जैसे अल्प प्रचलित शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है जिससे उनकी लेखनी शैली की एक विशिष्ट प्रवृत्ति का पता चलता है.

विद्यावाचस्पति जी की लेखन शैली की दूसरी विशिष्ट प्रवृत्ति है पाठकों से संवाद स्थापित करने की. चाहे ललित विधा हो या ललितेतर, सर्वत्र उन्होंने इस शैली का प्रयोग किया है. उनकी इन लेखन शैलियों को दोष भी कहा जा सकता है या रचना शैली की विशिष्ट प्रवृत्ति भी. पर हम यहां यह उल्लेख करना चाहते हैं कि यही वे विद्यावाचस्पति जी की सहज रचनागत प्रवृतियां हैं, जिनसे उनकी रचनाओं की विश्वसनीयता एवम् प्रामाणिकता बनी रहती है. किसी रचना के प्रारंभिक पृष्ठों के नदारद या लुप्त–गुप्त हो जाने पर भी इन प्रवृत्तियों के आधार पर उनकी रचनाओं का यत्किंचित् प्रयास से अनायास पता लगाया जा सकता है.

कहीं–कहीं विद्यावाचस्पति जी की रचनाओं में भाषागत दुर्बलता भी दिखाई देती है. केवल वाक्यों का प्रयोग ही अशुद्ध हुआ हो ऐसी बात नहीं, पर उनका आशय समझने में कठिनाई होती है. जैसे– 'सूर्य प्रकाश दाता है'– इस भाव को व्यक्त करने के लिए विद्यावाचस्पति जी लिखते हैं– 'इसकी चिंता मत करो, सूर्य अन्धेरा नहीं दे सकता'. कतिपय स्थलों पर स्थान विशेष या संज्ञा विशेष की वर्तनी में भी विद्यावाचस्पति जी ने गलत प्रयोग किये हैं. जैसे मैसूर के स्थान पर माइसूर, सातारा के स्थान पर सितारा, एलोरा के स्थान पर एल्लोरा, कुलाबा के स्थान पर कोलाबों, यूरोप के स्थान पर योरूप, नांदेड के स्थान पर नांदेर, गुंजोटी के स्थान पर गंजोटी, त्रिपुरा के स्थान पर त्रिपुरी, ब्रह्मसमाज के स्थान पर ब्रह्मोसमाज, पाटिल के स्थान पर पातिल, तात्या टोपे के स्थान पर तांतिया टोपे, कुंटे के स्थान पर कुंते, गोळे के स्थान पर गोले आदि. डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे के मतानुसार महाराष्ट्र केसरी छत्रपति शिवाजी के राज–दरबारी कवि महाकवि भूषण ने अपने काव्य में 'सातारा' के लिए 'सितारा' का प्रयोग किया है, जिसका प्रभाव श्री विद्यावाचस्पति पर पड़ा है. 'ब्रह्मसमाज' के स्थान पर 'ब्राह्मोसमाज' बंगाली उच्चारण का परिणाम है. तथा शेष सभी रूपांतरित शब्द अंग्रेजी भाषा की प्रकृति के अनुरूप या प्रतिफल हैं. विद्यावाचस्पति जी ने दोगले समासों, संधियों या विरोधी पद–मैत्रियों के शब्द प्रयोग भी किये हैं, जो अनुचित हैं, जैसे–बेत ताड़न, निषेधात्मक वायदे, जबरदस्त प्रतिवाद, जनाकीर्ण सड़क, 'पुष्कल आँसू', काफी ख्याति, स्थायी बंदोबस्त, स्पष्ट इकरारनामा, निमन्त्रित मुसाहिबों, यत्नसंचित मुस्कुराहट, अनुद्घोषित सुलहनामा, विस्तीर्ण पेशानी, घृणाव्यंजक कहकहा, पुष्कल पूंजी, पब्लिक अखबारनवीसी. इसी शैली में लिखे गए कतिपय वाक्य या वाक्यांश भी दर्शनीय हैं. जैसे– 'बारूदखाना अग्निसात् हो गया'. 'कृत्रिम कोप काफूर हो गया', 'चादर आस्तीर्ण थी', 'सदर स्थान पर एक परिष्कृत मृगछाला शोभायमान थी', 'आपद्ग्रस्त नगरी में कई प्रकार की सेवा दरकार थी', 'सुलहनामा करने के लिए बाधित किया', 'संधि को बहाल कर दो', 'तत्रस्थ मण्डली बौखला गई', 'नाश्ते के उपरान्त', 'फाटक में प्रविष्ट', 'ईमानदारी की पराकाष्ठा'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि. विद्यावाचस्पति जी के जीवन–सुमन का विकास गंगा–जुमनी संस्कृति या मिले–जुले आंचल में हुआ था. पंजाब और दिल्ली उनकी क्रमशः जन्मभूमि व कर्मभूमि रही. अतः उनकी भाषा में उर्दू शब्द शामिल हो गये हैं, और उनकी शिक्षा–दीक्षा की भूमि संस्कृत और संस्कृति का पुनरुद्धार करने वाली कांगड़ी गुरुकुल रही है, अतः उनकी शब्दावली तत्समप्रधान बन गयी है. इन दोनों परिवेशों के गंगा–जुमनी वातावरण का यह परिणाम हुआ कि उनकी भाषा में यत्र–तत्र विरोधी पद–मैत्रियों से तथा विभिन्न भाषायी संस्कृति से युक्त वाक्य, वाक्यांश या शब्द मिल जाते हैं.

११.६ अलंकारः-

आलंकारिक भाषा से अभिव्यंजना में चमत्कार की सृष्टि होती है. कविवर सुमित्रानंदन पंत का अभिमत है कि, 'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, अपितु वे भावाभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं,[५७] डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे के शब्दों में 'अलंकार साहित्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपकरण है... और वह अभिव्यक्ति को पूर्णता प्रदान करता है.[५८] डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार 'शब्दालंकारों में शब्द चातुर्य है, तो अर्थालंकारों में अर्थ कौशल, यदि यह कहा जाय कि शब्दालंकारों में भाषा की चित्रशाला है और अर्थालंकार में भावों की मुस्कान तो अत्युक्ति न होगी.... अलंकार एक ओर भाषा का परिष्कारक है, तो दूसरी ओर भावों के प्रयोजन की अन्तर्दृष्टि का सूचक है.'[५९] जहां अनुप्रास आदि शब्दालंकारों से भाषा में चमत्कार उत्पन्न होता है वहां उपमा आदि अर्थालंकारों एवं अप्रस्तुत विधान से प्रभावोत्पादकता उत्पन्न होती है और उसके साथ ही कथ्य का भाव भी सहज ग्राह्य बन जाता है. अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत सादृश्यमूलक उपमा–रूपक आदि अलंकारों का आश्रय लेकर साहित्यकार वस्तु, गुण, अथवा क्रिया की तीव्र अनुभूति करवाता है. इस प्रकार अलंकारों के प्रयोग से भाषा, सजीव, प्रभावोत्पासदक एवं रमणीय बन जाती है. इंन अलंकारों से परिस्थिति या पात्र के चित्रण में भी बड़ी सहायता मिलती है.

श्री विद्यावाचस्पति की रचनाओं में भी स्वाभाविक रूप से शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है, जिससे उनकी भाषा में चमत्कारिता के साथ–साथ सशक्त भावप्रेषणीयता का गुण भी अनायास आ गया है. तथापि वे 'तुम वहन कर सको जन–मन में मेरे विचार, वाणी मेरी चाहिये तुम्हें क्या अलंकार' के पक्षधर हैं. उन्हीं के शब्दों में– 'भाषा का अलंकार वहीं तक शोभाजनक या उपयोगी हो सकता है, जहां तक वह लेखक के अभिप्राय में कठिनता उत्पन्न न करें.'[६०] स्पष्ट है कि विद्यावाचस्पति जी अनावश्यक अलंकरण की अपेक्षा सहज अलंकरण के हिमायती हैं, उनकी रचनाओं में हमें रूपक–अलंकार का प्रयोग बहुलता के साथ मिलता है. अनुप्रास आदि शब्दालंकार एवम् उपमा आदि अर्थालंकारों की छटा भी दर्शनीय है.

विद्यावाचस्पति जी के अलंकृत गद्यों में रूपक–अलंकार अपनी अद्भुत छटा विकीर्ण कर रहें हैं. जैसे, 'उन्होंने (महर्षि दयानंद जी ने) रूढियों के जंगल के स्थान में विदेशी सभ्यता का जो विषवृक्ष बोया जा रहा था, उसे रोककर भारतीयता के कल्पवृक्ष का आरोपण कर दिया.'[६१] 'आयु की दृष्टि से लोकमान्य तिलक का जीवन–सूर्य मध्याह्न से अस्ताचल की ओर जा रहा था और महात्मा (गांधी) जी का जीवन–सूर्य पूर्वाचल से मध्याह्न की ओर.'[६२] 'आज भारत में जो राष्ट्रीय स्वाधीनता का प्रभात आ रहा है, एक भाषा का सार्वदेशिक रूप से प्रयोग इसका एक प्रमुख कारण है.'[६३] 'प्रबोध का वह बाल सूर्य जो १० वीं शताब्दी के आरंभ में भारत के उदयगिरि पर अंकुरित हुआ था, वह २० वीं सदी में प्रबल राज्य क्रान्ति के रूप में परिणत हो गया और १५ अगस्त १९४७ को उसे संसार ने मध्य आकाश में चमकते हुए सूर्य की न्याई देखा.'[६४] व्याख्यानों के बमों और पोस्टरों के छर्रो से आकाश धुआंधार हो गया.'[६५] (महात्मा जी के) एक शब्द की पीठ पर सौ–सौ क्रियाओं की गठरी लदी होती थी.'[६६] 'जायदाद वह खटाई है, जो प्रेम रूपी दूध के जर्रे–जर्रे को फाड़कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग कर देती है.'[६७] '(प्रेमचन्द की) लेखनी रूपी तूलिका ने जो चित्र खींचे हैं, उनमें गरीबों और उनकी झोपड़ियों, मजदूरों और उनके कष्टों की प्रधानता है.'[६८] 'निर्भय सुधारक का काम बड़ा कठिन होता है, उसे दूसरे के दोषों का स्पष्ट शब्दों में प्रदर्शन करके नासमझ जनों की क्रोध रूपी आग से खेलना पड़ता है'[६९] आदि. श्री विद्यावाचस्पति की रचना पद्धति में उपमा अलंकार ने तो चार चांद लगा दिये हैं. जिससे इनकी शैली में चारूता एवं सुंदरता की अनुपम वृद्धि हुई है. जैसे, 'सुरेन्द्रबाबू का सिंहनाद तूफानी समुद्र की लहरों के समान है.'[७०] 'गोखले महोदय का कंठ स्वर ऋषिकेश में बहती हुई गंगा की वसन्तकालीन धारा के समान है',[७१] तथा 'विपिनचन्द्रपाल का स्वर सितार के अंतिम सप्तक के समान है.'[७२] श्री विद्यावाचस्पति ने उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से भी अपनी बात को भली प्रकार समझाने का प्रयास किया है, जैसे, 'महात्मा जी के आंखों में आंसू देखकर प्रतीत होने लगा था, मानो हिमालय अपने स्थान से हिल गया हो.'[७३] 'वह (डॉक्टर) मानो भारत में एलोपैथिक इलाज के अणुबम हैं.'[७४] 'मौलाना आरिफ बहुत ही दुबले–पुतले थे. देखने से यह मालूम होता था कि किसी ने बाँस के ढांचे पर खद्दर मढ़ दिया हो.'[७५] विद्यावाचस्पति जी ने अप्रस्तुत विधान के माध्यम से भी चमत्कार उत्पन्न किया है. जैसे, 'यह नेताजी सुभाषचंद्र बोस के व्यक्तित्व का ही जादू था, जिसने चिड़िया (कॅप्टन लक्ष्मी) को अंग्रेज सेना के बाज (सर ह्यूगरोज) से भिड़ा दिया.'[७६] 'छत्तीस वर्षो में गौ ने (ब्राह्मण धर्मी सिख जाति ने) व्याघ्र का (क्षत्रिय गुणधर्मी सिख जाति का) रूप धारण कर लिया.'[७७] 'प्यासा (श्यामा) गंगा (चम्पा) के पास जा रहा था, पर गंगा (चम्पा) उसके पास आ गई'[७८] आदि.

विद्यावाचस्पति जी की रचनाओं में दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग भी विपुलता के साथ हुआ है, जिससे उनकी भाषा में अधिकाधिक कलात्मकता की श्रीवृद्धि हुई है. जैसे, 'दुःखों को सहन करके सुख अधिक सुखदायक होता है. चिरायता पीने के पीछे मिसरी का मिठास कई गुणा हो जाता है. कमलादेवी ने भी बड़ी तपस्या के पीछे अपने हृदय–धन (तेजसिंह) को पाया है'.[७९] 'जैसे कपड़े के लाल टुकड़े को देखकर सांड़ बिदक जाता है, लार्ड विलिंग्डन वैसे ही होमरूल का नामसुनते ही बिगड़ उठे'. 'मराठा' केसरी' का नर्म संस्करण था. 'केसरी' उकसाता था, 'मराठा' समझाता था. केवल सप्तक का भेद था, राग एक ही था' (लोकमान्य तिलक और उनका युग–१६७,२३). 'गवर्नर जनरल साहब (चक्रवर्ती राजगोपालाचारी) का भाषण पढ़कर दुःख हुआ. मोटे–मोटे उर्दू शब्द जिन्हें लोक भाषा के सरल शब्दों के बीच में लाकर ऐसे बिठा दिया गया था, जैसे फूलों के हार में केवल इसलिए कांटे लगा दिये जायं कि कहीं कांटों के बाग का माली नाराज न हो जाय.'[८०] 'जैसे रेलगाड़ी को स्टेशन से चलकर पूरा जोर पकड़ने के लिए कुछ समय चाहिये, वैसे हीवक्ता को भी असली रूप में आने के लिये कुछ दूर तक चलना आवश्यक होता है.'[८१] उस (जेली सिख नम्बरदार) के स्वर से प्रतीत होता था कि उसे मुझ पर दया आ रही है, वैसी दया जैसी भेड़ को वधस्थान पर ले जाते हुए उसके रखवाले को आती होगी.'[८२]

विद्यावाचस्पति जी की भाषा में कहीं–कहीं विरोधमूलक अलंकार की छटा भी दर्शनीय है. जैसे, 'मैं आपके नौकरों की स्वामीभक्ति पर आश्चर्यित हूँ कि वह आपको राज्य की ठीक–ठाक दशा नहीं बतलाते और आग को फूँस से ढकना चाहते हैं'.[८३] 'बिना बादल के पानी बरसने के कारण–कलाप पर वे अपने–अपने ढंग पर विचार कर रहीं थीं.....तीनों बड़ी बहू के कल्पनातीत बुलावे के संबंध में सोच रही थीं.'[८४] 'फूल ही काँटे बन गये'.[८५] इस नहीं में 'हाँ' अंतर्हित है.'[८६] 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों–ज्यों दवा की.'[८७] 'जो मरने पर तुला बैठा हो वह आसानी से मर नहीं सकता.'[८८]

विद्यावाचस्पति जी ने अपनी रचनाओं में यत्र–तत्र अनुप्रास व शब्दानुवृत्ति द्वारा भी अपनी भाषा को अलंकृत किया है. जैसे, 'ऑरेटरों को सफलता के लिए ऐसा जन–समूह चाहिये कि जिसमें अज्ञ, अल्पज्ञ, और बहुज्ञ सब प्रकार के श्रोता हों.'[८९] 'भगवान् की हृदयहारिणी रचना पर मोहित हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा था.'[६०] 'शाहजादा मदिरा और मोहिनी में मदमस्त होकर अपने सर्वनाश के मार्ग को निष्कंटक बना रहा थाँ.'[६१] भारत की राजनीति में युग बदल गया है. गति के स्थान पर स्थिति आ गई है, परन्तु मेरी सम्मति में मौलाना की परिस्थिति में कोई भेद नहीं आया'[६२] (वृत्यानुप्रास). चिन्ताहारिणी विनाशकारिणी सुरादेवी का एक और प्याला गले के नीचे उतारा गया[६३] (छेकानुप्रास). 'यह सफेद झूठ है, यह काला झूठ है यह कोरा झूठ है.[६४] 'हम अपने रखे हुए फल को सूर्य की रोशनी में देख सकते हैं, बिजली की रोशनी में भी देख सकते हैं, गैस की रोशनी में भी देख सकते हैं, और दीपक की रोशनी में भी देख सकते हैं. दिखानेवाली वस्तु भिन्न हो सकती है, परन्तु वस्तु एक ही रहेगी. [६५] पं. जवाहरलाल नेहरू जिनका जीवन चरित्र आनंद भवन में अंकुरित हुआ और हैरो तथा कैम्ब्रिज में मुकुलित हुआ वह गांधीजी के सत्याग्रह और अंग्रेजी सरकार के कारागारों के जलवायु में पलकर विकसित हुआ.[६६] 'इस परिवर्तनशील संसार में यदि कोई नहीं बदले तो मौलाना अबुल कलाम आजाद, उनकी टोपी का रंग नहीं बदला, दाढ़ी का कट नहीं बदला, बोलने का ढंग नहीं बदला और दो–चार हिन्दी शब्दों के आ जाने पर भी भाषा नहीं बदली'[६७] (शब्दानुवृत्ति).

पश्चिमी साहित्य के प्रभाव से हिन्दी में जिन नवीन अलंकारों का समावेश हुआ है, उनमें मानवीकरण अलंकार का उल्लेखनीय स्थान है. डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे के अनुसार 'मानवीकरण में अचेतन को मानव गुणों से युक्त सचेतन रूप में वर्णित किया जाता है.'[६८] विद्यावाचस्पति जी ने भी मानवीकरण अलंकार का प्रयोग करके गद्य में और भी अधिक चमत्कार की सृष्टि की है. जैसे 'टन्–टन्–टन् की उस गंभीर ध्वनि ने अंधेरी रात की नींद को भी तोड़ दिया. रात मानो जाग उठी और जेल के अहाते में अँगड़ाइयाँ लेने लगीं.'[६९] 'पहले सर्दी ने चुपके–चुपके चोर की तरह रात की अंधियारी में प्रवेश किया, फिर पैर जमता देखकर दिन को भी दबोच लिया.'[७०] बच्चों को स्वयं जेल में भेजने वाले उस वृद्ध महानुभाव (स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी) को ग्लानि रह–रहकर सताती थी. '[७१] 'जिस किस्मत ने अब तक उनका साथ दिया था, उसने अब धोखा देने की ठानी';[७२] 'उस (रानी लक्ष्मीबाई) के शरीर में जो रक्त बहता था वह हारने से मरने को अधिक प्यार करता था'. [७३] इस प्रकार स्पष्ट है कि विद्यावाचस्पति जी ने आलंकारिक शैली में भी अपने भावों और विचारों की रमणीय अभिव्यंजना की है. उपरोक्त रूपक, मानवीकरण आदि विविध अलंकारों के प्रयोग ने आपकी भाषा को अधिकाधिक, कलात्मक, चमत्कारपूर्ण एवं वाग्वैदग्ध्यपूर्ण बना दिया है.

११.७ रचना शैलीगत वैविध्यः-

श्री विद्यावाचस्पति की कृतियों का मूल्यांकन करने पर सुविदित होता है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में भाषा शैली के प्रायः सभी उपादनों का प्रयोग किया है, भाषा शैली के प्रमुख दो भेद है– व्यास शैली और समास शैली. विद्यावाचस्पतिजी ने प्रधान रूप से व्यास शैली और गौण रूप से समास शैली का प्रयोग किया है. व्यास शैली को प्रसाद शैली और समास शैली को संक्षिप्तीकरण शैली भी कहा जा सकता है.

व्यास शैली- इस भाषा में सरल वाक्य और मुख्यार्थ की प्रधानता होती है. विद्यावाचस्पतिजी ने भी अपने कथ्य को सरल और स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किया है. संबद्ध विषय की व्याख्या उन्होंने बड़े ही प्रभावशाली ढंग से की है. व्यास शैली की विशेषता प्रायः उनके लेखन में यत्र–तत्र सर्वत्र दिखलाई देती है. अपने लेखन में उन्होंने बड़े ही संतुलित ढंग से सर्वाधिक रूप में इसी व्यास शैली को अपनाया है. यहाँ उदाहरण के रूप में 'क्रान्ति' विषय से सम्बद्ध एक उद्धरण प्रस्तुत है, 'व्यक्ति या जाति के विकास को रोकने वाले आन्तरिक या बाह्य रोगों को दूर करने के लिए वैसे ही साधनों को प्रयोग में लाना पड़ता है, जैसे साधन व्यक्ति के संबंध में प्रयुक्त किये जाते हैं. व्यक्ति के शरीर में रोग निवृत्ति के लिए प्रयुक्त किये गये बलिष्ठ साधनों का नाम चिकित्सा है. जाति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर से रोग को दूर करने के लिए जिन प्रबल उपायों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें क्रान्ति कहते हैं. शरीर की चिकित्सा का सामान्य नियम यही है कि सर्वप्रथम उद्योग तो यह किया जाध कि कोई रोग पैदा न हो. यदि कोई रोग पैदा हो ही जाय, तो दूसरा उद्योग यह होगा कि उसे सरल उपायों से दूर किया जाय, परन्तु यदि रोग अधिक बलवान हो और सरल उपायों से वश में न आये, तो ऐसा उपाय काम में लाना पड़ता है जो शरीर के ढांचे में उथल–पुथल पैदा कर देता है. अन्दर के विकार के लिए जुलाब देना पड़ता है, जिसे हम मनुष्य के अंग पाचन संबंधी अंगों में क्रान्ति पैदा करने के सिवा कुछ नहीं कह सकते. बड़े फोड़े को चीरना पड़ता है वह भी क्रान्ति ही है. विकास के मार्ग को रोकने वाले कारणों को दूर करने के लिए (व्यक्ति या जाति के) शरीर में एकदम पूरा परिवर्तन का नाम क्रान्ति है.'[१०४]

समास शैली- भाषा शैली का दूसरा प्रमुख प्रकार समास शैली है. विद्यावाचस्पति जी की समास शैली के दो रूप उपलब्ध होते हैं– १– तत्सम–शब्दावली से युक्त वाक्य तथा २– सूत्रात्मक वाक्य. तत्सम शब्दावली से युक्त वाक्यों के कतिपय उद्धरण द्रष्टव्य हैं, 'साहित्योद्यान का सबसे उज्ज्वल और चमत्कारी पुष्प तो स्वयं कालिदास ही था'.[१०५] 'बुद्धोत्तरकालीन भारतीय संस्कृति कई अंशों में आर्य–संस्कृति से भिन्न थी.'[१०६] 'राष्ट्र आधार है, राज्य आधेय है. जहाँ दोनों की अनुकूलता से आधाराधेय–भाव विद्यमान है, वहाँ शक्ति और उन्नति की सहायक परिस्थिति विद्यमान है.'[१०७] 'अंग्रेजो की महती सेना साधन–सम्बल–युक्त और सुनियंत्रित थी.'[१०८] 'वे (घटनायें) स्वाधीनता–प्राप्त्यर्थ सत्याग्रह–संग्राम–रूपी श्रृंखला की ही भिन्न कड़ियाँ थीं.'[१०९] आदि. वस्तुतः विद्यावाचस्पतिजी सरल भाषा के पक्षधर थे. इसलिए उन्होंने भाषा के सरलीकरण हेतु यह सुझाव दिया था कि –यथासम्भवं समस्तानां शब्दानां प्रयोगः त्याज्यः.[११०] अर्थात् 'यथासंभव सामासिक शब्दों का परित्याग कर देना चाहिये,' इसलिए उनकी शब्दावली संस्कृत के तत्सम शब्दों से ओत–प्रोत होते हुए भी दीर्घ समासयुक्त शब्दावली नहीं है. वह संस्कृत के जटिल समासों के घने वन को छोड़कर समास रहित हरे–भरे समतल स्थल पर विचरण करती है.

सूत्रात्मक वाक्यः- श्री विद्यावाचस्पति यत्र–तत्र कथ्य को कम से कम शब्दों में आचार्य रामचन्द्र शुक्लवत् सूत्र रूप में भी प्रस्तुत करते हैं. शुक्ल जी प्रायः रचना के प्रारंभ में सूत्र रूप में लघु संक्षिप्त वाक्य कहकर उसकी व्याख्या और विश्लेषण करते हैं और अन्त में निष्कर्ष सूत्र देते हैं. परन्तु विद्यावाचस्पति जी के ये सूत्रात्मक वाक्य उनके गद्य में कहीं प्रारंभ में तो कहीं रचना के मध्य या अन्त में भी मिलते हैं. प्रस्तुत सूत्रात्मक उद्धरण उनकी समाहार शक्ति के प्रमाण हैं, 'जाति के विद्या और आचरण का स्तर पहचानना हो तो यह देखना पर्याप्त है कि उस जाति के सर्वसम्मान्य और सुशिक्षित लोग किन व्यक्तियों का आदर करते हैं.'[१११] 'सरकारी कमीशन समस्या की अग्नि को शान्त करने का पानी है (रचना के प्रारंभ में).[११२] 'जब एक राज्य का शासक दूसरे राज्य पर बल से या धोखे से अधिकार जमा लेता है तब साम्राज्य की उत्पत्ति होती है.'[११३] 'विचारों की स्वाधीनता सब प्रकार की स्वाधीनताओं की जननी है' (रचना के मध्य में).[११४] 'जो मनुष्य सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य इन चार अध्यात्म योग के अंगों को सिद्ध कर लेता है, वह घट–घट में विद्यमान ब्रह्म को जानकर आनन्द को प्राप्त कर लेता है'.[११५] 'राज्यों और राजवंशों के भवन तपस्या, सेवाभाव और वीरता की नींव पर खड़े होते हैं और प्रमाद, लम्पटता और कायरता के आघातों से जर्जरित होकर नष्ट हो जाते हैं' (रचना के अंत में).[११६]

श्री विद्यावाचस्पति समास शैली का दूसरा रूप उनकी वाक्य रचना में पाया जाता है, जहाँ वे विषय वस्तु को प्रभावशाली ढंग से कम से कम शब्दों में अंकित करते हैं. राष्ट्र के स्वरूप और उसकी संस्कृति पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है– 'राष्ट्र एक भवन है. धर्म और इतिहास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की परंपरा, साहित्य और रीति–रिवाज उसकी नींव है, जाति उसकी दीवारें हैं, और राज्य उसकी छत है, जो मानवीय और प्राकृतिक आपत्तियों से उसकी रक्षा करती है. राष्ट्र की बुनियाद जिन चीजों से भरी जाती है, उनका सम्मिलित नाम संस्कृति है. धर्म और इतिहास, साहित्य और रीति–रिवाज इन तथा ऐसी ही और मौलिक वस्तुओं के समुच्चय का नाम संस्कृति है.'[११७] रूस का दृष्टांत देकर धर्मनिरपेक्ष राज्य में धर्म की अनावश्यकता प्रतिपादित करने वालों पर टिप्पणी करते हुए भी विद्यावाचस्पति जी ने उपरोक्त समास शैली को अपनाया है– 'ध्यान में रखना चाहिये कि इस समय बोल्शेविज्म ही रूस का धर्म है, लेनिन उस धर्म का मसीहा है और स्टालिन उसका खलीफा है. आज रूस पहले दर्जे की मजहबी हुकूमत है, जिसमें वे लोग काफिर समझे जाते हैं, जो बोल्शेविज्म को स्वीकार न करें. इस मजहब का कुरान–शरीफ, कार्ल मार्क्स के लेख हैं और काजी, बोल्शेविज्म के प्रोफेसर है. रूस की वर्तमान हुकूमत पोप या सुल्तान के राज्य से किसी भी तरह कम धर्मान्ध नहीं.''[११८]

समालोचना शैली:- श्री विद्यावाचस्पति ने पाखण्डपूर्ण राजनीतिक–सामाजिक जीवन की आलोचना के साथ–साथ पुस्तकों, कवियों की भी आलोचना की है. 'सेवा–सदन' उपन्यास की आलोचना करते हुए आपने लिखा है– 'प्रेमचन्द की ओर हिन्दी जगत् का ध्यान विशेष रूप से तब आकृष्ट हुआ, जब आपका 'सेवा–सदन' नाम का उपन्यास प्रकाशित हुआ.....आज पढ़ें तो 'सेवा–सदन' में कोई विशेष बात दिखाई नहीं देती, परन्तु जिस समय 'सेवा–सदन' प्रकाशित हुआ, उस समय उसमें एक अनूठापन था. गंगा से नहरें तो कई शिल्पियों ने निकाली हैं, परन्तु उसके साथ नाम भगीरथ का ही जुड़ा हुआ है. हिन्दी के उपन्यास, लीक पर पड़ी हुई बैलगाड़ी की तरह चर–चर करते हुए धीरे–धीरे चले जा रहे थे. 'सेवा–सदन' ने उन्हें एक ऐसा रास्ता दिखाया जो सामयिक था और मौलिक भी. यही कारण है कि प्रेमचन्द जी आधुनिक हिन्दी उपन्यासों के जन्मदाता कहे जाते हैं.'[११९] इसी प्रकार कवीन्द्र रवीन्द्र की 'जहाँ न पहुँचे रवि तहाँ पहुँचे कवि' की दूरदृष्टि पर आलोचनात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए विद्यावाचस्पतिजी ने कहा है– 'ज्यों–ज्यों कविवर पश्चिम के सम्पर्क में आते गये, त्यों–त्यों वहाँ की बढ़ती हुई ऐय्याशी और घातक प्रवृत्तियों को देखकर उनके मन में ग्लानि–सी उत्पन्न होती गई. उन्हें अनुभव होने लगा कि यूरोप के चमकते हुए पर्दे के पीछे सर्वनाश की सामग्री तैयार हो रही है, इस भावना को उन्होंने अपनी 'दी ट्रम्पैट' शीर्षक कविता में प्रकाशित भी किया. उस समय यूरोप का पहला युद्ध आरंभ नहीं हुआ था. अपनी कविता में कवि ने यूरोप के संबंध में जो आशंका प्रकट की थी, वह एक प्रकार से भविष्यवाणी ही सिद्ध हुई. उसके थोड़े ही समय के पश्चात् यूरोप का पहला महायुद्ध आरंभ हो गया. जिन लोगों ने कवि की नई कविताएं पढ़ी थीं, उन लोगों को विश्वास हो गया कि रवीन्द्रनाथ में सच्चे कवि का यह गुण विद्यमान है कि वह समय की दीवारों को तोड़कर भूत, वर्तमान और भविष्य को देख सके.'[१२०]

प्रश्नोत्तर शैली:- समालोचक शैली के अतिरिक्त श्री विद्यावाचस्पति ने वार्तालाप से युक्त प्रश्नोत्तर शैली का अपनी अनेक रचनाओं में सफलता के साथ उपयोग किया है और इस प्रकार से उन्होंने जाने–अनजाने भारतेन्दु–द्विवेदी युगीन प्रश्नोत्तर शैली को यथासंभव पुष्ट ही किया है. 'लोकमान्य तिलक', 'मोतीलाल नेहरू', 'मैं क्या न कर सका' इत्यादि संस्मरणात्मक रचनाओं तथा 'एक आदर्श कर्मयोगी', 'विश्वसाहित्य में सत्यार्थप्रकाश का स्थान', 'स्वामी श्रद्धानंद का शिक्षा संबंधी ध्येय' आदि लेखों का प्रारंभ ही उन्होंने प्रश्नोत्तर शैली में किया है. गांधी युग के वक्ताओं में सर्वप्रथम स्थान पं. मोतीलाल नेहरू का अंकित करते हुए वे लिखते हैं– 'मुझसे यदि पूछा जाय कि महात्मा गांधी की सबसे बड़ी जीत कौन–सी थी, तो मैं यह उत्तर दूँगा कि महात्मा जी ने पं. मोतीलाल जी को अपना अनुयायी और मित्र बना लिया, यह उनकी सबसे बड़ी जीत थी. वह जीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन अनेक बड़ी–बड़ी विजयों का प्रारंभ था, जो आगामी वर्षों में महात्मा जी को प्राप्त हुई.[१२१] विद्यावाचस्पति जी की रचना शैली की अन्य आठ शैलियाँ इस प्रकार हैं– भावात्मक शैली, व्यंग्यात्मक शैली, चित्रात्मक शैली, विश्लेषणात्मक शैली, वर्णनात्मक शैली, गवेषणात्मक शैली, व्याख्यात्मक शैली और उद्धरण शैली. इनमें से प्रथम पांच शैलियों का विवेचन–वर्णन प्रस्तुत शोध ग्रन्थ के तृतीय और छटे परिच्छेद में किया जा चुका है. अतः पिष्टपेषण और पुनरूक्ति से बचते हुए हम शेष तीन गवेषणात्मक, व्याख्यात्मक और उद्धरण शैली का ही यहाँ पर विवेचन करेंगे.

गवेषणात्मक शैली:- श्री विद्यावाचस्पति इतिहास और पुरातत्व प्रेमी थे. उनके द्वारा विरचित 'संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन', 'आर्यसमाज का इतिहास', 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण', 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय', 'भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास', 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह', 'स्वतंत्र भारत की रूपरेखा' इत्यादि ग्रन्थों तथा 'कण्वाश्रम का स्मारक', 'रामराज्य की अमर भावना' इत्यादि लेखों तथा अनुवादित रचना 'किरातार्जुनीय' और 'रघुवंश' की प्रस्तावना में स्थान–स्थान पर उनकी गवेषणात्मक शैली का परिचय मिलता है. जैसे, 'अन्य किसी पुष्ट कल्पना के अभाव में, मैंने यही स्वीकार कर लिया है कि अब से २०१३ वर्ष पूर्व, विक्रमादित्य नाम का एक प्रतापी सम्राट् भारत में राज्य करता था. उसने विदेशी आक्रमणकारियों पर विजय प्राप्त करके स्मारक रूप में विक्रमी संवत् की स्थापना की थी', ...'वह विक्रमादित्य किस शताब्दी का विक्रमादित्य था? उसका नाम केवल विक्रमादित्य था अथवा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अथवा कुमारगुप्त विक्रमादित्य था? इन प्रश्नों की उलझन में न पड़कर भी इतिहास का विद्यार्थी इस परिणाम पर पहुँच सकता है कि 'रघुवंश' के निर्माता महाकवि कालिदास ने अपना काव्य जिस समय लिखा, उस समय भारत पर विक्रमादित्य पदवीधारी एक प्रतापी राजा राज्य करता था'[१२२] ....'कालिदास के ग्रंथों को पढिए तो आप उस समय के भावों की झलक ज्ञानचक्षुओं से देख सकते हैं. आप 'रघुवंश' से उस समय की राजनीतिक भावनाओं, 'कुमारसंभव' से धार्मिक विचारों और 'मेघदूत' से सामाजिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों का एक स्पष्ट चित्र खींच सकते हैं. तीनों काव्य मुख्य रूप से उस काल के राजाओं, राज–परिवारों और राजमहलों की अवस्थाओं का प्रदर्शन करने के अतिरिक्त प्रसंगवश थोड़ा–बहुत जनता के जीवन को भी चित्रित करते हैं'[१२३]

व्याख्यात्मक शैली:- इतिहास और पुरातत्व प्रेमी होने के अतिरिक्त विद्यावाचस्पति जी सफल पत्रकार और यशस्वी उपाध्याय भी थे. अतः उनकी शैली में पत्रकार और उपाध्याय की प्रवृत्ति के अनुरूप व्याख्यावृत्ति का मिलना स्वाभाविक है. उन्होंने भाव शैली की विभिन्न प्रकारों में से व्याख्यात्मक शैली को विशेष रूप से अपनाया है. वैचारिक सूत्र प्रस्तुत करने के साथ ही प्रायः वे व्याख्यात्मक शैली को भी अपनाते हैं. जैसे– 'मानसिक दासता अन्य सब प्रकार की दासताओं की माता है. जब इंजिन बिगड़ गया तो गाड़ी क्या चलेगी? उस समय ड्राइवर भी अशक्त हो जाता है. मन के अपाहिज हो जाने पर आत्मा जड़ से भी बदत्तर हो जाती है. जड़ स्वयं अपना नाश नहीं कर सकता, दासता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ मन अपना और अपने मालिक का भी नाश कर देता है. सब प्रकार की गुलामी मन की गुलामी का परिणाम है, और मनुष्य के फैलायें हुए चित्र के रूप में ईश्वर, पैगम्बर, किताब, पुरोहित और रूढ़ियाँ मन को कैदी बनाने के लिए लोहे के सलाखों और तालों का काम देते हैं. इस कारण वर्तमान रूप में धर्म मानसिक दासता का सबसे बड़ा मित्र और इसीलिए मनुष्य जाति की उन्नति का सबसे बड़ा शत्रु है'.[१२४]

उद्धरण शैली:- विद्यावाचस्पति प्राच्य वैदिक वाङ्मय व अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय के मर्मज्ञ विद्वान थे. अतः स्वाभाविक रूप से वेद, उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति तथा कालिदास, भर्तृहरि, मल्लिनाथ, जगन्नाथ आदि संस्कृत कवियों के उद्धरण उनके साहित्य में यत्र–तत्र प्राप्त होते हैं. संस्कृत के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी व अंग्रेजी साहित्य के भी उद्धरण उद्धृत किये हैं, परन्तु अधिकाधिक संस्कृत के उद्धरण उद्धृत करने की ओर ही उनकी प्रवृति रही है. डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे की दृष्टि में 'उद्धरणों को उद्धृत करने की पृष्ठभूमि में आप्त प्रामाण्य का भाव भी विद्यमान रहता है.'[१२५] विद्यावाचस्पति जी ने संस्कृत उद्धरण अनेक प्रकार से समुद्धृत किये हैं, जिनमें से प्रथम प्रकार स्वतन्त्र वाक्य या वाक्य समूह के रूप में उद्धरण उद्धृत करने का है. जैसे, 'एक वीर खुले मैदान में आने वाले सौ आक्रमणकारियों से लड़ सकता है. एक शतं बोधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः',[१२६] 'पुरोहित कुल में जन्म लेकर ठग और बदमाश भी पुरोहित ही रहते हैं! जो अधिकार जन्म से ही मिल जाय उसके लिए परिश्रम कौन करे? अकैचेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्.'[१२७] विद्यावाचस्पति जी का उद्धरण उद्धृत करने का दूसरा प्रकार वाक्यांगभूत उद्धरणों का है. पृथक् स्वतन्त्र वाक्य या वाक्य समूह के रूप में दिये गये उद्धरण की अपेक्षा वाक्यांग रूप में दिये गए उद्धरण अधिक कलात्मक माने गये हैं', जैसे, 'लोकमान्य तिलक ने 'प्रारब्ध उत्तमजनाः न परित्यजन्ति' की नीति का पालन करते हुए अभियोग लड़ने का ही निश्चय दृढ़ रक्खा,'[१२८] 'महात्मा जी के सरल और भावपूर्ण शब्दों का श्रोताओं पर इतना प्रभाव पड़ता था कि शब्द–जाल की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती थी. बड़े–बड़े ऑरेटर, जो इससे पूर्व श्रोताओं को मन्त्र–मुग्ध कर लिया करते थे, वे अपने–आपको महात्मा (गांधी) जी की उपस्थिति में 'भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः' अनुभव करते थे. प्रतीत होता था, मानो उनकी शक्ति मन्त्रौषधि के बल से रोक दी गई.'[१२९] विद्यावाचस्पति जी का उद्धरण उद्धृत करने का तीसरा प्रकार अर्थ सहित उद्धरण उद्धृत करने का है. जैसे, 'पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः'. इसके दो अर्थ हैं– यदि पथ्य भोजन लिया जाय तो रोगी को दवा की आवश्यकता ही क्या? और यदि पथ्य भोजन न किया जाय तो दवा खाने से लाभ ही क्या?',[१३०] 'मुनीनांच मतिर्भ्रमः अर्थात् कभी–कभी मुनि लोगों की बुद्धि भी काम के बोझों से डावांडोल हो जाती है,[१३१] श्री विद्यावाचस्पति का उद्धरण उद्धृत करने का चौथा प्रकार परिच्छेद या रचना के प्रारंभ में कोई आप्त वाक्य या उक्ति उद्धृत करने का है, जिससे उस रचना या परिच्छेद का केन्द्रीय आशय भी स्पष्ट हो जाय. जैसे, 'वीर भोग्या वसुन्धरा' केवल वीर ही पृथ्वी पर शासन करते हैं',[१३२] 'यशसा ३ स्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्' –मैं इस संसद् का यशस्वी वक्ता बनूं.'[१३३] 'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्'[१३४] अर्थात कुरूक्षेत्र में अर्जुन की (कर्तव्य क्षेत्र में 'अर्जुन' पत्र की) दो प्रतिज्ञायें हैं, न तो दीनता प्रकट करूंगा और न ही पलायन करूंगा. 'न ह्यर्थ विना स्वप्नेऽपि चेष्टते चाणक्यः– चाणक्य मतलब के बिना स्वप्न में भी नहीं हिलता.'[१३५] विद्यावाचस्पति जी का उद्धरण प्रस्तुत करने का पांचवां प्रकार वह है जिसमें मूल उद्धरण न देकर उसका अर्थ मात्र या आशय मात्र दिया जाता है. जैसे, 'लड़कियां पराया धन हैं'[१३६] यह उद्धरण अपने मूल संस्कृत रूप में इस प्रकार है– 'अर्थो हि कन्या परकीय एव'.

इस प्रकार स्पष्ट है कि विद्यावाचस्पति जी की भाषा–शैली इतनी रोचक व सरस है कि विषय को आत्मसात् करने में पाठक को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती. उसमें सूक्तियों की शोभा है, उक्तिवैचित्र्यपूर्ण लाक्षणिक लोकोक्तियों एवं मुहावरों का चमत्कार है, अलंकारों की अद्भुत छटा है, तत्सम शब्दावली के अतिरिक्त यथास्थान लोक प्रचलित अरबी–फारसी व अंग्रेजी शब्द–संपदा का पर्याप्त प्रयोग है, ओज–प्रसाद आदि गुणों की विलक्षण कान्ति है, प्रधानतया व्यास शैली का प्रयोग हुआ है, पुनरपि कहीं–कहीं समास शैली के भी दर्शन होते हैं, तर्कप्रधान विश्लेषणात्मकता, उद्बोधनप्रियता या उपदेशात्मकता, उद्रण बहुलता व चित्रात्मकता इत्यादि से उन्हें इतना अधिक लगाव रहा है कि प्रायः ये शैलियां उनकी तूलिका की चिरसंगिनी बनकर रहीं हैं. व्याकरण संबंधी कतिपय दोषों के बावजूद भी उनकी भाषा–शैली प्रौढ़, प्रांजल व चित्ताकर्षक है. पाण्डित्यपूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय–सामग्री और मौलिक चिन्तन के बावजूद भी पाण्डित्य प्रदर्शन की अथवा पाठकों को आतंकित करने की तृणमात्र भी उनमें भावना नहीं है. भाषा की सहजता, सरलता एवं स्वाभाविकता की उन्होंने सर्वत्र रक्षा की है, निःसंदेह उनकी अकृत्रिम प्रांजल एवं प्रवाहमयी शैली ने यथासामर्थ्य तत्युगीन हिन्दी साहित्योद्यान को पल्लवित–पुष्पित एवं सुरभित किया है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ

१. चेतना का संस्कार–४२
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास–४०६
३. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहासः त्रयोदश भाग–४१
४. हिन्दी गद्य साहित्य–७७
५. गणेश शंकर विद्यार्थी–१६२
६. भारतीय संस्कृति का प्रवाह–१५५
७. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास–१७४
८. भारतीय संस्कृति का प्रवाह–१६६
९. स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा–६
१०. अध्यात्म रोगों की चिकित्सा–छह
११. पत्रकारिता के अनुभव–११–१२
१२. इन्द्र विद्यावाचस्पति–१६
१३. साप्ताहिक हिन्दुस्तान–२६ फरवरी १९६१
१४. तत्रैव–३० अगस्त १९६४
१५. संघिनी–१४
१६. हिन्दी गद्य साहित्य–२८४
१७. रघुवंश : भूमिका–१०
१८. किरातार्जुनीयः प्रस्तावना–११
१९. रघुवंशः भूमिका–१०
२०. लोकमान्य तिलक और उनका युग–२
२१. महावीर गेरीवाल्डी–५३
२२. अध्यात्म रोगों की चिकित्सा–१५५
२३. सार्वदेशिकः जून १९५७–१८२
२४. महावीर गेरीवाल्डी–२४
२५. गुरुकुल कांगड़ी के साठ वर्ष–६१
२६. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–१६
२७. जीवन ज्योति–१७६
२८. सरला–१२७
२९. तत्रैव–१८२
३०. पद्माकर–पंचामृत–१०२
३१. साहित्य शास्त्र–१८६
३२. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास–१३५
३३. आर्य सन्देशः ४ सितंबर १९६४ –स्व. श्री स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी–८
३४. साप्ताहिक हिन्दुस्तानः १७ अप्रैल १९६०–लेख–उन्होंने (आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने) जो कुछ लिखा उसमें फौलाद भर दिया–७
३५. धर्मयुगः १० अगस्त १९५८ : रेखाचित्र–रोजी
३६. वासुदेवशारण अग्रवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व–२८५
३७. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारणः भाग–१–५५
३८. अर्जुनः ३० जनवरी १९४६
३९. मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला–११
४०. गुरुकुल कांगड़ी के साठ वर्ष–६०
४१. आत्म बलिदान–१२
४२. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय–१३५
४३. अपराधी कौन–८६
४४. जमींदार–१२५
४५. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय–२३५
४६. लोकमान्य तिलक और उनका युग–५६
४७. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण–१३७
४८. शाह आलम की आँखें–३६
४९. मूल संस्कृत लोकोक्ति है– 'संदीप्ते भवने तु कूप खननं प्रत्युद्यमःकीदृशः'– मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारणः भाग–४–११२
५०. मूल संस्कृत उक्ति है– छिद्रेष्वनर्थाः बहुली भवन्ति–तत्रैव–भाग–२–१८३
५१. महावीर गेरीवाल्डी–३१
५२. मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला–१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५३. अध्यात्म रोगों की चिकित्सा–१६५
५४. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–७४
५५. हिन्दी आन्दोलनः हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयागः १९६४ लेख–हिन्दी के प्रति–४०
५६. साहित्य निबन्धावली–३१
५७. साहित्य शास्त्र–१६३
५८. साहित्य शास्त्र–२२३
५९. साहित्य शास्त्र–११८–१९
६०. पत्रकारिता के अनुभव–११–१२
६१. सार्वदेशिकः अप्रैल १९५७ः लेख–महर्षि दयानन्द की बोधरात्रि–७२
६२. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–३२
६३. स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा–६७
६४. तत्रैव–४२
६५. सार्वदेशिकः फरवरी १९५५ः लेख–मैं क्या न कर सका–६५२
६६. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–२९
६७. विशाल भारतः अक्टूबर १९३३–लेख–साम्राज्यवाद–३८५
६८. जीवन ज्योति–८०
६९. तत्रैव–६६
७०. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–५
७१. तत्रैव–५
७२. तत्रैव–११
७३. तत्रैव–४५
७४. मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला–१०
७५. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–६२
७६. वीर अर्जुनः ६ मार्च १९४६ः लेख–तूफान का पूर्वरूप
७७. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण–२३६
७८. सरला की भाभी–६०
७९. शाह आलम की आँखें–१५०
८०. सार्वदेशिकः अगस्त १९४८–लेख–राष्ट्रभाषा की हत्या–४८
८१. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–७५
८२. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव–६७
८३. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण, भाग–२–२०५
८४. सरला की भाभी–१४८
८५. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारणः भाग १–७७
८६. सरला–१३६
८७. आत्म बलिदान–११३
८८. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण, भाग–२–२५२
८९. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–१३
९०. शाह आलम की आँखें–५
९१. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण, भाग–२–३२८
९२. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–६२
९३. शाह आलम की आँखें–१५७
९४. आत्म बलिदान–१२२
९५. आर्य जगत्ः १४ फरवरी १९८०ः लेख–धर्म क्या है और अधर्म क्या है?–३६
९६. जीवन–ज्योति–१८९
९७. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–६२
९८. साहित्य शास्त्र–१९८
९९. अपराधी कौन–२४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१००. शाह आलम की आँखें–६३
१०१. आर्य सन्देशः ४ सिंतबर १९६४ः लेख–श्री स्वामी स्वतंत्रानन्दजी–१०
१०२. अपराधी कौन–२४६
१०३. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय–३४८
१०४. विशाल भारतः दिसंबर १९३१ः लेख–क्रान्ति–६६७
१०५. रघुवंशः भूमिका–८
१०६. स्वतंत्र भारत की रूपरेखा–३५
१०७. विशाल भारतः अक्टूबर १९३३ः लेख–साम्राज्यवाद–३८०
१०८. जीवन–ज्योति–१२३
१०९. तत्रैव–१६०
११०. गुरुकुल पत्रिकाः अप्रैल १९६२–३०३
१११. सार्वदेशिकः अक्टूबर १९५६–लेख–श्री महाराणा प्रताप का स्मारक–३६६
११२. सार्वदेशिकः अप्रैल १९५७ः लेख–सरकार का संस्कृत आयोग–६३
११३. विशाल भारतः अक्टूबर १९३३ः लेख–साम्राज्यवाद–३८१
११४. सार्वदेशिकः अप्रैल १९५७ः लेख–महर्षि दयानंद की बोधरात्रि–७१
११५. सार्वदेशिकः जून १९५७ः लेख–उपनिषदों का अध्यात्म योग–१८३
११६. रघुवंशः भूमिका–१५
११७. स्वतंत्र भारत की रूपरेखा–३२
११८. तत्रैव–३०
११९. जीवन–ज्योति–८२
१२०. तत्रैव–६५
१२१. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–३६
१२२. रघुवंशः भूमिका–६–७, १५
१२३. तत्रैव–७–८
१२४. विशाल भारतः सितंबर १९३२, लेख–धर्म क्या है और क्या नहीं?–२६६
१२५. हिन्दी गद्य साहित्य–२७८
१२६. प्रिंस बिस्मार्क–३६
१२७. विशाल भारतः सितंबर १९३२–२६८
१२८. लोकमान्य तिलक और उनका युग–२०३
१२९. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति–३४
१३०. अध्यात्म रोगों की चिकित्सा–६२
१३१. तत्रैव–८६
१३२. 'स्वतंत्र भारत की रूपरेखा' के प्रारंभ में
१३३. 'आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति' के प्रारंभ में 'सामवेद', पू. ६.३. १० से उद्धृत.
१३४. 'अर्जुन' 'वीर अर्जुन' दैनिक पर नियमित रूप से प्रकाशित होने वाला आदर्श वाक्य
१३५. 'महावीर गेरीवाल्डी'– दूसरे परिच्छेद– 'राजनीति के दांवपेच' के प्रारंभ में–१४२
१३६. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण, भाग–२–२८४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२

उपसंहार : विद्यावाचस्पति जी की हिन्दी साहित्य को देन

प्रस्तुत प्रबंध के विगत अध्यायों में किये गए अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति की साहित्य क्षेत्रीय उपलब्धियाँ अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, उन्होंने संस्मरण, जीवनी, इतिहास, पत्रकारिता, निबंध आदि क्षेत्रों में अपना अविस्मरणीय योगदान दिया है, यहाँ हम उनके समग्र साहित्यिक व्यक्तित्व का पुनश्च एक बार विहंगावलोकन एवं मूल्यांकन करेंगें.

आधुनिक हिन्दी साहित्य जिसका अधिकांश साहित्य राजनीतिक परतन्त्रता में लिखा गया है, अपनी चिन्तन प्रक्रिया के लिए उन सारी परिस्थितियों का ऋणी है. जो मुगल शासन कालीन परिस्थितियों के बाद अँग्रेजी–शासन के फलस्वरुप उत्पन्न हुई थीं, आधुनिक हिन्दी साहित्य की तरह श्री विद्यावाचस्पति के साहित्य पर भी युगीन परिवेश का व्यक्त व अव्यक्त प्रभाव रहा है. विद्यावाचस्पति जी के पिताश्री महात्मा मुंशीराम तो तत्युगीन परिस्थितियों के दर्शक ही नहीं, अपितु उन परिस्थितियों को मोड़ देने वाले अग्रणी मार्गदर्शकों में से एक थे, अतः पुत्र व शिष्य के रूप में उनके साथ सहयात्रा करने वाले श्री विद्यावाचस्पति पर सम–समायिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना अस्वाभाविक नहीं था. निःसंदेह आधुनिक युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों ने उनके साहित्य का स्वरूप स्थिर किया है. जिन साहित्यकारों पर युग की चेतना का अधिकतम प्रभाव दिखलाया जा सकता है, उनमें श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति का भी उल्लेखनीय नाम है, केवल उनकी एक मात्र रचना 'मेरे पिता' को भी सामने रखेंगे, तो उसमें आप तत्युगीन भारत के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन की प्रवृत्तियों, आंदोलनों और गतिरोधों का बड़ा संतुलित विवेचन बड़ी मनोरम शैली में अंकित पायेंगे, तत्युगीन परिस्थितियों में से उनके सृजनात्मक साहित्य को सर्वाधिक राजनीतिक परिस्थितियों ने प्रभावित किया है. प्रधानतया उक्त परिस्थिति की प्रेरणा के कारण ही श्री विद्यावाचस्पति सारस्वत–साधना की भूमि पर एक राष्ट्रीय साहित्यकार के रूप में उभरे हैं, उनके समस्त साहित्य में देशभक्ति का ही रस विभिन्न विधाओं का आश्रय लेते हुए विशिष्ट रूप से फला–फूला है, श्री क्षेमचंद्र 'सुमन' के अनुसार 'राष्ट्रीय जागरण उनकी लेखनी का पहला लक्ष्य था और इसी की सम्पूर्ति में वे यावज्जीवन लगे रहे. डॉ. महावीर के शब्दों में 'राष्ट्रप्रेम की उदात्त भावना विद्यावाचस्पति जी की प्रत्येक कृति में, प्रत्येक लेख में और 'अर्जुन' के प्रत्येक संपादकीय में दृष्टिगोचर होती है. यदि यह कहा जाय कि उनकी साहित्य साधना में, महाकवि भवभूति का हृदय करुणा में रमण करता है, वैसे ही प्रो. इन्द्र का मन देशभक्ति की भावना में रमण करता है. इस प्रकार स्पष्ट है कि सम–सामायिक परिस्थितियों का प्रभाव असंदिग्ध रूप से श्री विद्यावाचस्पति के साहित्य पर पड़ा है, पर तत्युगीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक परिस्थितियों में से राजनीतिक परिस्थितियों ने उन्हें सर्वाधिक साहित्य–रचना धर्मिता की ओर प्रेरित किया है.

विद्यावाचस्पति जी के एकहत्तर वर्षीय जीवन का आधे से अधिक समय सामाजिक–धार्मिक और राजनीतिक आंदोलनों में बीता. उनका जीवन एवं व्यक्तित्व बहुमुखी था. मौलिक साहित्य सृजन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ–साथ वे हिन्दी प्रचार–प्रसार आंदोलन से भी प्रत्यक्ष रूप से जुड़े रहे. अखिल भारतीय हिन्दी सम्मेलन तथा उसके प्रान्तीय सम्मेलनों से उनका निकटतम संबंध था. वे अपने पूज्य पिताश्री द्वारा स्थापित गुरुकुल काँगड़ी के लिए तो आजीवन समर्पित रहे. डॉ. ज्ञानवती दरबार ने स्वीकार किया है. 'विद्यावाचस्पति जी ने अपने पिता स्वामी श्रद्धानन्द के पदचिह्नो पर चलकर शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में अथक कार्य करके हिन्दी की अमूल्य सेवा की है. '१९४६ में उन्हें उनकी हिन्दी सेवाओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'सभापति' पद प्रस्तुत किया गया था, पर वे उससे विरक्त ही रहे. १९४८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिकारियों ने उनकी अनन्य हिन्दी निष्ठा के कारण उन्हें डॉ. भगवानदास, सेठ गोविंददास, श्रीमती महादेवी वर्मा तथा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन केसाथ 'साहित्य वाचस्पति' की सर्वोच्च उपाधि से समलंकृत किया था. प्रो. राजेन्द्र जिज्ञासु ने टिप्पणी की है. 'विद्यावाचस्पति जी की इच्छा शक्ति विलक्षण थी, इसीलिए एक ही फेफड़े के होने पर भी वे विदेशी सरकार की कारागार की यातनायें सहन कर पाये थे.' श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के शब्दों में 'दिल्ली की राजनीतिक वृद्धत्रयी (सर्वश्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, बॅरिस्टर आसफ अली और देशबंधु गुप्त) में अपने राजनीतिक ज्ञान, अपनी देश–सेवा समाज सेवा और चरित्र के कारण वे सीनियर थे, पर राजनीति की भागदौड़ में वे जूनियर हो गये थे. यह इसलिए कि वह धक्का देकर आगे बढ़ने को और किसी के 'हिज मास्टर्स वायस' बनने को अनुचित समझते थे. उनमें सत्य, शिव, औचित्य और मर्यादा के पूर्णभाव थे'. विद्यावाचस्पति राजनीतिक जीवन के साथ सामाजिक जीवन में भी सक्रिय रहे. गांधी–युग की मशाल के साथ आर्यसमाज की मशाल भी उनके हाथ में थी. आर्यसमाज को सशक्त करने के लिए 'सार्वदेशिक सभा' के अन्तर्गत 'आर्य वीर दल' का गठन भी आपके मन्त्रीत्व काल में ही हुआ था. वे एक साहित्य सेवी, पत्रकार, इतिहासवेत्ता, स्वाधीनता सेनानी और गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के आधुनिकीकरण के प्रस्तोता थे. उनका व्यक्तित्व आज भी देशवासियों में अपने राष्ट्र एवं संस्कृति के प्रति प्रेम और श्रद्धा के उदात्त भावों को जगाने में सक्षम है. कोई भी व्यक्ति उनके बहुमुखी जीवन से 'जीवन–संग्राम' व जीवन–निर्माण' की प्रेरणा ले सकता है. बॅरिस्टर विनायकराव विद्यालंकार का यह मत सत्य ही है कि 'उन लोगों के लिए पं. विद्यावाचस्पति जी एक महान वटवृक्ष की तरह थे, जिसकी घनी छाया में तप्त हृदय सांत्वना का आनंद पाते थे. वह उनके लिए बहती नदी के समान थे. जहाँ आकर हर तृषित अपनी प्यास को बुझा सकता था. अथवा अनेकों के लिए वह दीपक का काम करते थे. जिसकी ज्योति में जीवन रूपी बीहड़ जंगल में भटके हुए यात्री राजपथ पर लग जाया करते थे. यह काम वही कर सकता है, जिसका दिमाग सुलझा हुआ हो, जिसने जीवन में कठिनाइयों का सामना किया हो, जो अनुभवी हो, जिसके अंदर सहृदयता और सहानुभूति का अपरंपार भंडार हो और जिसकी बुद्धि किसी भी कारण से विचलित न हो.'

विद्यावाचस्पति जी ने अपनी बहुमूल्य रचनाओं द्वारा हिन्दी के संस्मरण साहित्य को समृद्ध किया है. डॉ. विष्णुदत्त राकेश के शब्दों में 'इतिहास, युगबोध और मानवीय संवेदना के आधार पर उच्चकोटि के संस्मरण लेखक के रूप में पं. इन्द्र जी को याद किया जायेगा..... जहाँ उन्होनें स्मरणीय व्यक्ति की बाह्य रूपरेखा को सफलतापूर्वक उकेरा है. वहाँ उसके व्यक्तित्व के विधायक दुर्लभ गुणों और विशेषताओं को प्रभावक रूप में प्रस्तुत किया है.' डॉ. ओमप्रकाश सिंहल ने उनकी 'मै इनका ऋणी हूँ' कृति को 'उल्लेखनीय' माना है. डॉ. हरदयाल ने 'मेरे पिता' को 'महत्वपूर्ण व अत्यन्त सजीव कृति' स्वीकार किया है. विद्यावाचस्पति जी ने 'जीवन की झांकियाँ' के तीन खण्डों में अपने जीवन की रोचक और शिक्षाप्रद घटनायें भी दी हैं. वे अपने समकालीन लेखकों के लिए भी प्रेरणास्रोत रहे. हैं.' सुप्रसिद्ध संस्मरण लेखक कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर पर जिन चार लेखकों का प्रभाव पड़ा उनमें से एक श्री विद्यावाचस्पति जी भी है. उनकी संस्मरण कला में बनारसीदास चतुर्वेदी का आरंभ, श्रीराम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शर्मा की प्रवाह शक्ति, श्री रामनाथ सुमन का विश्लेषण कौशल और विद्यावाचस्पति की घटना श्रृंखला का समन्वय मिलता है. श्री प्रभाकर जी की दृष्टि में तो विद्यावाचस्पति जी 'संस्मरण कला के आचार्य है.' श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है कि विद्यावाचस्पति जी का 'गांव में एक रात' संस्मरणात्मक रेखाचित्र पढ़कर मुझे मि. ए. जी. गार्डिनर के रेखाचित्रों की याद आ गई थी. इसी प्रकार 'जब उनके लिखे डॉ. अंसारी के संस्मरण मुझे पढ़ने को मिले तो मेरी तबियत फड़क उठी थी और मैंने कई मित्रों से उनके उस लेख का जिक्र किया था. चतुर्वेदी जी ने उनकी "मैं इनका ऋणी हूँ' कृति को संस्मरण साहित्य की बेजोड़ कृति माना है. उन्ही के अनुसार श्री इन्द्रजी ने अपने पूज्य पिताजी की शहादत का जो वर्णन किया था. वह बड़ी संयत भाषा में था, यद्यपि वह केवल उनके जीवन की ही नहीं, देश की भी बड़ी भारी दुर्घटना थी, पर इन्द्रजी का अपनी लेखनी पर पूरा नियंत्रण था. वह उसे भटकने नहीं देते थे. रूस के महान् कवि–लेखक चेखव जिस प्रकार थोड़े से शब्दों में प्रभावशाली ढंग से अपनी कहानी का अंत कर देते थे. उसी प्रकार इन्द्रजी ने अपने पूज्य पिताजी को श्रद्धांजलि अर्पित की थी. उत्कृष्ट कोटि का कोई साधक कलाकार ही वैसा कर सकता था'. डॉ. हरवंशलाल वर्मा की सम्मति में भी 'विद्यावाचस्पति जी संस्मरणात्मक शैली में रेखाचित्र लिखने की कला में सिद्धहस्त थे. 'श्री कामेश्वर शरण सहाय ने प्रतिपादित किया है, 'प्रो. इन्द्र के संस्मरणों में विस्तृत जीवन के जीवनानुभव और व्यापक संपर्को का प्रत्यक्ष दृश्य अनुपम है। उनकी प्रौढ़ भाषा शैली से उनके संस्मरण ग्रंथों की साहित्यकता निखर उठी है.' इन सब सम्मतियों से स्पष्ट है कि हिन्दी की संस्मरण कला को समृद्ध करने और उसे अभिनव रूप देने में विद्यावाचस्पति जी का उल्लेखनीय ही नहीं, अपितु अविस्मरणीय स्थान है.

'हिन्दी जीवनी साहित्य' में विद्यावाचस्पतिजी का महत्वपूर्ण योगदान है. प्रायः उन्होंने स्वाधीनता के पुजारियों की जीवनियाँ लिखी हैं। फिर चाहे वे देशी हो या विदेशी. उनके द्वारा लिखे सर्वप्रथम जीवन चरित 'नैपोलियन बोनापार्ट' के संबंध में 'सरस्वती' मासिक ने लिखा था, 'नैपोलियन बोनापार्ट' इतिहास और जीवन चरित का संमिश्रण है. ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है..... क्योंकि यह एक ऐसे विषय की पुस्तक है जिस पर लिखी गई पुस्तकों की हिन्दी में बहुत कमी है–कमी क्या प्रायः अभाव ही है.' इसी अभाव की ओर संकेत करते हुए डॉ. भवानीलाल भारतीय ने भी कहा है कि 'विद्यावाचस्पति जी ने ' नैपोलियन बोनापार्ट', प्रिंस बिस्मार्क' तथा देशभक्त 'गेरीवाल्डी' के जीवन चरित उस समय लिखे, जब हिन्दी में इन यूरोपीय राष्ट्रनायकों के संबंध में कोई सामग्री थी ही नहीं' विद्यावाचस्पति जी ने बाईस साल की उम्र में 'नैपालियन बोनापार्ट' की जीवनी लिखी थी. इस जीवनी के श्रोता स्वामी श्रद्धानंद थे तो पाठक पंजाब केसरी लाला लाजपतराय. लालाजी ने कहा था, 'नैपोलियन की जीवनी में उपन्यास जैसा आनंद आता है.' जीवन चरित लिखने का यह शौक उन्हें जीवन के अंत तक बना रहा. उनके द्वारा लिखी गई 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' जीवनी सबसे अंतिम जीवनी थी, जो उनके देहान्त के बाद प्रकाशित हुई. डॉ. हरदयाल के मत में 'विद्यावाचस्पति द्वारा लिखी 'महर्षि दयानन्द नामक जीवनी एक सर्वांगपूर्ण, साहित्यिक और हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ जीवनियों में से एक है.' स्वामी दयानंद की ही यशस्वी जीवनी के रचयिता डॉ. भवानीलाल भारतीय लिखते हैं यों तो स्वामी दयानन्द के हिन्दी में लगभग एक सौ जीवन चरित छपे हैं. किन्तु इन्द्रजी द्वारा लिखे गये इस जीवन चरित की प्रमुख विशेषता इसका साहित्यिक शैली में लिखा होना ही है. इसमें मात्र घटनाओं का स्थूल विवरण ही नहीं है. अपितु चरितनायक के चरित्र के विकास को घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया गया है.' श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने विद्यावाचस्पतिजी की चरित्र लेखन–कला पर प्रकाश डालते हुए कहा है, 'उनके जीवन परिचयों में घटनाओं का क्रम विकास ऐसा गजब का होता था कि जीवन का फूल खिलता जाता था. डॉ. चन्द्रभानु जी सोनवणे ने श्री विद्यावाचस्पति के जीवनी–साहित्य का मूल्यांकन करते हुए लिखा है, 'उनकी ओजस्वितापूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवनियों में युग का गंभीर अध्ययन, इतिहासकार का प्रमाणिक दृष्टिकोण एवं चरित्र का गंभीर विश्लेषण दिखलायी देता है.' श्री शंकरदेव विद्यालंकार ने 'शील और प्रज्ञा के धनी इन्द्रजी' नामक रचना में विद्यावाचस्पतिजी की प्रेरक जीवनियों की चर्चा करते हुए लिखा है,–'ये जीवनियाँ हिन्दी भाषा के चरित्र–साहित्य की तेजस्वी कृतियाँ है. गुजराती भाषा में भी इनके दो–दो संस्करण निकल चुके हैं. 'इन सब विद्वज्जनों की सम्मतियों से यह स्पष्ट है कि हिन्दी जीवन कथा साहित्य को श्री विद्यावाचस्पति द्वारा लिखी चरित्र–कथाएँ, एक अनूठा अवदान हैं.

विद्यावाचस्पति जी की कलम ने सम–सामायिक हिन्दी उपन्यास साहित्य को भी समृद्ध किया है. प्रेमचन्द और प्रसाद के कथा साहित्य से आपकी औपन्यासिक कृतियाँ प्रभावित हैं. अपने 'शाह आलम की आँखें' नामक ऐतिहासिक उपन्यास में आपने ह्रासोन्मुखी हिन्दू सामन्तवाद और मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख काल में तेजसिंह जैसे स्वाभिमानी राजपूत की अवतारणा कर स्वातंत्र्य चेतना का सूत्रपात किया है. 'अपराधी कौन' एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है. अनाथ बालक को डाकू बनाने में समाज का क्या योगदान है. यही इस उपन्यास का विषय है. लेखक का कहना है, 'अपराधी दण्डनीय नहीं हैं, वे व्यक्ति दंडनीय हैं, जो निहित स्वार्थ के कारण ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं, जिनके दबावों से अपराधों का जन्म होता है, 'जमींदार' उपन्यास किसी राजनीतिक विचारधारा से सम्बद्ध न होते हुए भी किसान–मजदूरों के शोषण और ग्राम्य व्यवस्था के वैषम्य की कहानी कहता है. 'सरला की भाभी' 'सरला' और 'आत्म बलिदान' पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सम–सामयिक राजनीतिक पृष्ठभूमि पर लिखे गये उपन्यास हैं. 'आत्म–बलिदान' उपन्यास आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थवादी है, क्योंकि नायक रामनाथ के घोर अहंकार और हठीले व्यक्तित्व से मुक्त होने के लिए भी नायिका सरला राष्ट्र की बलि वेदी पर आत्म–बलिदान करती है। डॉ. ज्ञानवती दरबार के अनुसार इतिहास और कल्पना में जो समन्वय अंग्रेजी उपन्यासकार थैकर ने स्थापित किया, उसका इन्द्रजी की रचनाओं में अभाव मिलता है. वास्तविकता यह है कि विद्यावाचस्पति जी की विचार और लेखन शैली पर पत्रकारिता, इतिहास और चालू विषयों का अत्यधिक प्रभाव है. 'स्वयं विद्यावाचस्पति जी ने लिखा है. 'गणेश जी के वरदान से लेखकों को परोक्ष रूप धारण करने और कराने की शक्ति प्राप्त होती है,' पर लगता है उनके उपन्यासों में उनकी इस कल्पना शक्ति को तथ्यात्मकता ने दबोचकर गौण बना दिया हैं. तथ्यात्मकता की प्रधानता के कारण ही उनके उपन्यास विशेष लोकप्रिय नहीं हो पाये. डॉ. भवानीलाल भारतीय के शब्दों में 'यद्यपि विद्यावाचस्पति जी की उपन्यासकार के रूप में पर्याप्त चर्चा नहीं हुई, किन्तु यह कौन नहीं जानता कि उनकी लेखनी से प्रसूत उपन्यासों ने उन्हें हिन्दी कथाकारों में उल्लेखनीय स्थान दिलाया था.

हिन्दी पत्रकारिता के पादप को अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित करने में जिन व्यक्तियों का नाम आदर के साथ लिया जाता है, उनमें श्री विद्यावाचस्पति जी का नाम अविस्मरणीय है और विशेष रूप से उल्लेखनीय है। निर्विवाद रूप से दिल्ली की हिन्दी पत्रकारिता के तो वे जनक थे. राष्ट्रीय और निर्भीक पत्रकार के रूप में वे विख्यात रहे उनके द्वारा लिखी सद्धर्म प्रचारक की राजनीतिक टिप्पणियों से प्रभावित होकर श्री गणेश शंकर विद्यार्थी उनसे मिलने कानपुर से गुरूकुल कांगड़ी पधारे थे. उनके द्वारा संपादित 'विजय' और 'वीर अर्जुन' की गणना ख्याति प्राप्त उग्र राष्ट्रवादी पत्रों में होती थी. डॉ. लल्लन मिश्र ने स्वीकार किया है. 'सन् १६२३ में प्रकाशित होने वाले दैनिक पत्रों में 'अर्जुन' सबसे प्रभावशाली दैनिक पत्र था.' 'विशाल भारत' के संपादक श्री मनोहरसिंह सेंगर का अभिमत है, 'वीर अर्जुन' का साप्ताहिक संस्करण भी हिन्दी के श्रेष्ठ साप्ताहिकों में अग्रणी था. ' यह पत्र साहित्यिक, सामाजिक एवं राजनीतिक पत्र के रूप में प्रकाशित होता था. डॉ. विष्णुदत्त राकेश ने प्रतिपादित किया है.' 'विदेशी दमन–चक्र के उस काल में उनकी लेखनी को प्रतिबंधित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया, पर उससे दया की स्याही नहीं, अपितु अधिकार की आग निकली.' उनकी तेजस्वी लेखनी और विद्वत्ता का ही सुपरिणाम था कि दिल्ली जैसे उर्दू बहुल क्षेत्र में हिन्दी पत्रकारिता की जड़ें जमीं, 'मुबंई' जैसे सुदूर क्षेत्र में भी उन्होंने 'नवराष्ट्र' नामक हिन्दी दैनिक का शुभारंभ ही नहीं किया, अपितु उसका इस प्रकार से एक वर्ष तक सुसंचालन किया कि वह चिरस्थायी व स्वावलम्बी हो सके. उनके संपादकीय लेख तो प्रायः सरकार के लिए चुनौती होते थे, चाहे फिर विदेशी सरकार हो या देशी, 'वीणा की झंकार', 'गाण्डीव के तीर' और 'भानुमती का पिटारा' उनके पत्रों के लोकप्रिय स्तंभ थे. अपनी मार्मिक व्यंग्यात्मकता के कारण इन स्तंभों को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई. डॉ. रामप्रसाद वेदालंकार की दृष्टि में, 'समाज धर्म और राष्ट्र विरोधियों पर गाण्डीव के शर के समान तीक्ष्ण प्रहार करने से वे कभी नही चूके. धनुष पर चढ़ी प्रत्यंचा उन्होंने कभी शिथिल नहीं होने दी, 'श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने विद्यावाचस्पतिजी की संघर्षशील पत्रकारिता की ओर ध्यानाकर्षण करते हुए १४ जुलाई १९३५ के 'विकास' के मुखपृष्ठ पर लिखा था, 'आपके पत्र अर्जुन की दो हजार रुपए की जमानत क्वेटा संबंधी लेखों के कारण जब्त कर ली गई और अब उससे पाँच हजार की जमानत मांगी गई है. डॉ. विष्णुदत्त राकेश का अभिमत है कि– 'अर्जुन' के अग्रलेखों का जिस दिन संकलन–संपादन हो जाएगा, उस दिन स्वाधीनता आंदोलन में हिन्दी पत्रकारिता का अध्ययन करने वालों को निर्भीक निस्पृह तथा स्वतंत्र पत्रकारिता का दस्तावेज मिल जायेगा, 'डॉ. विजयेन्द्र स्नातक की सम्मति में, 'विद्यावाचस्पति जी ने हिन्दी पत्रकारिता को जो मान–मर्यादा प्रदान की वह पहले कोई संपादक नहीं दे सका था. उन्होंने पूंजीपति पत्र–स्वामियों के आदेश कभी नहीं माने और अपनी मान–मर्यादा में रहकर संपादन करते रहे, 'वे आर्दशवादी पत्रकार थे, अच्छा वेतन मिलने पर भी 'जनसत्ता' जैसे दैनिक पत्र की संपादकी उन्होंने एक छोटी–सी बात पर छोड़ दी थी। विद्यावाचस्पति जी ने लगभग तीस वर्षो तक हिन्दी पत्रकारिता को दिशा दी. श्री रामप्रसाद वेदालंकार के कथनानुसार 'दिल्ली के राष्ट्रीय हिन्दी पत्रों में उनकी पत्रकार दृष्टि 'मील का पत्थर' कही जा सकती है.' विद्यावाचस्पति जी हिन्दी पत्रों और पत्रकारों के निर्माता थे. पत्रकारिता उनके लिए एक मिशन, एक आंदोलन और एक राष्ट्रीय साधना भी थी. सन् १९४७ में विद्यावाचस्पति जी ने दिल्ली की हिन्दी पत्रकारिता में मनोरंजन प्रधान साहित्यिक मासिक 'मनोरंजन' का प्रकाशन करके एक नया आयाम जोड़ा था. श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन का यह मत सत्य है, प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति हिन्दी पत्रकारिता गगन के एक उज्ज्वल नक्षत्र थे. हिन्दी पत्रकारिता के माध्यम से उत्तर भारत के जन–जागरण में आपका प्रमुख योग रहा. 'राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने कहा था, 'वीर अर्जुन' ने मेरे प्यारे भाई श्री इन्द्र जी की शक्ति पाकर निर्भीकता से देश की उपासना की है और वह हिन्दी भाषियों के प्रेम और सम्मान का अधिकारी है. 'वस्तुतः श्री विद्यावाचस्पति का हिन्दी पत्रकारिता का अवदान अतिशय महत्वपूर्ण है. वे हिन्दी पत्रकारिता के जनक, प्रकाशस्तंभ ही नहीं, अपितु मुख्य पुरोधा भी थे.

इतिहास के क्षेत्र में विद्यावाचस्पतिजी का योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं हैं. राष्ट्रीय चेतना और अतीत का गौरवपूर्ण चित्र–चित्रित करने की दृष्टि से विद्यावाचस्पति जी सरस इतिहासकार के रुप में हिन्दी जगत् में अवतीर्ण हुए. डॉ. जबरसिंह सेंगर ने टिप्पणी की है, 'कतिपय पाश्चात्य इतिहासकारों ने भारतवर्ष के इतिहास को जिस प्रकार तोड़–मरोड़कर लिखा उससे श्री विद्यावाचस्पति क्षुब्ध थे. राट्रीय चेतना के अतिरिक्त इस संशोधनात्मक दृष्टि से भी उन्होंने ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना की. वैदिक काल से लेकर स्वतन्त्र भारत तक के इतिहास तक उन्होंने अपनी कलम चलायी है। उनके ऐतिहासिक ग्रंथ अतिशय तल्लीनता पूर्वक अनुसंधानात्मक प्रणाली से लिखे गए हैं. डॉ. ओमप्रकाश सिंहल व श्री महेन्द्र चतुर्वेदी के अनुसार श्री विद्यावाचस्पति कृत 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' तथा 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय उल्लेखनीय कृतियाँ हैं. निःसंदेह विद्यावाचस्पति जी राष्ट्रो और साम्राज्यों के इतिहास लेखन में सिद्धहस्त थे. स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के शब्दों में विद्यावाचस्पति जी ने 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' जैसी सरस, रोचक, धाराप्रवाह–ऐतिहासिक पुस्तक लिखकर हिन्दी साहित्य की सचमुच बड़ी सेवा ही है.' श्री संतराम बी.ए. की सम्मति में, मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' यह ऐतिहासिक ग्रंथ धर्म शिक्षा की पुस्तकों से अधिक शिक्षादायक और उपन्यास से अधिक मनोरंजक तथा कार्य–कारण श्रृंखला में सुसंबद्ध है.' 'सरस्वती' मासिक ने विद्यावाचस्पति जी के ऐतिहासिक ग्रंथों की इस प्रकार विवेचना की है, 'मुगल साम्राज्य का उदय तो स्वतन्त्र भारत में अपने विषय पर शायद यह हिन्दी की पहली पुस्तक है. इसमें लेखक की प्रौढ़ता और अध्ययन का प्रमाण–पत्र पग–पग पर मिलता है. हिन्दी में यह पुस्तक एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करती है'. श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर का अभिमत है कि–'इन्द्र विद्यावाचस्पति जी के इतिहास लिखने की अपनी शैली है. मुगल साम्राज्य के इतिहास में इस शैली का शिलान्यास हुआ था, तो ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में उसकी पूर्णता हुई है. यह शैली इतिहास की प्रामाणिकता के साथ उसे उपन्यास की रोचकता भी देती है. डॉ. भवानीलाल भारतीय के शब्दों में 'भारतीय इतिहास के अनुशीलन में उनकी अत्याधिक रुचि थी. इसीलिए उन्होंने 'मुगल' साम्राज्य का क्षय और उसके कारण', 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय, तथा 'भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास' जैसे मानक ग्रंथ लिखे. इन ग्रंथों में इतिहास की शुष्कता न होकर ऐतिहासिक सरसता के सर्वत्र दर्शन होते हैं.' विद्यावाचस्पति जी को आर्यसमाज का सर्वप्रथम क्रमबद्ध इतिहास लिखने का श्रेय भी प्राप्त है. उनहोंने इतिहास लेखन में तटस्थ और उदार दृष्टिकोण से काम लिया है. सांप्रदायिकता की संकीर्णता उन्हें स्पर्श भी नहीं कर पायी है, उन्होंने अकबर की नीतियों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है. राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहासकार मन्मथनाथ गुप्त ने प्रतिपादित किया है, 'विद्यावाचस्पति जी राष्ट्रीय आंदोलन को साफल्य मंडित करने में समस्त राजनीतिक दलों एवं प्रवृतियों का योगदान मानने में मेरे अनुगामी थे.' इस प्रकार स्पष्ट है कि विद्यावाचस्पति जी का इतिहास–विषयक कार्य अमूल्य है. सरस ऐतिहासिक ग्रंथ लिखकर उन्होंने हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की है. विद्यावाचस्पति जी ने ऐतिहासिक ग्रंथों के अतिरिक्त कतिपय राजनीति विषयक चिंतनात्मक ग्रंथ भी लिखे हैं। वे जहाँ राजशास्त्रज्ञ थे. वहाँ उन्हें राजनीतिक जीवन का सक्रिय अनुभव भी था. धर्म के क्षेत्र में वे महर्षि दयानंद के व राजनीति के क्षेत्र में लोकमान्य तिलक के अनुयायी थे. किसी दल विशेष से सोच–विचारपूर्वक राजनीतिक नाता जोड़ लेने के बाद उसे तोड़ना उन्हें पसंद नहीं था, वे पूर्ण दृढ़ता के साथ आजीवन काँग्रेसी रहे, पुनरपि वे एक पत्रकार के नाते पूर्णतया स्वतन्त्र थे, और काँग्रेस तथा उसकी नीतियों की निर्भीकतापूर्वक आलोचना किया करते थे, संभवतः वे एक मात्र ऐसे व्यक्ति थे. जिन्होंने काँग्रेस की सदस्यता का फार्म भरते समय अहिंसा की शर्त को सब परिस्थितियों में मानने से इंकार कर दिया था. 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' पर उनका विश्वास था. उन्होंने अपना राजनीति–विषयक 'जीवन–संग्राम' नामक ग्रंथ अपनी हिंसा–अहिंसा विषयक भूमिका को स्पष्ट करने की दृष्टि से ही लिखा है. उनके 'वीर अर्जुन' के संपादकीय लेख भी इस बात के साक्षी हैं कि वे काँग्रेस की अल्पसंख्यक तुष्टीकरण की नीति से असहमत थे. विद्यावाचस्पति जी आजीवन राजनीति के क्षेत्र में काँग्रेस से और धार्मिक–सामाजिक क्षेत्र में आर्यसमाज से जुड़े रहे. आर्यसमाज अपनी राजनीतिक भूमिका किस प्रकार अदा करे–इस संबंध में उन्होने कहा था– 'राजनीतिक सिद्धांतों का आर्यसमाज प्रचार करे और दलगत राजनीति में पड़े बगैर राजनीतिक प्रणाली में संशोधन कार्य करे, 'जीवन संग्राम' में उन्होंने ब्राहमणत्व को क्षत्रियत्व से समन्वित करने का आग्रह कर एक प्रकार से देवताओं को अग्नि के साथ सुशोभित रहने का संदेश दिया है. 'राष्ट्रों की उन्नति,' 'राष्ट्रीयता का मूल–मंत्र' 'जीवन–संग्राम', स्वतंत्र भारत की रुपरेखा', 'स्वराज्य और चरित्र निर्माण', यदि आचार्य चाणक्य प्रधानमन्त्री होते' आदि उनकी राजनीति विषयक विवेचनात्मक रचनायें हैं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यावाचस्पति जी ने संस्कृत के कालजयी ग्रंथों के अनुवादों व भाष्य से भी हिन्दी साहित्य को सुसंपन्न किया है. इस दृष्टि से उनके उल्लेखनीय ग्रंथ हैं. 'रघुवंश', 'किरातार्जुनीय' और ईशोपनिषद्भाष्य' युजर्वेद का ४० वाँ अध्याय जो प्रकारान्तर से 'ईशोपनिषद्' के नाम से सुप्रसिद्ध है, उसका उन्होंने विद्वतापूर्ण भाष्य किया है, जिससे स्पष्ट है कि उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में प्राचीन शास्त्रों का परम वैदुष्य था. जहाँ उन्होंने 'ईशोपनिषद् भाष्य' जैसे औपनिषदिक भाष्य ग्रंथ लिखकर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है, वहाँ रघुवंश जैसे ललित ग्रंथों के अनुवाद से भी हिन्दी वाङ्मय को समृद्ध किया है. विद्यावाचस्पति जी संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद हिन्दी के लिए अत्यन्त आवश्यक मानते थे. इसलिए उन्होंने संस्कृत ग्रंथों के सर्वजनसुलभ अनुवाद किये. शब्दानुवाद की अपेक्षा भावानुवाद की शैली को उन्होंने अपनाया है. इसीलिए वे 'हिरण्मय' शब्द का अर्थ 'प्रलोभन', स्तूप' शब्द का अर्थ 'ढेर,' तथा 'समिद्धिः' शब्द का अर्थ 'जलाने के लिए लकड़ियाँ' करते हैं. अनुवाद पूर्ण तल्लीनता व प्रामाणिकता से पूर्ण करने के बाद भी वह अपूर्ण ही रह जाता है. इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए श्री विद्यावाचस्पति ने कहा है "लोकभाषा में कविकुलगुरु कालिदास के काव्यामृत की 'बानगी' दिखाने की यह चेष्टा कविकुलगुरु के शब्दों में 'ऊँचे वृक्ष के फल को प्राप्त करने की वामन चेष्टा के समान ही है' पर संतोष इतना ही है कि पृथ्वी मुझ जैसे वामनों से भरी पड़ी है. 'एक साहित्यिक वामन' को वामनों का संसार क्षमा न करेगा तो कौन करेगा. बहुत से प्रांशु महानुभाव भी हैं, वे तो अपनी प्रांशुता के कारण ही मेरे इस प्रयत्न को क्षन्तव्य समझेंगे." विद्यावाचस्पति जी ने भारवि विरचित 'किरातार्जुनीय' का अनुवाद पराधीन और निराश भारत के लिए समयोजित संजीवनी बूटी और रामबाण मानकर किया है. वस्तुतः वे संस्कृत से हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि करने वाले एक सफल अनुवादक और भाष्यकार हैं. उनके साहित्यिक वामनीय व्यक्तित्व में केवल विनम्रता की भावना ही निहित नहीं है अपितु उसमें 'धरती को तीन पगों में मापने का ओज' भी विद्यमान है.

विद्यावाचस्पति जी भारतीय संस्कृति के व्याख्याता थे. 'उपनिषदों की भूमिका', 'आध्यात्म रोगों की चिकित्सा', संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन' और 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह' आदि विवेचनात्मक ग्रंथों की रचना कर संस्कृति विषयक साहित्य से भी उन्होंने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है. उनके लिए सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक विषयों पर लिखना जितना सहज था, उतना ही आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक और शास्त्रीय विषयों पर भी. आर्यसमाज में शास्त्रार्थ परंपरा के साथ ही खण्डन–मण्डनात्मक साहित्य लेखन की परम्परा भी समृद्ध हुई. विद्यावाचस्पति जी ने इस क्षेत्र में भी अपनी भूमिका निभायी. गुरुकुल के स्नातक और उपाध्याय होते ही उन्होंने 'वर्ण–व्यवस्था, जन्मना या कर्मणा'; जीवित पितरों का श्राद्ध, या मृतक् पितरों का' विषय पर महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी से शास्त्रार्थ किया था. 'वर्ण व्यवस्था' व 'मृतक श्राद्ध पर विचार' नामक प्रकाशित शास्त्रार्थ को देखने पर स्पष्ट होता है कि पाण्डित्य अैर युक्तिपूर्वक विचारों के प्रतिपादन में विद्यावाचस्पति जी अतिशय दक्ष थे. उनकी प्रौढ़ तर्क शैली तथा उनके विशद शास्त्रज्ञान ने उन्हे इन शास्त्रार्थ संग्रामों में विजय दिलाई थी. 'संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन' में विद्यावाचस्पति जी ने संस्कृत कवियों की काव्य रचना की आधारभूमि को खोजकर पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक की दृष्टि में 'विद्यावाचस्पति जी भारतीय मनीषा के प्रतीक थे. उनकी वृत्ति उदार व समन्वयात्मक थी. इसलिए वे आर्यसमाज और ऋषि दयानंद के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी 'भागवत्पुराण' और 'रामचरितमानस' कार तुलसी की प्रशंसा करते थे.' डॉ महावीर का यह कथन ठीक ही है कि 'उनकी रचनाधर्मिता केवल आर्यसमाज की सीमाओं में ही सीमित न रही अपितु उसने साहित्य–गगन में मुक्त रुप से विचरण किया है.' डॉ. गंगाराम गर्ग की सम्मतिमें, विद्यावाचस्पति जी वेदों के मर्मज्ञ व भाष्यकार थे.' यथार्थ में वे एक सांस्कृतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष थे. साहित्य, संस्कृति के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य को उनका जो योगदान है, वस्तुतः वह अविस्मरणीय है.

विद्यावाचस्पति जी विचारात्मक और प्रमाणबहुला शैली के निबंधकार थे, पर उनके निबंध ग्रंथ रुप में संकलित न होने के कारण उन्हें निबंधकार के रुप में विशेष ख्याति नहीं मिल पायी है. वे इस दृष्टि से अचर्चित ही रहे, जबकि उनके 'क्रान्ति', 'साम्राज्यवाद', धर्म क्या है और क्या नहीं?' आदि निबंध तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विचारात्मक निबंधों की परंपरा का अनुसरण व विकास करने वाले निबंध हैं. श्री शंकरदेव विद्यालंकार ने उनके निबंधों को 'विचारपूर्वक निबंध' कहा है. आज भी यदि उनके निबन्ध संकलित हो जायें तो निश्चित रूप से उनका सरस विचारात्मक निबंधकार का रूप पाठकों को मोहित किये बिना न रहेगा. श्री रामप्रसाद वेदालंकार का अभिमत है, 'उन्होंने हिन्दी साहित्य को केवल ललित साहित्य से ही नहीं, अपितु तत्वनिष्ठ चिंतन से भी पूर्ण किया है.' इस तत्वनिष्ठ चिंतन में उनके निबंध साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है. विद्यावाचस्पति जी ने निबंध क्षेत्र के अतिरिक्त हिन्दी व संस्कृत काव्य के क्षेत्र में भी कुछ समय के लिए प्रवेश किया था और उसमें यशस्वी भी हुए थे, पर यह क्षेत्र उन्हें अपने अनुकूल प्रतीत नहीं हुआ'. उन्हीं के शब्दों में 'मेरे पास सौ से भी अधिक गीत लिखे रखे हैं, पर मैं समझता हूँ कि वह मेरा क्षेत्र नहीं है. उनके हिन्दी गीत 'गुरुकुल गीत', 'हृदयोद्गार' नामक काव्य–संग्रहों तथा 'स्वर्ण देश का उद्धार' नामक नाटक में प्रकाशित हुई थीं संस्कृत काव्य रचनाओं की तुलना में उनकी हिन्दी काव्य रचनायें अधिक लोकप्रिय हुई. राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में श्री विद्यावाचस्पति जी का एक गीत 'हे मातृभूमि तेरे चरणों में सिर नवाऊँ' बड़ा लोकप्रिय रहा. गुरुकुलों तथा आर्य वीर दल के शिविरों में प्रायः उनका एक गीत गाया जाता रहा है– 'तव वन्दन हे नाथ करें हम.' उन्हीं के द्वारा विरचित 'जागो प्रमाद छोड़ो कसकर कमर खड़े हो' जैसे भावपूर्ण गीतों में आज भी जन–जन में स्फूर्ति का संचार करने की शक्ति विद्यमान है. जैसे श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपनी दो–तीन कहानियों के कारण सुप्रसिद्ध हुए वैसे ही इन्द्र जी भी अपनी दो–तीन कविताओं के कारण बहुचर्चित रहें हैं. उनकी कविता महावीरप्राद द्विवेदी और श्रीधर पाठक जैसे महाकवियों के मार्गदर्शन से पल्लवित पुष्पित हुई थी. अतः स्वाभाविक रुप से उनके काव्य पर द्विवेदी युगीन काव्य प्रवृत्तियों की छटा विद्यमान हैं. डॉ. विष्णुदत्त राकेश के कथनानुसार 'श्री विद्यावाचस्पति ने पराधीन भारत की बेड़ियाँ काटने के लिए तत्पर बलिदानियों को प्रेरणा देने वाले गीत लिखे. राष्ट्रीय काव्यधारा के इन गीतों की गूँज 'शीश बलि' देने वालों की रक्त चेतना में झंकृत होती रही है'. छात्रावस्था या युवावस्था के बाद विद्यावाचस्पति जी हिन्दी काव्य क्षेत्र से सदा–सदा के लिए विदा हो गये, पर संस्कृत में काव्य रचना का क्रम तो उन्होंने देह त्याग के चार–पांच दिन पहले तक जारी रखा था 'भारतेतिहासः' उनकी तीस अध्यायों में विभाजित संस्कृत भाषा की छन्दोबद्ध कृति है. डॉ. महावीर ने 'भारतेतिहासः' काव्य की इस प्रकार मीमांसा की है ' अद्यावधि लिखे गये भारतवर्ष के इतिहासों की परम्परा से हटकर सर्वथा नूतन एवं अभिनव शैली में किया गया यह एक सर्वथा मौलिक कार्य है. इसमें रसहीन भाषा में इतिहास की घटनाओं का ब्यौराबार संकलन मात्र ही नहीं है, अपितु देशवासियों के हृदय को रसाप्लावित कर अत्यंत माधुर्य के साथ कान्ता–सम्मित–शैली में अपने देश तथा संस्कृति के प्रेम और गौरव की भावना जगाने का सफलतम प्रयास है. मधुर छन्दों, विविध अलंकारों, रमणीय रस प्रसंगों तथा प्रकृति के हृदयहारी चित्रों से परिपूर्ण विद्यावाचस्पति जी की कविता, ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द की वृष्टि के साथ, जहाँ वाल्मीकि और कालिदास का स्मरण कराती है, वहाँ वेद, दर्शन एवं स्मृतियों के निगूढ़तम रहस्यों को अत्यन्त सरस एवं सरल शब्दावली में अनावृत्त करती है.' विद्यावाचस्पति जी ने निबंध, काव्य विधा के साथ–साथ नाट्यक्षेत्र में भी अपनी कलम चलायी है. उनकी एक मात्र नाट्यकृति का नाम है– 'स्वर्ण देश का उद्धार'. नाटक में कूट–कूट कर भरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रप्रेम तथा गीत बाहुल्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे उनके नाटक जयशंकर प्रसाद की शैली का अनुसरण कर रहें हैं. उक्त नाटक की समीक्षा करते हुए 'सरस्वती' मासिक ने लिखा था. 'नाटक का विषय अच्छा है. भाषा अच्छी है, कविता भी बुरी नहीं है, तो भी हमें उससे संतोष नहीं हुआ. लेखक की विद्वत्ता और गंभीरता पर हमें पूरा विश्वास है, पर हम यह समझते हैं. कि उनमें कदाचित् वह नैपुण्य नहीं है, जो एक नाटककार में होता है, पुनरपि संभव है, पाठक 'स्वर्ण देश का उद्धार' एक बार अवश्य पढ़ें, परन्तु इसका कारण विषय की नवीनता है, कला का नैपुण्य नहीं'

भाषा शैली की सरसताव सहजता की दृष्टि से भी श्री विद्यावाचस्पति के साहित्य की महत्ता कम नहीं हैं. कहा जाता है भाषा–शैली में शैलीकार का व्यक्तित्व छिपा रहता है, इसे यूँ भी कह सकते हैं कि जैसा जीवन होता है, वैसी ही भाषा भी होती है. विद्यावाचस्पति जी आड़म्बर के विरोधी थे और स्वच्छता एवं सादगी पसन्द करते थें तदनुकूल उनकी भाषा भी कृत्रिम अलंकारों के प्रतिकूल और सहज अलंकारों के अनुकूल थी. इस सबके बावजूद भी उनके साहित्य में शब्द–सौन्दर्य और भाव सौन्दर्य इन्द्रधनुष के वर्णो की भांति यत्र–तत्र एक–दूसरे में ओतप्रोत हैं. उनकी भाषा कभी तत्सम शब्दावली का चोगा पहनती है तो कभी अरबी–फारसी के शब्दों की ओढ़नी धारण करती है. डॉ. ज्ञानवती दरबार ने स्वीकार किया है. 'विषय चाहे जो हो श्री विद्यावाचस्पति की भाषा आकर्षक और हृदयग्राही है, क्योंकि उसमें प्रवाह है. सांस्कृतिक विषयों पर लिखते हुए वे विचार जगत् में विचरते हैं और आत्मगत भावों का वर्णन करने का लोभ संवरण नहीं कर पाते. श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने उनकी सहज भाषा–शैली पर प्रकाश ड़ालते हुए लिखा है– 'जिस प्रकार किसी सुंदर महिला को आभूषणों की जरुरत नहीं, सौन्दर्य ही उसका सबसे बड़ा आभूषण है, उसी प्रकार उनकी सीधी–सादी भाषा को अलंकारों की आवश्यकता नहीं. जो कुछ उन्होंने लिखा था, वह समझ में आ जाता था, घुमा–फिरा कर बात करने की उनकी आदत न थी. भाषा आखिर भावों को प्रकट करने के लिए है, पर कितने ही लेखक उससे उलटा ही काम लेते हैं–यानी हृदय के भावों को छिपाने का'. विद्यावाचस्पति जी की भाषा में 'गागर में सागर' भरने की क्षमता है छोटे–छोटे शब्दों या वाक्यों में, वे बहुत कुछ कह जाते थे. उदाहरण के लिए दो वाक्य प्रस्तुत हैं–'सरदार पटेल महात्मा गांधी के पट्टशिष्य हैं.' 'पं. नेहरू, महात्मा गांधी के पटुशिष्य हैं.' प्रा. राजेन्द्र जिज्ञासु ने उन्हें 'शब्द चयन के धनी' विशेषण से विशेषित किया है. श्री जिज्ञासु जी की सम्मति में 'पिता महात्मा मुंशीराम जी का ओज व रस, सारा का सारा, उनकी लेखनी में आ गया था. विद्यावाचस्पति जी के साहित्य व लेखों को पढ़कर मुर्दा दिल भी हुँकारने लग जाते थे.' निःसंदेह उनकी सरल सुष्ठु और प्रसाद–ओज गुणमयी भाषा शैली ने हिन्दी साहित्य को कलात्मक समृद्धि प्रदान की है.

विद्यावाचस्पति जी के सम्पूर्ण साहित्य का अनुशीलन करने पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उनके साहित्य में राष्ट्रीयता की प्रवृति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है. विविध विधाओं में लिखा गया उनका बहुमुखी साहित्य स्वराज्य और सुराज्य को सर्वांग परिपूर्ण और सुसंपन्न करने के लिए ही समर्पित रहा है. एक प्रकार से उनका साहित्य उनके उस जीवन का अनुवाद है, जिसमें उनका राष्ट्रीय व्यक्तित्व अनुस्यूत हुआ है। विद्यावाचस्पति जी की साहित्य–सर्जना का उत्स ही राष्ट्रीयता है, जो उनके समस्त साहित्य में अथ से इति तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रहा है. डॉ. विष्णुदत्त राकेश ने उनके जीवन एवं साहित्य की इस प्रकार मीमांसा की है, 'वे निजी जीवन व वाङमय में विभिन्न वर्गों के लिए आजादी के क्षितिज खोजते रहे. राजनीतिक पराभव से मुक्ति का क्षितिज, रूढियों और संकीर्णताओं में जकड़े समाज की आजादी का क्षितिज, सांस्कृतिक हास की आत्महीनता से मुक्ति का क्षितिज तथा मानव धर्म की संप्रदाय मुक्ति की धारणा का क्षितिज। श्री फूलचन्द जैन के शब्दों में, – 'प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति अपने युग की ऐसी शक्ति थे कि जिन्होंने एक ओर शब्द के अस्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से समाज को मंगलमय राह दिखाई, तो दूसरी ओर सामाजिक, शैक्षिक और राजनीतिक कर्मयुद्ध में सक्रिय योद्धा की भूमिका निबाही. डॉ. रामनाथ वेदालंकार की धारणानुसार–'विद्यावाचस्पति जी के व्यक्तित्व में प्राचीन शास्त्रों का परम वैदुष्य, प्रणाली के प्रति अगाध आस्था, गुरुकुल काँगड़ी को संसार भर में अनुपम विवविद्यालय बना देने की चिर अभिलाषा, प्रगाढ़ आशावादिता, जर्जर स्वास्थ्य में भी कुछ उपयोगी कार्य कर जाने की अदम्य लालसा थी.' सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की दृष्टि में–विद्यावाचस्पति जी 'स्वाभावतः साहित्यिक' हैं, तथा उनका साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में किया गया कार्य भी'प्रशंसनीय' है. उन्होंने उन्हें 'ब्राह्मण वृत्ति का साहित्य तपस्वी' भी घेषित किया है. प्रा. राजेन्द्र जिज्ञासु ने श्री विद्यावाचस्पति को 'विश्व का एक ऐसा प्रमुख साहित्यकार माना है, जिन्होंने बिना किसी संरक्षण के सहस्रों पृष्ठ लिख डाले.' साथ ही उन्होंने यह अभिमत भी प्रकट किया है कि 'उनके सम्पूर्ण साहित्य का विविध खण्डों में प्रकाशन होना चाहिये. 'डॉ. कमलकिशोर जी गोयनका और डॉ. धर्मपाल जी ने भी इसी प्रकार उनके समस्त साहित्य को खण्डों में प्रकाशित करने की बात कही है श्री विष्णु प्रभाकर ने प्रतिपादित किया है, 'विद्यावाचस्पति जी के 'संस्मरण और ऐतिहासिक ग्रंथ हिन्दी साहित्य की निधि हैं..... जिस प्रकार उनके संपादकीय लेखों से स्वाधीनता के सैनिक अनुप्राणित होते थे, उसी प्रकार उनकी साहित्यिक रचनाओं ने अनेक पाठक पैदा किए. हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में पं. इन्द्रजी श्रद्धेय बाबूराव विष्णु पराड़कर के समकक्ष थे हिंदी पत्रकारिता की जड़ें जमाने में उनका योगदान अभूतपूर्व रहा है..... वह साहित्यिक थे, स्वाधीनता संग्राम के सैनिक थे, राजनेता थे, शिक्षाविद् थे और एक प्रसिद्ध आर्यसमाजी थे, उनकी विशेषतायें असाधारण हैं. वस्तुतः विद्यावाचस्पति जी ने साहित्य–साधना के ४६ वर्षों में लगभग ४६ ग्रंथों की रचना कर हिन्दी वाङ्मय की श्रीवृद्धि की है. वे १६११ से १६६० तक अनवरत हिदी की साहित्य–साधना में लगे रहें हैं, उनके द्वारा लिखित विपुल साहित्य–संपदा में संस्मरण, जीवन–चरित्र, उपन्यास, पत्रकारिता, इतिहास, राजनीति, अनुवाद, भारतीय संस्कृति, निबंध, काव्य, नाटक आदि सभी कुछ है, लेकिन संस्मरण, जीवन–चरित्र, पत्रकारिता और इतिहास लेखन में उनका हिन्दी साहित्य को अवदान निश्चित रुप से अनुपम एवं अविस्मरणीय है. संस्मरण–कला के आचार्य, ओजस्वी चरित्र–लेखक, तेजस्वी–पत्रकार एवं सरस इतिहासकार के रूप में उनका स्मरण सदैव आदर और श्रद्धा के साथ किया जाता रहेगा, एतदर्थ सदैव हिन्दी–साहित्य संसार उनके इस अद्भुत साहित्यिक योगदान के प्रति चिरऋणी रहेगा.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट

(क) पं. इन्द्र विद्याचस्पति : साहित्य सूची

१.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार (१९४६ ई.)
२.	अपराधी कौन	राजपाल एंड संस, दिल्ली (१९३२ ई.)
३.	अमर शहीद जतीन्द्रनाथदास	अर्जुन प्रेस–देहली
४.	आत्म–बलिदान	विजय पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९४८ ई.)
५.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	वाचस्पति पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९५६ ई.)
६.	आर्य वीर दल का बौद्धिक शिक्षण	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली (१९७९ ई.)
७.	आर्यसमाज का इतिहास–प्रथम भाग	सा.अ.प्र.स. दिल्ली (१९५७ ई.)
८.	आर्य समाज का इतिहास–द्वितीय भाग	सा.अ.प्र.स., दिल्ली (१९५७ ई.)
९.	ईशोपनिषद्भाष्य	गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (१९५६ ई.)
१०.	उपनिषदों की भूमिका	गुरुकुल कांगडी, हरिद्वार (१९१३ ई.)
११.	एक शिक्षादायक जीवन (स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज)	सा.आ.प्र.स., दिल्ली (१९४८ ई.)
१२.	किरातार्जुनीय (हिंदी अनुवाद)	राजपाल एंड संस, दिल्ली (१९५७ ई.)
१३.	गुरुकुल कांगड़ी के साठ वर्ष	गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (१९६० ई.)
१४.	गुरुकुल गीत	गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (१९१४ ई.)
१५.	जमींदार	इण्डियन प्रेस, प्रयाग (१९४२ ई.)
१६.	जीवन की झांकियाँ–प्रथम खंड (दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन)	विजय पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९३५ ई.)
१७.	जीवन की झांकियाँ–तृतीय खंड (मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला)	विजय पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९४५ ई.)
१८.	जीवन की झांकियाँ–तृतीय खंड (मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव)	विजय पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९४७ ई.)
१९.	जीवन ज्योति	राजपाल एंड संस, दिल्ली (१९५६ ई.)
२०.	जीवन संग्राम	राजधर्म प्रकाशन, दिल्ली (१९७० ई.)
२१.	दिल्ली का राजनीतिक इतिहास	जिला काँग्रेस कमेटी, देहली (१९४० ई.)
२२.	दिल्ली के फिसाद	विजय पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९२४ ई.)
२३.	नैपोलियन बोनापार्ट	गुरुकुल कांगडी, बिजनौर (१९१२ ई.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२४.	पं. ज्वाहरलाल नेहरू	विजय पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९४६ ई.)
२५.	पत्रकारिता के अनुभव	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (१९६० ई)
२६.	प्रिंस बिस्मार्क (जर्मन साम्राज्य की पुनः स्थापना)	गुरुकुल कांगड़ी, बिजनौर (१९१५ ई.)
२७.	भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय	आत्माराम एंड संस, दिल्ली (१९५६ ई.)
२८.	भारतीय संस्कृति व राजनीति	(अनुपलब्ध एवं दुर्लभ ग्रंथ)
२९.	भारतीय संस्कृति का प्रवाह	एस. चाँद एंड कंपनी, दिल्ली (१९५९ ई.)
३०.	भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास	सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली (१९६० ई.)
३१.	भारतेतिहास	हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, (१९७० ई.)
३२.	मराठों का इतिहास	(अनुपलब्ध एवं दुर्लभ ग्रंथ)
३३.	महर्षि दयानंद	विजय पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९४५ ई.)
३४.	महावीर गेरीवाल्डी	गुरुकुल कांगडी, हरिद्वार (१९२० ई.)
३५.	मृतक श्राद्ध पर विचार (शास्त्रार्थ)	गुरुकुल कांगडी, हरिद्वार (१९१६ ई.)
३६.	मुगलसाम्राज्य का क्षय और उसके कारण	हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई (१९३१ ई.)
३७.	मेरे पिता	वाचस्पति पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९५७ ई.)
३८.	मै इनका ऋणी हूँ	सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली (१९५९ ई.)
३९.	यदि आचार्य चाणक्य प्रधानमंत्री होते	आर्यसमाज दीवानहास, दिल्ली (१९५९ ई.)
४०.	रघुवंश (हिन्दी अनुवाद)	राजपाल एंड संस, दिल्ली (१९५४ ई.)
४१.	राष्ट्रीयता का मूल मंत्र	गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (१९१४ ई.)
४२.	राष्ट्रों की उन्नति	गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (१९१४ ई.)
४३.	लाला लाजपतराय	(अनुपलब्ध एवं दुर्लभ ग्रंथ)
४४.	लोकमान्य तिलक और उनका युग	ससता साहित्य मंडल, दिल्ली (१९६३ ई.)
४५.	वर्ण व्यवस्था (शास्त्रार्थ)	गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (१९१६ ई.)
४६.	वैदिक देवता	(अनुपलब्ध एवं दुर्लभ ग्रंथ)
४७.	शाह आलम की आँखें	नालन्दा प्रकाशन, बंबई (१९३२ ई.)
४८.	संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन	गुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (१९१६ ई.)
४९.	सम्राट् रघु	विजय पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९४७ ई.)
५०.	सरला	वाचस्पति पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९४५ ई.)
५१.	सरला की भाभी	वाचस्पति पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९५४ ई.)
५२.	स्वतंत्र भारत की रूपरेखा	विजय पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९४७ ई.)
५३.	स्वराज्य और चरित्र निर्माण	वाचस्पति पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९५४ ई.)
५४.	स्वर्ण देश का उद्धार	गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (१९२१ ई.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५५. स्वाधीनता संग्राम में आर्यसमाज का भाग — सा.आ.प्र.स., दिल्ली (१९८५ ई.)

५६. हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति — आत्माराम एंड संस, दिल्ली (१९५२ ई.)

५७. हृदयोद्गार — गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (१९१६ ई.)

(ख) संदर्भ ग्रंथों तथा पत्र-पत्रकाओं की सूची

१. अतीत के चलचित्र : महादेवी वर्मा — भारती भंडार प्रयाग (२०१७ विक्रमी)

२. अतीत से वर्तमान : राहुल सांकृत्यायन — विद्यामंदिर प्रेस, वाराणसी (१९५६ ई.)

३. अनुवाद क्या है ? : डॉ. राजमल बोरा — वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली (१९६३ ई.)

४. अनुसंधान की प्रक्रिया : डॉ. सावित्री सिन्हा, विजयेंद्र स्नातक — नेशनल, दिल्ली (१९६० ई.)

५. अनूदित हिंदी साहित्य : सं. आत्माराम सेठी — इंडियन डॉक्यूमेंटेशन सर्विस, गुंडगाव हरियाणा (१९८१ ई.)

६. अवतरण शोध तन्त्र के संदर्भ में : डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे — आलोक प्रकाशन औरंगाबाद (१९९० ई.)

७. अशोक के फूल : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी — लोक भारती इलाहाबाद (१९७१ ई.)

८. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी व्यक्तित्व एवं कृतित्व : शैव्या झा. — अनुपम प्रकाशन, पटना (१९७१ ई.)

९. आत्मकथा : नारायण स्वामी — आर्य साहित्य सदन, देहली, शाहदरा (१९४३ ई.)

१०. आत्मकथा : डॉ. राजेंद्रप्रसाद — सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली (१९६२ ई.)

११. आधुनिक पत्रकार कला : रामकृष्ण रघुनाथ खाड़िलकर — ज्ञान मंडल, वाराणसी (१९५३ ई.)

१२. आधुनिक भारत : आचार्य जावेड़ेकर — सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

१३. आधुनिक हिन्दी का जीवनी परक साहित्य : डॉ. शांति खन्ना — सन्मार्ग दिल्ली (१९७३ ई.)

१४. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान : डॉ. देवराज उपाध्याय — साहित्य भवन, प्रयाग (१९६३ ई.)

१५. आधुनिक हिन्दी गद्य : डॉ. हरदयाल — आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली (१९७२ ई.)

१६. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. श्रीकृष्णलाल — हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय (१९६५ ई.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१७.	आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में सरस्वती का योगदान : डॉ. संत बख्शसिंह	साहित्यालोक, कानपुर (१९८६ ई.)
१८.	आर्यसमाज का इतिहास–भाग–५,६,७ : सं. डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री हरिदत्त वेदालंकार, डॉ. भवानीलाल भारतीय	आर्य स्वाध्याय केन्द्र, दिल्ली (१९८६, १९८७, १९८८ ई.)
१९.	आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार : डॉ. भवानीलाल भारतीय	परोपकारिणी सभा, अजमेर (१९८१ ई.)
२०.	आर्यसमाज के शास्त्रार्थ महारथी : डॉ. भवानी भारतीय	परोपकारिणी सभा, अजमेर (२०२७ वि.)
२१.	आर्याभिविनय : स्वामी दयानन्द सरस्वती	रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर (१९६१ ई.)
२२.	आस्पैक्टस ऑफ बायोग्राफी : आंद्रे मारवा	कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन (१९२९ ई.)
२३.	इतिहास प्रवेश : जयचंद्र विद्यालंकार	सरस्वती प्रकाशन मंदिर, प्रयाग (१९४१ ई.)
२४.	इन्द्र विद्यावाचस्पति : विजयेन्द्र स्नातक	साहित्य अकादेमी, दिल्ली (१९६३ ई.)
२५.	इन्द्र विद्यावाचस्पति : सत्यकाम विद्यालंकार, अवनीन्द्र विद्यालंकार	आर्य केन्द्रीय प्रचार समिति, दिल्ली (२०२३ वि.)
२६.	ईशवास्योपनिषद् : अनु.अज्ञात	गीता प्रेस, गोरखपुर (२०३५ वि)
२७.	ईशावास्योपनिषद् : व्याख्याता–आचार्य रजनीश	पारस प्रकाशन, इलाहाबाद (१९७१ ई.)
२८.	उपन्यास और लोकजीवन : रैल फाक्स–भूमिका–डॉ. रामविलास शर्मा	पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (१९५७ ई.)
२९.	ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन : भवानीलाल भारतीय	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (२०२५ वि.)
३०.	एकादशोपनिषद् : सत्यव्रत सिद्धांतालंकार	विद्याविहार, देहरादून (१९५४ ई.)
३१.	ऐमीनेंट विकटोरियंस : लिटन स्ट्रेची	चैटो एण्ड विण्डस, लंदन (१९५७ ई.)
३२.	कल्याण मार्ग का पथिक : स्वामी श्रद्धानंद	गोविंदराम हासानंद, दिल्ली (१९८७ ई.)
३३.	काँग्रेस का इतिहास : डॉ. पट्टाभि सीतारमय्या	सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली (१९५८)
३४.	कालिदास के पक्षी : हरिदत्त वेदालंकार	गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (१९६४ ई.)
३५.	काव्य के रुप : बाबू गुलाबराय	प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली (१९५० ई.)
३६.	काशी की पाण्डित्य परंपरा : आचार्य बलदेव उपाध्याय	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी (१९८३ ई.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३७.	किरातार्जुनीय : मराठी अनु. अज्ञात सं. नारायण आचार्य	निर्णयसागर प्रेस, मंबई (१९५४ ई.)
३८.	किरातार्जुनीय अनु. गंगाधर शर्मा मिश्र	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी (१९७३ ई.)
३९.	कुछ विचारभाग १ प्रेमचंद	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद (१९६१ ई.)
४०.	कुटजं : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी	नैवेद्य निकेतन, वाराण्सी (१९६४ ई.)
४१.	कुमारसंभव : अनु. महावीरप्रसाद द्विवेदी	इंडियन प्रेस, इलाहाबाद (१९५१ ई.)
४२.	केळकर : प्रभाकर पाध्ये	केसरी प्रकाशन, दिल्ली (१९७२ ई.)
४३.	खट्टी–मीठी यादें–स्वामी विद्यानंद सरस्वती	भगवती प्रकाशन, दिल्ली (१९८८ ई.)
४४.	गणेश शंकर विद्यार्थी : डॉ. लल्लन मिश्र	संजयय बुक सेंटर, वाराणसी (१९८८ ई.)
४५.	गीतामृत : मैथिलीशरण गुप्त	चिरगांव, झांसी (१९८२ ई.)
४६.	गुरुकुल के स्नातक : सं. हरिदत्त, रामेश बेदी, शंकरदेव	गुरुकुल कांगडी, हरिद्वार
४७.	गृह राजनीतिक विभाग कार्यवाही	राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली (१९१९ ई.)
४८.	चाबुक : सूर्यकांत त्रिपाठी निराला	निरुपमा प्रकाशन, दिल्ली
४९.	चेतना का संस्कार : सं. डॉ. विश्वनाथ प्रताप तिवारी	वाणी प्रकाशन दिल्ली
५०.	जतिभेद निर्मूलन : डॉ. भीमराव आंबेडकर	प्रज्ञा प्रकाशन मंडळ नागपुर (१९३६ ई.)
५१.	जीवन संघर्ष : सत्यदेव विद्यालंकार	राजपाल एंड संस, दिल्ली (१९६३ ई.)
५२.	डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिट्रेचर : टी शिप्ले	दि फिलोसॉफिकल लाइब्रेरी, न्यूयार्क (१९४३ ई.)
५३.	दयानन्द कम्मेमोरेशन वाल्यूम : सं. हरविलास शारदा	परोपकारिणी सभा, अजमेर (१९३३ ई.)
५४.	दि इन्साइकलोपीडिया अमेरिकना	अमेरिकना कारप. न्यूयार्क (१९६१ ई.)
५५.	दि इन्साइकलोपीडिया ब्रिटानिका	इन्साइकोपीड़िया ब्रिटानिका इन्क, लंदन (१९६५ ई.)
५६.	दि गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया : रेम्जे मॅक्डोनल्ड	लंदन स्वर्थ मोर प्रेस (१९२३ ई.)
५७.	दि डाक्ट्रिन ऑफ पैसिव रेसिस्टेंस' अरविंद घोष	'वंदे मातरम' में प्रकाशित लेखमाला (१९०७ ई.)
५८.	दि डिस्कवरी ऑफ इण्डिया : जवाहरलाल नेहरू	दि सिनगेट प्रस कलकत्ता (१९४६ ई.)
५९.	दि लाइफ ऑफ रामकृष्ण : रोमा रोलाँ	अद्वैताश्रम, अल्मोड़ा (१९५३ ई.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६०. दि हिस्टॉरिकल नॉवल्ज : जॉर्ज ल्यूकाक्स — मर्लिन प्रेस, लंदन (१९६२ ई.)

६१. दीवान–ए–गालिब सं. मालिकराम — गलिब इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली (१९७९ ई.)

६२. नारायण अभिनंदन ग्रंथ : सं. महेन्द्रप्रताप शास्त्री — सार्वदेशिक सभा, दिल्ली (१९४५ ई.)

६३. निराला और नवजागरण : डॉ. रामरतन भटनागर — साथी प्रकाशन, सागर (म.प्र.)

६४. नेताजी सुभाष दर्शन : श्रीकृष्ण सरल — जन कल्याण पब्लिकेशंस, उज्जैन (म.प्र.)

६५. पं. बालकृष्ण भट्ट व्यक्तित्व और कृतित्व : डॉ. मधुकर भट्ट — बालकृष्ण प्रकाशन, वारणसी (१९७२ ई.)

६६. पद्माकर पंचामृत : सं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र — वाराणसी (१९३५ ई.)

६७ पंत प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त : रामधारीसिंह दिनकर — उदयाचल प्रकाशन–पटना १९५८

६८. पत्रकार प्रेमचंद और हंस : डॉ. रत्नाकर — राजेश प्रकाशन, दिल्ली (१९८० ई.)

६९. पुरातत्व निबंधावली : राहुल सांकृत्यायन — इंडियन प्रेस, इलाहाबाद (१९५९ ई.)

७०. प्रबंध प्रतिमा : सूर्यकांत त्रिपाठी निराला — भारती भंडार, प्रयाग (१९६३ ई.)

७१. प्रेमचंद विश्वकोष– भाग – १ सं. डॉ. कमलकिशोर गोयनका — प्रभात प्रकाशन, दिल्ली (१९८१ ई.)

७२. बंदी घर के विचित्र अनुभव : सं. प्रा. राजेन्द्र जिज्ञासु — स्वामी स्वतंत्रानंद शोध संस्थान, अबोहर (१९८५ ई.)

७३. बंदी जीवन : शचींद्रनाथ सान्याल — आत्माराम एंड संस, दिल्ली (१९६३ ई.)

७४. बांसुरी : रवीद्रनाथ ठाकुर – अनु. धन्यकुमार जैन — हिंद पाकेट बुक्स, शाहदरा–दिल्ली (१९७० ई.)

७५. बृहद हिन्दी पत्रकारिता कोश : डॉ. प्रतापनारायण टंडन — साहित्य शिल्पी प्रकाशन, लखनऊ (१९८६ ई.)

७६. भरतखंड़ पर्व : गोपालराव हरि देशमुख लोकहितवादी — पुणे (१८५१ ई.)

७७. भारत का सांस्कृतिक इतिहास : हरिदत्त वेदालंकार — आत्माराम एंड संस, दिल्ली (१९६२ ई.)

७८. भारत में अँग्रेजी राज : भाग – १ — सूचना एवं प्रसारण मंत्रलय, प्रकाशन, दिल्ली (१९६० ई.)

७९. भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्यसमाज का आंदोलन : प्रो विजंद्रपालसिंह — वि.भू. प्रकाशन, साहिबाबाद (१९७७ ई.)

८०. भारतीय साहित्य कोश सं. डॉ. नगेन्द्र — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (१९८१ ई.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८१. भारतीय स्वाधीनता संग्राम और आर्यसमाज : डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे — पंचशील प्रकाशन, जयपुर (१९७७ ई.)

८३. भारतेन्दु युग : डॉ. रामविलास शर्मा — विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९५१ ई.)

८४. मध्यकालीन धर्म साधना : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी — साहित्य भवन, इलाहाबाद (१९५६ ई.)

८५. महात्मा गांधी यांचे संकलित वाङ्मय खंड–२४ : अनु. त्र्यं. र. देवगिरीकर — महात्मा गांधी वाङ्मय प्रकाशन समिति, मुंबई (१९७५ ई.)

८६. महादेवी साहित्य भाग–१ : सं. ओंकार शरद् — सेतु प्रकाशन, झांसी (१९६६ ई.)

८७. महापंडित राहुल सांकृत्यायन का सर्जनात्मक साहित्य : डॉ. रवेलचंद — शारदा प्रकाशन, दिल्ली (१९७३ ई.)

८८. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी जवजागरण : रामविलास शर्मा — राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली (१९७७ ई.)

८९. माधवराव सप्रे : गोविंदराव हार्डीकर — जबलपुर (१९५० ई.)

९० मृतक श्राद्ध पर विचार : सं. मुंशीराम जिज्ञासु — गुरुकुल कांगडी, हरिद्वार (१९१६ ई.)

९२. मेरी कहानी : पं. ज्वाहरलाल नेहरू — सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली (१९६२ ई.)

९३. मेरे समकालीन : महात्मा गांधी–सं. विष्णु प्रभाकर — सस्ता साहित्य, मंडल, दिल्ली

९४. मैथिलीशरण गुप्त और उनका साहित्य : दानबहादुर पाठक — विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९६६ ई.)

९५. रघुवंश : मराठी अनु. गणेश शास्त्री लेले त्र्यंबककर — महाराष्ट्र साहित्य परिषद, सोलापुर, पॉप्युलर प्रकाशन, मुंबई (१९६३ ई.)

९६. रघुवंश महाकाव्यम् : अनु. हरगोविंद मिश्र — चौरवंभा विद्या भवन, वाराणसी (१९६२ ई.)

९७. रणजीत चरित : संतराम बी.ए. — आत्माराम एंड संस, लाहौर (१९५८ ई.)

९८. राजधर्म : सं. लक्ष्मीदत्त दीक्षित — सार्वदेशिक प्रेस, देहली (१९५० ई.)

९९. राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास : मन्मथनाथ गुप्त — शिवलाल अग्रवाल बंड कंपनी, आगरा (१९६२ ई.)

१००. लघु इतिहास प्रवेश : जयचन्द्र विद्यालंकार — हिन्दी भवन, जालंधर (१९५१ ई.)

१०१. लोकमान्य टिळक यांच्या आठवणी व आख्यायिका : सदाशिव विनायक बापट — घर. नं. ५६६, नारायण पेठ पुणे (१९२४ ई.)

१०२. वंदना के स्वर : सं. क्षेमचंद्र सुमन — दयानंद संस्थान, नयी दिल्ली

१०३. वन माईटी टोरैंट : एडगर जॉनसन — दि मैकमिलन कंपनी, न्यूयार्क (१९५५ ई.)

१०४. वासुदेवशरण अग्रवाल व्यक्तित्व एवं कृतित्व :डॉ. नरेशकुमार — इण्डोविजन प्रा. लि. गाजियाबाद (१९८४ ई.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०५. विनायकराव अभिनंदन ग्रंथ : सं. वंशीधर विद्यालंकार — आर्य प्रतिनिधि सभा, हैदराबाद (१९५६ ई.)

१०६. विरजानन्दचरित : देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय — आर्य प्रतिनिधि सभा, लखनऊ (१९१९ ई.)

१०७. विवेकानंद साहित्य–भाग–६ — रामकृष्ण आश्रम, नागपुर

१०८. वैदिक गीता : भाष्यकार आर्यमुनि — दयानंद संस्थान, नयी दिल्ली (२०३३ वि.)

१०९. वैदिक वर्ण व्यवस्था और श्राद्ध : — किशोर विद्या निकेतन, भदैनी, वाराणसी (१९७९ ई.)

११०. वैदिक साहित्य कुछ उपलब्धियाँ : नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ — गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (१९७० ई.)

१११. शिवपूजन रचनावली ३–४ खंड़ — बिहार राष्ट्रभाषा परिषद,, पटना (१९५७ ई.)

११२. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त : गोविंद त्रिगुणायत — भारती साहित्य मंदिर, दिलली (१९६८ ई.)

११३. शोध प्रविधि : डॉ. विनय मोहन शर्मा — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (१९७३ ई०)

११४. संधिनी : महादेवी वर्मा — लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

११५. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारीसिंह दिनकर — राजपाल एंड संस, दिल्ली (१९५६ ई.)

११६. सत्यार्थप्रकाश : स्वामी दयानंद सरस्वती : सं. युधिष्ठिर मीमांसक — रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़–सोनीपत (१९७५ ई.)

११७. समाचार पत्रों का इतिहास : अंबिकाप्रसाद वाजपेयी — ज्ञानमंडल, काशी (२०१० वि.)

११८. साकल्य : शांतिप्रिय द्विवेदी — हिंदी प्रचारक पुस्ताकालय, वाराणसी (१९६२ ई.)

११९. सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का सत्ताइस वर्षीय इतिहास — सार्वदेशिक सभा, दिल्ली (१९६६ वि.)

१२०. साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचंद — हंस प्रकाशन, प्रयाग (१९५४ ई.)

१२१. साहित्य का श्रेय और प्रेय :जैनेन्द्र — पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली (१९६१ ई.)

१२२. साहित्य निबंधावली : राहुल सांकृत्यायन — किताब महल, इलाहाबाद (१९६१ ई.)

१२३. साहित्य शास्त्र : डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे — आलोक २३९ समर्थनगर, औरंगाबाद (१९६२ ई.)

१२४. साहित्य शास्त्र : डॉ. माधव सोनटके — नाथ, नरळीबाग, औरंगाबाद (१९६३ ई.)

१२५. साहित्य शास्त्र : डॉ. राजकुमार वर्मा — भारतीय विद्या भवन, इलाहाबाद (१९५६ ई.)

१२६. सोशियल बँक ग्राउण्ड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म : ए. आर. देसाई — पॉप्युलर प्रकाशन, बंबई (१९४८ ई.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२७. स्वामी श्रद्धानंद ग्रंथावली–खंड–नौ : अनु.प्रा. राजेन्द्र जिज्ञासु — गोविंदराम हासानंद, दिल्ली, (१९८७ ई.)

१२८. हिन्दी आंदोलन : सं. लक्ष्मीकांत वर्मा — हिन्दी साहित्य संमेलन, प्रयाग (१९६४ ई.)

१२९. हिन्दी का संस्मरण साहित्य : कामेश्वरशरण सहाय — विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, (१९८२ ई.)

१३०. हिन्दी की पत्र–पत्रिकायें : अखिल विनय — हिंदी साहित्य समिति, पिलानी (१९४८ ई.)

१३१. हिन्दी के मनौवैज्ञानिक उपन्यास : डॉ. धनराज मानधने — ग्रंथम् कानपुर (१९७१ ई.)

१३२. हिन्दी गद्य विधायें और विकास : डॉ. पद्मसिंह शर्मा कमलेश — बंसल एंड कंपनी, दिल्ली (१९६१ ई.)

१३३. हिन्दी गद्य साहित्य : डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे — ग्रथम् प्रकाशन, कानपुर (१९७५ ई.)

१३४. हिन्दी जीवनी साहित्य : सिद्धांत और अध्ययन : डॉ. भगवानशरण भारद्वाज — परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद (१९७८ ई.)

१३५. हिन्दी नाटक कोश : डॉ. दशरथ ओझा — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (१९७५ ई.)

१३६. हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आंदोलन : — कलकत्ता (१९७६ ई.)

१३७. हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आंदोलन राजीव दुबे — सत्येन्द्र प्रकाशन, इलाहाबाद (१९८८ ई.)

१३८. हिन्दी पत्रकारिता का आलोचनात्मक इतिहास डॉ. रमेश कुमार जैन — हंसा प्रकाशन जयपुर १९८७

१३९. हिन्दी पत्रकारिता का विविध आयाम डॉ. वेदप्रताप वैदिक — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (१९७६ ई.)

१४०. हिन्दी पत्रों के संपादक : बी.एस. ठाकुर : सुशीला पांडेय — स्वतंत्र प्रकाशन मंडल, लखनऊ (१९४० ई.)

१४१. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन : लक्ष्मीनारायण गुप्त — लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन, लखनऊ (२०१८ वि.)

१४२. हिन्दी रेखाचित्र : डॉ. हरवंशलाल वर्मा — हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, उ.प्र. (१९६१ ई.)

१४३. हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती : सं. डॉ. नगेन्द्र — विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा

१४४. हिन्दी विश्वकोश खंड–१ : सं. धीरेंद्र वर्मा — ना.प्र.स. वाराणसी (१९६० ई.)

१४५. हिन्दी विश्वकोश–खंड–१ : सं. नगेन्द्रनाथ वसु — बी.बार. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली (१९८६ ई.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४६. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नागेन्द्र — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (१९७३ ई.)

१४७. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल — नागरी प्रचारिणी सभा : काशी (२००८ वि.)

१४८. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास–भाग–१३ : डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु — ना.प्र.स., काशी

१४९. हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन : क्षेमचन्द्र सुमन — मधुर प्रकाशन, दिल्ली (१९७० ई.)

१५०. हिन्दी साहित्य कोश : भाग–२ : सं. धीरेन्द्र वर्मा — ज्ञान मंड़ल, काशी (२०२० वि.)

१५१. हैदराबाद के आर्यो की साधना और संधर्ष : पं. नरेन्द्र — गोविंदराम हासानंद, दिल्ली (१९७३ ई.)

पत्र-पत्रिकाएँ :- अजन्ता, अमृत बाजार पत्रिका, आजकल, आर्य जगत्, आर्य मर्यादा, आर्यमित्र, आर्य संदेश, आर्योदय, आलोचना, गुरुकुल पत्रिका, जन ज्ञान, ज्ञानोदय, टंकारा पत्रिका, दि आर्य मेसेंजर, धर्मयुग, नया जीवन, नवजीवन, नवनीत, प्रकर, प्रह्लाद, मर्यादा, माधुरी, वंदे मातरम्, विकास, विजय, विशाल भारत, वीर अर्जुन, वेद प्रकाश, वेदवाणी, वैदिक अनुसंधान, संमेलन पत्रिका, सद्धर्म प्रचारक, सरस्वती, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सार्वदेशिक, हंस, हिन्दी केसरी, हिन्दी नवजीवन आदि.

R 081,KAP-I
150611

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Acc. 150611
Class. R081/123.8

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

डॉ. कुशलदेव कापसे

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्म : ६ जून १६५१ : वड़वळ नागनाथ (लातूर) महाराष्ट्र

शिक्षा : 'आचार्य (गुरुकुल झज्जर, हरियाणा), विद्याभास्कर' (गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर, हरिद्वार), एम.ए. (आगरा विश्वविद्यालय) पी.एच.डी. (डॉ. बाबासाहब अंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय औरंगाबाद)

अध्यापन : प्रपाठक–हिन्दी विभागाध्यक्ष,
नेताजी सुभाषचन्द्र बोस महाविद्याल य, नांदेड़

प्रकाशित लेख : 'भारतीय स्वाधीनता संग्राम', हिन्दी वाड्मय', तथा 'आर्यसमाज और महाराष्ट्र' से संबंधित विविध शोध लेख विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित.

अनुवाद : लोकहितवादी कृत 'पं. स्वामी श्रीमद् दयानंद सरस्वती' (१८८४) का मराठी से हिन्दी अनुवाद. यह अनुवाद पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ने 'ऋषि दयानंद और आर्यसमाज से संबद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख' नामक ग्रंथ में प्रकाशित किया है. अन्य अनेक मराठी दर्जनों लेखों के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित. लेखक द्वारा लिखित रचना 'प्राच्य विमान विद्या संशोधक–शिवकर बापू तव्वपदे' का आचार्य वेदव्रत जी मीमांसक ने 'प्राच्य विमान विद्यापर शोधकडु : शिवकर बापू तळपदे' के नाम से तेलगु में अनूदित कर पुस्तिका के रुप में प्रकाशित किया है.

सह-संपादन : 'लोक भारती' (महाराष्ट्र राज्य : दसवीं कक्षा की हिन्दी पाठय पुस्तक) वैदिक सेवाश्रम' (महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र) 'अप्रतिबद्ध' (मराठवाडा हिन्दी साहित्य परिषद् का मुख पत्र : नांदेड़ अधिवेशन) 'जनज्ञानं (मराठी मासिक दयानंद संस्थान नई दिल्ली).

उपमंत्री : आर्य लेखक परिषद, कोटा, राजस्थान.

सदस्य : हिन्दी अभ्यास मंडल. हैदराबाद मुक्ति संग्राम संशोधन समिति (स्वामी रामानंद तीर्थ मराठवाडा विशविद्यालय : नांदेड)

प्रकाश्य : 'महर्षि दयानंद और महाराष्ट्र'. 'मराठी साहित्य और आर्यसमाज' लेखक महाराष्ट्र में स्वामी दयानंद और आर्यसमाज की भूमिका के अधिकृत व्याख्याता हैं. तथा आर्यसमाज की संगठनात्मक और शैक्षिक प्रवृत्तियों से संबद्ध हैं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजय प्रिन्टर्स एवं पब्लिशर्स
१६, सिविल लाईन, (निकट शताब्दी द्वार)
रूड़की - २४७ ६६७, भारत
दूरभाष : ०१३३२-७३१४०
फैक्स : ०१३३२-७४७४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar